बोरीस क्लूयेव

स्वतंत्र भारत : जातीय तथा भाषाई समस्या

प्रगति प्रकाशन

बोरीस क्लूयेव

स्वतंत्र भारत : जातीय तथा भाषाई समस्या

प्रगति प्रकाशन • मास्को

पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लिमिटेड
५ ई, रानी झांसी रोड, नई दिल्ली-११००५५

राजस्थान पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लि.
चमेलीवाला मार्केट, एम. आई. रोड, जयपुर-302001

अनुवादक : नरेश वेदी

Б. И. Клюев

НАЦИОНАЛЬНО-ЯЗЫКОВЫЕ ПРОБЛЕМЫ
НЕЗАВИСИМОЙ ИНДИИ

на языке хинди

Boris I. Kluyev

INDIA: NATIONAL AND LANGUAGE PROBLEM

in Hindi

पाठकों से

प्रगति प्रकाशन इस पुस्तक की विषयवस्तु, अनुवाद और डिज़ाइन के बारे में आपके विचार जानकर अनुगृहीत होगा। आपके अन्य सुझाव प्राप्त करके भी हमे बड़ी प्रसन्नता होगी। कृपया हमें इस पते पर लिखिये :

प्रगति प्रकाशन,
१७, ज़ूबोव्स्की बुलवार,
मास्को, सोवियत संघ।

सोवियत संघ में मुद्रित

К $\frac{05060000000—734}{014(01)—87}$ 371—86

विषय-सूची

हिंदी संस्करण की भूमिका

स्वतंत्र भारत में जातीय तथा भाषाई संबंधों की समस्याएं अरसे से भारतीय और विदेशी शोधकर्ताओं के ध्यान को समान रूप से आकर्षित करती आयी हैं। देश के विभिन्न भागों में बारंबार आवेशों के प्रचंड प्रस्फोटनों के साथ जातीय-भाषाई झगड़े-कलह फूटते रहे हैं और अब भी फूटते रहते हैं। इस तरह के झगड़े अकसर हिंसात्मक रूप ग्रहण कर लेते हैं और उनमें काफ़ी लोगों की जानें तक चली जाती हैं। ये समस्याएं भारत में व्यापक वाद-विवाद का विषय हैं—उन पर सम्मेलनों, गोष्ठियों और परिचर्चाओं में विचार किया जाता है, पुस्तकों, पुस्तिकाओं और पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखों में उनका विवेचन किया जाता है। जातीय-भाषाई संबंधों की समस्याएं अब केवल विद्वानों द्वारा ही विचार किये जाने का अनन्य विषय नहीं रह गयी हैं। राजनीतिक दलों के कार्यक्रमों, चुनाव घोषणापत्रों और राजनेताओं तथा राजनीतिक कार्यकर्ताओं के भाषणों में भी उनकी तरफ़ काफ़ी ध्यान दिया जाता है। जैसे कि अकसर कहा भी जाता है, एक अपने ही ढंग का "सामान्यजनीन सामाजिक भाषाविज्ञान" पैदा हो गया है।

जातीय तथा भाषाई प्रश्नों से जुड़ी जन-भावनाओं का राजनीतिक दलों और सार्वजनिक कार्यकर्ताओं द्वारा स्वायत्ततावादी विचारों का प्रचार करने और नये राज्यों अथवा संघ-राज्यक्षेत्रों के निर्माण की मांगें करने के लिए उपयोग किया जाता है। इस तरह की भावनाएं अंतर्राज्यीय संबंधों में विषमता लाती हैं, देश के विधिकारी निकायों में गरमागरम बहसें पैदा करवाती हैं और बहुधा विभिन्न राज्यों में सरकारों में संकट पैदा होने का कारण बन जाती हैं। भारत में जातीय-भाषाई समस्याओं और विवादों को

अक्सर देश की एकता और अखंडता के लिए ख़तरा और विलोम प्रक्रिया – राष्ट्रीय एकीकरण की प्रक्रिया – के विकास में बाधक परिघटना माना जाता है।

भारतीय पाठकों के लिए विशेषकर लिखित इस पुस्तक में इन्हीं समस्याओं का विश्लेषण किया गया है। इसके कलेवर में समाविष्ट कालावधि अस्सी के दशक तक भारत के स्वतंत्र विकास के वर्षों की है। स्वाभाविक ही है कि आवश्यक होने पर ऐतिहासिक हवाले दिये गये हैं, विशेषकर अंग्रेज़ उपनिवेशवादियों के विरुद्ध भारतीय जनता के राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन की अवधि के बारे में। पुस्तक के दूसरे अध्याय में दिये तथ्य यह प्रमाणित करते हैं कि अंग्रेज़ों ने एक सचेतनतापूर्वक अनुसृत नीति की सहायता से भारत को अपने औपनिवेशिक साम्राज्य के ढांचे के भीतर "ऐक्यबद्ध" किया, लेकिन साथ ही उन्होंने भारतीय समाज के आंतरिक विखंडन में इस हद तक योग दिया कि जहां तक कोई भी और विजेता नहीं कर पाया था, क्योंकि अंग्रेज़ों के विपरीत दूसरे विजेताओं के कार्यकलाप का अंत आम तौर पर उनके भारतीय समाज में आत्मसात्करण के साथ हुआ था।

दूसरे शब्दों में, भारत की वर्तमान जातीय-भाषाई समस्याओं में से बहुत सी उसके औपनिवेशिक अतीत की अभी तक अनाभिभूत विरासत हैं। यह उल्लेखनीय है कि भारत की कतिपय शत्रुभावी विदेशी शक्तियां नव-उपनिवेशवादी नीति पर चलते हुए देश में अस्थिरता लाने और उसकी प्रादेशिक अखंडता के लिए गंभीर ख़तरा पैदा करके उसे कमज़ोर बनाने के लक्ष्य से जातीय-भाषाई विरोधों को पुनरुज्जीवित करने या प्रेरित करने का प्रयास कर रही हैं।

इस पुस्तक का प्रकाशन सर्वप्रथम रूसी भाषा में सोवियत संघ में और उसके बाद अंग्रेज़ी में भारत में (स्टर्लिंग पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, नयी दिल्ली, द्वारा) किया गया था। भारत में इस कृति में प्रदर्शित सराहना-पूर्ण दिलचस्पी ही – निस्संदेह, कुछेक संशोधनों और परिवर्धनों के साथ – इसके हिंदी में अनुवाद और प्रकाशन का मुख्य कारण है।

लेखक का नये संस्करण में अपने विवेचन को आज के समय तक लाने का कोई इरादा नहीं था। उदाहरण के लिए, असम में नवीनतम घटनाओं (तथाकथित "विदेशी घुसपैठियों की समस्या", असमिया लोगों और असम में रहनेवाले आदिवासियों के बीच संबंधों की समस्या, असम के युवा तथा छात्र संगठनों और दूसरे अंधराष्ट्रवादी आंदोलनकारियों तथा

केंद्रीय सरकार के बीच संपन्न अगस्त समझौता) अथवा पंजाब की ताजा घटनाओं ("आज़ाद ख़ालिस्तान" का नारा, सिखों को पृथक जाति मानने की मांग, आतंकवादियों की कार्रवाइयां, पंजाब में सैनिक कार्रवाई के बाद का घटनाक्रम, राजीव गांधी–संत लोंगोवाल समझौता, नये चुनाव, आदि) का इस पुस्तक में विवेचन नहीं किया गया है।

लेखक के विचार में उपरोद्धृत राज्यों में नाटकीय तथा साथ ही शिक्षाप्रद घटनाएं पृथक, सम्यक वैज्ञानिक विश्लेषण की अपेक्षा करती हैं, जिसका समय, संभवतः, अभी नहीं आया है, क्योंकि न तो पंजाब और न असम में ही अभी उन कारकों की क्रिया पूरी तरह से बंद हुई है, जिन्होंने इन घटनाओं को जन्म दिया था, न उनके घाव ही अभी पूरी तरह से भरे हैं। इन घटनाओं के बारे में जल्दबाज़ी का कोई भी निर्णय अवांछित प्रतिक्रिया उत्पन्न कर सकता है। इसके अलावा, अधिकतम वस्तुपरकता के लिए व्यापक विश्लेषण हमेशा कुछ कालगत दूरस्थता की अपेक्षा करता है।

दूसरी ओर, पुस्तक में असम और पंजाब में घटनाओं के पूर्व-इतिहास और उन कारकों की क्रिया पर विस्तार से विचार किया गया है, जिन्होंने अंततः इन राज्यों में संकटमय स्थिति को उत्पन्न किया था। उदाहरण के लिए, असम में छात्र संगठनों की असमिया भाषा को एकमात्र राजभाषा स्वीकार किये जाने की मांग, दूसरे शब्दों में, असमिया और बंगला भाषा-भाषियों का परस्परविरोध, असमिया अंधराष्ट्रवादी संगठन लछित सेना की सरगरमियां, असमिया और मारवाड़ी लोगों के बीच विग्रह का स्वरूप, आदि।

जहां तक पंजाब की बात है, तो पुस्तक में अकाली दल की तथाकथित पंजाबी सूबे के निर्माण, अर्थात द्विभाषी पंजाब राज्य के पंजाब और हरियाणा में विभक्त किये जाने के संघर्ष का न्यूनाधिक विस्तृत वर्णन किया गया है। इस संघर्ष के दौरान अकाली दल के विभिन्न धड़ों–एक ओर, संत फ़तहसिंह और, दूसरी ओर, मास्टर तारासिंह गुटों–के बीच अंतर्विरोधों ने रूप ग्रहण किया। एकभाषी पंजाब का निर्माण होने के बाद ये अंतर्विरोध तेज़ हो गये। साथ ही सिख उच्च संस्तर के कुछेक गुटों में अंधराष्ट्रवादी प्रवृत्ति ज़ोर पकड़ने लगी। ये सभी कारक पंजाब की घटनाओं के स्रोत और मूल कारण बन गये।

इस प्रकार, विवेकशील पाठक लेखक के विचारों को और आगे विकसित कर सकते हैं और वर्तमान जातीय-भाषाई तथा धार्मिक-अंधराष्ट्रवादी

कलह के बारे में स्वयं अपने निष्कर्ष निकाल और धारणाएं बना सकते हैं, बेशक, उसी हालत में कि पाठकों को लेखक की शोध-विधियां और संकल्पनाएं स्वीकार्य हों।

लेकिन संकल्पनाओं की बात करने के पहले इस पुस्तक में प्रयुक्त शब्दावली के बारे में कुछ बातें कहना जरूरी है। सोवियत इतिहासविज्ञान तथा राजनीतिशास्त्र में "राष्ट्र" अथवा "जाति" (रूसी में "नात्सिया", अंग्रेज़ी में "नेशन") और "राज्य" (क्रमश: "गोसुदार्स्तवो" और "स्टेट") संकल्पनाओं के बीच बहुत अंतर किया जाता है। राष्ट्र सामान्य भाषा, सामान्य प्रदेश, सामान्य आर्थिक जीवन तथा आत्मिक स्वरूप से युक्त लोगों का इतिहासत: निर्मित, स्थिर, सामाजिक समुदाय है। राज्य एकजातीय (एकराष्ट्रीय) हो सकता है (जातीय अल्पसंख्यकों की मौजूदगी तक के साथ), जैसे हंगरी, पोलैंड, बांगलादेश अथवा ईरान, और वह बहुजातीय भी हो सकता है, जैसे सोवियत संघ, यूगोस्लाविया, पाकिस्तान अथवा बर्मा। इस दृष्टिकोण से भारत भी बहुजातीय राज्य है, जिसमें एकीकारी प्रक्रियाएं अधिकाधिक विकसित हो रही हैं।

अंग्रेज़ी में प्रकाशित भारतीय साहित्य में, सामान्यतया अंग्रेज़ी साहित्य की ही भांति, "नेशन" शब्द के दो अर्थ हैं, जो एकाकार हो जाते हैं। इसके पहले अर्थ का निकटतम और व्यापकतम हिंदी पर्याय "जाति" है। दूसरे अर्थ में यह राज्य भी है। हिंदी के "राष्ट्र" शब्द में भी ये दोनों ही अर्थ सन्निहित हैं। इसलिए मार्क्सवादी साहित्य में सामान्यतया "जाति" शब्द का ही प्रयोग किया जाता है। लेकिन "जाति" शब्द का भारत में समाज के विभिन्न वर्णों (कास्ट) के लिए भी उपयोग किया जाता है। हमने इस अंतर को स्पष्ट रखने के लिए "कास्ट" के लिए हिंदी में बोल-चाल में प्रयुक्त शब्द "जात", "जातपांत" और "जात-बिरादरी" का प्रयोग किया है। इसलिए जहां "नेशन" का अर्थ राज्य के साथ एकाकार हो जाता है, वहां इस अनुवाद में "राष्ट्र" और "राष्ट्रीय", आदि का प्रयोग किया गया है (जैसे भारतीय राष्ट्र और भारत का राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन) और जहां ऐसा नहीं है, वहां "जाति", "जातीय", आदि का (जैसे पंजाबी जाति, गुजराती जाति, जातीय चेतना, आदि)।

शब्दावाली में भिन्नताएं शोधकर्ताओं के लिए प्रत्यक्ष, किंतु किसी भी प्रकार अलंघ्य नहीं, कठिनाइयां पैदा कर देती हैं। उदाहरण के लिए,

भारत में व्यापक रूप से प्रचलित पद "राष्ट्रीय एकीकरण" का अर्थ हम "राजकीय एकीकरण" लगायेंगे। "भारतीय राष्ट्रवाद" का अर्थ हमारे लिए या तो भारतीय जनता का उपनिवेशवादियों के विरुद्ध राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन होगा, या सामान्यरूपेण भारतीय देशानुराग, जो "प्रादेशिकतावाद", "भाषावाद", "जातपांतवाद", आदि जैसे पदों के मुकाबले पर रखा जाता है। इस कृति में लेखक ने, स्वाभाविकतया, सभी आवश्यक व्याख्याएं देते हुए सोवियत इतिहास तथा भाषाविज्ञान में स्वीकृत शब्दावली का ही उपयोग किया है।

इस कृति का संकल्पनात्मक आधार व्लादीमिर इल्यीच लेनिन द्वारा निरूपित पूंजीवाद के अंतर्गत जातीय समस्या के विकास में दो प्रवृत्तियों का नियम है, जिसके अनुसार:

"विकासमान पूंजीवाद जातीय प्रश्न के बारे में दो ऐतिहासिक प्रवृत्तियों से परिचित है। पहली प्रवृत्ति है जातीय जीवन तथा जातीय आंदोलनों की जागृति, हर प्रकार के जातीय उत्पीड़न के विरुद्ध संघर्ष और जातीय राज्यों की स्थापना। दूसरी है जातियों के बीच हर प्रकार के संसर्ग का विकास और उसकी बढ़ती प्रायिकता, जातीय प्राचीरों का ध्वंस, पूंजी की और सामान्यतया आर्थिक जीवन, राजनीति, विज्ञान, आदि की अंतर्राष्ट्रीय एकता की स्थापना।

"दोनों प्रवृत्तियां," लेनिन अंत में कहते हैं, "पूंजीवाद का सार्विक नियम हैं। पहली उसके विकास के आरंभ में हावी रहती है, दूसरी परिपक्व और समाजवादी समाज में अपने रूपांतरण की ओर अग्रसर पूंजीवाद के लिए लाक्षणिक है" (व्ला० इ० लेनिन, 'जातियों के प्रश्न पर आलोचनात्मक टीकाएं', १९१३)।

हमारी राय में स्वतंत्र भारत में अत्यंत जटिल और अंतर्विरोधी जातीय-भाषाई प्रक्रियाओं के विश्लेषण के लिए यह नियम बड़ा फलदायी अर्थ रखता है। यह उनके वास्तविक स्वरूप और भारतीय समाज के विकास में उनकी भूमिका को समझने, उनका तथ्यों के सांयोगिक संचय नहीं, वरन एक पद्धति के रूप में, अर्थात यादृच्छिक वर्णन और व्याख्या की संभावना को अपवर्जित करके, विश्लेषण करने में सहायता करता है।

भारत की जातीय तथा भाषाई समस्याओं के बारे में भारतीय और विदेशी विद्वानों के शोधकार्य में बहुधा भारतीय विशिष्टता को अतिरंजित अर्थ प्रदान कर दिया जाता है। यह दावा भी किया जाता है कि भारतीय

जातीय-भाषाई स्थिति का कोई तुल्यरूप नहीं है और वह सभी नियमों का अपवाद है। इस तरह का नज़रिया आम तौर पर पारंपरिक विचारों के आलोचनारहित अवबोधन की तरफ़ ले जाता है, जो आधुनिक विज्ञान की उपलब्धियों के प्रयोग में बाधक है। विचारधारात्मक और राजनीतिक संघर्ष में विशिष्ट स्वरूप के निरपेक्षीकरण का प्रतिक्रियावादी धार्मिक-सांप्रदायिक दलों और संगठनों द्वारा भारतीय अनन्यता, बल्कि "प्रवरता" तक को प्रचारित करने और "भारतीयकरण" तथा "हिंदू अंधराष्ट्रवाद" के सिद्धांत गढ़ने के लिए उपयोग किया जाता है, जो देश में जातीय-भाषाई संबंधों को धार्मिक विरोधों की रंगत देकर उलझाता और संगीन बनाता है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि भारत अपने ही रास्ते जा रहा है और इस देश में निवास करनेवाली जातियों, उपजातियों, जातीय समूहों और जनजातियों के बीच संबंधों की समस्या में बहुत सी विशिष्टताएं हैं, जिनका इस पुस्तक में पूरी तरह से विवेचन किया गया है।

सबसे पहले भारत के संजातीय मानचित्र की अत्यधिक विविधता को लक्षित किया जाना चाहिए। संजाति-समूहों (एथनोस) की बड़ी संख्या इस विविधता के लिए लाक्षणिक है। लेकिन यही सबसे मुख्य बात नहीं है। मुख्य बात इन संजाति-समूहों में गुणात्मक विभेदन है। उनमें पूर्णतः निर्मित जातियां – महाराष्ट्रीय (मराठा), गुजराती, तमिल, तेलुगू (आंध्र), मलयाली, आदि; निर्माणाधीन जातियां – राजस्थानी, नागा, मीज़ो, आदि और अभी क़बायली (जन) व्यवस्था के स्तर पर ही बने हुए संजाति-समूह भी हैं। अंतोक्त तथाकथित अनुसूचित जनजातियों में आते हैं, जिनकी एक ख़ासी बड़ी संख्या तो अभी आधुनिक सभ्यता की दहलीज़ पर भी नहीं पहुंची है। सत्तरहवीं से उन्नीसवीं सदियों के, अर्थात जातीय आंदोलनों के विकास के युग के, यूरोप ने ऐसा कुछ भी नहीं जाना था। इस मामले में क्रांतिपूर्व रूस के साथ कुछ समानताएं देखी जा सकती हैं, जिसके बहिर्वर्ती इलाक़ों – धुर उत्तर और सुदूर पूर्व और तुर्किस्तान भी – में ऐसे संजातीय समुदाय रहते थे, जो क़बायली व्यवस्था की मंज़िल में ही थे। लेकिन यहां कोई प्रत्यक्ष सादृश्य नहीं है, क्योंकि जहां क्रांतिपूर्व रूस में इस प्रकार के समुदायों की संख्या दसियों हज़ार लोगों में गिनी जाती थी, वहां भारत में उनकी संख्या करोड़ों में है।

आबादी का यह संवर्ग भारत सरकार के सामने ख़ासी जटिल समस्याएं खड़ी करता है, जिनके समाधान के रास्ते जातीय बाह्यांचलों के विकास

में सोवियत संघ के अनुभव का—निस्संदेह, भारतीय अवस्थाओं को ध्यान में रखते हुए—उपयोग करके निकाले जा सकते हैं। भारतीय अनुसूचित जनजातियों में जातीय जीवन की जागृति के कुछ लक्षण, जातीय आंदोलनों के विकास के कुछ लक्षण, लक्षित होने लगे हैं। लेकिन ये प्रक्रियाएं बहुत जटिल हैं और किसी भी प्रकार समांतर अथवा एकदिश नहीं हैं। उदाहरण के लिए, इस पुस्तक में वर्णित पश्चिमी भारत के भीलों में यह आंदोलन, जो साठ के दशक के अंत और सत्तर के दशक के आरंभ में ज़ोर पकड़ रहा था, इस समय लगभग स्तब्ध है। दूसरी तरफ़, छईबासा (ज़िला सिंहभूम, बिहार) के वन्यक्षेत्र में कोई १४०० गांवों में रहनेवाले आदिवासियों में अस्सी के दशक के आरंभ में भारत सरकार के लिए एकदम अप्रत्याशित रूप में एक पार्थक्यवादी आंदोलन उठ खड़ा हुआ। इन आदिवासियों के हितों का प्रतिनिधित्व करने के दावेदार कोल्हान रक्षा संघ के नेताओं ने ब्रिटिश सरकार, राष्ट्रमंडलीय देशों की सरकारों और संयुक्त राष्ट्र संघ को भी एक याचिका भेजी, जिसमें तथाकथित "कोल्हानिस्तान" की "स्वतंत्रता" की "भारत के आक्रमण" से रक्षा करने का अनुरोध किया गया था ('स्टेट्समैन', १५ तथा १६ जुलाई, १९८४)। बेशक, इन नेताओं ने बाद में कहा कि वे सिर्फ़ भारतीय संघ के ढांचे के भीतर स्वायत्तता की ही मांग कर रहे हैं।

अनुसूचित जनजातियों द्वारा आवासित प्रदेशों में घटनाक्रम के विकास की प्रवृत्तियों को देखते हुए कहा जा सकता है कि भविष्य में भी इसी तरह की "अप्रत्याशित घटनाओं" की संभावना है।

भारत की जातीय-भाषाई स्थिति की एक और विशेषता यह है कि इस देश में ऐसी कोई उत्पीड़क या शोषक जाति न थी और न है ही कि जो जातीय महाशक्ति अंधराष्ट्रवादी रुझानों की वाहक हो सकती और अपने को देशव्यापी पैमाने पर दूसरे संजातीय समुदायों के मुक़ाबले पर रखती। भारत में रहनेवाले और जातीय तथा सामाजिक-आर्थिक विकास के विभिन्न स्तरों पर स्थित लगभग सभी न्यूनाधिक बड़े जातीय समुदायों को देश के विधिकारी निकायों जैसे महत्वपूर्ण क्षेत्र में सापेक्षतया समान प्रतिनिधित्व प्राप्त है। यह समानता भारतीय राज्य के संघात्मक ढांचे और भारत के संविधान द्वारा, जो प्रत्यक्ष, समान तथा सार्विक मताधिकार विनिर्दिष्ट करता है, सुनिश्चित की जाती है। यही नहीं, सामाजिक और आर्थिक विकास में पिछड़े हुए संजातीय समुदायों (नियमतः अनुसूचित जनजातियां और

अनुसूचित जातियां) को देश के विधिकारी निकायों में प्रतिनिधित्व के मामले में (और इसके अलावा शिक्षा और रोज़गार जैसे मामलों में भी) कुछ विशेष सुविधाएं प्रत्याभूत हैं।

कुछ कम अंश तक यह समानता राजकीय तंत्र में और विशेषकर उसके उच्च सोपानों—भारतीय प्रशासनिक सेवा और दूसरी केंद्रीय सेवाओं—में भी पायी जाती है, जिन्हें चुनावों की सहायता से नहीं, बल्कि प्रति-स्पर्धात्मक परीक्षाओं के ज़रिये और सेवा-नियमों द्वारा गठित किया जाता है। लेकिन, जैसे कि इस कृति में दिखलाया गया है, यहां भी किसी भी संजातीय समूह को कोई एकाधिकारी स्थिति प्राप्त नहीं है।

इस दृष्टि से भारत की तुलना न पश्चिमी यूरोप के आस्ट्रिया-हंगरी जैसे देशों से और न क्रांतिपूर्व रूस से ही की जा सकती है, जहां महत रूसी अंधराष्ट्रवाद की भावनाएं प्रबल थीं और जातीय अल्पसंख्यकों के प्रति तिरस्कारपूर्ण रवैया था। भारत में जातीय अल्पसंख्यकों की समस्या का अस्तित्व सिर्फ़ कुछ राज्यों के स्तर पर ही है।

दो सदी से अधिक अंग्रेज़ भारत में उत्पीड़क जाति रहे। उनके विरुद्ध संघर्ष ने भारतीय जातियों और जातीय-भाषाई समूहों को ऐक्यबद्ध किया, उसने राष्ट्रीय (अर्थात राजकीय) एकीकरण को बढ़ावा दिया। हमारे समय में कुछ ज्ञात विदेशी शक्तियां अंग्रेज़ों की भूमिका को ग्रहण करने की कोशिश कर रही हैं, जो नवउपनिवेशवाद की नीति का अनुसरण कर रही हैं और इस देश को विखंडित करने के उद्देश्य से किसी भी पार्थक्यवादी कार्रवाई को समर्थन प्रदान कर रही हैं। इन अवस्थाओं में केंद्रीय सरकार की भूमिका के, उसकी स्थिरता और जातीय-भाषाई विवादों का सफलता-पूर्वक नियमन करने की उसकी क्षमता के, देश की प्रादेशिक अखंडता के लिए उसके संघर्ष के महत्व में उल्लेखनीय वृद्धि आ जाती है। स्वतंत्र भारत के विकास का अनुभव क़ायलकारी ढंग से यह प्रमाणित करता है कि भार-तीय अपनी जातीय समस्याओं को समूचे तौर पर जनतांत्रिक आधार पर किसी भी तरह की बाहरी प्रेरणा के बिना अपने आप हल करने में पूरी तरह से समर्थ हैं। भारत का "बाल्कनीकरण" (विरोधी राज्यों में खंडीकरण) करने, देश के उत्तर-पूर्व में तथाकथित "क़बायली राज्यों की मेखला" का निर्माण करने की समुद्र-पार गढ़ी गयी योजनाएं, पंजाब और कश्मीर को देश से विलग करने की योजनाएं हर ही बार असफल रहती हैं। यह उल्लेखनीय है कि देश की प्रादेशिक एकता को बनाये रखने के

संघर्ष में भारत की वस्तुतः देशानुरागी शक्तियों की स्थितियां मज़बूत होती जाती हैं और साथ ही भारतीय "प्रवरता" और "अनन्यता" के नारों के नीचे कार्यशील शक्तियों की आधारहीनता, बल्कि उनका विभाजनकारी सारतत्व तक सामने आ जाता है।

अंत में भारत में जातीय-भाषाई स्थिति के पुस्तक में लक्षित सबसे महत्व-पूर्ण लक्षणों में एक पूंजीवाद के अंतर्गत जातीय समस्या के विकास में दो प्रवृत्तियों का काल में संपात है। हमारा आशय यह है कि समकालीन भारत में जातीय आंदोलनों में वृद्धि और एकीकारी प्रक्रियाओं का त्वरण, दोनों ही देखने में आते हैं। लगता है कि जैसे ये प्रवृत्तियां काल में संपीडित हो गयी हों। इस तरह की कोई भी चीज़ न तो पश्चिमी यूरोप के देशों में और न दूसरे महाद्वीपों के देशों में ही देखी गयी थी, जो दीर्घकालिक औप-निवेशिक पराधीनता से बचे रहे थे।

इस पुस्तक में मुख्य ध्यान भारतीय वास्तविकता के ऐसे तथ्यों और परिघटनाओं की तरफ़ किया गया है, जिनकी व्याख्या मुख्यतः पहली प्रवृत्ति की क्रिया से—जातीय जीवन और जातीय आंदोलनों की जागृति और विकास से—की जा सकती है। दूसरी प्रवृत्ति हमारे विवेचन में सिर्फ़ तब ही आती है कि जब जातीय आंदोलनों के बारे में कुछ ठोस तथ्य उद्धृत करने और उनके अंतर्विरोधों को प्रकाश में लाने की, उनकी भावी संभाव-नाओं और देश की राजकीय, राजनीतिक तथा आर्थिक एकता पर उनके प्रभाव का आकलन करने की आवश्यकता उत्पन्न होती है। दूसरी प्रवृत्ति की क्रिया का आकलन जातीय अंतर्विरोधों के निरपेक्षीकरण और जातीय-भाषाई विवादों के अतिमूल्यांकन से बचने के लिए भी आवश्यक है।

इस प्रसंग में एक बहुत ही उल्लेखनीय उदाहरण को ध्यान में रखना उपयोगी रहेगा। पुस्तक में मद्रास राज्य (वर्तमान तमिलनाडू) में द्रविड़ मुनेत्र कड़गम के कार्यकलाप का विस्तार से विश्लेषण किया गया है, जो साठ के दशक के उत्तरार्ध में अपने चरम पर पहुंचा था। यह संगठन खुले तौर पर अंधराष्ट्रवादी आधार पर, "द्राविड़ दक्षिण बनाम आर्य उत्तर" की बुनियाद पर खड़ा था और अब भी खड़ा है। कुछ द्रमुक नेताओं ने तथाकथित "स्वतंत्र द्रविड़स्तान" की स्थापना का नारा सामने रखा, जिसमें दक्षिण भारत के सभी प्रदेशों को समाविष्ट होना था, जहां की अधिकांश आबादी द्रविड़ मूल की जातियों और जातीय समूहों की है।

१९५६ के प्रशासनिक सुधार और भाषाई आधार पर राज्यों के निर्माण

के बाद भारत के दक्षिण में स्थिति सारतः बदल गयी। केरल, कर्णाटक और आंध्र के द्राविड़ राज्यों के बनने और विकास का यह परिणाम हुआ कि वे तमिल राष्ट्रवादी नेताओं के विरोध में सामने आ गये। "द्रविड़स्तान" के नारे को सिर्फ़ कार्यसूची से ही नहीं हटा दिया गया, बल्कि लगभग विस्मृत भी कर दिया गया। यही नहीं, तमिलों और मलयालियों, तमिलों और कन्नड़ों के बीच विवाद शुरू हो गये, जो "दक्षिणवालों" के "उत्तरवालों" के साथ, अर्थात केंद्रीय सरकार के साथ झगड़े की अपेक्षा कहीं अधिक प्रखर स्वरूप ग्रहण करते गये।

स्वयं द्रविड़ मुनेत्र कड़गम में भी फूट पड़ गयी। उसके नेताओं के एक समूह ने उससे नाता तोड़ लिया और अखिल भारतीय अन्ना द्रविड़ मुनेत्र कड़गम (अद्रमुक) के नाम से अपनी अलग पार्टी बना ली, जिसने तमिलनाडू में पुराने द्रमुक को सत्ताच्युत करके उसका स्थान ले लिया। दोनों की कड़गमों में प्रचंड आपसी संघर्ष चल रहा है, साथ ही दोनों के बीच राज्य में तमिल राष्ट्रवाद की भावनाओं को थोपने के बारे में भी होड़ चल रही है। ये भावनाएं ख़ासे स्थिर स्वरूप की हैं और तमिलनाडू के शहरी मध्यम संस्तरों में व्यापक रूप से फैली हुई हैं। वे, उदाहरण के लिए, हिंदी की सारे भारत की राजभाषा के रूप में, अर्थात देश में निवास करनेवाले जातीय-भाषाई समूहों के बीच अंतर्जातीय संसर्ग-साधन के रूप में कठोर आलोचना में व्यक्त होती हैं।

द्रमुक और अद्रमुक सरकारों ने तमिल भाषा की "रक्षा" और विकास के लिए प्रदर्शनात्मक क़दम उठाये हैं। लेकिन इन सरकारों के इस भाषा को माध्यमिक विद्यालयों की उच्च कक्षाओं में और विश्वविद्यालय शिक्षा का एकमात्र और बुनियादी माध्यम बनाने के सभी प्रयासों को छात्रों और युवजन के, जो तमिल राष्ट्रवादियों के मुख्य सामाजिक आधार का निर्माण करते हैं, सतत विरोध का सामना करना पड़ता है। तमिल युवजन अपने लिए भौगोलिक गतिशीलता, अर्थात तथाकथित "अखिल भारतीय कैरियर" को सुनिश्चित करने की आवश्यकता को अधिकाधिक स्पष्टता के साथ समझते जा रहे हैं। यही कारण है कि—जैसे कि भारतीय समाचारपत्रों से पता चलता है—तमिलनाडू में हिंदी के अध्ययन के लिए विभिन्न कक्षाओं और पाठ्यक्रमों को अधिकाधिक लोकप्रियता प्राप्त होती जा रही है। इस प्रकार, तमिलनाडू में स्थानीय राष्ट्रवाद के रोपे जाने के बावजूद एकीकारी रुझान अपना पथ आप प्रशस्त किये जा रहा है।

पुस्तक के मूल प्रयोजन पर वापस आते हुए यह लक्षित करना महत्वपूर्ण है कि १९४७ से लेकर सत्तर के दशक के आरंभ तक की अवधि में भारत में आबाद जातियों और जातीय समूहों के जातीय आंदोलनों का विशेषकर व्यापक विस्तार हुआ, जिन्हें लंबे समय से विदेशी आधिपत्य ने दबाये रखा था और जो भारतीय जनता के राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के दौरान क़ुदरती तौर पर पृष्ठभूमि में रहे थे। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद भारत को अनिवार्यतः जातीय आंदोलनों और विवादों को भोगना पड़ा। इस काल में जातीय राज्यों के निर्माण द्वारा जातीय समस्या को जनतांत्रिक ढंग से हल करने का सवाल विशेष प्रखरता के साथ उठा।

भारतीय भाषाओं के, जिन्हें औपनिवेशिक काल में अंग्रेज़ी ने संसर्ग के महत्वपूर्ण क्षेत्रों के बाहर धकेले रखा था, सामाजिक कृत्यों के तीव्र विस्तारण की नियमसंगत, इतिहासतः निर्दिष्ट प्रक्रिया के अध्ययन का बहुत भारी सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक महत्व है। संभवतः, हिंदी के एक जातीय भाषा-व्यवस्था बन जाने की प्रक्रिया का विशेष महत्व है।

समकालीन भारत के लिए भाषाई समस्या का समाधान अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। किसी भाषा के चयन का राजकीय तंत्र के कार्य पर और कर्मियों के चुनाव और प्रशिक्षण की प्रणाली पर प्रभाव पड़ता है। आर्थिक तथा सामाजिक कार्यक्रमों के कार्यान्वयन में सफलताएं और असफलताएं, वयस्क आबादी में साक्षरता का प्रसार, माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा-प्रणाली का सुधार और प्रसार और, अंततः, जन-संपर्क साधनों का विकास—यह सब किसी हद तक इसी पर निर्भर करता है।

वर्षों से भारत कृषि में आधुनिक प्रविधियों का प्रचलन करने और ग्रामीण आबादी की जीवनावस्थाओं का सुधार करने की ओर लक्षित सामुदायिक विकास कार्यक्रम को कार्यान्वित करता आया है। सरकार इस कार्यक्रम को बहुत महत्व देती है और उस पर गंभीर आशाएं केंद्रित करती है। इसकी बुनियाद में शहर और देहात के बीच संचार-संसर्ग, सूचना का विनिमय है। लेकिन शहरों में आम तौर पर मानक साहित्यिक भाषा प्रयोग में आती है और देहाती आबादी बोलियों का प्रयोग करती है, जो साहित्यिक भाषा से काफ़ी भिन्न होती हैं। नतीजे के तौर पर संसर्ग में एक खाई पैदा हो गयी है। इस खाई को पाटने के लिए देहाती बोलियों का इस्तेमाल, जिनमें अकसर आवश्यक पद और शब्द नहीं पाये जाते, और देहात के सांस्कृतिक स्तर को उन्नत करना, अर्थात साक्षरता का विकास, जो अपनी

बारी में प्रशिक्षित कर्मियों की अपेक्षा करता है, ज़रूरी है। एक विषम चक्र उत्पन्न हो जाता है, जिससे सिर्फ़ भाषाई समस्या के मिश्रित हल की सहायता से बाहर निकला जा सकता है। आर० बी० लेपाझ लिखते हैं: "जैसे कि हर कोई, जिसे अल्पविकसित देशों में ग्रामीण विकास-कार्य का अनुभव प्राप्त हो चुका है, स्वीकार करेगा, भाषाई अवरोध निश्चय ही आर्थिक प्रगति के मार्ग में अवरोध हैं" (आर० बी० लेपाझ, 'राष्ट्रभाषा का प्रश्न। नवस्वाधीन राज्यों की भाषाई समस्याएं' [अंग्रेज़ी में], लंदन, १९६४, पृ० २)।

भाषाई कारक जन-संपर्क अथवा सूचना-प्रसार से किसी भी रूप में संबद्ध सामाजिक प्रक्रियाओं के लिए भी महत्वपूर्ण है—अवशिष्ट जातीय अभिलक्षणों के पुनर्गठन के लिए, छोटे जातीय समूहों और जनजातियों के आसपास की आबादी के प्रति रवैये और जनजाति के भीतर कुलों अथवा गोत्रों के बीच संबंधों में भी तबदीलियां लाने के लिए और भारतीय नगरों में आप्रवासियों के सफल अनुकूलन के लिए।

ये सभी समस्याएं भारतीय भाषाओं के द्रुत विकास और उनके सामाजिक कृत्यों के विस्तारण का तक़ाज़ा करती हैं। लेकिन बहुभाषी देश में यह एक जटिल और अंतर्विरोधी और अकसर प्रचंड विवादों के साथ चलनेवाली प्रक्रिया है। भाषाई राज्यों में उदित नया जातीय संभ्रांतवर्ग अपनी भाषा की संसर्ग-संचार के सभी क्षेत्रों में जड़ें जमाना चाहता है। इस आकांक्षा को संबद्ध राज्य के जातीय अल्पसंख्यकों (जिनकी संख्या कभी-कभी ख़ासी बड़ी होती है) के, अंग्रेज़ी के समर्थकों के और हिंदी के एक अंतर्जातीय संसर्ग-माध्यम के रूप में आम इस्तेमाल के समर्थकों के प्रतिरोध का सामना करना होता है। द्वंद्व स्थितियों के कारण इन्हीं अंतर्विरोधों में छिपे हुए हैं।

पुस्तक में ऐसी अनेक स्थितियों पर दृष्टिपात किया गया है। इस बीच भाषाई समस्या से जनित तनाव भारत के कई राज्यों और ख़ासकर कर्णाटक में पैदा हुआ है। १९८१ में प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री वी० के० गोकक की अध्यक्षता में एक ग़ैर-सरकारी आयोग ने राज्य सरकार को सुझाव दिया कि कन्नड़ भाषा का राज्य के जीवन के सभी क्षेत्रों में प्रचलन किया जाना चाहिए। इनमें माध्यमिक विद्यालय भी आते थे, जहां उसे चौथी कक्षा से एकमात्र शिक्षण-माध्यम बन जाना था। कर्णाटक के तत्कालीन मुख्य मंत्री ने सार्वजनिक रूप से घोषणा की कि आगे से सिर्फ़ कन्नड़ को ही राज्य के

जीवन में और सरकारी कामकाज में मुख्य स्थान प्राप्त होगा ('इंडिया टुडे', १ अप्रैल, १९८१)।

लेकिन अल्पसंख्यकों की प्रतिकूल प्रतिक्रिया के डर से सरकार ने कन्नड़ को लागू करने में कोई जल्दबाज़ी नहीं की। विद्यालयों के संबंध में कन्नड़ और अल्पसंख्यकों की भाषाएं (मुख्यतः तमिल और उर्दू), दोनों का शिक्षण-माध्यम के रूप में उपयोग करने का निर्णय लिया गया। इसने कन्नड़ के अनुरागियों में कुछ नाराज़गी पैदा की, जो पिछले तीन साल (१९८२–१९८४) से राज्य सरकार पर दबाव डालने के लिए कन्नड़ के पक्ष में व्यापक आंदोलन चला रहे थे, जिसका अंत हिंसा, प्राणहानि और सांपत्तिक विनाश के साथ हुआ। आख़िर आंदोलनकारियों ने अपना लक्ष्य प्राप्त कर लिया—सरकार को झुकना पड़ा।

कर्णाटक में घटनाक्रम इस पुस्तक में वर्णित भारत में भाषाई विवादों की प्रारूपिकता की पूर्ण संगति में विकसित होता रहा है और यह इस तरह के विवादों की उत्पीत्त की नियमसंगति को प्रमाणित करता है, जो भविष्य में भी पैदा हो सकते हैं।

लेकिन भाषा-समस्या वर्तमान भारत के लिए चाहे कितना ही महत्व क्यों न रखती हो, उसका निरपेक्षीकरण अथवा उसे वियुक्त रूप में लेना कदाचित ही फलदायी हो सकता है। भाषा का प्रश्न भारत में जातीय समूहों के जागरण के ठोस रूपों का और जातीय आंदोलनों के लक्ष्यों का निर्धारण करनेवाले कारकों में मात्र एक ही कारक है। इस विचार की पुष्टि इस समस्या-समष्टि के बारे में भारतीय साहित्य में आये "शब्दावली विस्थापन" से होती है। साठ के दशक के मध्य तक संजाति-भाषाई—तत्वतः जातीय—आंदोलनों के लिए अधिकांशतः प्रसिद्ध इतिहासकार और साहित्यकार कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी द्वारा प्रचालित "भाषावाद" और "भाषावादी" शब्दों का प्रयोग किया जाता था। अब इसका स्थान कहीं अधिक व्यापक, यद्यपि सटीक नहीं, "प्रादेशिकतावाद", "प्रादेशिकतावादी" शब्दों ने ले लिया है।

१९५६ के प्रशासनिक सुधार के बाद बीते वर्षों में कई राज्यों में नये प्रभावशाली संभ्रांतवर्ग—राजनीतिक, आर्थिक, नौकरशाही, सांस्कृतिक—का उदय हुआ है। सारी ही जाति के हितों का प्रतिनिधित्व करने के दावेदार ये संभ्रांत समूह "राज्यों की विशिष्टता" की रक्षा के विचार का प्रचार करते हैं और सबसे पहले राज्य की देशज आबादी, तथाकथित "भूमिपुत्रों"

के हितों को प्रत्याभूत किये जाने का आग्रह कर रहे हैं। बेरोज़गारी में सतत वृद्धि से जनित इस समस्या का समाधान "भूमिपुत्रों" के रोज़गार पाने में प्राथमिकता पाने के अधिकार के वैधानिक संरक्षण में देखा जाता है।

कई राज्यों में इसके अनुरूप क़ानून बनाये गये और दूसरे राज्य इस उदाहरण का अनुकरण कर रहे हैं। १९८४ में मेघालय विधानसभा ने एक विधेयक का अनुमोदन किया, जिसके अनुसार राज्य प्रशासन में सभी पदों और राज्य में स्थित सभी उद्योगधंधों में रिक्त स्थानों पर नियुक्तियां इस प्रकार की जानी चाहिए–४०% खासी-जयंतिया और ४०% गारो जातीय समूहों के लोगों को और ५% राभा, बड़-कचारी और कोच जनजातियों में से प्रत्येक के राज्य में स्थायी रूप से निवास करनेवाले लोगों को। दूसरे राज्यों के रहनेवाले शेष ५% के लिए आवेदन कर सकते हैं, मगर सिर्फ़ राज्य के अधिकारियों से निवास अनुज्ञापत्र (रेज़ीडेंशियल परमिट) पाकर ही ('स्टेट्समैन', १७ जलाई, १९८४)।

कर्णाटक की घटनाएं अत्यंत सारगर्भित हैं। पूर्वोल्लिखित भाषाई उपद्रवों को देखते हुए राज्य विधानसभा की सदस्य डॉ० सरोजिनी महिषी की अध्यक्षता में एक आयोग की स्थापना की गयी, जिसने राज्य के प्रशासनतंत्र में और सरकारी उद्यमों में ८०% स्थान देशज कन्नडीगा लोगों के लिए आरक्षित करने और राज्य में भविष्य में काम पाने के लिए कन्नड़ के ज्ञान को "वांछनीय" नहीं, बल्कि "अनिवार्य" शर्त भी बनाने का सुझाव दिया ('टेलीग्राफ़', कलकत्ता, २१ जून, १९८४)। भाषाई समस्या ने धीरे-धीरे अपना स्थान सामाजिक-आर्थिक समस्या को दे दिया।

भाषाई राज्यों के आंतरिक समेकन के साथ-साथ इस पुस्तक में वर्णित तेलंगाना (आंध्र), सौराष्ट्र (गुजरात) और विदर्भ (महाराष्ट्र) जैसे प्रदेशों में स्वायत्ततावादी आंदोलन ठप हो गये। १९८४ की गरमियों में केंद्रीय सरकार के मंत्री वसंत साठे ने विदर्भ प्रदेश के महाराष्ट्र से अलग किये जाने और उसे अलग राज्य में बदले जाने के आंदोलन में फिर प्राण फूंकने की कोशिश की, लेकिन उन्हें कोई समर्थन न प्राप्त हो सका। साथ ही महाराष्ट्र विधानसभा ने राज्य के सभी क्षेत्रों–बृहत्तर बंबई, मराठवाड़ा, विदर्भ और कोंकण–को सामाजिक-आर्थिक क्षेत्र में समान बनाने के लिए क्षेत्रीय विकास परिषदें गठित कीं ('स्टेट्समैन', २५ जुलाई, १९८४; 'टाइम्स ऑफ़ इंडिया', १ अगस्त, १९८४)। इसे महाराष्ट्र के और अधिक आंतरिक समेकन में सहायक होना चाहिए। अलबत्ता कम समेकित

राज्यों में, विशेषकर हिंदी मेखला के राज्यों में, स्वायत्ततावादी आंदोलन चले ही जा रहे हैं। उदाहरण के लिए, मध्यप्रदेश से छत्तीसगढ़ क्षेत्र के अलग राज्य में बदले जाने का आंदोलन अधिकाधिक ज़ोर पकड़ता जा रहा है।

हाल के वर्षों में एक ही राज्य की सीमाओं के भीतर कार्यशील तथाकथित "प्रादेशिक" राजनीतिक दलों की संख्या और प्रभाव में बढ़ती हुई है – आंध्र में तेलुगूदेशम, जम्मू-कश्मीर में नेशनल कान्फ्रेंस, पंजाब में अकाली दल, आदि (प्रसंगतः, यहां "प्रादेशिक" शब्द की अनिश्चितता और बहुअर्थता विशेषकर स्पष्टता के साथ देखने में आती है)। येही वे दल हैं, जो राज्यों की स्वायत्तता के और व्यापक किये जाने और केंद्र तथा राज्यों के बीच अधिकारों और वित्त साधनों के भी वितरण पर पुनर्विचार किये जाने की अधिकाधिक आग्रहपूर्वक मांग कर रहे हैं। भारतीय पत्रकार और सार्वजनिक मामलों के बारे में लिखनेवाले अकसर "सांविधानिक अभियंत्रण", अर्थात देश की संघीय प्रणाली के सांविधानिक परिष्करण की बात करते हैं। इन रुझानों को ध्यान में रखते हुए भारत सरकार ने मार्च, १९८३ में उच्चतम न्यायालय के भूतपूर्व न्यायाधीश आर० एस० सरकारिया की अध्यक्षता में केंद्र तथा राज्यों के बीच संबंधों पर विचार करने और वर्तमान सांविधानिक सीमाओं के भीतर उनमें सुधारों के बारे में सूझाव देने के लिए एक विशेष आयोग की स्थापना की।

इन सभी बातों को ध्यान में रखते हुए लेखक ने इस पुस्तक में भाषाई कारक की जाति के अन्य मुख्य लक्षणों – सामान्य प्रदेश, आर्थिक जीवन तथा आत्मिक स्वरूप – के साथ अंतःक्रिया की ठोस प्रक्रिया को प्रकट करने के लिए व्यवस्थापरक विश्लेषण की विधि को अपनाया है। पुस्तक का ढांचा इसी के अनुरूप बनाया गया है। इसमें लेखक को कितनी सफलता मिली है, इसका निर्णय पाठक ही करेंगे। सिर्फ़ यह ध्यान में रखा जाना चाहिए कि यह कृति भारत में जातीय तथा भाषाई समस्याओं की विशद विवेचना होने का दावा नहीं करती। इनका अध्ययन बहुत से भारतविदों – विभिन्न क्षेत्रों के विशेषज्ञों – के प्रयासों की अपेक्षा करता है।

यह कृति मुख्यतः भारतीय सामग्री पर आधारित है। लेकिन इसमें जातीय समस्याओं के समाधान में सोवियत संघ के अनुभव को भी ध्यान में रखा गया है। इस अनुभव को जवाहरलाल नेहरू, डॉ० राजेंद्रप्रसाद, तथा भारतीय शिक्षाशास्त्रियों और भाषाविज्ञानियों द्वारा बहुत मूल्यवान माना गया है। जैसे कि भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के सबसे वयोवृद्ध नेताओं में

से एक, एस० जी० सरदेसाई ने लिखा है: "दूसरे देशों के अनुभव का यांत्रिक अनुकरण लक्ष्य को प्राप्त करने में सहायता नहीं देगा। इसके लिए अपना रास्ता आप निकालना होगा। लेकिन इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि विविध जातियों और संस्कृतियों के एक सुखी परिवार का निर्माण करने में सोवियत संघ की सफलताएं हमें रास्ता दिखलायेंगी और इस राह पर परीक्षाओं और कठिनाइयों को कम से कम करने में सहायता देंगी" (एस० जी० सरदेसाई, 'भारत और रूसी क्रांति' [अंग्रेज़ी में], नयी दिल्ली, १९६७, पृ० १०६)।

अध्याय १

भाषाई एकता की संकल्पना

> भाषाओं की रचना पढ़े-लिखे लोगों द्वारा नहीं, बल्कि लोगों द्वारा, और सिर्फ़ सोचने-विचारनेवाले लोगों द्वारा ही नहीं, बल्कि सभी तरह के लोगों द्वारा की जाती है।
>
> **अ० प० सुमारोकोव**

एक समाजतः निर्धारित परिघटना के रूप में सामान्य भाषा

भाषा मानव-संसर्ग का एक अत्यंत महत्वपूर्ण साधन है। इस व्यापक परिभाषा में भाषा के अध्ययन के प्रति अनेक भिन्न उपागम पूर्वकल्पित हैं। इनमें से एक के अनुसार भाषा संसर्ग का एक उपकरण है। इस मामले में भाषा का एक इतिहासतः निर्मित और समाजतः निर्धारित तंत्र की तरह अध्ययन किया जाता है, जो अपने में समाज के सदस्यों में पारस्परिक समझ, अर्थात संसर्ग को सुनिश्चित करनेवाले कतिपय एककों और उनके लागू होने के नियमों की व्यवस्था को व्यक्त करता है। इस उपागम के अंतर्गत भाषा के अध्ययन के सभी पहलू वास्तविक भाषाविज्ञान के विषय बन जाते हैं। दूसरे उपागम में भाषा के संसर्ग में सहभागियों के साथ सहसंबंध के अन्वेषण की कल्पना की जाती है। इस तरह के संबंध सामाजिक भाषाविज्ञान की परिधि में आते हैं, जो भाषा और समाज का सहसंबद्ध व्यवस्थाओं के रूप में अध्ययन करता है और दोनों के बीच कारण-संबंधों का विश्लेषण करता है।

पहली नज़र में भाषा और समाज के बीच सहसंबंध एकदम सीधा-सादा और असंदिग्ध प्रतीत होता है। हो सकता है कि इस तरह की छाप "हर जाति के लिए एक सामान्य भाषा" के सूत्र से उत्पन्न हुई हो, जो

जाति के एक बुनियादी अभिलक्षण की सबसे अमूर्त परिभाषा है। "भाषा –समाज" सहसंबंध का अधिक सूक्ष्म विवेचन इसके जटिल और अंतर्विरोधी स्वरूप को प्रकट कर देता है।

इस सूरत में समाज को या तो एक जातीय समुदाय (जातीय लिहाज़ से संयुक्त) कहा जायेगा, या प्राग्जातीय समुदाय कहना होगा, अर्थात जाति बनने के पथ पर प्रगत समुदाय, जो एक लंबी ऐतिहासिक तथा संजातीय प्रक्रिया के दौरान निर्मित हुआ है और एक विशिष्ट ऐतिहासिक युग–भारत के प्रसंग में, स्वाधीनता की अवस्थाओं में पूंजीवादी संबंधों के विकसित होने के युग–से संबद्ध होता है।

एक जातीय समुदाय के सभी सदस्य आम तौर पर एक ही भाषा-समुदाय के होते हैं और दूसरे सदस्यों के साथ वे एक भाषा के माध्यम से संसर्ग में आते हैं, जो उन्हें एक-दूसरे को समझने की संभावना प्रदान करती है। लेकिन ऐसे व्यक्ति साथ ही अलग-अलग सामाजिक वर्गों (संस्तरों) के होते हैं, जिनके भाषा के प्रति भिन्न-भिन्न नज़रिये हो सकते हैं और जो उसके विकास पर भिन्न-भिन्न प्रभाव डाल सकते हैं और विद्यमान भाषाई स्थिति में भिन्न-भिन्न भूमिकाएं अदा कर सकते हैं।

परस्परविरोधी सामाजिक तथा वर्गीय संरचना के समाज का एक सामान्य अंतर्निहित लक्षण उसकी भाषा है, जिसे लेनिन ने सामान्य प्रदेश के साथ-साथ जाति का एक चिरंतन अभिलक्षण बताया है। लेकिन जाति के एक अभिलक्षण के नाते भाषा-साम्य एक जटिल और नानापक्षीय परिघटना है। पहली नज़र में भी इस साम्य में एक साहित्यिक भाषा, प्रादेशिक बोलियां, जनपदीय तथा अन्य कार्यात्मक भाषा-रूप समाविष्ट हो सकते हैं, जिनमें एक-दूसरे से काफ़ी अंतर होते हैं।

सोवियत विद्वान जातीय भाषा को सामान्यतया एक इतिहासतः उद्विकसित सत्ता (व्यवस्था) मानते हैं, जिसमें अनेक तत्व समाविष्ट हैं: साहित्यिक भाषा, साहित्यिक भाषा का बोलचाल का रूप, रोज़मर्रा की भाषा, शहरी स्थानिक बोली (अर्धभाषिका), एक संस्कृत बोली अथवा भाषिका, अंतर्भाषिका, प्रादेशिक बोलियां अथवा भाषिकाएं, सामाजिक वृत्तिभाषाएं, आदि। इसके अलावा जातीय भाषा-व्यवस्था के उपरोक्त तत्वों का अकसर और अधिक उपविभाजन हो सकता है। उदाहरण के लिए, साहित्यिक भाषा के ढांचे के भीतर विभिन्न कार्यात्मक शैलियां होती हैं–विज्ञान में प्रयुक्त भाषा, प्रेस में प्रयुक्त भाषा और कामकाज की भाषा। अपनी

भारी में साहित्यिक भाषा जैसी कार्यात्मक शैली विभिन्न प्रकारों में विभाजित होती है और उसमें सांस्कृतिक बोलियां अथवा स्थानीय (जनपदीय) साहित्यिक भाषाएं भी समाविष्ट हो सकती हैं। क्षेत्रीय बोली बहुधा स्थानिक बोलियों में बंट जाती है, जिनमें आपस में भिन्नता होती है और जो अन्य बोलियों में बदल जाती हैं। साथ ही क्षेत्रीय बोली एक अधिक जटिल परि-घटना – एक अंतर्भाषिका – का तत्व हो सकती है, जिसमें अनेक क्षेत्रीय बोलियां शामिल हो सकती हैं और जिसका अंतर्भाषिक संसर्ग के लिए उपयोग किया जाता है।

जातीय भाषा-व्यवस्था के तत्व सामान्यत: सामाजिक दृष्टि से निष्क्रिय नहीं होते – उनमें न्यूनाधिक सुस्पष्ट सामाजिक रंगत होती है। मसलन, पूंजीवाद के तहत जाति के निर्मित होने की दीर्घकालिक अवधि में साहित्यिक भाषा मुख्यत: शासक वर्गों और बुद्धिजीवियों द्वारा ही बोली जाती है। मिसाल के लिए, शिक्षित उर्दूभाषियों की बोलचाल में भाषाविज्ञानी इति-हासत: निर्मित और समाजत: तथा प्रदेशत: निर्धारित देहलवी, लखनवी और हैदराबादी "तर्ज़ों" में आसानी से अंतर कर सकते हैं, जिनके बीच अंतर केवल ध्वन्यात्मक ही नहीं हैं। विकसित जातीय समष्टि में क्षेत्रीय बोलियां भी सामाजिक बोलियों का स्वरूप ग्रहण कर लेती हैं। चूंकि क्षेत्रीय बोलियों का उपयोग देहाती इलाक़ों में परिवार और दैनंदिन संसर्ग तक ही सीमित है, इसलिए ये बोलियां देहाती आबादी के निचले संस्तरों का लक्षण बनती जा रही हैं।

जातीय भाषा-व्यवस्था की सारी जटिलता और प्रत्येक अलग व्यवस्था (संरचना) की सारी विशिष्टताओं के बावजूद वह कोई सांयोगिक अथवा यादृच्छिक तत्वों के समूह में नहीं परिणत हो जाती है। व्यवस्था की अवस्था का और उसके आंतरिक संरचनात्मक सूत्रों का निर्धारण कठोर नियमों के अनुसार जातीय समाज के विकास की मात्रा द्वारा किया जाता है।

जातीय भाषाओं के विकास की सामान्य नियमसंगतियों को कार्ल मार्क्स और फ़्रेडरिक एंगेल्स ने इस प्रकार सूत्रित किया है: "...किसी भी आधुनिक विकसित भाषा में स्वत:उद्विकसित बोलचाल अंशत: भाषा की पहले से मौजूद सामग्री से ऐतिहासिक विकास के परिणामस्वरूप, जैसे रोमांस और जर्मनीय भाषाओं में देखा जाता है, और अंशत: एक ही जाति के भीतर बोलियों के आर्थिक तथा राजनीतिक संकेंद्रण द्वारा जनित संकेंद्रण के परिणामस्वरूप

जातीय भाषा में परिणत हो गयी है" (का० मार्क्स, फ़े० एंगेल्स, 'जर्मन विचारधारा', १८४५–१८४६)।

इस प्रकार, जातीय भाषा-व्यवस्थाओं के बनने की प्रक्रिया में अन्य भाषा-रूपों के कृत्यों की सापेक्षता में साहित्यिक भाषा के सामाजिक कृत्यों की समस्या पहला स्थान लेती है।

किसी "सामान्य", अर्थात जातीय, भाषा के बनने की प्रक्रिया को समझने के लिए यह ध्यान में रखना ज़रूरी है कि भाषा और समाज के बीच संबंध में दो नहीं, तीन तत्व विद्यमान होते हैं–भाषा, समाज और संसर्ग। अंतोक्त इतना ही वस्तुपरक कारक है कि जितने अन्य दोनों हैं। वह भाषा और समाज के बीच संबंध को भौतिक अभिव्यक्ति देता है, अर्थात संसर्ग के बिना इस प्रकार के संबंध का होना असंभव होगा। कोई भाषा जैसे ही संसर्ग के साधन का काम देना बंद कर देती है कि वह विकसित होना बंद कर देती है, वह सिर्फ़ साहित्य में ही संरक्षित एक मृत भाषा बन जाती है।

संसर्ग जातीय समाज के जीवन का अभिन्न अंग है। यह भौतिक मालों के उत्पादन और सांस्कृतिक मूल्यों के सर्जन में अनिवार्यतः मौजूद रहता है। यही कारण है कि मार्क्सवादी समाजशास्त्र किसी समाज में सामाजिक संसर्ग के रूपों और परिमाण को सामाजिक उत्पादन के विकास के स्तर पर प्रत्यक्षतः निर्भर मानता है। मसलन, सामंतवाद से पूंजीवाद में संक्रमण ग्राम्य समुदाय के संकीर्ण जगत को धीरे-धीरे ध्वस्त कर देता है। जातीय समाज में संसर्ग अधिकाधिक सार्विक स्वरूप ग्रहण करता जाता है।

सामाजिक संसर्ग के रूपों और परिमाण की सामाजिक उत्पादन के विकास के स्तर पर निर्भरता के विश्लेषण में जातीय क्षेत्र की सुसंहति, परिवहन तथा संचार के विकास की मात्रा, आबादी की क्षेत्रीय गतिशीलता, नगरीकरण के स्तर और नगरों की भूमिका, आबादी की सामाजिक गतिशीलता की मात्रा, साक्षरता के स्तर, आदि जैसे कितने ही कारकों को ध्यान में रखना आवश्यक है। वैज्ञानिक तथा प्रौद्योगिक क्रांति की बदौलत संसर्ग के पारंपरिक रूपों की जनसंचार साधनों द्वारा प्रतिस्थापना बहुत महत्वपूर्ण है, जिनमें भाषा सर्वप्रमुख भूमिका अदा करती है और अपनी बारी में जो भाषाई विकास के सभी पहलुओं पर काफ़ी प्रभाव डालते हैं।

सामाजिक संसर्ग का गहनीकरण और सार्विकता साहित्यिक मानक के विकास, जातीय भाषा के मानकीकरण के सतत सुधार की वस्तुपरक

आवश्यकता उत्पन्न कर देते हैं। इस प्रसंग में "भाषा के विकास" की संकल्पना के दो प्रत्यक्ष पहलू हैं। पहला पहलू संसर्ग के माध्यम के रूप में भाषा का विकास है। र० अ० बुदागोव ने क़ायलकारी ढंग से दर्शाया है कि इस तरह के विकास का स्रोत आंतरिक अंतर्विरोधों के समाधान द्वारा आत्मोन्नति है। वह लिखते हैं: "भाषा में ये लोगों की अपने विचारों और भावनाओं की अधिक उपयुक्त अभिव्यक्ति की तथा भाषित संसर्ग के माध्यम को सुधारने की अचेतन और कभी-कभी चेतन (साहित्यक मानक में) आकांक्षा की बढ़ती हुई मांगों और प्रत्येक ऐतिहासिक चरण में भाषा की वास्तविक संभावनाओं के बीच अंतर्विरोध हैं" (र० अ० बुदागोव, 'भाषा के विकास की समस्याएं' [रूसी में], मास्को, १९६५, पृ० ३३)।

दूसरा पहलू जातीय भाषा की विरचना में साहित्यक मानक की भूमिका और बोलचाल के रूपों तथा बोलियों से उसके सहसंबंध का, दूसरे शब्दों में, जातीय भाषा-व्यवस्था के सभी तत्वों के विकास का सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न है।

जातीय भाषा का विकास मुख्यत: अन्य भाषा-रूपों के कृत्यों के क्रमिक परिसीमन के ज़रिये साहित्यिक मानक के कृत्यों के प्रसार के साथ-साथ होता है। भाषा के विकास का यह पहलू भाषा के सामाजिक कृत्यों के विधान से संबंधित है।

भाषा के विकास के दोनों ही पहलू विभिन्न सामाजिक समूहों के हितों, नज़रियों, आदतों और परंपराओं के टकराव के साथ जुड़े हुए हैं। उदाहरण के लिए, हिंदी के पक्षधर साहित्यिक भाषा की शब्दावली के समृद्धिकरण और वैज्ञानिक तथा प्राविधिक शब्दावली की रचना के स्रोतों के बारे में अविराम वाद-विवाद चला रहे हैं—स्रोत संस्कृत हो अथवा अंतर्राष्ट्रीय शब्दावली, बोलचाल के रूप हो अथवा बोलियों से लिये गये शब्द। विभिन्न भाषा रूपांतरों के सामाजिक कृत्यों के बारे में भी विवाद है, विशेषकर साहित्यिक परंपराओंवाली संस्कृत बोलियों के बारे में।

रूप ग्रहण करती जाति की भाषा की दूसरी जातियों की भाषाओं के साथ भी अन्योन्यक्रिया होती है। इसमें एक महत्वपूर्ण कारक सामने आता है: इस अन्योन्यक्रिया के दौरान जातीय भाषा की कार्यशीलता का क्षेत्र परिवर्तनाधीन होता है। वह ऐसे संजातीय समुदाय के आत्मसात्करण के बाद, जो अपने पड़ोसियों की अपेक्षा सामाजिक-आर्थिक अर्थों में सामान्यतः ज़्यादा या कम विकसित होता है, प्रसार कर सकता है, अथवा या तो

किसी सीमावर्ती बोली के किसी और भाषा के किसी भाषिका समूह में अंतरण द्वारा या किसी परिधीय क्षेत्रीय बोली के पृथक्करण और उसके एक नयी स्वतंत्र भाषा के नाभिक के रूप में उदय के ज़रिये संकुचित हो सकता है।

जैसे कि स्वतंत्र भारत का अनुभव दिखलाता है, जातीय तथा भाषाई संबंधों में विविधता हो सकती है—वे शांतिमय और फलदायी संपर्कों के संबंधों से लेकर कटु विवादों और कलहों के संबंध भी हो सकते हैं। अंतोक्त प्रकार के संबंधों के लिहाज़ से ही भाषा का जाति के एक आधारभूत अभि-लक्षण का काम देना विशेषकर सुस्पष्ट होता है।

अलावा इसके, "भाषा का संजातीय कृत्य उसकी जातीय विशिष्टता में, प्रत्येक जन के कल्पनात्मक चिंतन के अननुकरणीय साहचर्यों में निहित है। जातीय भावना, संजातीय चेतना कई बातों में पैदायशी ज़बान पर आधारित होती हैं। यह बिलकुल स्वाभाविक ही है, क्योंकि मनुष्य इसी भाषा में अपनी मां के सबसे पहले शब्दों को सुनता है। यह अकारण ही नहीं है कि विभिन्न जनगण अपनी पैदायशी ज़बान को अपनी मातृभाषा कहते हैं" (म० इ० इसायेव, 'जाति और भाषा', 'वोप्रोसी इस्तोरिइ' [रूसी में], १६६८, अंक २, पृ० १०६)।

मातृभाषा से भावात्मक लगाव किसी भाषा विशेष के अधिकारों का उल्लंघन होने की स्थिति में जनव्यापी विरोध-प्रदर्शन का स्रोत होता है। पैदायशी ज़बान और जातीय संस्कृति के संरक्षण और वि-कास के नारों की जातीय समुदाय में द्रुत अनुक्रिया होती है और वे वर्गीय तथा सामाजिक विरोधों को अस्थायी तौर पर पृष्ठभूमि में धकेल देते हैं। भाषा राजनीतिक संघर्ष का हथियार बन जाती है, इसलिए कि कोई विशेष सामाजिक समूह उसकी सहायता से स्वयं अपने लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए, जिनका भाषा और संस्कृति से कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं होता, व्यापक जन-समर्थन जुटा सकता है। यही कारण है कि भाषाई नारों के पीछे चलनेवाले आंदोलनों का सावधानीपूर्वक विश्लेषण करना और भाषाई समस्याओं के विवेचन में सभी भाषातीत कारकों को ध्यान में रखना बहुत ज़रूरी है।

भारत के भाषा-मानचित्र पर एक नज़र

भारत एक बहुजातीय देश है, जहां कितनी ही भाषाएं विद्यमान हैं। १६६१ की भारतीय जनगणना में मातृभाषा के नाम से १,६५२ भाषाओं

को दर्ज किया गया था।* इस संख्या में जातीय भाषाओं से लेकर देहाती बोलियों तक और विदेशी भाषाओं से लेकर विभिन्न जातपांतों (वर्णों) और संप्रदायों की "भाषाओं" तक भाषा-वर्गीकरण के सभी स्तर सम्मिलित है।

जनगणना नियमों के अनुसार मातृभाषा को उत्तरदाता द्वारा दिये नाम के अंतर्गत दर्ज किया जाना था। संदेहास्पद मामलों में भाषा के नमूने का अभिलिखित करके विश्लेषण और वर्गीकरण के लिए भाषाविज्ञानियों के एक दल को भेज दिया जाता था। नतीजे के तौर पर सूची में १७० ऐसी "भाषाएं" भी थीं, जिनमें से प्रत्येक केवल एक व्यक्ति द्वारा "इस्तेमाल" होती थी।

सामान्य सूची में आबादी के छोटे-छोटे ऐसे समूहों की, जो लंबे समय इतर भाषा के परिवेश में रह चुके हैं, भाषाओं के बहुत सारे नाम हैं। उन्होंने अपनी पैदायशी ज़बान को विभिन्न अंशों में बनाये रखा है, पर वे उसे अलग नाम देते हैं, मसलन, अपनी जात (वर्ण) का। जनगणना दिखलाती है कि लोग अपनी मातृभाषा का नाम अपने निवास अथवा जन्मस्थान के नाम के अनुसार देते हैं। मिसाल के लिए, बिहार में १,२८८ लोगों ने भागलपुर ज़िले के नाम से अपनी मातृभाषा को "भागलपुरी" बतलाया, मोंघिर ज़िले के नाम से ३१ आदमी "मोंघरिया" को अपनी मातृभाषा मानते थे, मुज़फ़्फ़रपुर ज़िले के नाम से २५ लोगों ने "मुज़फ़्फ़रपुरिया" को, तमार ज़िले के नाम से ५,०४५ ने "तमारिया" को अपनी मातृभाषा माना, आदि। साथ ही बिहार के बाहर विभिन्न राज्यों तथा संघ-राज्यक्षेत्रों में रहनेवाले १४,६४० लोगों ने "बिहारी" को अपनी मातृभाषा माना।** आबादी का अपनी मातृभाषा को नाम देने का यह रुझान

---

*भाषा के बारे में १९७१ की जनगणना की ब्यौरेवार सामग्री अभी तक प्रकाशित नहीं हुई है। अभी सिर्फ़ प्रारंभिक आंकड़े ही उपलब्ध हैं (आर० सी० निगम, 'जनगणना में मातृभाषाओं की भाषासूची'। भारत की जनगणना, १९७१। नयी दिल्ली, १९७२, पृ० ३३३–३४९), जो अक्सर १९६१ की जनगणना के आंकड़ों से तुलनीय नहीं हैं। जहां तुलना संभव है, वहां १९७१ के आंकड़े कोष्ठकों में दिये गये हैं।

**१९७१ की जनगणना के अनुसार २३,२२२ लोगों ने बिहारी को अपनी मातृभाषा बतलाया था।

उन इलाक़ों में अक्सर पाया जाता है, जहां हिंदी की बोलियां बोली जाती हैं। "उत्तरप्रदेश में मैनपुरी को अभिलिखित किया गया और जांच करने से पता चला कि इन व्यक्तियों ने (अर्थात उन लोगों ने, जिन्होंने मैनपुरी को अपनी मातृभाषा बतलाया था – **ले०**) अपनी मातृभाषा के लिए अपने ज़िले का नाम दिया था, यद्यपि वे ब्रजभाषी थे" (*Census of India, 1961*. Vol. 1, India. Pt II—C [ii]. Language Tables, Delhi, 1964, p. CCXIII)।

अंत में जनगणना ने ३०४ भाषाओं और छोटे जातीय समूहों तथा जनजातियों की बोलियों को महत्व दिया। इन भाषा-रूपों में से प्रत्येक के ढांचे के भीतर गांव-गांव में, विशेषकर पहाड़ी इलाक़ों में, और उसी गांव में रहनेवाली उसी जनजाति के अलग-अलग कुलों द्वारा दिये गये नामों में भी अंतर पाये जाते हैं।

समूचे तौर पर जनगणना की भाषा-विषयक सामग्री भारत के भाषा-मानचित्र के तात्क्षणिक छायाचित्र की तरह है, जिसमें भाषाई सीमांतों का निर्धारण सिर्फ़ भाषावैज्ञानिक मानदंड से ही नहीं किया गया है – मानचित्र आबादी की अपनी मातृभाषाओं के बारे में धारणाओं को भी प्रतिबिंबित करता है। दूसरे शब्दों में, जनगणना के आंकड़े किसी नियत भाषा-क्षेत्र के सीमांतों और उस भाषा को बोलनेवालों के अपनी भाषा के प्रति रवैये, अर्थात आबादी के सामाजिक-मानसिक मिज़ाज, दोनों को ही प्रतिबिंबित करते हैं।

१९६१ की जनगणना के परिणामों का प्रक्रमण करनेवाले भारतीय भाषाविज्ञानियों के दल ने बोलचाल के अतिरिक्त नमूनों के संग्रहण और उनके वर्गीकरण को निर्धारित करने और अधिक सटीक बनाने में ज़बरदस्त काम किया। पूरे के पूरे प्रदेशों के बारे में सूचना के अभाव और कुछ मामलों में भाषा-रूपों के सीमांकन के बारे में विश्वसनीय मानदंडों के न होने और हाल ही में आये संजातीय तथा सामाजिक-मानसिक परिवर्तनों के दृष्टिगत भी उनका काम विशेषकर जटिल था।

सोवियत भारतविद्या साहित्य में भारत के भाषा-मानचित्र को काफ़ी विस्तार दिया गया है। ऐसी भाषाओं के बारे में सामग्री का विवेचन समीचीन प्रतीत होता है, जिन्हें बोलनेवालों की संख्या १० लाख से अधिक है। बोलनेवालों की संख्या के क्रम में भाषाओं की सूची नीचे, सारणी १ में, दी गयी है।

सारणी १

	भाषा	बोलनेवालों की संख्या
१.	हिंदी	१३, ३४, ३५, ३६०
२.	तेलुगू	३, ७६, ६८, १३२
३.	बंगला	३, ३८, ८८, ६३६
४.	मराठी	३, ३२, ८६, ७७१
५.	तमिल	३, ०५, ६२, ७०६
६.	उर्दू	२, ३३, २३, ५१८
७.	गुजराती	२, ०३, ०४, ४६४
८.	कन्नड़	१, ७४, १५, ८२७
९.	मलयालम	१, ७०, १५, ७८२
१०.	बिहारी	१, ६८, ०६, ७७२
११.	ओड़िया (उड़िया)	१, ५७, १९, ३९८
१२.	राजस्थानी	१, ४९, ३३, ०१६
१३.	पंजाबी	१, ०९, ५०, ८२६
१४.	असमिया	६८, ०३, ४६५
१५.	संथाली	३२, ४७, ०५८
१६.	भीली	२४, ३९, ६११
१७.	कश्मीरी	१९, ५६, ११५
१८.	माध्यमिक पहाड़ी	१८, ४०, २२१
१९.	गोंडी	१५, ०१, ४३१
२०.	सिंधी	१३, ७१, ९३२
२१.	कोंकणी	१३, ५२, ३६३
२२.	ओरांव	११, ४१, ८०४
२३.	नेपाली	१०, २१, १०२
२४.	अविशेषित पहाड़ी	१०, १५, २०३

दस लाख से अधिक लोगों द्वारा बोली जानेवाली भाषाओं का चयन करना यादृच्छिक प्रतीत हो सकता है, लेकिन इस अन्वेषण के प्रयोजनों के लिए वह उचित ही है। उपरोक्त २४ भाषाएं भारत की जनसंख्या के ९८ प्रतिशत, अर्थात उसके भारी बहुलांश, को अपनी परिधि में ले लेती हैं। विवेचन में, उदाहरण के लिए, पांच लाख से अधिक लोगों द्वारा बोली जानेवाली भाषाओं को भी लाया जा सकता था। इससे सूची में ये छः और भाषाएं शामिल हो जातीं: गढ़वाली, कुइ, मणिपुरी-मैतेइ, मुंडारी और तुलू, जिन्हें बोलनेवालों की कुल संख्या ४५,७९,०६२ है। गणनाओं से पता चलता है कि आधारस्वरूप लिये गये भाषाभाषियों की संख्या जितना ही कम होती है, सामान्य आकलन में उतना ही अधिक वैयक्तिक, परिसरीय और आपवादिक सामाजिक भाषावैज्ञानिक परिघटनाएं शामिल होती जाती हैं, जो देश में वास्तविक भाषा-स्थिति को प्रतिविंबित नहीं करती हैं।

उपरोद्धृत २४ भाषाएं भारत में पाये जानेवाले सभी भाषा-परिवारों को, अपेक्षाकृत लघु (भारतीय मानकों के अनुसार) उपशाखाओं तथा उपसमूहों के सिवाय, व्यक्त करती हैं (सारणी २)।

सारणी में सूचीबद्ध भाषाएं भारत के लगभग सारे ही विस्तार में फैली हुई हैं। इन भाषाओं के बारे में सूचना इसके लिए पर्याप्त है कि भाषाओं के विकास के स्तरों की तुलना की जा सके और देश के अधिकांश प्रदेशों में भाषागत स्थिति का विश्लेषण किया जा सके। अंगीकृत मानदंड अंततोगत्वा वास्तविक बहुभाषिता गुणांक का निर्धारण करना आसान कर देता है, जहां "१,६५२ (भाषाओं)" के आंकड़े का अकसर इस प्रस्थापना के पक्ष में तर्क के रूप में राजनीतिक तथा प्रचारात्मक प्रयोजनों से अविवेचनात्मक रूप से प्रयोग किया जाता है कि भारत में भाषाओं और बोलियों की चकरानेवाली अंधव्यवस्था है, जिनके बोलनेवाले एक-दूसरे से अविराम कलह की स्थिति में हैं। जवाहरलाल नेहरू ने लक्षित किया है कि "भारत की कथित सैकड़ों भाषाएं हमारे आलोचकों के लिए एक प्रिय विषय हैं। परंतु आम तौर पर उन लोगों का किसी एक भी भाषा से परिचय नहीं होता। हक़ीक़त यह है कि भारत भाषा की दृष्टि से अनोखे ढंग से और अच्छी तरह से गुंथा हुआ है और लोक-शिक्षा के अभाव के कारण ही बहुत सी बोलियां पैदा हो गयी हैं" (जवाहरलाल नेहरू का लॉर्ड लोथियन के नाम १७ जनवरी, १९३६ का पत्र, जवाहरलाल नेहरू, 'कुछ पुरानी

सारणी २

भारत की आधारिक भाषाओं का वंशावलिक वर्गीकरण

भाषा	परिवार, समूह, उपशाखा
संथाली (संताली)	ऑस्ट्रिक-एशियाई परिवार, मुंडा समूह
तमिल	द्रविड़ परिवार, दक्षिण द्रविड़ समूह
मलयालम	द्रविड़ परिवार, दक्षिण द्रविड़ समूह
कन्नड़	द्रविड़ परिवार, दक्षिण द्रविड़ समूह
तेलुगू	द्रविड़ परिवार, दक्षिण द्रविड़ समूह
गोंडी	द्रविड़ परिवार, अंतर्वर्ती द्रविड़ समूह
कुरुख/ओरांव	द्रविड़ परिवार, उत्तर द्रविड़ समूह
कश्मीरी	भारोपीय परिवार, दरद समूह
सिंधी	भारोपीय परिवार, बाह्य उपशाखा, उत्तर-पश्चिमी समूह
मराठी	भारोपीय परिवार, बाह्य उपशाखा, दक्षिणी समूह
कोंकड़ी	भारोपीय परिवार, बाह्य उपशाखा, दक्षिणी समूह
ओड़िया (उड़िया)	भारोपीय परिवार, बाह्य उपशाखा, पूर्वी समूह
बिहारी	भारोपीय परिवार, बाह्य उपशाखा, पूर्वी समूह
बंगला (बंगाली)	भारोपीय परिवार, बाह्य उपशाखा, पूर्वी समूह
असमिया (आसामी)	भारोपीय परिवार, बाह्य उपशाखा, पूर्वी समूह
हिंदी	भारोपीय परिवार, केंद्रीय/भीतरी उपशाखा, मध्यवर्ती समूह
उर्दू	भारोपीय परिवार, केंद्रीय/भीतरी उपशाखा, मध्यवर्ती समूह

सारणी २। (शेषांश)

भाषा	परिवार, समूह, उपशाखा
पंजाबी	भारोपीय परिवार, केंद्रीय/भीतरी उपशाखा, मध्यवर्ती समूह
गुजराती	भारोपीय परिवार, केंद्रीय/भीतरी उपशाखा, मध्यवर्ती समूह
भीली	भारोपीय परिवार, केंद्रीय/भीतरी उपशाखा, मध्यवर्ती समूह
राजस्थानी	भारोपीय परिवार, केंद्रीय/भीतरी उपशाखा, मध्यवर्ती समूह
नेपाली	भारोपीय परिवार, पहाड़ी समूह, पूर्वी पहाड़ी
माध्यमिक पहाड़ी	भारोपीय परिवार, पहाड़ी समूह, पूर्वी पहाड़ी
अविशेषित पहाड़ी	भारोपीय परिवार, पहाड़ी समूह

टिप्पणी: यह वर्गीकरण १९६१ की जनगणना पर आधारित है।

चिट्ठियां', नयी दिल्ली, १९८०, पृ० २०४)। नेहरूजी इस प्रश्न पर बार-बार वापस आये हैं। अपनी 'हिंदुस्तान की कहानी' में वह लिखते हैं: "बार-बार दुहरायी जानेवाली यह कहानी कि हिंदुस्तान में पांच सौ या इससे ज़्यादा ज़बानें हैं, भाषाविज्ञानियों या मर्दुमशुमारी के कमिश्नर के दिमाग़ की गढ़ंत है, जो बोलियों के छोटे-छोटे भेदों को और आसाम, बंगाल और बरमा के सरहद की पहाड़ी जातियों की हर एक बोली को गिन लेते हैं, चाहे वह कुछ सौ या हज़ार लोगों की बोली हो" (जवाहर लाल नेहरू, 'हिंदुस्तान की कहानी', नयी दिल्ली, १९६६, पृ० २२४)।

इसके अलावा बहुभाषिता अपने आप में भाषाई झगड़ों का पर्याप्त कारण नहीं है। बेल्जियम (फ़ांसीसी और वालून निवासियों), कनाडा (फ़ांसीसी-कनाडियाई और आंग्ल-कनाडियाई) और श्रीलंका (सिंहली और तमिल निवासियों) के उदाहरण दर्शाते हैं कि सिर्फ़ दो भाषाएं भी कुछेक अवस्थाओं के अंतर्गत उन्हें बोलनेवालों के बीच तनावपूर्ण संबंध पैदा करने के लिए काफ़ी हैं। इसलिए भाषा-मानचित्र का समक्रमिक विवरण इस

सवाल का कोई उत्तर प्रदान नहीं करता कि कुछ भाषाओं के बोलनेवालों के बीच झगड़े क्यों पैदा होते हैं, जब कि दूसरी भाषाएं बोलनेवालों के बीच नहीं होते।*

जैसे कि ऊपर दिखलाया गया है, विचाराधीन चौबीसों भाषाओं में बोलनेवालों की संख्या और अपने से संबद्ध भाषा-परिवारों के लिहाज़ से आपस में अंतर है। और अधिक विश्लेषण के लिए अनेक अन्य अभिलक्षणों का दिया जाना ज़रूरी है, जिनकी सहायता से उनके कुछ सामान्य लक्षणों और भेदों को स्पष्टतापूर्वक प्रकट किया जा सकता है। सबसे पहले देश के प्रशासनिक विभाजन की सापेक्षता में प्रदत्त भाषाओं के क्षेत्रों का निर्धारण करना आवश्यक है। इसका निश्चय करना भी महत्वपूर्ण है कि किसी राज्य (अथवा संघ-राज्यक्षेत्र) की आबादी में इन २४ भाषाओं को बोलनेवालों की प्रतिशतता क्या है। ये सभी आंकड़े आगे दिये गये हैं (सारणी ३)।

सारणी ३ में भाषाएं दो समूहों में विभाजित हैं। पहले समूह में वे भाषाएं हैं, जिन्हें बोलनेवालों का भारी बहुलांश एक ही प्रशासनिक इकाई—एक राज्य—के भीतर एक संहृत क्षेत्र में निवास करता है। आबादी के बहुलांश की प्रतिशतता में भिन्नता (८०—९९) अलग-अलग कारणों से है। उदाहरण के लिए, तमिलनाडू में रहनेवाले ९% तेलुगू लोग कई पीढ़ियों से मुख्यतः उसकी राजधानी मद्रास में ही रहते आये हैं। जब पचास के दशक में आंध्रप्रदेश का निर्माण किया जा रहा था, तब आंध्रजन के कुछ संगठनों ने यह मांग की कि मद्रास को उनके राज्य में शामिल किया जाये। मध्यप्रदेश में रहनेवाले राजस्थानियों में से १०% मुख्यतः मालवी बोलनेवाले हैं, जिसे कुछ विद्वान राजस्थानी की नहीं, बल्कि हिंदी की एक बोली मानते हैं (श्याम परमार, 'मालवी और उसका साहित्य', दिल्ली, पृ० १३; सुनीतिकुमार चटर्जी, 'राजस्थानी भाषा', पृ० ९—१०)।

पंजाबी की स्थिति निराली है। अक्तूबर, १९६६ के पहले पंजाब द्वि-भाषी राज्य था, जहां दो भाषाएं—पंजाबी और हिंदी—प्रचलित थीं। १९६६ में राज्य दो राज्यों—पंजाब और हरियाणा—में विभाजित कर दिया गया। अंतोक्त में वे ज़िले शामिल थे, जिनकी अधिकांश आबादी हिंदीभाषी थी। इसके अलावा जम्मू-कश्मीर राज्य में रहनेवाले पंजाबियों में नौ प्रतिशत

---

*क़ुदरती तौर पर यहां समाजवादपूर्व सामाजिक विरचनाओं की बात की जा रही है।

सारणी ३

भाषा	क्षेत्र (राज्य तथा संघ-राज्यक्षेत्र)	%
असमिया	असम	९९
कश्मीरी	जम्मू-कश्मीर	९९
गुजराती	गुजरात	९८
बिहारी	बिहार	९७
मलयालम	केरल	९४
तमिल	तमिलनाडू	९३
ओड़िया (उड़िया)	ओड़िसा	९२
मराठी	महाराष्ट्र	९१
कन्नड़	कर्णाटक	८८
बंगला (बंगाली)	पश्चिम बंगाल	८७
	असम	६
तेलुगू	आंध्रप्रदेश	८२
	तमिलनाडू	९
	कर्णाटक	५
राजस्थानी	राजस्थान	८०
	मध्यप्रदेश	१०
पंजाबी	पंजाब	८०
	जम्मू-कश्मीर	९
	राजस्थान	४
माध्यमिक पहाड़ी	ज़िले : अलमोड़ा, पिथौरागढ़, नैनीताल, गढ़वाल (उत्तरप्रदेश)	९९

सारणी २ (जारी)

भाषा	क्षेत्र (राज्य तथा संघ-राज्यक्षेत्र)	%
गोंडी	मध्यप्रदेश	६९
	महाराष्ट्र	२३
	आंध्रप्रदेश	५
अविशेषित पहाड़ी	हिमाचलप्रदेश	५२
	पंजाब	२५
	जम्मू-कश्मीर	२३
नेपाली	पश्चिम बंगाल	५१
	असम	२१
	उत्तरप्रदेश	७
	बिहार	३
संथाली (संताली)	बिहार	५१
	पश्चिम बंगाल	३५
	ओड़िसा	११
हिंदी	उत्तरप्रदेश	५०
	मध्यप्रदेश	१७
	बिहार	१६
	पंजाब	९
	दिल्ली	१
	पश्चिम बंगाल	१
सिंधी	गुजरात	४३
	महाराष्ट्र	२४
	राजस्थान	१६
	मध्यप्रदेश	१३

सारणी ३ (शेषांश)

भाषा	क्षेत्र (राज्य तथा संघ-राज्यक्षेत्र)	%
कुरुख/ओरांव	बिहार	४८
	मध्यप्रदेश	२४
	पश्चिम बंगाल	१९
कोंकणी	गोवा	४१
	कर्णाटक	३६
	महाराष्ट्र	१५
भीली	मध्यप्रदेश	३६
	राजस्थान	३४
	महाराष्ट्र	१८
	गुजरात	११
उर्दू	उत्तरप्रदेश	३४
	बिहार	१८
	महाराष्ट्र	१२
	आंध्रप्रदेश	११
	कर्णाटक	९
	दिल्ली	४

मुख्यतः डोगरा हैं। अभी हाल ही तक डोगरी को पंजाबी की एक बोली माना जाता था। लेकिन हाल के वर्षों में डोगरी लोगों में अपने को पंजाबियों से अलग करने की प्रवृत्ति देखने में आयी है। "यह अभी बिलकुल हाल की बात है कि डोगरी ने अपने अधिकारों को जताना शुरू किया... डोगरी साहित्य में एक प्रकार का पुनरुत्थान हो रहा है, जिसका महत्व इतना प्रत्यक्ष है कि उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती" ('अमृत बाज़ार पत्रिका', १८ दिसंबर, १९६६)। जम्मू-कश्मीर राज्य में डोगरी को प्रादे-

शिक भाषा के रूप में मान्यता प्रदान कर दी गयी है। जम्मू के स्कूलों में बच्चों को डोगरी में पढ़ाया जाता है। जम्मू-कश्मीर कला-संस्कृति अकादमी नियमित रूप से डोगरी में पुस्तकों का प्रकाशन करती, इस भाषा में सर्वोत्कृष्ट कृतियों के लिए वार्षिक पुरस्कार प्रदान करती और साहित्य प्रदर्शनियों का आयोजन करती रही है। १९६७ में डोगरी का पहला शब्दकोश प्रकाशित किया गया, जिसमें उसकी दोनों मुख्य बोलियों – पश्चिमी (जम्मू) और पूर्वी (ज़िला कांगड़ा, हिमाचलप्रदेश) – के ३३ हज़ार शब्द संकलित थे। डोगरी-हिंदी शब्दकोश प्रकाशनार्थ तैयार किया गया है। १९७० में पहले अखिल भारतीय डोगरी लेखक सम्मेलन का आयोजन किया गया। डोगरी के पंजाबी से वियोजन में यह तथ्य भी योग देता है कि लिखित डोगरी गुरुमुखी लिपि का नहीं, बल्कि देवनागरी का प्रयोग करती है।

विशाल डोगरा राज्य का गठन करने और डोगरी को भारतीय संविधान की आठवीं अनुसूची में शामिल किये जाने की मांगें भी उठायी गयी हैं। अगस्त, १९६९ में साहित्य अकादमी ने डोगरी को एक स्वतंत्र साहित्यिक भाषा के रूप में मान्यता प्रदान कर दी ('इंडियन एक्सप्रेस', नयी दिल्ली, ३ अगस्त, १९६९)।

पंजाबियों की बात को फिर से लेते हुए यह उल्लेखनीय है कि पंजाबी भारत की सबसे गतिशील जाति है। १९६१ की जनगणना के आंकड़ों के विश्लेषण से पता चलता है कि पंजाबियों में उत्प्रवासियों की प्रतिशतता २३.८१ है। तुलना के लिए, अन्य भाषाभाषियों में उत्प्रवासियों की प्रतिशतता इस प्रकार है: तेलुगू – १७.८८, बंगला – १३.१४, कन्नड़ – ११.७४, मराठी – ९.०४, मलयालम – ५.८ और हिंदी – ४.९४ ('हिंदू', मद्रास, ४ अप्रैल, १९६७)।

उपरोक्त बातों को ध्यान में रखते हुए यह उल्लेखनीय है कि एकभाषी पंजाब में पंजाबी बोलनेवालों की प्रतिशतता १९६१ की अपेक्षा ऊंची ही होगी। दूसरे शब्दों में, पंजाब में स्थिति "एक भाषा – एक राज्य" के सूत्र के साथ पूरी तरह से मेल खाती है।

सारणी ३ में दूसरा समूह उन भाषाओं का है, जिनके बोलनेवालों को प्रशासनिक सीमांतों ने अलग कर रखा है। "एक भाषा – एक राज्य" का सूत्र उन पर लागू नहीं होता। अपने प्रादेशिक विस्तार और कई दूसरे अभिलक्षणों के लिहाज़ से एक साहित्यक भाषा और बोलियों से युक्त बोलचाल की भाषा के नाते हिंदी का उर्दू के साथ-साथ भारत में एक विशेष

स्थान है और इन दोनों भाषाओं का उल्लेख आगे चलकर किया जायेगा। इस समूह की अन्य भाषाएं "राज्यहीन भाषा" की परिभाषा से पूरी तरह से मेल खाती हैं, जो साहित्य अकादमी द्वारा नयी दिल्ली में अगस्त, १९६९ में आयोजित "राज्यहीन भाषाओं की समस्याएं" संगोष्ठी के बाद विशेषकर लोकप्रिय हो गयी है।

इस समूह की दो भाषाएं—सिंधी और नेपाली—इस लिहाज़ से समान हैं कि दोनों ही ऐसी आप्रवासी भाषाएं हैं, जो मुख्यतः भारत के बाहर बोली जाती हैं: सिंधी पाकिस्तान के सिंध प्रांत में और नेपाली पड़ोसी नेपाल में, जहां वह राजभाषा है। बहुत काल से सिंधी उस इलाक़े में बसते आ रहे थे, जो आज पश्चिम भारत के नाम से जाना जाता है। सिंधियों के उत्प्रवासन में यह तथ्य सहायक था कि १९३६ के पहले सिंध बंबई प्रेसीडेंसी का अंग था, जिससे उनका यह "संचलन" एक ही प्रशासनिक इकाई की सीमाओं के भीतर ही था। १९४७ में भारत के विभाजन के बाद बहुत सारे हिंदू सिंधी पाकिस्तान से भारत चले आये। आज वे मुख्यतः बंबई, अहमदाबाद, नागपुर और अजमेर जैसे शहरों में रह रहे हैं और एक ऐसे समुदाय को प्रतिनिधित करते हैं, जिसके रहने का कोई एक प्रदेश नहीं है।

नेपाली लोग अधिकांशतः हिमालय की तराई और निचली पहाड़ियों में रहते हैं और मुख्यतः पश्चिम बंगाल के दार्जिलिंग क्षेत्र तथा सिक्किम राज्य में संकेंद्रित हैं। पश्चिम बंगाल विधानसभा द्वारा २१ सितंबर, १९६४ को पारित अधिनियम के अनुसार दार्जिलिंग में नेपाली एक "अतिरिक्त राजभाषा" है, अर्थात उसे विधिक हैसियत प्राप्त है ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', नयी दिल्ली, १ दिसंबर, १९६४)। नेपालियों की नेपाली को अन्य भाषाओं के समान हैसियत प्रदान कराने की आकांक्षा का इतिहास ख़ासा लंबा है। ल्युदविग क्रेनेक ने लक्षित किया है कि "हिमालयवासी पहाड़ियों और तराइयों में निवास करनेवाली जातियों के बीच अनादि काल से घोर वैरभाव रहा है। बंगाली लोग पहाड़ियों की बनिस्बत अधिक चतुर और, शायद, चालाक हैं और अधिकांश मामलों में ऊंचे पदों पर हैं। नेपाली और दार्जिलिंग में रहनेवाली दूसरी जातियों के लोग सभी बातों में अपने को ठगा हुआ और बेक़द्र महसूस करते हैं। उनमें से अधिकांश गोरखा लीग नामक राजनीतिक संगठन के पक्षधर हैं, जिसका लक्ष्य एक ऐसे बड़े प्रांत का निर्माण करना है, जो पश्चिम नेपाल से लेकर पूर्वी भूटान तक फैला हुआ होगा और दार्जिलिंग जिसकी राजधानी होगा" (ल्यु०

क्रेनेक, 'भारत में' [रूसी में], मास्को, १९५६, पृ० २१७–१२८)।

ल्युदविग क्रेनेक की टीकाएं चालीस के दशक में उनके प्रेक्षणों से जुड़ी हुई हैं और इस क्षेत्र में व्याप्त स्थिति का अतिसरलीकृत ढंग से वर्णन करती हैं। तब से गोरखा लीग ने अपने कार्यक्रम को काफ़ी बदल दिया है। इस समय उनकी मांगों में दो ही ख़ास मुद्दे रह गये हैं: दार्जिलिंग के पर्वतीय इलाक़ों की पश्चिम बंगाल के भीतर स्वायत्तता और नेपाली का भारतीय संविधान की आठवीं अनुसूची में शामिल किया जाना।

कोंकणी की समस्या अपेक्षाकृत हाल ही में उठी है। पहले इसे मराठी की एक बोली माना जाया करता था। १९६१ की जनगणना में कोंकणी को पहली बार स्वतंत्र भाषा की संज्ञा दी गयी। कोंकणी में ठेठ बारहवीं सदी के शिलालेखों का उल्लेख करते हुए कोंकणी के पक्षधर यह दावा करते हैं कि उनकी भाषा मराठी से अधिक प्राचीन है और उसके मूल मराठी नहीं, प्राकृत में हैं। सोलहवीं सदी से कोंकणी को ईसाई मिशनरियों द्वारा व्यापक उपयोग में लाया जाता रहा है। कोंकणी के विकास के उच्च स्तर के पक्ष में एक तर्क यह है कि उसमें कोई २,००० साहित्यक कृतियां, २७ व्याकरण, २९ शब्दकोश और ३ फ़िल्में हैं ('इंडियन एक्सप्रेस', नयी दिल्ली, ३० अप्रैल, १९६७)। साथ ही यह बात भी है कि कोंकणी को गोवा तक में कोई सरकारी हैसियत नहीं प्राप्त है, यद्यपि उसे १९७५ में साहित्य अकादमी द्वारा एक स्वतंत्र साहित्यिक भाषा के रूप में मान्यता दे दी गयी थी और भारत सरकार से उसे संविधान की आठवीं अनुसूची में सम्मिलित करने का अनुरोध किया गया था।

कोंकणी के मानकीकरण का काम कई संगठनों द्वारा किया जा रहा है, जैसे गोवा कोंकणीभाषी मंडल, जो हर साल कोंकणी के लोक-कवि का चयन करता है, कर्णाटक में कोंकणी परिषद और केरल में कोंकणी भाषा प्रचार सभा। इस भाषा के विकास के मार्ग में गंभीर बाधाएं आयी हैं। कोंकणी बोलनेवाले चूंकि सादियों से बिखरे हुए हैं, इसलिए उनकी ज़बान पर कितनी ही भाषाओं का प्रभाव पड़ा है। यह उल्लेखनीय है कि लिखित कोंकणी में लातीनी, देवनागरी, कन्नड़ और मलयालम लिपियों का प्रयोग किया जाता है। यह सुझाव भी दिया गया है कि कोंकणी के लिए सिर्फ़ एक ही लिपि–देवनागरी–का प्रयोग किया जाये।

पुर्तगाली उपनिवेशवादियों के निकाल बाहर किये जाने के बाद गोवा के प्रशासनिक संबंध की समस्या उठी, जिसके प्रदेश पर महाराष्ट्र और

कर्णाटक द्वारा दावा किया गया। आगे घटनाक्रम के विकास के परिणामस्वरूप ऐसी स्थिति पैदा हो गयी कि भारतीय संसद के निर्णय से जनवरी, १९६७ में गोवा में जनमत-संग्रह किया गया। गोवानियों को महाराष्ट्र में शामिल होने या अलग संघ-राज्यक्षेत्र के रूप में बने रहने का विकल्प दिया गया। जनमत-संग्रह ने लोगों में ज़बरदस्त दिलचस्पी पैदा की और ८२ प्रतिशत आबादी ने उसमें हिस्सा लिया। गोवानियों ने ३४,००० मतों के बहुमत से महाराष्ट्र में सम्मिलन के विरुद्ध निर्णय किया।

मराठी और कोंकणी भाषाएं निस्संदेह एक-दूसरे से घनिष्ठतः संबंधित हैं। गोवानियों की काफ़ी बड़ी संख्या मराठी को दूसरी भाषा के रूप में जानती है और उनमें उसे सीखने की सुस्पष्ट प्रवृत्ति देखने में आती है। गोवा शासन के शिक्षा विभाग के अनुसार १९६३–१९६४ में राजकीय प्राथमिक शालाओं में ४५,००० विद्यार्थियों ने मराठी भाषा के माध्यम से, ५,००० ने अंग्रेज़ी के माध्यम से, ३,००० ने पुर्तगाली के माध्यम से और ८०० ने कोंकणी के माध्यम से शिक्षण प्राप्त करना स्वीकार किया था। ग़ैर-सरकारी प्राथमिक शालाओं में २,५०० विद्यार्थियों ने मराठी, २,२०० ने अंग्रेज़ी और १,३०० ने कोंकणी को शिक्षण-माध्यम के रूप में चुना था ('इकोनॉमिक एंड पोलिटिकल वीकली', बंबई, १९६७, अंक २)। मराठी पत्र-पत्रिकाओं और फ़िल्मों को गोवा में बहुत लोकप्रियता प्राप्त है।

जिन बाक़ी भाषाओं के बोलनेवाले प्रादेशिक लिहाज़ से बिखरे हुए हैं, उनके अभिलक्षण मानक भाषा और बोलियों के बीच संबंध पर विचार करते समय अधिक उपयुक्त सिद्ध होंगे। भारतीय जनगणनाओं की सामग्री इस मामले में बहुत दिलचस्पी की है। इस बात के दृष्टिगत कि गणनाकारों ने स्वयं प्रत्येक उत्तरदाता द्वारा किसी भाषा को दिये गये नाम को ही दर्ज किया है, जनगणना के आंकड़े बोलनेवालों द्वारा अपनी भाषा से सहज संबंध और स्वतंत्रता को समझने के स्तर को प्रतिबिंबित करते हैं (सारणी ४)। यह स्वाभाविक ही है कि किसी भाषा को दिये गये नामों के बारे में जनगणना के आंकड़े वैज्ञानिक साहित्य में स्वीकृत बोलियों के विभाजन से मेल नहीं खाते। उदाहरण के लिए, असमिया में पूर्वी और पश्चिमी असमिया बोलियों में विभेद किया जाता है और अपनी बारी में पश्चिमी बोली को पांच स्थानिक भाषाओं में बांटा जाता है, जिनमें आपस में सुस्पष्ट अंतर है: पाटिदरंग, धर्मपुर, बज़ाली, पलासबाड़ी और बड़पेटा (व० द०

सारणी ४

भाषा	बोलचाल के पंजीकृत रूपों की संख्या	मानक भाषा को मातृभाषा बतानेवालों की संख्या (प्रतिशत)
असमिया	२	१००
बंगला	१५	९९
गुजराती	२७	९९
कन्नड़	३२	९९
कोंकणी	१६	९९
कुरुख/ओरांव	९	९९
मलयालम	१४	९९
मराठी	६५	९९
तमिल	२२	९९
तेलुगू	३६	९९
उर्दू	९	९९
कश्मीरी	५	९८
नेपाली	४	९८
संथाली (संताली)	११	९६
अविशेषित पहाड़ी	७	९५
ओड़िया (उड़िया)	२४	९३
गोंडी	१३	९२
हिंदी	९७	९२
पंजाबी	२९	९० (डोगरी के बिना ९७)
सिंधी	८	७१ (कच्छी के बिना ९९)
भीली	३६	३१
राजस्थानी	७३	५
बिहारी	३४	०.०८
माध्यमिक पहाड़ी	२	५६
कुमायूंनी	८	
गढ़वाली	८	

टिप्पणी : सिंधी : कच्छी – २८%; भीली : वागड़ी (राजस्थान) – ३१%, भिलाली (मध्यप्रदेश) – १४%, शेष ३३ छोटी बोलियां – २४%; **राजस्थानी** : मारवाड़ी – ४१% ; मेवाड़ी – १२%, ढुंढहाड़ी – १०%, **मालवी** (मध्यप्रदेश) – ८%; बिहारी : भोजपुरी – ४७%, मैथिली – ३०%, मागधी – १७% (पूर्वो०, पृ० ३३–६७, ७९–९८)।

सारणी ५

१९५१–१९६१ में बोलनेवालों की संख्या में वृद्धि

वर्ग	भाषा	बोलनेवालों की संख्या १९५१	बोलनेवालों की संख्या १९६१	वृद्धि-दर प्रतिशत	राज्यवार आबादी की कुल प्रतिशतता
१	असमिया	४९, ८८, २२६	६८, ०३, ४६५	३६.० (१७)	३४.४५ असम
	बंगला	२, ५१, २१, ६४७	३, ३८, ८८, ९३९	३५.५ (३२)	३२.७९ पश्चिम बंगाल
	गुजराती	१, ६३, १०, ७७१	२, ०३, ०४, ४६४	२६.२ (२८)	२६.८८ गुजरात
	कन्नड़	१, ४४, ७१, ७६४	१, ७४, १५, ८२७	२४.४ (२५)	२१.५७ कर्णाटक
	मलयालम	१, ३३, ८०, १०९	१, ७०, १५, ७८२	३०.९ (२९)	२४.७६ केरल
	मराठी	२, ७०, ४९, ५२२	३, ३२, ८६, ७७१	२३.२ (२७)	२३.६० महाराष्ट्र
	तमिल	२, ६५, ४६, ७६४	३, ०५, ६२, ७०६	१६.२ (२३)	११.८७ तमिलनाडू
	तेलुगू	३, २९, ९९, ९१६	३, ७६, ६८, १३२	१४.२ (२०)	१५.६५ आंध्रप्रदेश
	संथाली	२८, ११, ५७२	३२, ४७, ०५८	२१.५ (१७)	
	ओड़िया	१, ३१, ५३, ९०९	१, ५७, १९, ३९८	२०.९ (२६)	१९.८२ ओड़िसा
	गोंडी	१२, ३२, ८८६	१५, ०१, ४३१	२५.० (१०)	
२	राजस्थानी	१, ३४, ०१, ६३०	१, ४९, ३३, ०१६	११.२ (–२८)	२६.२० राजस्थान
	कश्मीरी	१५, १२, ७०९	१९, ५६, ११५	२८.१ (२४)	१९.४४ जम्मू-कश्मीर
	सिंधी	८, १९, ६१३	१३, ७१, ९३२	६७.३ (२२)	
	कुरुख/ओरांव	६, ४६, ५१३	११, ४१, ८०४	६९.२ (९)	
	भीली	१४, २८, २५८	२४, ३९, ६११	७०.६ (–५)	
	माध्यमिक पहाड़ी कुमायूंनी	५, ७१, ४०१	१०, ३०, २५४	८०.३ (२०)	

	गढ़वाली	४,८४,२३१	८,०६,६६७	६७.३ (५७)	
	नेपाली	४, ,३५ ७७७	१०, २१, १०२	१२६.० (२६)	
	बिहारी	२, १०, ८४३	१, ६८, ०६, ७७२	७,६६५.० (१८)	१६.७८ बिहार
३	हिंदी	आंकड़े तुलनीय नहीं हैं		(२१)	
	उर्दू			(२३)	
	पंजाबी			(४०)	
	कोंकणी			(१४)	
	अविशेषित पहाड़ी			—	

टिप्पणियां

१. पहले वर्ग में वे भाषाएं हैं, जिनमें बोलनेवालों की संख्या की वृद्धि-दर सामान्य है, अर्थात (कुछ मामूली विचलनों के साथ) संबद्ध राज्य में जनसंख्या वृद्धि-दर के साथ, और संथाली तथा गोंडी के मामले में भारत में औसत जनसंख्या वृद्धि-दर (२१.५%) के साथ मेल खाती है।

२. दूसरे वर्ग में तुलना के सूचकों से भारी विचलन दर्शानेवाली भाषाएं सम्मिलित हैं।

३. तीसरे वर्ग में वे भाषाएं हैं, जिनके १६६१ के सूचक १६५१ के सूचकों के साथ निम्न कारणों से तुलनीय नहीं हैं: १६५१ में कोंकणी के बारे में आंकड़े गोवा के बिना दिये गये हैं, जो उस भाषा का प्रमुख क्षेत्र है। अविशेषित पहाड़ी के बारे में १६५१ के आंकड़ों की तुलना १६६१ के आंकड़ों से १६५१ और १६६१ में बोलियों के भिन्न वर्गीकरण के कारण नहीं की जा सकती। १६५१ में हिंदी, उर्दू, हिंदुस्तानी और पंजाबी के आंकड़े एक साथ गिने गये थे और उन्होंने १४,६६,४४,३११ लोगों की समग्र संख्या प्रदान की थी (*Census of India*, Paper № 1. Languages—1951 Census. New Delhi, 1954, p. 6)। अगर १६६१ के आंकड़ों का इस तरह से वर्गीकरण किया जाये, तो दस साल में वृद्धि-दर १२% निकलेगी। यह आंकड़ा मोटे तौर पर ही सही है, क्योंकि बोलियों का वर्गीकरण बदल दिया गया है।

४. कोष्ठकों में दी संख्याएं १६७१ की जनगणना के प्रारंभिक परि णामों के आधार पर परिकलित १६६१ से १६७१ तक की वृद्धि-दर दर्शाती हैं। इस अवधि में जनसंख्या की औसत वृद्धि-दर २४.८% थी। आंकड़े मोटे तौर पर ही सही हैं।

बाबाकायेव, 'असम की भाषा' [रूसी में], मास्को, १९६१, पृ० ११; बानीकांत काकती, 'असमिया: उसकी उत्पत्ति और विकास' [अंग्रेज़ी में], गुवाहाटी, १९६२, पृ० १८–२१)। लेकिन १९६१ की जनगणना में इस भाषा की सिर्फ़ दो क़िस्में ही दर्ज की गयी हैं–ख़ास असमिया और कुल्ली, जिनमें से कुल्ली को बोलनेवाले सिर्फ़ दो ही लोग हैं, जो असम में नहीं, बल्कि अरुणाचल संघ-राज्यक्षेत्र में रहते हैं (*Census of India, 1961.* Vol. 1, India. Pt II—C [ii]. Language Tables, Delhi, 1964, p. 33)।

ओड़िया में "मानक ओड़िया है, जो सामान्यतः कटक ज़िले और उसके आसपास के दूसरे ज़िलों की बोली पर आधारित है, और तीन अन्य बोलियां हैं। ये बोलियां हैं पश्चिमी ओड़िया (संभलपुरी ओड़िया), उत्तरी ओड़िया और दक्षिणी ओड़िया"(*Indian Linguistics.* Baghchi Memorial Volume, Madras, 1957, p. 76)। १९६१ की जनगणना में ओड़िया के २४ भिन्न रूपों के नाम दिये गये हैं, जब कि संभलपुरी को सिर्फ़ १८ लोगों ने मातृभाषा कहा है (*Census of India, 1961.* Vol. 1, India. Pt II—C [ii]. Language Tables, Delhi, 1964, p. 57)।

आगामी सामग्री को अधिक सुसंगतिपूर्वक प्रस्तुत करने के लिए हम दो और सूचकों का उल्लेख करेंगे, जो उपरोद्धृत २४ भाषाओं के अभिलक्षक हैं: १९५१–१९६१ के दशक में बोलनेवालों की संख्या में वृद्धि (सारणी ५) (*Census of India*, Paper № 1. Languages—1951 Census. New Delhi, 1954; पी० बी० देसाई, 'भारत में आबादी का आकार और स्त्री-पुरुष संख्या। १९०१–१९६१' [अंग्रेज़ी में], दिल्ली, १९६६, पृ० १४; आर० सी० निगम, 'जनगणना में मातृभाषाओं की भाषासूची'। भारत की जनगणना [अंग्रेज़ी में], १९७१, नयी दिल्ली, १९७२) और इन भाषाओं में से प्रत्येक के बोलनेवालों में नगरवासियों की प्रतिशतता (सारणी ६) (*Census of India, 1961.* Vol. 1, India. Pt II—C [ii]. Language Tables, Delhi, 1964, pp. 33-67; पी० बी० देसाई, 'भारत में आबादी का आकार और स्त्री-पुरुष संख्या। १९०१–१९६१' [अंग्रेज़ी में], दिल्ली, १९६६, पृ० २९, १६४)।

सारणी ६

शहरी आबादी की प्रतिशतता

भाषा	बोलनेवालों की कुल संख्या में नगरवासियों की प्रतिशतता	संबद्ध राज्य में नगर-निवासियों की प्रतिशतता
सिंधी	७१.८	
असली सिंधी	८६.०	
कच्छी बोली	३४.०	
उर्दू	४०.८	
कोंकणी	३६.२	
नेपाली	२३.८	
गुजराती	२७.५	२५.७७ गुजरात
तमिल	२६.५	२६.६९ तमिलनाडू
मराठी	२१.३	२८.२२ महाराष्ट्र
कश्मीरी	२१.०	१६.६६ जम्मू-कश्मीर
पंजाबी	२०.९	२०.१३ पंजाब
बंगला	२०.६	२४.४५ पश्चिम बंगाल
भारत का औसत नगरीकरण-स्तर	१७.९७	
तेलुगू	१७.९	१७.४४ आंध्रप्रदेश
मलयालम	१६.४	१५.११ केरल
कन्नड	१६.३	२२.३३ कर्णाटक
		१६.२८ राजस्थान
राजस्थानी	११.२	
मारवाड़ी	१६.८	
मालवी	७.२	
मेवाड़ी	५.८	
ढुंढहाड़ी	१.३	

सारणी ६ (शेषांश)

भाषा	बोलनेवालों की कुल संख्या में नगरवासियों की प्रतिशतता	संबद्ध राज्य में नगर-निवासियों की प्रतिशतता
हिंदी	७.६	
साहित्यिक हिंदी . . .	१५.४	
ओड़िया (उड़िया)	६.२	६.३२ ओड़िसा
असमिया	४.५	७.६९ असम
माध्यमिक पहाड़ी	३.८	
बिहारी	३.४	८.४३ बिहार
भोजपुरी	३.४	
मागधी (मगही)	३.९	
मैथिली	३.०	
कुरुख/ओरांव	३.४	
अविशेषित पहाड़ी	२.३	
भीली	२.१	
गोंडी	१.४	
संथाली (संताली) . . .	१.१	

क्या कोई बिहारी भाषा भी है?

सारणी ५ और ६ में ऐसी भाषाएं भी हैं, जिनके सूचक औसत आंकड़ों से भारी विचलन दर्शाते हैं। उदाहरण के लिए, १९६१ की जनगणना के अनुसार बिहारी को एक नगण्य, वस्तुतः अत्यल्प अल्पसंख्या – १७० लाख लोगों में से १५ हज़ार (१९७१ में २९० लाख में से २३ हज़ार) – ने ही अपनी मातृभाषा के रूप में दर्ज करवाया था। लेकिन साथ ही साथ दस साल (१९५१–१९६१) में बिहारी के तीनों मुख्य रूपों को बोलनेवालों

की संख्या में औसतन ७६.६५% की वृद्धि आयी (१९६१–१९७१ में वृद्धि ८१% थी)। जिन पंद्रह हज़ार लोगों ने बिहारी को अपनी मातृभाषा कहा था, वे बिहार के बाहर रहते थे और यह मानने के कारण हैं कि बिहारी को अपनी भाषा कहते हुए वे उसे उस क्षेत्र से संबद्ध कर रहे थे, जहां के वे मूलतः रहनेवाले थे।

जॉर्ज ग्रियर्सन ने "बिहारी" पद का प्रयोग तत्कालीन बिहार प्रांत में बोली जानेवाली अनेक बोलियों को द्योतित करने के लिए किया था। उल्लेखनीय है कि ग्रियर्सन की पुस्तक 'भारत का भाषाई सर्वेक्षण' [अंग्रेज़ी में] के पूर्व प्रकाशित अपनी पुस्तक ('भारत की आधुनिक आर्य भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण' [अंग्रेज़ी में], दिल्ली, नवीन संस्करण, १९६६) में जॉन बीम्ज़ ने बिहारी का उल्लेख नहीं किया है। आज भारतीय विद्वान ग्रियर्सन द्वारा प्रस्तावित पद पर आपत्ति करते हैं। डॉ० रामविलास शर्मा लिखते हैं कि बिहारी नाम की कोई भाषा नहीं है और इसमें अचरज की कोई बात नहीं है कि साधारण बिहारी लोग न भोजपुरी और न मैथिली को ही बिहारी की बोलियां मानते हैं। वह प्रसिद्ध भारतीय भाषाविज्ञानी और स्वयं भोजपुरी भाषाभाषी डॉ० उदयनारायण तिवारी के इस मत को उद्धृत करते हैं कि इन तीनों (मैथिली, मगही अथवा मागधी और भोजपुरी) बोलियों के बोलनेवाले यह नहीं जानते कि उनकी ज़बानों को बिहारी की बोलियां माना जाता है। एक और कठिनाई भी है–बिहारी में कोई साहित्य नहीं है। इसलिए अचरज की बात नहीं कि इन तीनों बोलियों के बोलनेवाले उन्हें अलग भाषाएं मानते हैं (डॉ० रामविलास शर्मा, 'भाषा और समाज', दिल्ली, १९६१, पृ० ३७०)। डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी भी बिलकुल ऐसी ही राय रखते हैं: "'बिहारी' एक अपसंज्ञा मात्र है और इस नाम को गंभीरता से ग्रहण नहीं करना चाहिए" ('भारत में भाषा और समाज' [अंग्रेज़ी में], शिमला, १९६९, पृ० ५६२)।

इस प्रकार "बिहारी" एक सुविधा का पद है, जिसमें बुनियादी तौर पर तीन भिन्न रूप–मैथिली, मगही (मागधी) और भोजपुरी–समाविष्ट हैं। १९५१ से १९६१ की अवधि में यहां विचाराधीन सभी भाषाओं में बोलनेवालों की वृद्धि की सबसे बड़ी प्रतिशतता इन्हीं की थी: भोजपुरी–१,६७,४९७, मगही–७५,३३७ और मैथिली–४०९।* बोलनेवालों की

---

*१९७१ तक बोलनेवालों की वृद्धि-दर क्रमशः १८२, २३६ और २३ प्रतिशत थी, अर्थात रफ़्तार ख़ासी कम हो गयी थी और मैथिली के मामले में औसत आंकड़े पर पहुंच चुकी थी।

संख्या में इस तरह की वृद्धि की केवल जनसांख्यिकीय कारकों से ही व्याख्या नहीं की जा सकती। यह वृद्धि बोलनेवालों के अपनी भाषा के प्रति दृष्टि-कोण में सामूहिक बदलाव का परिणाम थी। १९५१ में बिहार के जनगणना अधीक्षक ने लक्षित किया था: "मैथिली, मगही, भोजपुरी... को आगे दर्शायी छोटी संख्याओं का मतलब यह नहीं समझा जाना चाहिए कि ये बोलियां अथवा भाषाएं चलन में नहीं रह गयी हैं। वास्तव में आबादी का भारी बहुलांश उनका अब भी उपयोग करता है, मगर उन्होंने अपनी मातृ-भाषा का नाम सीधे-सीधे हिंदी देना ही पसंद किया है" (*Census of India*, Paper № 1. Languages—1951 Census. New Delhi, 1954, Tables on Bihar, p. 2)। १९६१ तक भावनाएं बदल गयीं और इसके परिणामस्वरूप बिहार में हिंदी को अपनी मातृभाषा बतानेवाली आबादी में ३६.७% की कमी आ गयी (१९५१ में ८१.०%, १९६१ में ४४.३%) ('भारत में भाषा और समाज' [अंग्रेज़ी में], शिमला, १९६९, पृ० ४२)। इस परिघटना को "भाषाई विस्थापन" का नाम दिया गया है।

अगर ऐसे "विस्थापन" के कारणों का पता लगाने की कोशिश की जाये, तो ध्यान सबसे पहले बिहारी भाषाओं की दो बड़ी भाषा-व्यवस्थाओं – बंगला और हिंदी – के बीच अंतर्वर्ती स्थिति की तरफ़ दिया जाना चाहिए, जिस पर भाषिक, आर्थिक, प्रशासनिक और राजनीतिक दृष्टिकोणों से विचार किया जा सकता है। इस बात को ध्यान में रखना भी महत्वपूर्ण है कि बिहारी भाषाएं इन भाषा-व्यवस्थाओं में से प्रत्येक की परिरेखा पर स्थित हैं। पश्चिम बंगाल और ओड़िसा की सीमाओं पर बिहार की आबादी बंगला की मानक भाषा से काफ़ी भिन्न उपांतिक, संक्रामी बोलियां बोलनेवालों के साथ संपर्क रखती है। "ज़िले (सिंहभूम – ले०) के एक हिस्से – धालभूम देहात, जिसकी पश्चिम बंगाल और ओड़िसा, दोनों के साथ सामान्य सीमा है – में ओड़िया और बंगला इस क़दर घुली-मिली हुई हैं कि विशेषज्ञों तक के लिए निर्णायक रूप में यह निश्चय करना असंभव हो गया है कि यहां बोली जानेवाली भाषा ओड़िया है या बंगला..." (*Census of India*, Paper №1. Languages — 1951 Census. New Delhi, 1954, p. 42)।

बिहार के भाषा-रूपों के उद्गम के बारे में विद्वानों में सहमति है। उनके मतानुसार मैथिली, मगही और भोजपुरी बंगला, असमिया और ओड़िया के साथ-साथ मागधी प्राकृत से निकली हैं, जिसके बारे में यह

ख़याल किया जाता है कि मौर्य साम्राज्य के समय वह मगध राज्य की दरबारी भाषा थी और जिसमें मूल बौद्ध ग्रंथों की रचना की गयी थी।

तथापि बंगला और बिहारी भाषाओं की जननिक समानता उनके बोलनेवालों के बीच सौहार्द की तरफ़ नहीं ले गयी है। बल्कि, इसके विपरीत, बंगालियों और बिहारियों में एक-दूसरे के लिए नापसंदगी ही देखने में आती है, जिसके मूल में कई ऐतिहासिक कारण हैं। अंग्रेज़ों द्वारा पूर्वी भारत के जीते जाने के समय से ही बिहार बंगाल प्रेसीडेंसी का हिस्सा रहा था। सिर्फ़ बिहार ही नहीं, बल्कि ओड़िसा और असम में भी उस समय बंगालियों को सरकारी शासनतंत्र में और शिक्षा, वाणिज्य तथा कामकाजी ज़िंदगी के दूसरे क्षेत्रों में अग्रणी स्थिति प्राप्त थी, जिसने इन इलाक़ों के शहरी मध्यवर्गीय संस्तरों में विशेषकर असंतोष पैदा किया। यह असंतोष भाषाई संबंधों के क्षेत्र में भी फैल गया। यहां यह बात सामने आयी कि भाषा-साम्य सिर्फ़ बोलनेवालों को समेकित ही नहीं करता है, बल्कि उन्हें दूसरे भाषा-साम्य के विरोध में भी ला सकता है ("हम – वे")। इसलिए बिहार में भी बंगला के संदर्भ में "भाषाई विस्थापन" की प्रक्रिया चल रही है। १९५१ में बिहार की आबादी के ४.४% ने बंगला को अपनी मातृभाषा बतलाया था। १९६१ में यह संख्या घटकर लगभग आधी – २.६% – रह गयी थी (Ibid., p. 4; *Census of India, 1961.* Vol. 1, India. Pt II—C [ii]. Language Tables, Delhi, 1964, p. 2)।

बिहार में बंगाल प्रेसीडेंसी से अलग होने की प्रवृत्ति काफ़ी शुरू में ही पैदा हो गयी थी। ठेठ १८९४ में ही एक बिहारी अख़बार के संपादक महेशनारायण ने बिहार प्रांत का निर्माण किये जाने की मांग उठायी, जिसने "बिहार बिहारियों के लिए" आंदोलन का समारंभ किया, जो मुख्यत: बंगाली प्रभुत्व के विरुद्ध लक्षित था (ए० के० मजूमदार, 'हिंदी की समस्या : एक अध्ययन' [अंग्रेज़ी में], बंबई, १९६५, पृ० ८–९)। बिहार प्रांत के निर्माण* ने उपरोद्धृत अंतर्विरोधों को अपने-आप ही दूर नहीं कर दिया, क्योंकि बिहार और बंगाल के बीच दीर्घकालिक संबंधों के प्रभाव एकदम ही विलुप्त नहीं हो सकते थे। जैसे कि भारत के प्रथम राष्ट्रपति डा० राजेंद्रप्रसाद ने अपनी 'आत्मकथा' में कहा है, बिहारियों को शिकायत थी कि बिहार के बंगाल से अलग होने के तीस साल बाद भी बंगालियों

---

* बिहार और ओड़िसा को १९१२ में बंगाल से अलग कर दिया गया।

का सरकारी नौकरियों में वैसा ही प्राधान्य था, जैसे अविभाजित बंगाल में था।

बिहार के पूर्वी इलाक़ों की आर्थिक जीवन में बंगाल पर निर्भरता अब भी बनी हुई है। बिहारियों (मुख्यतः भोजपुरी-भाषी ज़िलों के) का काम की तलाश में बंगाल के औद्योगिक केंद्रों में सतत अंतर्वाह और बिहार के कोयला-क्षेत्रों और रांची – जमशेदपुर – सिंदरी त्रिकोण के भीतर उसके नये औद्योगिक समुच्चयों के बंगाली मंडी के साथ संबंध इसमें सहायता देनेवाले कारक हैं। १९५६ में बिहार और बंगाल में भी व्यवसाय में लगे बड़े उद्योगपतियों की पहल पर इन दोनों राज्यों का पुनरेकीकरण करने का यत्न किया गया था, मगर उसका दोनों राज्यों में जनता ने विरोध किया।

पश्चिमी प्रदेशों के, अर्थात हिंदीभाषी प्रदेशों के साथ बिहारियों के संबंध ब्रिटिश विजय के बहुत पहले ही विकसित हो चुके थे। बिहार अवध रियासत का अंग था। भारतीय विद्वानों ने बिहारियों पर ब्रजभाषा, अवधी और हिंदी साहित्य के प्रबल सांस्कृतिक प्रभाव को और बिहारियों द्वारा इन साहित्यों के विकास में अदा की जानेवाली भूमिका को रेखांकित किया है। बिहार में हिंदी की लोकप्रियता में बीस के दशक के उत्तरार्ध में विशेष-कर तेज़ी आयी। राष्ट्रीय स्वाधीनता संघर्ष के दौरान कांग्रेस के अंग्रेज़ी की हिंदुस्तानी से प्रतिस्थापना करने के नारे को देशप्रेमी आबादी के व्यापक हिस्सों का समर्थन प्राप्त हुआ। हिंदी साहित्य सम्मेलन की बिहार में १९३४ में स्थापित प्रांतीय शाखा ने इसमें बहुत योग दिया। धीरे-धीरे हिंदी और उर्दू का बिहार के बुद्धिजीवियों और शहरी मध्यवर्गीय संस्तरों में व्यापक प्रसार हो गया। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की दस्तावेज़ों में बिहार को एक हिंदीभाषी क्षेत्र माना गया है।

स्वाधीनता प्राप्ति के बाद से बिहार में अंग्रेज़ी की सार्वजनिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों और ख़ासकर सरकारी कामकाज और सेवाओं में प्रति-स्थापना करने और हिंदी का प्रयोग करने के लिए उत्साहपूर्वक क़दम उठाये जाते रहे हैं। बिहार विधान सभा १९५० में भारत में राजभाषा अधिनियम पारित करनेवाली पहली विधान सभाओं में थी, जिसमें हिंदी में पूर्ण संक्रमण की अपेक्षा की गयी थी। स्वयं विधान सभा ने २६ जनवरी, १९६५ से अपना सारा कामकाज हिंदी में ही करना शुरू कर दिया। सरकारी अनुमानों के अनुसार १९६५ के आरंभ तक राज्य की शासनिक सेवाओं में ७५% पत्रव्यवहार हिंदी में होने लग गया था। यह घोषित किया गया कि सभी

सरकारी कार्यालय अक्तूबर, १९६८ से सिर्फ़ हिंदी में ही कामकाज करने लगेंगे। हिंदी को राज्य भर में सरकारी सेवाओं के लिए प्रतियोगिता परीक्षाओं में अनिवार्य विषय बना दिया गया। सभी बिहारी कर्मचारियों के लिए हिंदी परीक्षा में उत्तीर्ण होना लाज़िमी कर दिया गया। इस समय हिंदी राज्य के प्राथमिक तथा माध्यमिक विद्यालयों में शिक्षा का बुनियादी माध्यम है। अधिकांश अख़बारों, पत्र-पत्रिकाओं और साहित्यिक कृतियों का प्रकाशन हिंदी में ही होता है, जिसका बिहार के राजनीतिक तथा सार्वजनिक जीवन में भी व्यापक उपयोग किया जाता है।

इन अवस्थाओं में १९६१ की जनगणना में लक्षित मैथिली, मगही और भोजपुरी के पक्ष में इस बदलाव की तरफ़ गंभीर ध्यान दिया जाना चाहिए। इस बदलाव का स्वरूप और बिहार में भाषा-स्थिति के विकास के संभाव्य ढंग विवादास्पद विषय रहे हैं और उनकी और अधिक जांच की जानी चाहिए।

कुछ भारतीय वाङ्मीमांसक मैथिली, मगही और भोजपुरी को हिंदी की बोलियां कहते हैं, तो अन्य, उदाहरण के लिए, सुनीतिकुमार चटर्जी और उदयनारायण तिवारी, ग्रियर्सन का अनुकरण करते हुए उन्हें हिंदी से भिन्न वर्ग में अलग करते हैं। हिंदी और उसकी बोलियों के बारे में अपनी कृति में अंबाप्रसाद "सुमन" मैथिली और मगही को अलग भाषाएं मानते हैं, मगर भोजपुरी को हिंदी की बोलियों में शामिल करते हैं। भोजपुरी का जॉन बीम्ज़ ने बड़ा रोचक आकलन किया है: "...भोजपुरी बोली पर सुस्पष्ट वैयक्तिकता के लक्षणों की इतनी प्रबल छाप है कि उसे लगभग पृथक भाषा कहा जा सकता है और साथ ही उसमें अनेक श्रेष्ठ आर्य-रूप बाक़ी हैं, जो क्लासिकी हिंदी से अलग हो गये हैं" (जॉन बीम्ज़, पूर्वो०, पृ० ९६–९७)।

बिहारी भाषाओं के वर्गीकरण के बारे में सिर्फ़ वाङ्मीमांसकों में ही वाद-विवाद नहीं चलता है। भारतीय राज्यों के भाषाई आधार पर पुनर्गठन के ठीक पहले बिहार और पश्चिम बंगाल की सरकारों के बीच पुर्णिया ज़िले के पूर्वी हिस्से के बारे में विवाद छिड़ गया। पश्चिम बंगाल के अधिकारियों ने इस क्षेत्र के इस आधार पर अपने राज्य में शामिल किये जाने की मांग की कि ग्रियर्सन के वर्गीकरण में उसकी आबादी बंगला की एक उत्तरी बोली बोलनेवाली बतलायी गयी है। बिहार सरकार ने इस मत को स्वीकार नहीं किया और इस पर ज़ोर दिया कि १९०१ की जनगणना के

४*

अधीक्षक ई० ए० गेट के अनुसार उस क्षेत्र की आबादी हिंदी बोलियों का प्रयोग करती थी। राज्य पुनर्गठन आयोग ने अंतरों का सिर्फ़ उल्लेख ही किया और अपनी रिपोर्ट में कहा कि "एक ओर, पूर्णिया ज़िले के धुर पूरब में बोली जानेवाली किशनगंजिया अथवा सिरपुरिया और दूसरी ओर, बंगला के बीच संबंध बहुत निकट प्रतीत होते हैं। लेकिन ये बोलियां कैथी में लिखी जाती हैं, जो हिंदी से संबद्ध है और पश्चिम की ओर जाने के साथ-साथ उनके मैथिली और हिंदी के साथ संबंध अधिकाधिक सुस्पष्ट होते जाते हैं। इस प्रकार भाषा-साम्य पर आधारित तर्क, फिर चाहे वे बिहार द्वारा दिये जाते हों या बंगाल द्वारा, किसी भी तरह से निर्णायक नहीं हैं" ('राज्य पुनर्गठन आयोग की रिपोर्ट' [अंग्रेज़ी में], नयी दिल्ली, १९५५, पृ० १७६)।

साठ के दशक के आरंभ में मैथिली के पक्षधरों की सरगरमियां एक विशिष्ट लक्ष्य की सिद्धि की ओर निदेशित थीं—साहित्य अकादमी द्वारा मैथिली को एक स्वतंत्र साहित्यिक भाषा के रूप में मान्यता प्रदान करवाना। मैथिली को मान्यता दिलवाने के आंदोलन के दौरान इस बात के प्रमाण जुटाने की तरफ़ बहुत ध्यान दिया गया कि मैथिली की ठेठ आठवीं सदी से चली आ रही दीर्घकालिक साहित्यिक परंपराएं हैं। विद्यापति ठाकुर की साहित्यिक थाती को ख़ूब प्रचारित किया गया और विरल तथा दुष्प्राप्य पुस्तकों की प्रदर्शनियां आयोजित की गयीं। देवनागरी की तिरहुती लिपि से प्रतिस्थापना करने की भी कोशिशें की गयीं, जो मैथिली की एक प्राचीन लिपि है और बंगला तथा असमिया वर्णमालाओं से मिलती-जुलती है।

आधुनिक काल में मैथिली साहित्य के विकास में अवनति की व्याख्या यह कहकर की जाती है कि "मैथिलीभाषियों में आत्मचेतना का जागरण देर से हुआ, क्योंकि उस समय (उन्नीसवीं सदी के मध्य में—ले०) उनके यहां पुरानी पीढ़ी के संस्कृताचार्यों का बोलबाला था, जो अपने देशी साहित्य को ज्यादा महत्व नहीं देते थे" (जे० मिश्र, 'साहित्य अकादमी के सामने प्रस्तुत मैथिली का पक्ष', [अंग्रेज़ी में], नयी दिल्ली, १९६३, पृ० ५)। मिथिला सचमुच अपने मैथिल ब्राह्मण संस्कृत-विद्वानों के लिए प्रसिद्ध है, जो बहुत समय तक इस क्षेत्र के सांस्कृतिक जीवन की धाराओं को निर्धारित करते रहे थे। ब्राह्मणेतर जातियों के बुद्धिजीवियों के उदय के बाद जाकर ही संस्कृत परंपरानिष्ठता की जड़ें धीरे-धीरे कमज़ोर हो पायीं और मैथिली भाषा में नयी साहित्यिक विधाओं का सर्जन करने में दिलचस्पी पैदा हुई।

मैथिली के पक्षधरों के प्रयास अंततः सफल हुए। १५ फ़रवरी, १९६५ को साहित्य अकादमी ने मैथिली को एक स्वतंत्र साहित्यिक भाषा के रूप में मान्यता प्रदान कर दी, लेकिन मैथिली की स्थिति को सुदृढ़ करने के लिए उसके पक्षधरों की गतिविधियां उसके बाद भी जारी रही हैं। लहरिया-सराय में एक मैथिली लेखक भवन का निर्माण किया गया है। मिथिला विश्वविद्यालय की स्थापना करने, मैथिली में प्रसारण करने के लिए दरभंगा में रेडियो स्टेशन का निर्माण करने और मैथिली को उत्तर बिहार की प्रादेशिक भाषा घोषित किये जाने की मांगें उठायी गयी हैं। अखिल भारतीय मैथिली संघ की मांग है कि मैथिली को प्रतियोगिता परीक्षाओं में वैकल्पिक भाषा घोषित कर दिया जाना चाहिए, जिससे मैथिलियों के लिए सरकारी सेवा में प्रवेश करना सुगम हो, और मैथिली को इस इलाक़े के प्राथमिक विद्यालयों में अनिवार्य विषय बना दिया जाना चाहिए। इसके अलावा यह सुझाव भी दिया गया है कि मैथिली को संविधान की आठवीं अनुसूची में शामिल किया जाये।

इन सभी कार्रवाइयों ने जनसाधारण के ध्यान को मातृभाषा की ओर आकृष्ट किया और उसके परिणामस्वरूप उसके उपयोग के क्षेत्र का कुछ प्रसार हुआ। समकालीन मैथिली साहित्य के विकास में भी कुछ प्रगति हुई है – लेखक और कवि नयी विधाओं में पारंगति प्राप्त कर रहे हैं और अखबारी शैली का सर्जन किया जा रहा है। मगही और भोजपुरी के विपरीत मैथिली इस क्षेत्र के कुछ प्राथमिक विद्यालयों में शिक्षण माध्यम भी है और साथ ही एक पृथक विषय भी है। १९६०-६१ के शैक्षिक वर्ष में बिहार के प्राथमिक विद्यालयों में २,५३८ कक्षाओं में ५१,३५६ विद्यार्थी और माध्यमिक विद्यालयों में ७९ कक्षाओं में ३,००६ विद्यार्थी मैथिली का अध्ययन कर रहे थे। मैथिली और मैथिली साहित्य का पटना, कलकत्ता और बनारस विश्वविद्यालयों में अध्ययन किया जा रहा है। बेशक, मैथिलियों की ६० लाख आबादी के लिए ये आंकड़े नगण्य हैं।

भारत द्वारा स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद यत्र-तत्र मिथिला प्रदेश की स्थापना के लिए मांगें उठायी गयीं। ये मांगें सिर्फ़ भाषागत तर्कों पर ही नहीं आधारित थीं। अखिल भारतीय मैथिली सम्मेलन के एक अधिवेशन में बिहार विधानसभा के एक सदस्य ने "मिथिला के अतीत के गौरव की पुनः प्रतिष्ठा करने के लिए मैथिली आंदोलन" में प्राण फूंकने का आवाहन किया ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', ३० दिसंबर, १९६९)। जनश्रुति के अनुसार

यह क्षेत्र पौराणिक सीता और प्राचीन काल के प्रसिद्ध महाकवि और नाट्यकार कालिदास (चौथी-पांचवीं सदी) का जन्मस्थल था। लंबे समय तक यहां एक स्वाधीन राज्य अस्तित्वमान रहा था।

मिथिला प्रदेश की स्थापना की मांगें स्थानीय ब्राह्मण संभ्रांतों के हितों को प्रतिबिंबित करती थीं और व्यापक मैथिली जनसाधारण में उन्होंने कोई उत्साह नहीं पैदा किया। "मैथिलीभाषी उत्तर बिहार में अलग मिथिला गणराज्य की स्थापना के लिए लक्ष्मण झा का आंदोलन सामान्य जनता के मत में दरभंगा के मैथिल ब्राह्मणों की बिहार की राजनीति में राजपूतों और भूमिहारों के राजनीतिक एकाधिकार से बिलकुल अलग सत्ता का पृथक अनन्य क्षेत्र प्राप्त करने की आकांक्षा को द्योतित करता है" (एस० एस० हैरिसन, 'भारत – सबसे ख़तरनाक दशक' [अंग्रेज़ी में], प्रिंसटन, न्यूजर्ज़ी, १९६०, पृ० ११०)। दरभंगा के भूतपूर्व महाराजा इन मांगों के समर्थक थे, जो उनमें अपने राजनीतिक प्रभुत्व को पुनःस्थापित करने का अवसर देखते थे।

जहां तक भोजपुरी और मगही की बात है, उनके बोले जाने के क्षेत्रों में शैक्षिक पुनर्जागरण आया है। तथापि "मगही में अपना कोई लिखित साहित्य नहीं है... कुछ मगही विद्वान आजकल मगही को पुनरुज्जीवन देने का यत्न कर रहे हैं। लोकगीत संग्रहीत और प्रकाशित किये जा रहे हैं। पुरानी पांडुलिपियां इकट्ठा करने के लिए एक संगठन बनाया गया है और पटना से मगही में एक पत्रिका भी प्रकाशित की जा रही है" ('भारत में भाषा और समाज' [अंग्रेज़ी में], शिमला, १९६९, पृ० १२९–१३०)। वाराणसी में अखिल भारतीय भोजपुरी मंडल के उपाध्यक्ष ईश्वरचंद्र सिन्हा ने यह कहते हुए कि उनके लिए तब ख़ामोश रहना संभव नहीं है कि जब भारत सरकार विभिन्न राज्यों की सीमाओं को बदल रही है, उत्तरप्रदेश और बिहार में ढाई करोड़ भोजपुरीभाषियों के लिए अलग राज्य का निर्माण किये जाने की मांग की, क्योंकि उनकी अपनी संस्कृति और परंपराएं और राष्ट्रवाद का गौरवमय इतिहास हैं ('पैट्रियट', नयी दिल्ली, १६ मार्च, १९६६)।

भोजपुरी विद्वानों और सार्वजनिक कार्यकर्ताओं में भोजपुरी राज्य का निर्माण करने की आवश्यकता के बारे में मतैक्य नहीं है। बोकारो (बिहार) में भोजपुरी विकास समाज के सचिव एस० पी० पांडेय ने 'स्टेट्समैन' के संपादक के नाम पत्र में बलपूर्वक कहा था कि यह महान भाषा (भोजपुरी)

कालकवलित हो रही है। वह भोजपुरी राज्य की स्थापना के खिलाफ़ हैं और बिहार सरकार द्वारा भोजपुरी को राज्य की एक साहित्यिक भाषा के रूप में मान्यता दिये जाने जैसी अधिक संयमित मांगें ही पेश करते हैं। उनका कहना है कि भोजपुरी का विकास करने के लिए आरा या छपरा में एक भोजपुरी विश्वविद्यालय की स्थापना करना ज़रूरी है ('स्टेट्समैन', नयी दिल्ली, ३ नवंबर, १९६६)। बिहारी समाजशास्त्री एल० पी० विद्यार्थी लक्षित करते हैं कि "भोजपुरी का शायद ही कोई अपना साहित्य है। उसमें कुछ ही पुस्तकें निकली हैं। ग्रियर्सन ने उसका व्याकरण प्रकाशित किया है और उसकी अन्य प्रादेशिक बोलियों से तुलना की है। 'आल्हा-ऊदल' भी छप चुकी है। भोजपुरी क्षेत्र में ढेरों लोकगीत और लोककथाएं प्रचलित हैं और उनमें से कुछ को देशी-विदेशी विद्वानों और लोकवार्ताकारों ने संकलित किया है" ('भारत में भाषा और समाज', पृ० १३१)। १९७० में भोजपुरी में तीन पत्रिकाएं प्रकाशित हो रही थीं, जिनकी कुल औसत बिक्री १,००० थी।

उपलब्ध आंकड़े दिखलाते हैं कि जिन इलाक़ों में तथाकथित बिहारी भाषा बोली जाती है, उनमें भाषाई स्थिति अनिश्चित और परिवर्तनशील है। इसलिए बात सिर्फ़ सुस्थापित तथ्यों की ही की जा सकती है। सबसे पहली बात तो यह है कि बिहार में भाषाई विस्थापन की परिघटना लक्षित होती है, अर्थात ऐसी आबादी घट रही है, जिसकी मातृभाषा हिंदी या बंगला मानी जाती है, और उसके साथ-साथ मैथिली, मगही और भोजपुरी बोलनेवालों की संख्या में तीव्र वृद्धि हो रही है। मैथिली के विकास और उसके सामाजिक कृत्यों के प्रसार की प्रवृत्ति भी मौजूद है, जो उसके पक्ष-धरों के सक्रिय प्रयासों से प्रकट होती है। साथ ही स्कूलों और कॉलेजों की लगातार बढ़ती संख्या और हिंदी का प्रचार-प्रसार करनेवाले संगठनों और सरकार सेवाओं के कार्यकलाप के परिणामस्वरूप साहित्यक हिंदी का तीव्र प्रसार भी चल रहा है। दृष्टव्य है कि सत्तर के दशक के आरंभ से मिथिला और भोजपुरी राज्यों की स्थापना की मांगें उठना बंद हो गयी हैं।

सारणी ७ दिखलाती है कि बिहार में साठ के दशक के भाषाई मोड़ के बावजूद हिंदी तथा उर्दू पत्र-पत्रिकाओं की लोकप्रियता तेज़ी से बढ़ रही है ('भारत में प्रेस – १९६५' [अंग्रेज़ी में], भाग १, नयी दिल्ली, १९६५, पृ० १७२, १२८)।

सारणी ७

बिहार में नियतकालिक पत्र-पत्रिकाएं

भाषा	पत्र-पत्रिकाओं की संख्या		औसत बिक्री		वृद्धि-दर (प्रतिशत)
	१९६४	१९७०	१९६४	१९७०	
हिंदी	१११	१३३	२, ६२, ०००	३, ४८, ०००	+३२
अंग्रेज़ी	३४	३२	८२, ०००	१, ०३, ०००	+२५
उर्दू	२८	३२	५३, ०००	९५, ०००	+८०
मैथिली	५	७	४, ४७५	७, ०००	+५५
भोजपुरी	३	३	१, ०००	१, ०००	नहीं
मगही	१	नहीं	आंकड़े अनुपलब्ध	नहीं	नहीं

यह भी ध्यान में रखा जाना चाहिए कि दिल्ली तथा अन्य राज्यों से प्रकाशित पत्र-पत्रिकाएं बिहार नियमित रूप से पहुंचती हैं, जब कि मैथिली, भोजपुरी और मगही प्रकाशन बिहार तक ही सीमित हैं। दूसरे शब्दो में, स्थानीय प्रेस पर हिंदी प्रेस का प्रभुत्व उससे कहीं अधिक है, जितना सारणी ७ से प्रतीत होता है।

बिहार में हिंदी के ख़िलाफ़ एक भी जन-आंदोलन नहीं हुआ है, यद्यपि अंग्रेज़ी के विरुद्ध यहां कितने ही प्रदर्शन हुए हैं। अगस्त, १९६७ में रांची में हिंदी और उर्दू के समर्थकों के बीच झगड़े हुए थे। उर्दू के समर्थकों की मांग थी कि उर्दू को राज्य में दूसरी राजभाषा का दरजा दिया जाये। १९७० में बिहार के भाषाई अल्पसंख्यकों (बंगालियों और उर्दूभाषियों, मगर मैथिलियों, मगहियों और भोजपुरियों ने नहीं) ने मगध विश्वविद्यालय के एक परिपत्र का विरोध किया, जिसमें शिक्षकों से प्रवेश परीक्षाएं सिर्फ़ हिंदी में ही लेने के लिए कहा गया था। राज्य सरकार के सरकारी कामकाज में हिंदी के अनिवार्य उपयोग के बारे में निर्णय ने भी ऐसी ही प्रतिक्रिया उत्पन्न की थी। बिहार में वस्तुपरक परिस्थितियों द्वारा त्वरित हिंदी के सामाजिक कृत्यों का क्रमिक प्रसार आबादी में किसी भी

तरह की नकारात्मक प्रतिक्रिया नहीं उत्पन्न करता, जब कि इस प्रक्रिया को कृत्रिम रूप से, बलात उपायों द्वारा तेज़ करने के प्रयासों को जनव्यापी विरोध का सामना करना पड़ता है।

मगही और भोजपुरी क्षेत्रों में स्थिति पर विचार करते समय दो बातें ध्यान में आये बिना नहीं रह सकतीं। पहली बात यह कि इन इलाक़ों में शहरी आबादी की प्रतिशतता बहुत नीची है – क्रमशः ३.६ और ३.४ प्रतिशत, अर्थात भारत के औसत स्तर से चार-पांच गुना नीची। दूसरी बात यह कि न तो मगही और न ही भोजपुरी क्षेत्रों का कोई ऐसा ऐतिहासिक केंद्र है, जो जातीय समुदाय की उत्पत्ति का आधार बन सकता था। मगही का पटना ज़िले में प्रयोग किया जाता है, जहां संसर्ग के सभी मुख्य क्षेत्रों में हिंदी को प्रधान स्थान प्राप्त है। जहां तक भोजपुरियों की बात है, तो न सिर्फ़ यही कि उनके यहां कोई इतिहासतः निर्मित केंद्र नहीं है, बल्कि वे प्रशासनिक सीमाओं द्वारा बिहार, उत्तरप्रदेश और अंशतः मध्यप्रदेश राज्यों के बीच विभाजित भी हैं। बिहार के विपरीत उत्तरप्रदेश को भाषाई विस्थापन नहीं अनुभव करना पड़ा है। यही नहीं, यहां हिंदी को अपनी पैदायशी ज़बान माननेवालों की संख्या उलटे काफ़ी बढ़ ही गयी है।

साहित्यिक, सांस्कृतिक और शैक्षिक समाजों का कार्यकलाप नगरों तक ही सीमित है और कृषक जनसाधारण तक, जो आबादी के परम बहुलांश का निर्माण करते हैं, कदाचित ही पहुंच पाता है। भोजपुरी विकास समाज के सचिव ने लेखक को एक पत्र में लिखा था: "अधिकांश भोजपुरी लोग निर्धन और अनपढ़ हैं। भोजपुरी भाषा की अवस्था पर विचार करने का उनके पास न समय है, न शौक़, क्योंकि वे रोटी जुटाने के संघर्ष में ही उलझे हुए हैं।" रोटी-रोज़ी की तलाश में भोजपुरी लोग अधिकाधिक संख्या में देहात को छोड़कर पश्चिम बंगाल और उत्तरप्रदेश के औद्योगिक केंद्रों की तरफ़ जा रहे हैं और उन उद्यमों की बहुजातीय श्रम वाहिनी की क़तारों में शामिल होते जा रहे हैं, जहां दैनिक संसर्ग की भाषा बोलचाल की हिंदी है। सामान्यतया काम की खोज में ग्रामीण आबादी के सबसे ग़रीब लोग ही शहर जाते हैं। आबादी के संपन्नतर अंशकों के शहर के साथ सहकारी समितियों, स्थानीय स्वशासन-निकायों और भांति-भांति के राजनीतिक आंदोलनों के ज़रिये स्थिर कामकाजी संबंध पैदा हो जाते हैं। ग्रामीण संभ्रांत अपने बच्चों को शिक्षा पाने के लिए शहर भेजते हैं और शिक्षण की भाषा सामान्यतः हिंदी ही होती है। यह स्थिति व० म० झीरमून्स्की के जर्मन

बोलियों के अध्ययन पर आधारित इस निष्कर्ष की पुष्टि करती है: "कृषक बोलियों का विखंडन दो सिरों पर एक साथ होता है। भाषा के मामले में अधिकतम रूढ़िबद्धता देहाती मध्यवर्गीय तत्वों द्वारा उन इलाक़ों में प्रदर्शित की जाती है, जो औद्योगिक केंद्रों से दूर स्थित होते हैं और मुख्यतया कृषिप्रधान होते हैं" ('भाषा और समाज' [रूसी में], मास्को, १९६८, पृ० २९)।

बिहार के अधिकांश प्रदेशों के अत्यधिक सामाजिक-आर्थिक पिछड़ेपन, भारतीय मानकों तक से वहां के निम्न साक्षरता-स्तर और अवशिष्ट सामाजिक संबंधों तथा पारंपरिक सामाजिक संरचनाओं को ध्यान में रहते हुए भी कृषि के संभाव्य भावी विकास, नये औद्योगिक केंद्रों के उदय और आर्थिक संबंधों, व्यापार और श्रम-विभाजन के प्रसार की बात को भी नज़रअंदाज़ नहीं करना चाहिए। भविष्य के गर्भ में बिहार में जीवन के सभी क्षेत्रों में, जिनमें संजाति-भाषाई स्थिति भी शामिल है, विकास और परिवर्तन की – प्रत्यक्षतः हिंदी के पक्ष में – बहुत संभाव्यता है।

राजस्थान में संजाति-भाषाई प्रक्रियाएं

१९६१ में राजस्थानी के विभिन्न रूपों को बोलनेवालों में से सिर्फ़ ५% ने ही स्वयं राजस्थानी को अपनी मातृभाषा बतलाया था।* अलावा इसके, विचाराधीन भाषाओं में यही अकेली भाषा है, १९५१–१९६१ के बीच जिसके बोलनेवालों की संख्या की वृद्धि-दर इसी अवधि में राज्य में आबादी की औसत वृद्धि के पीछे रही है।** अंतिम बात यह कि "राजस्थानी" शीर्षक के अंतर्गत जनगणना में विभिन्न रूपों की सबसे अधिक संख्या (हिंदी के बाद) – ७३ – अंकित की गयी है, जो इस भाषा के अत्यधिक बोलीगत विखंडन को द्योतित करती है।

लेकिन १९६१ की जनगणना के आंकड़ों को ज़्यादा बारीकी से देखने

---

*१९७१ में १८% राजस्थानी को अपनी मातृभाषा बतलाने लग गये थे।

**प्रारंभिक आंकड़ों के अनुसार अगले दशक में राजस्थानी बोलनेवालों की संख्या में २८% की कमी आयी थी।

पर पता चलता है कि राजस्थान में भाषा-स्थिति इतनी जटिल नहीं है, जितनी पहली नज़र में प्रतीत होती है। सारणी ८ में राजस्थानी समूह में आनेवाले बुनियादी भाषा-रूप दर्शाये गये हैं (*Census of India, 1961.* Vol. 1, India. Pt II—C [ii]. Language Tables, Delhi, 1964, pp. 82-87)।

सारणी ८

बोली	सारे भारत में उसे मातृभाषा कहनेवाले उत्तरदाताओं की संख्या	राजस्थान में उसे मातृभाषा कहनेवाले उत्तरदाताओं की संख्या	राजस्थान में उसे मातृभाषा कहनेवाले उत्तरदाताओं की संख्या का उसे भारत में मातृभाषा कहनेवालों की संख्या से अनुपात, %
मारवाड़ी	६२, ४२, ४४९	५७, ८१, ८४६	९२
मेवाड़ी	१८, ५३, ७६९	१८, १९, ०३४	९८
ढुंढहाड़ी/ढुंढाड़ी	१५, ९१, ८२६	१५, ९१, ८२५	१००
मालवी	११, ४२, ४७८	२, ३६, ६६८	२१
राजस्थानी	८, ०४, २४७	७, १३, ३५७	८८
लमाणी/लंबाडी	६, ७९, ३६३	३०२	०,०४
बंजारी	५, ९२, ६५४	१, २२८	०,२
हाड़ौती	५, ६१, ०३८	५, ६१, ०१०	१००
निमाड़ी	५, २८, १७२	नहीं	नहीं
बागड़ी	३, ०९, ९०३	३, ०९, २६७	९९
गोजी	२, ०९, ३२७	नहीं	नहीं

सारणी दिखलाती है कि छः मुख्य बोलियां – मारवाड़ी, मेवाड़ी, ढुंढहाड़ी (ढुंढारी अथवा ढुंढाड़ी), राजस्थानी, हाड़ौती और बागड़ी – इस भाषा के ९४% बोलनेवालों को अपने में ले लेती हैं। जहां तक मालवी की बात है, उसके सिर्फ़ २१% बोलनेवाले ही राजस्थान में रहते हैं,

शेष का निवास मध्यप्रदेश है। इसके अलावा कुछ भारतीय वाङ्मीमांसक मालवी को राजस्थानी की नहीं, हिंदी की बोली बताते हैं। राजस्थान की कोई २०% आबादी, झालावाड़ ज़िले में, जो मध्यप्रदेश की सीमा पर स्थित है, मालवी बोलती है। इसलिए कहा जा सकता है कि मालवी का राजस्थान में भाषा-स्थिति पर कोई महत्वपूर्ण प्रभाव नहीं है।

मुख्य राजस्थानी बोलियों का राज्य के समूचे प्रदेश में प्रादेशिक वितरण अर्थगर्भित है (सारणी ६) (Ibid., pp. CXXIII-CCXXV)।

प्रत्यक्ष है कि यहां सबसे व्यापक बोली मारवाड़ी है, जिसके बोलनेवाले राजस्थानी के सभी रूपों के बोलनेवालों के ५२% हैं। यह भी दृष्टव्य है कि मेवाड़ी और मारवाड़ी बोलियों के प्ररूपात्मक सादृश्य से कुछ विद्वान इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि वे एक ही बोली-समह की हैं। यह भी महत्व-पूर्ण है कि मारवाड़ी बहुत लंबे समय से अंतर्भाषिका संसर्ग में प्रयुक्त होती रही है। इस प्रसंग में ल० व० ख़ोख़लोवा की यह टिप्पणी रोचक है कि "मारवाड़ी और दूसरी राजस्थानी बोलियों के शिक्षित बोलनेवालों के अपनी मातृभाषा के प्रति भिन्न-भिन्न रवैये हैं। मारवाड़ी का आदर किया जाता है, जब कि दूसरी बोलियों को बोलनेवाले अपने भाषा-रूपों को 'अनघड़' या 'गंवारू' समझते हैं" (ल० व० ख़ोख़लोवा, 'राजस्थान में प्रयुक्त हिंदी और राजस्थानी भाषाएं—सामाजिक-भाषावैज्ञानिक अनुसंधान का अनुभव', शोध-प्रबंध [रूसी में], मास्को, १९७४)।

मारवाड़ी की पुरानी साहित्यिक परंपरा है और यह भी उसे दूसरी बोलियों से अलग करती है। राजस्थानी भाषा के इतिहास के बारे में अपनी कृति में सीताराम लालस ने प्राचीन मारूभाषा में रचनाओं से लेकर डिंगल में मध्ययुगीन रासो काव्यों के ज़रिये आधुनिक राजस्थानी में साहित्य तक चले आते साहित्यिक सातत्य का उल्लेख किया है (सीताराम लालस, 'राजस्थानी शब्दकोश', प्रथम खंड, जोधपुर, १९६२, पृ० ८)। इसके बावजूद कि भारत के सामंती विखंडन के युग में राजस्थान में साहित्य राजदरबारों में रचित दरबारी कविताओं अथवा धार्मिक प्रबंधों में ही परिणत हो गया था, उसने साहित्यिक परंपरा के संरक्षण में किसी हद तक योग दिया। लुई रुसेले ने राजस्थान के दरबारी कवियों की भूमिका के बारे में यह रोचक टीका की है: "एक और वर्ग के लोग प्राचीन काल से राजपूतों से विशेष मान पाने के पात्र रहे हैं—चारण अथवा भाट। हर क़बीले, हर महत्वपूर्ण कुनबे, हर राजा अथवा सामंत का अपना चारण

सारणी ६

बोली	मातृभाषा कहनेवालों की संख्या	दूसरी बोलियां बोलने-वालों की सापक्षता में % अनुपात	ज़िला	राज्य का भाग
बागड़ी	३, ०६, २६७	८१	गंगानगर	राज्य के उत्तर में पंजाब की सीमा पर
ढुंढहाड़ी	२, ५०, ६४०	३५	सीकर	राज्य के पूर्व में उत्तरप्रदेश और मध्यप्रदेश की सीमाओं पर
	११, २७, ६६६	६४	जयपुर	
	८६, ८३०	६४	टौंक	
	६८, १५२	६८	सवाई माधोपुर	
हाड़ौती	१, ०६, ५५६	५४	बूंदी	राज्य के दक्षिण-पूर्व में मध्यप्रदेश की सीमा पर
	३, ८८, १३१	६०	कोटा	
	६४, ३५८	३०	झालावाड़	
मेवाड़ी	५, ००, ८६२	७६	चित्तौड़गढ़	राज्य का दक्षिणी भाग मध्यप्रदेश और गुजरात की सीमा पर
	५, ५६, ५४५	६२	भीलवाड़ा	
	७, ४४, ०६४	६६	उदयपुर	
मारवाड़ी	३, ७२, ८३३	६६	बीकानेर	राज्य के पश्चिमी तथा मध्यवर्ती इलाक़े
	५, १३, ७६३	६६	चुरू	
	४, १६, ३३३	६०	झुंझुनू	
	४, ६६, ७५८	६५	सीकर	
	५, ५७, ३७२	६८	अजमेर	
	१, २८, ६२६	६६	जैसलमेर	
	६, १२, २८७	६६	जोधपुर	
	५, ८३, २७०	६६	नागौर	
	६, ४७, ६६४	६६	पाली	
	५, ६०, २४८	१००	बाड़मेर	
	५, १३, २३४	६६	जालोर	
	२, ४५, १०४	६६	सिरोही	

होता है, जिसे क़बीले अथवा कुनबे के उद्गम के बारे में सभी अनुश्रुतियों और आख्यानों के भंडार को संरक्षित रखना और वंशवृक्ष को याद रखना और विशेष अवसरों-समारोहों पर पूर्वजों के नामों और उनके कारनामों का बखान करना होता है। साथ ही वह कवि भी होता है और पारिवारिक उत्सवों के लिए कविताएं और भजन लिखता है" (लुई रुसेले, 'भारत के चित्र' [रूसी में], सेंट पीटर्सबर्ग, १८७७, पृ० ११४)। रानी लक्ष्मी-कुमारी चूंडावत लिखती हैं कि राजस्थानी भाषा की साहित्यिक एकरूपता बनी रही है। इसकी पुष्टि बहुत से उदाहरणों से होती है। बीकानेर में रची गयी रचनाओं की भाषा वही है, जो मेवाड़, बूंदी, जोधपुर और जयपुर के कवियों की कविताओं की है। समूचे राजस्थान में रजवाड़ों के बीच पत्रव्यवहार की भाषा की एकरूपता भी देखने में आती है (रानी लक्ष्मीकुमारी चूंडावत, 'ग्रंथमाल', जयपुर, १९६४, पृ० ७; वी० एस० भार्गव, 'मारवाड़ और मुग़ल सम्राट' [अंग्रेज़ी में], दिल्ली, १९६६, पृ० ३–४, २०७)। सोवियत विद्वानों की कृतियों में मारवाड़ी के एक आधुनिक साहित्यिक भाषा के आधार के नाते सुदृढ़ीकरण की ओर प्रवृत्ति लक्षित की गयी है।

कामकाजी और राजनीतिक शब्दावली में "मारवाड़ी" और "राज-स्थानी" संकल्पनाओं का कभी-कभी एक ही अर्थ लगाया जाता है। मिसाल के लिए, आकाशवाणी के जयपुर केंद्र द्वारा प्रसारित वाचकों और अनुवादकों के लिए रिक्त स्थानों के एक विज्ञापन में कहा गया था कि उन्हें मारवाड़ी में प्रवीण होना चाहिए और अंग्रेज़ी तथा हिंदी से मारवाड़ी में और तत्प्र-तिक्रमातः सही शीघ्र अनुवाद करने में समर्थ होना चाहिए ('इंडियन एक्सप्रेस', २५ मार्च, १९७०)। इस तरह की "समानार्थकता" बोली का अहित करती है। मारवाड़ी सिर्फ़ एक बोली ही नहीं है, जो अपना नाम प्राचीन मरुदेश और प्रारंभिक मध्ययुगीन मारवाड़ राज्य से प्राप्त करती है और न वह सिर्फ़ मारवाड़ के निवासियों द्वारा आत्मप्रदत्त नाम ही है। राजस्थान में और विशेषकर राजस्थान के सीमांतों के बाहर मारवाड़ी सर्वोपरि महाजनों, व्यापारियों और उद्यमकर्ताओं की जाति (वर्ण के अर्थों में – **अनु०**) का नाम है। राजपूत रियासतों के चरमोत्कर्ष के समय मारवाड़ी जातियां व्यापार के केंद्र पाली से राजस्थान के वित्त और वाणिज्य को नियंत्रित करती थी और इस बात ने इस बोली के प्रसार में महत्वपूर्ण योगदान किया। मुग़ल आक्रमणों के समय मारवाड़ी सारे भारत में बस गये

ग्रौर ब्रिटिश शासनकाल में उन्होंने कलकत्ता ग्रौर बंबई में वाणिज्य-व्यवसाय ग्रौर साहूकारी में प्रधान स्थिति प्राप्त कर ली। स्वयं राजस्थान में उन्नीसवीं सदी के ग्रंत तक उनका केंद्र पाली के दक्षिण-पूर्व में स्थित भीलवाड़ा नगर हो गया।

मारवाड़ी व्यापारियों ग्रौर महाजनों ने भारत भर में निर्मम शोषक ग्रौर मुनाफ़ाख़ोर होने की ख्याति ग्रर्जित कर ली है। विभिन्न भारतीय भाषाग्रों की साहित्यिक कृतियों ग्रौर फ़िल्मों में मारवाड़ी सभी नकारात्मक गुणों को द्योतित करता है, जिन्हें वास्तविक जीवन में ग्रकसर किसी भी राजस्थानी पर थोप दिया जाता है। दिल्ली में राजस्थानी समाज के सम्मेलन में बोलते हुए राजस्थान के तत्कालीन मुख्य मंत्री ने राजस्थानियों को फ़िल्मों में मुनाफ़ाख़ोरों ग्रौर सूदख़ोरों की तरह दिखलाये जाने की ख़तरनाक प्रवृत्ति का ग्रंत किये जाने की मांग की थी ('स्टेट्समैन', नयी दिल्ली, २२ दिसंबर, १९६८)। मारवाड़ी महाजन के प्रति शत्रुभाव उसकी बोली पर भी फैल जाता है। यही कारण है कि "राजस्थानी" पद को निरंतर प्रचलित किया जा रहा है ग्रौर उसका ग्रधिकाधिक व्यापक उपयोग किया जा रहा है, जिससे कालंतर में वह ग्रगर एकमात्र भी नहीं, तो भी प्रधान पद बन जायेगा।

साठ के दशक के ग्रारंभ तक राजस्थानी जातीय भाषा के समेकन के कुछ ग्रासार नज़र ग्राने लगे। मारवाड़ी धीरे-धीरे एक बुनियादी बोली का दरजा हासिल करती जा रही है ग्रौर उसके कृत्य विस्तृत हो रहे हैं ग्रौर साथ ही उन लोगों की संख्या में सुस्पष्ट कमी ग्रा रही है, जिन्होंने १९६१ में दूसरी बोलियों को ग्रपनी मातृभाषा कहा था। तथाकथित "रजवाड़ी" बोलियों – भूतपूर्व देशी राज्यों की सीमाग्रों के भीतर उत्पन्न बोलीगत रूपों – ग्रजमेरी, बीकानेरी, किशनगढ़ी, ग्रादि – से इस बात का कहीं ग्रधिक हद तक संबंध है। यह इसका निर्विवाद्य प्रमाण है कि राजस्थान की ग्राबादी धीरे-धीरे ग्रपने सदियों पुराने सामंती वियोजन पर पार पा रही है, जिसने राजस्थानियों की मानसिकता, ग्राचरण ग्रौर बोलचाल पर ग्रपनी छाप डाल रखी है।

प्रति वर्ष होनेवाले पुष्कर मेले का, जिसमें तीन लाख तक किसान ग्राते हैं, वर्णन करते हुए 'हिंदुस्तान टाइम्स' का संवाददाता कहता है: "उनके (मेले में ग्रानेवाले किसानों के – ले०) सोचने के मुताबिक़ पुरानी रियासतों के ग्रनुसार विभाजन ग्रब भी बने हुए हैं। उनके बीच पुरानी

प्रतिद्वंद्विताएं अब भी मौजूद हैं। जहां तक रियासतों के पुनर्गठन की बात है, तो भला उसके बारे में किसने सुना है?" साथ ही संवाददाता एक देहाती के कथन को उद्धृत करता है, जो–कम से कम पहरावे के मामले में–अंतरों के विलोपन का प्रमाण है। "पीली पगड़ी गूजर बांधते हैं और लाल मीणे," किसान कहता है, "पर, बाबूजी, अब तो बात ही दूसरी है, जो जैसी चाहे, वैसी बांधता है, जिससे कह ही नहीं सकते कि कौन कौनसी बिरादरी का है" ('हिंदुस्तान टाइम्स', २२ नवंबर, १९७०)। अनुसंधानकर्ता सामान्यतया राजस्थान में तीन संजातीय-सांस्कृतिक क्षेत्रों को विभेदित करते हैं। "राजस्थान में, एक ओर, पूर्वी प्रदेश है, जिसका केंद्र जयपुर है, और, दूसरी ओर, जोधपुर, बीकानेर, जैसलमेर को अपनी परिधि में लिये हुए रेगिस्तान और उदयपुर, डूंगरपुर, कोटा, झालावाड़ और सिरोही के पहाड़ी इलाक़े हैं। इन सभी क्षेत्रों ने अपने-अपने ढंग से कला-रूप विकसित किये हैं" ('पैट्रियट', १५ अक्तूबर, १९६७)।

"रजवाड़ी" बोलियों की मारवाड़ी द्वारा शनैः शनैः प्रतिस्थापना राजस्थानियों के समेकन के लिए प्राथमिक महत्व रखती है। अलबत्ता यह अपने आप ही नहीं हो रहा है, अर्थात केवल भाषाई कारकों के कारण ही नहीं हो रहा है। इस प्रक्रिया में राजस्थान के भू-प्रदेश पर रियासतों के उन्मूलन और उनकी सीमाओं के सिर्फ़ प्रशासनिक अर्थों में ही नहीं, बल्कि बुर्जुआ-जनतांत्रिक संस्थाओं के विकास के आधार पर सार्वजनिक जीवन के विकास के दौरान आये नज़रियों में बदलाव की दृष्टि से भी धीरे-धीरे निराकरण से सहायता मिली है। भूतपूर्व सामंती सीमाओं के टूटने में मुख्य कारक आर्थिक विकास है। जस्ते, तांबे, सीसे, चांदी और जिप्सम (चिरोड़ी) के उत्पादन के परिमाण की दृष्टि से राजस्थान बिहार के बाद भारत का दूसरा खनन केंद्र बनता जा रहा है। कोटा के आसपास के इलाक़े में एक विराट औद्योगिक समुच्चय का तेज़ी से उदय हो रहा है। १९६१ में इस शहर के उद्यमों में ३६,१३७ लोग काम कर रहे थे, जब कि सिर्फ़ पांच ही साल के बाद उनकी संख्या ४,६२,४८९ हो चुकी थी। राजस्थान की आबादी की क्षेत्रीय गतिशीलता भी बढ़ रही है।

ये सभी कारक हिंदी के साथ-साथ, जो और भी ज़्यादा तेज़ी के साथ फैल रही है, राजस्थानी के क्रमिक प्रसार में सहायता दे रहे हैं। १९७१ की जनगणना के अनंतिम आंकड़ों के अनुसार १९६१ और १९७१ के बीच राजस्थान में जनसंख्या वृद्धि-दर २७.८% थी, अर्थात वह समूचे

तौर पर भारत की औसत दर (२४.८%) के ऊपर थी। साथ ही राजस्थानी के विभिन्न रूपों के बोलनेवालों की संख्या में २८% की कमी आयी, जब कि हिंदी बोलनेवालों की संख्या ३.२३% से बढ़कर ६०% हो गयी ('पैट्रियट', १८ दिसंबर, १९७२)। राजस्थान के गठन के पूर्व मारवाड़ी के प्रसार का एक कारण तो उसका सबसे बड़ी रियासत जोधपुर की भाषा होना था, और दूसरा कारण मारवाड़ी समुदाय के व्यापारियों और महाजनों का कार्यकलाप था, जिन्होंने उसे उस तमाम भूभाग में फैला दिया, जिसे आगे चलकर राजस्थान बन जाना था। इसके अलावा ब्रिटिश शासन का केंद्र, अजमेर-मेरवाड़ा कमिश्नरी, भी मारवाड़ी क्षेत्र में ही स्थित था। उत्तर भारत में हिंदी के तीव्र प्रसार की अवधि में, जो राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष के साथ जुड़ा हुआ था, भारत के शेष भागों से सामंती रियासतों की सीमाओं से विलगित पश्चिमी राजस्थान ने हिंदी का कम ही प्रभाव अनुभव किया। लेकिन पूर्वी भागों ने, जहां की आबादी ढुंढारी, मेवाड़ी और हाड़ौती का प्रयोग करती है और विभिन्न हिंदी बोलियां (हरियानी, ब्रज) बोलनेवाले बड़ी संख्या में रहते हैं, हिंदी को साहित्यिक, राजनीतिक और वाणिज्यिक भाषा के रूप में अंगीकार कर लिया।

राजस्थान के गठन के बाद राजनीतिक तथा आर्थिक केंद्र पूरब की तरफ़ चले गये। राज्य की राजधानी, जयपुर, ढुंढारी बोली के इलाक़े में स्थित है, तो उसका औद्योगिक केंद्र, कोटा, हाड़ौती बोली के इलाक़े में है। फिर ये इलाक़े मारवाड़ी केंद्र की बनिस्बत कहीं अधिक समृद्ध और उपजाऊ हैं, जो पश्चिम में रेगिस्तानी इलाक़े में है, जहां अलगाव की भावनाएं पैदा हो गयी थीं और अलग मरुप्रदेश के गठन के लिए आंदोलन शुरू करने के बारे में बातें की जा रही थीं (साप्ताहिक 'लिंक', नयी दिल्ली, २५ नवंबर, १९६८; 'इंडियन एक्सप्रेस', १२ अगस्त, १९६९)। राजस्थानी के विकास और उसे मान्यता प्रदान करवाने से संबंधित संगठन पश्चिमी क्षेत्रों में, मुख्यतः जोधपुर में स्थित हैं। जोधपुर में ही राजस्थान संस्थान है, जो लोकवार्ता का संकलन तथा प्रकाशन करता है, राजस्थानी भाषा की सैद्धांतिक समस्याओं का निरूपण करता है और उसका प्रचार करता है। संस्थान आजकल एक बहुखंडीय राजस्थानी-हिंदी शब्दकोश के प्रकाशन में लगा हुआ है। जोधपुर में स्थित प्राच्य अध्ययन संस्थान के पुस्तकालय में पांडुलिपियों और दुष्प्राप्य पुस्तकों का अनोखा संकलन है।

एक पारंपरिक राजस्थानी राजनीतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक केंद्र का अभाव और हिंदी तथा राजस्थानी क्षेत्रों का असंगत सीमांकन राजस्थानी के फैलने और उसके सामाजिक कृत्यों के प्रसार में बाधक हैं। ये ही कारक राजस्थानी की आधारिक बोली को एक अधिभाषिक स्वरूप प्रदान करते हैं और इस प्रकार उसके लिए भविष्य में अपनी स्थिति को समेकित करने का अवसर उन्मुक्त कर देते हैं। जोधपुर की स्थानिक भाषा (मानक मारवाड़ी) को साहित्यिक राजस्थानी का आधार माना जाता है। लेकिन ल० व० ख़ोख़लोवा के अनुसार राजस्थानी में साहित्य की भाषा मारवाड़ी की विभिन्न स्थानिक भाषाओं और दूसरी बोलियों – मेवाड़ी, हाड़ौती, आदि के विभिन्न स्वनिक तथा वैयाकरणिक रूपों और इसी प्रकार इनकी शब्दावली का समावेश है (ल० व० ख़ोख़लोवा, पूर्वो०), जिसका यह मतलब है कि राजस्थानी के मानकीकरण की प्रक्रिया प्रारंभिक चरण में ही है।

सरकारी तौर पर राजस्थान की गणना हिंदीभाषी राज्यों में की जाती है और हिंदी भाषा इस राज्य में उल्लेखनीय भूमिका निबाहती है। राज्य में एक विशेष हिंदी विभाग है, जो हिंदी के सरकारी कामकाज में उपयोग के उपायों का निरूपण करता है, यद्यपि राजस्थान में अभी तक कोई राजभाषा अधिनियम अंगीकार नहीं किया गया है।

हिंदी द्वारा धीरे-धीरे अंग्रेज़ी की प्रतिस्थापना किये जाने के साथ-साथ राजस्थानी के उपयोग के क्षेत्रों का भी प्रसार होता गया। पंचायत प्रणाली की स्थापना और प्राथमिक शिक्षा के विकास ने मानक राजस्थानी में पाठ्य-पुस्तकों, पैंफ़लेटों और दस्तावेज़ों की ज़रूरत पैदा की, क्योंकि इस स्तर पर हिंदी का उपयोग सीमित ही था। राजस्थानी का विकास और प्रचार सिर्फ़ शहरी बुद्धिजीवी समुदाय से आनेवाले अनुरागियों के ही सरोकर का विषय नहीं है और यह तथ्य राजस्थानी के भविष्य के लिए बहुत महत्व रखता है। हाल के समय में राजस्थानी गांवों में समाज के उच्च और मध्यम संस्तरों ने इस दिशा में सचेतन प्रयास किये हैं। राजस्थानी में पुस्तकें और पाठ्यपुस्तकें प्रकाशित करने के लिए और राजस्थानी माध्यम के विद्यालयों के निर्माण और संचालन के लिए चंदे से पैसा इकट्ठा किया जा रहा है। जोधपुर ज़िले के बोरुंदा नामक गांव के किसानों की आर्थिक सहायता से निर्मित एक संगठन लोकवार्ता के संकलन और एक राजस्थानी पत्रिका के प्रकाशन के काम में लगा हुआ है।

१९६७ में राजस्थानी को राजभाषा के रूप में मान्यता दिये जाने की मागें उठायी गयीं। समूचे तौर पर राज्य सरकार की इस संदर्भ में अनुक्रिया सकारात्मक रही।

फ़रवरी, १९६८ में लोकसभा में भूतपूर्व बीकानेर रियासत के राजा और लोकसभा के सदस्य करणीसिंह ने राजस्थानी को भारतीय संविधान की आठवीं अनुसूची में शामिल किये जाने के बारे में एक विधेयक विचारार्थ प्रस्तुत किया। सदन में इस पर गरमागरम बहस छिड़ी, जिसमें विधेयक के विरोधियों ने इस बात पर ज़ोर दिया कि जब करणीसिंह राजा थे, उन्होंने तब राजस्थानी को अपनी रियासत की राजभाषा बनाने के लिए कुछ भी नहीं किया था और स्वयं उनकी रियासत में भी इस भाषा को कोई आधिकारिक स्थिति नहीं प्राप्त थी। विधेयक को ९२ के विरुद्ध ३८ मतों से (तीन सदस्यों ने मत नहीं दिया) अस्वीकार कर दिया गया। राजस्थानी के भविष्य का प्रश्न अभी अनिर्णीत ही बना हुआ है।

पहाड़ी भाषाओं के इलाक़े में भाषाई स्थिति

पहाड़ी भाषाओं और बोलियों को हिमालय की तराइयों और निचली पहाड़ियों में जम्मू-कश्मीर, हिमाचलप्रदेश और पश्चिम बंगाल के प्रदेशों पर व्यापक उपयोग में लाया जाता है। जनगणना सामग्री में पहाड़ी शब्द का प्रयोग अपनी मातृभाषा को द्योतित करने के लिए विभिन्न संजातीय समूहों ने किया है, जिनकी बोलचाल के नमूनों के विश्लेषणों के अनुसार उनकी बोलियां आपस में बहुत भिन्नता रखती हैं। दूसरे शब्दों में, पहाड़ी भाषाओं के लिए कोई भाषावैज्ञानिक नहीं, प्रत्युत भौगोलिक नाम है, अर्थात पहाड़ियों द्वारा बोली जानेवाली कोई भी भाषा। चूंकि इन क्षेत्रों के बोली-मानचित्र का अध्ययन कम ही किया गया है, इसलिए १९६१ की जनगणना सामग्री का वर्गीकरण करनेवालों को पहाड़ी भाषाओं और बोलियों के जॉर्ज ग्रियर्सन द्वारा किये तीन समूहों – पूर्वी पहाड़ी (नेपाली और गोरखाली), जिस पर ऊपर विचार किया गया था, माध्यमिक अथवा मध्य पहाड़ी (कुमायूंनी और गढ़वाली) और पश्चिमी पहाड़ी – में विभाजन को क़ायम रखना पड़ा। ग्रियर्सन ने लक्षित किया था कि उनके द्वारा प्रस्तावित विभाजन भौगोलिक अभिलक्षण पर आधारित है, न कि भाषाई अभिलक्षण पर,

अर्थात वह कई बातों के लिहाज़ से मनमाना है और उसका समुचित क्षेत्र-अध्ययन द्वारा सत्यापन किया जाना चाहिए।

१९६१ की जनगणना सामग्री में स्पष्ट किया गया है कि आनुवंशिक अथवा प्ररूपवैज्ञानिक दृष्टि से पहाड़ी बोलियों से संबद्ध समझे जानेवाले बोलचाल के रूपों को वर्गीकृत नहीं किया जा सका, क्योंकि उनका समुचित अध्ययन नहीं हुआ है। उन्हें अवस्थावशात "अविशेषित पहाड़ी" नाम दे दिया गया। यह नाम सांख्यिकीय लेखाकरण करने की आवश्यकता से उत्पन्न हुआ है और किसी एकरूप भाषा को किसी भी तरह से द्योतित नहीं करता है। इसलिए बोलचाल के इस तरह के रूपों पर आगे विचार नहीं किया जायेगा।

माध्यमिक पहाड़ी में दो बोलियां – कुमायूंनी और गढ़वाली – आती हैं, जो एक-दूसरी के बहुत निकट होने पर भी समांतर विद्यमान हैं, जिससे यहां किसी एकरूप भाषा-व्यवस्था का निर्माण होने की बात करना संभव नहीं है। शोधकर्ता गढ़वाली की ८ और कुमायूंनी की १३ शाखाओं को विभेदित करते हैं, यद्यपि १९६१ की जनगणना में दोनों ही बोलियों के ९९% बोलनेवालों ने गढ़वाली अथवा कुमायूंनी को, न कि उनकी शाखाओं को, अपनी मातृभाषा बतलाया है (गोविंद चातक, 'मध्य पहाड़ी का भाषाशास्त्रीय अध्ययन', दिल्ली, १९६६, पृ० १७५; भोलानाथ तिवारी, 'हिंदी भाषा', इलाहाबाद, १९६६, पृ० ३१३)। गढ़वाली और कुमायूंनी बोलनेवाले उत्तरप्रदेश के उत्तर-पश्चिम में एक संहत क्षेत्र, उत्तराखंड, में संकेंद्रित हैं। यह क्षेत्र दो भागों में विभाजित है – गढ़वाल, जिसका एक हिस्सा अभी कुछ ही समय पहले – देशी रियासतों के विलयन तक – टेहरी रियासत का अंग था, और कुमायूं, जिसका केंद्र अल्मोड़ा है। इन बोलियों में मौखिक लोकवार्ता परंपरा विद्यमान है और लिखित समकालीन साहित्य सर्जन के प्रयास भी देखने में आते हैं। यह दिलचस्प बात है कि शोधकर्ताओं ने गढ़वाली और कुमायूंनी की "मानक स्थानिक भाषाओं" का निर्धारण भी कर लिया है – ये क्रमशः भूतपूर्व गढ़वाल रियासत की प्राचीन राजधानी श्रीनगर और अल्मोड़ा की स्थानिक भाषाएं हैं।

उत्तराखंडी पहाड़ी अलग-थलग रहते हैं और मैदानी इलाक़ों के साथ उनका संपर्क-संसर्ग अबाधित नहीं है, क्योंकि सीमांत क्षेत्र होने के नाते उत्तराखंड विशेष प्रशासनिक व्यवस्था के अधीन है, जो संजातीय संबंधों के विकास में बाधक है। इसके बावजूद गढ़वाली और कुमायूंनी को अपनी

मातृभाषा कहनेवालों की संख्या में उल्लेखनीय वृद्धि देखने में आती है– १९५१–१९६१ की अवधि में क्रमश: ७०% और ८०.३% और १९६१–१९७१ में क्रमश: २०% और ५७% की, जो दोनों ही समूहों की बोलियां बोलनेवालों में अपनी भाषाई बंधुता की किसी हद तक चेतना की परिचायक है। यह माना जा सकता है कि इसका एक कारण उत्तराखंड को या तो एक अलग राज्य या उत्तरप्रदेश के भीतर एक स्वायत्त क्षेत्र का दरजा दिये जाने का आंदोलन है। इस विचार के समर्थकों का दावा है कि उत्तरप्रदेश की सरकार उत्तराखंड की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं देती है और उसके विकास के लिए आवश्यक धन नहीं देती है। साथ ही इस बात पर भी जोर दिया जाता है कि क्षेत्रफल के लिहाज़ से यह क्षेत्र हिमाचलप्रदेश से बड़ा है और उत्तराखंड आर्थिक दृष्टि से जीवनक्षम हो सकता है, क्योंकि वहां लकड़ी और विभिन्न खनिजों के विशाल भंडार हैं ('हिंदुस्तान टाइम्स', १९ जनवरी, १९७३; 'पैट्रियट', २० फ़रवरी, १९७५)। उत्तराखंड की स्वायत्तता की मांग संसदीय चुनावों में कुछ उम्मीदवारों ने उठायी थी और इस तरह उसे आबादी के व्यापक अंशकों के ध्यान में लाया गया था और वह उसे किसी हद तक प्रभावित किये बिना नहीं रह सकती थी। उत्तराखंड क्षेत्र के पृथक्करण के पैरोकारों का इस तरह का समस्त कार्यकलाप राजनीतिक स्वरूप का है और मामले के संजातीय तथा भाषाई पहलुओं को वह केवल अप्रत्यक्ष रूप से ही स्पर्श करता है।

पश्चिमी पहाड़ी में ६२ भिन्न-भिन्न भाषा-रूप हैं, जिनके बोलनेवालों की कुल संख्या ६,५९, ५५६ है (*Census of India, 1961.* Vol. 1, India. Pt. II—C [ii]. Language Tables, Delhi, 1964, p. CCXXII), जो हिमाचलप्रदेश और उसके आसपास के पर्वतीय इलाक़ों में रहते हैं। १९५६ में राज्यों के भाषाई आधार पर पुनर्गठन के समय हिमाचलप्रदेश को संघ-राज्यक्षेत्र का दरजा दिया गया था। वर्षों इस राज्यक्षेत्र के राजनीतिक कार्यकर्ता उसे विधिवत राज्य का दरजा दिलवाने के लिए प्रयत्नशील रहे और उसकी सीमाओं के भीतर सभी "पहाड़ी", अर्थात अग्रहिमालय प्रदेश के उत्तराखंड क्षेत्र सहित पड़ोसी राज्यों के सभी पहाड़ी इलाक़ों को संयुक्त करने की मांगें भी उठायी गयीं ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', १७ मार्च, १९६६)।

विशाल हिमाचलप्रदेश आंदोलन के आरंभ से ही "पहाड़ी भाषा के संरक्षण" के मामले की तरफ़ काफ़ी ध्यान दिया गया था।

शिमला में हिमाचल भाषा संस्थान के उद्घाटन के अवसर पर बोलते हुए राज्य के मुख्य मंत्री ने कहा था कि पहाड़ी भाषा के साथ बड़ा अन्याय हुआ है और हिमाचलप्रदेश के भविष्य के बारे में अनिश्चितता और आबादी की ग़रीबी और पिछड़ेपन के कारण वह सफलतापूर्वक विकसित नहीं हो सकती ('पैट्रियट', ३१ मार्च, १९६८)। हिमाचलप्रदेश के सभी सामाजिक तथा सांस्कृतिक संगठनों की एक संयुक्त बैठक ने आबादी से १९७१ की जनगणना में पहाड़ी* को ही अपनी मातृभाषा के रूप में दर्ज करवाने का अनुरोध किया ('नैशनल हैरल्ड', लखनऊ, २१ दिसंबर, १९७०)। पहाड़ी साहित्य सम्मेलन और पहाड़ी लेखक सम्मेलन ने भी बिलकुल ऐसी ही अपील की ('पैट्रियट', १ फ़रवरी, १९७१)। प्रत्यक्षतः, इन अपीलों का लोगों पर असर पड़ा। मोटे आंकड़ों के अनुसार १९७१ तक पश्चिमी पहाड़ी के विभिन्न रूपों को अपनी मातृभाषा के रूप में दर्ज करनेवालों की संख्या में २८०% की वृद्धि आयी (आर० सी० निगम, पूर्वो०, पृ० ३३३–३४०)। हिमाचल के मुख्य मंत्री ने एक सार्वजनिक वक्तव्य में पहाड़ी को संविधान की आठवीं अनुसूची में शामिल करने के सवाल को भी उठाया ('हिंदुस्तान टाइम्स', २३ मार्च, १९७०)। साथ ही यह सवाल अधिकाधिक उठाया जा रहा था कि "पहाड़ी" पद विशिष्टरूपेण क्या द्योतित करता है। हिमाचलप्रदेश में भाषाई स्थिति का विश्लेषण करते हुए एक अख़बार ने लिखा: "सरकार की निगाह में किस तरह की पहाड़ी है, यह कहना कठिन है। हर ज़िले में पहाड़ी की अपनी ही क़िस्म है... तथापि पश्चिमी पहाड़ी, जिसे हिमाचल सरकार ने राजभाषा के रूप में चुना है, कोई संहत भाषा नहीं है, वरन पर्वतीय क्षेत्रों की भाषाओं, बोलियों और उपबोलियों का एक समूह है" ('स्टेट्समैन', १६ अप्रैल, १९७१)।

पश्चिमी पहाड़ी की बोलियां बिलकुल समांतर रह रही हैं और उनमें आपस में लगभग कोई भी अन्योन्यक्रिया नहीं है। अंतर्भाषिक संसर्ग की आवश्यकता अभी तक बोलियां बोलनेवालों के अलग-अलग समूहों के वियुक्त अस्तित्व के कारण न्यूनतम ही रही है, जिसका कारण सर्वोपरि पर्वतीय अवस्थिति और कुछ ही समय पहले तक नानासंख्य छोटी-छोटी रियासतों की मौजूदगी था, जिनके निवासियों का एक-दूसरे से कोई संसर्ग नहीं होता था।

---

*अथवा, जैसे अब अधिकाधिक कहा जाता है, "हिमाचली"।

ब्रिटिश नृविज्ञानी कॉलिन रॉसर, जिन्होंने हिमाचलप्रदेश के कुलू ज़िले में शोधकार्य किया था, लिखते हैं: "पर्वतश्रेणियां हर घाटी को घेरे हुए अलंघ्य बाधाएं हैं। इसलिए कुलू में होकर गुज़रते हुए बोली और रीति-रिवाज में कुछ भिन्नताएं पाना या यह देखना अचरज की बात नहीं है कि एक घाटी के ग्रामीण जब पहाड़ की दूसरी तरफ़ रहनेवाले लोगों से अपनी तुलना करते हैं, तो वे एकता और भिन्नता की ख़ास भावना अनुभव करते हैं... मलानियों की अपनी अलग भाषा, कनाशी, है, जो निश्चय ही संसार में सबसे छोटी भाषाओं में एक होगी। यह कुलू में आम तौर पर बोली जानेवाली बोली से मूलतः भिन्न है। कनाशी का अपना व्याकरण, वाक्य-विन्यास और शब्द-भंडार है और उसे मलानियों के अलावा और कोई कुलुई देहाती नहीं समझते। मलानी कुलुही (यह कुलुई और कुल्लुआली भी कहलाती है–अनु०) भी बोलते हैं और ग़ैर-मलानियों के साथ अपने व्यवहार में उसका उपयोग करते हैं। मलाना में सिर्फ़ कनाशी ही बोली जाती है। गांव में कोई भी न पढ़ सकता है और न लिख ही सकता है..." (एम० एन० श्रीनिवास [संपादक], 'भारत का ग्राम्यांचल' [अंग्रेज़ी में], बंबई, १९६६, पृ० ७७–७९)। मलानियों के लिए कुलुही बोली ही दुनिया को देखने का झरोखा है और तब तक ऐसा ही बना रहेगा कि जब तक यह गांव अपने सदियों से चले आ रहे अलगाव को तज नहीं देता और शेष घाटी के निवासियों के साथ व्यापक आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक संसर्ग-संपर्क में नहीं आता।

प्रत्यक्ष है कि इस समय पश्चिमी पहाड़ी के केवल मौखिक संसर्ग में ही प्रयुक्त होनेवाले विभिन्न रूपों के साकल्य को कोई स्थापित भाषा-व्यवस्था नहीं माना जा सकता, सर्वोपरि इसलिए कि पश्चिमी पहाड़ी की कोई भी बोली विकास होकर साहित्यिक भाषा की बुनियाद बनने की भूमिका तक नहीं पहुंच पायी है और उनमें से किसी का भी कार्यात्मक क्षेत्र, सामाजिक प्रतिष्ठा अथवा संसर्गात्मक मूल्य औरों से अधिक नहीं है।

इस बात पर ज़ोर दिया जाना चाहिए कि हिमाचलप्रदेश में भाषाई परिस्थिति की लाक्षणिकता सिर्फ़ पश्चिमी पहाड़ी की बोलियों की अनिश्चित स्थिति ही नहीं है। १९६६ में द्विभाषी पंजाब का पुनर्गठन और उससे हरियाणा राज्य के पृथक किये जाने के समय पंजाब के चार पहाड़ी ज़िले– कांगड़ा, शिमला, कुलू और लाहौल-स्पिती–हिमाचलप्रदेश को अंतरित कर दिये गये थे, जिससे उसके प्रादेशिक विस्तार और आबादी में लगभग दो

गुनी वृद्धि हो गयी। पहाड़ी क्षेत्रों के एकीकरण के पक्षधरों की यह एक प्रत्यक्ष विजय थी।

अलबत्ता इस कार्रवाई का एक विपरीत पहलू भी सामने आया—इससे एक द्वंद्व स्थिति उत्पन्न हो गयी, क्योंकि इन ज़िलों की आबादी का काफ़ी बड़ा हिस्सा डोगरी और उससे संबद्ध बोलियां बोलनेवाला था और यह ही डोगरी को राज्य की एक राजभाषा के रूप में मान्यता प्रदान किये जाने की मांग का कारण बन गया ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', ११ नवंबर, १९६६)। बात यह है कि यहां महत्व इतना भाषा का नहीं था, जितना कि इस तथ्य का कि हाल ही में समावेशित ज़िलों के राजनीतिज्ञों ने सरकार और राज्य प्रशासन में पदों और नौकरियों के वितरण में अपने को उपेक्षित अनुभव किया। डोगरी के अधिकारों की रक्षा की मांग का इस संघर्ष में मुख्य मंत्री के विरुद्ध, जो पहाड़ी के समर्थक थे, जनमत को एकजुट करने के लिए उपयोग किया गया ('स्टेट्समैन', १६ अप्रैल, १९७१)।

पहाड़ी और डोगरी को हिमाचलप्रदेश की राजभाषाएं घोषित किये जाने की मांगों ने बदले में हिंदी के समर्थकों के विरोध और आपत्तियों को भड़काया। १९६५ में तत्कालीन संघ-राज्यक्षेत्र की सरकार ने यह आदेश दिया था कि राज्य प्रशासन के सभी स्तरों पर हिंदी का प्रयोग किया जाना चाहिए और अंग्रेज़ी की अतिरिक्त राजभाषा की हैसियत बरक़रार रहनी चाहिए। अप्रैल, १९७२ में हिमाचलप्रदेश के मुख्य मंत्री ने हिंदी के अदालतों सहित संसर्ग-समागम के सभी क्षेत्रों में इस्तेमाल किये जाने के पक्ष में विचार व्यक्त किये। पहाड़ी को विकसित करने के विचार को तत्वतः धीरे-धीरे भुला ही दिया गया।

हिंदी के समर्थकों के प्रयासों में हिंदी का दूसरी बुनियादी भाषा के रूप में पहाड़ी क्षेत्रों में क्रमिक प्रसार सहायक है, जैसा कि सारणी १० में दिये गये आंकड़ों से देखा जा सकता है (*Census of India, 1961*. Vol. 1, India. Pt II—C[ii]. Language Tables, Delhi, 1964, p. 451–506)।

इस तरह की द्विभाषिता का प्रसार पर्वतीयजन के धीरे-धीरे बाहरी दुनिया के साथ संसर्ग में खिंचने का परिणाम है। सड़कों का निर्माण, काष्ठ उद्योग का प्रसार, खनन का विकास, नये-नये पर्वतीय अवकाश तथा मनोरंजन केंद्रों का खोला जाना और उसके परिणामस्वरूप अवकाश बिताने आनेवालों की संख्या में भारी वृद्धि, सुदूरतम क्षेत्रों में भी राजनीतिक आंदो-

सारणी १०

पहाड़ी भाषा-समूह (बोलियां)	भाषा (बोली)	द्विभाषी आबादी का अंश (%)	दूसरी बुनियादी भाषा (%)
पूर्वी पहाड़ी	नेपाली	२७	हिंदी (४३)
			असमिया (४४)
मध्य पहाड़ी	गढ़वाली	५	हिंदी (८४)
	कुमायूंनी	१८	हिंदी (६०)
	चमोली	१४	हिंदी (८६)
	जौनसारी	१४	हिंदी (६६)
पश्चिमी पहाड़ी	कुलुई (कुलुही)	१६	हिंदी (८५)
	मंडीग्राली	१३	हिंदी (६१)
	सिरमौरी	७	हिंदी (६१)

लनों और अभियानों की हवा का पहुंचना—ये सभी कारक पहाड़ियों और भारत की शेष आबादी के बीच संपर्कों को बढ़ाते हैं। लेकिन पहाड़ी इलाक़ों में शहरी आबादी अब भी बहुत कम ही है। अपनी नैसर्गिक (विनिमयहीन) अर्थव्यवस्था के बूते पर बसर करनेवाली और रूढ़ियों में बंधी पहाड़ी गांवों की अधिकांशतः निरक्षर आबादी का अलगाव बना हुआ है और उसके कारण पहाड़ी इलाक़ों में भाषाई परिस्थिति अनिश्चित ही बनी हुई है।

राष्ट्रभाषा की एक व्यवस्था के रूप में हिंदी

हिंदी के मामले में संजाति-भाषाई स्थिति के विश्लेषण पर आते हुए लेखक को इसका अहसास है कि आज के भारत में हिंदी सामाजिक-भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से एक ख़ासी जटिल परिघटना है और भाषा तथा समाज के बीच सहसंबंधों के बारे में एक कठिनतम समस्या पेश करती है। भारत में संभवतः ऐसी और कोई भाषा नहीं है कि जो भाषातीत कारकों से इस

हद तक प्रभावित होती हो और जो राजनीति के साथ इस तरह घनिष्ठतः जुड़ी हुई हो कि जैसे हिंदी। वस्तुपरक दृष्टि से हिंदी एक जटिल भाषा-व्यवस्था को द्योतित करती है, जिसके बहुत से तत्वों का अभी पर्याप्त अध्ययन नहीं हुआ है। अलावा इसके, कुछ हिंदी क्षेत्रों के सामाजिक-आर्थिक विकास के स्तर और उनमें होनेवाले परिवर्तनों के दृष्टिगत केवल अंतरिम निष्कर्ष ही निकाले जा सकते हैं और, इसलिए, नीचे विचाराधीन समस्याओं में से बहुत सी को इंगित भर किया गया है और कुछ को आगे चलकर विचार करने के लिए रहने दिया गया है।

सबसे पहले कुछेक प्रश्नों का उत्तर दिया जाना आवश्यक है। हिंदी क्या है? यह किस संजाति-ऐतिहासिक समुदाय की भाषा है – किसी जाति की, जातीय समूह की, अथवा जाति में विकसित होते किसी जातीय समूह की?

सोवियत भारतविद्या में इन प्रश्नों का उत्तर देने के प्रयास किये भी जा चुके हैं। अ० म० द्याकोव की एक पुस्तक में हिंदुस्तानियों, राजस्थानियों, बिहारियों और पंजाबियों को "निर्माणाधीन जातीय समूहों" के संवर्ग में शामिल किया गया है (अ० म० द्याकोव, 'भारत में जातीय समस्या और ब्रिटिश साम्राज्यवाद' [रूसी में], मास्को, १९४८, पृ० ११३–१२२)। लेकिन अ० म० द्याकोव की बाद की कृतियों में इस दृष्टिकोण को और अधिक विकसित नहीं किया गया है, विशेषकर पहले तीनों समूहों के मामले में। उन्होंने लिखा है: "यह देखना भी दिलचस्प है कि इन प्रदेशों की आबादी में जातीय बंधुता की चेतना विकसित नहीं हुई है। वे अपने को हिंदुस्तानी मानते हैं, किंतु यदि अधिक ठोस रूप में पूछा जाये, तो वे अपने राज्य का नाम दे देते हैं" (अ० म० द्याकोव, 'आधुनिक भारत में जातीय समस्या' [रूसी में], मास्को, १९६३, पृ० १८६)।

म० क० कुद्रियावत्सेव की एक कृति में हिंदुस्तान* की आबादी की "आर्थिक कार्यकलाप, भौतिक तथा आत्मिक संस्कृति, जीवन-प्रणाली और सामाजिक ढांचे की आपेक्षिक समांगता" को लक्षित किया गया है, लेकिन कहा गया है कि "हिंदुस्तान की आबादी की कोई निश्चित जातीय चेतना

---

*यहां तथा अन्यत्र – सोवियत विद्वानों की उक्तियों के संदर्भ में – हिंदुस्तान का अर्थ मोटे तौर पर तथाकथित हिंदुस्तानी का इलाक़ा लगाया जाना चाहिए।

नहीं है, जैसा, उदाहरण के लिए, तमिलों या गुजरातियों के मामले में है, यद्यपि यह इलाक़ा और उसकी आबादी सामान्य इतिहास के सूत्रों से आपस में बंधे हुए हैं" (म० क० कुद्रियावत्सेव, 'हिंदुस्तान में बिरादरी और जात-पांत' [रूसी में], मास्को, १९७१, पृ० ७)।

ओ० ब० ओस्कोल्कोवा हिंदुस्तानियों को एक जातीय समूह मानती हैं। वह लिखती हैं: "हिंदुस्तानियों का इतिहास बहुत पेचीदा है। वे ऐसे लोग हैं, जो एक प्राचीन और अतिविकसित संस्कृति से संपन्न हैं, किंतु जो ऐतिहासिक विकास की विलक्षणता और दीर्घकालिक औपनिवेशिक दासत्व के कारण अभी तक एक स्थिर जातीय समुदाय का निर्माण नहीं कर पाये हैं" (ओ० ब० ओस्कोल्कोवा, 'मध्य भारत: आर्थिक-भौगोलिक अभिलक्षण' [रूसी में], मास्को, १९६१, पृ० ७१)। साथ ही लेखिका विकास की एक संभाव्य प्रवृत्ति के बारे में अपने विचार व्यक्त करती हैं: "भारत की स्वतंत्रता और १९५६ में हिंदीभाषियों के प्राधान्यवाले दो भाषाई राज्यों के निर्माण के परिणामस्वरूप हिंदी के आधार पर हिंदुस्तानियों की भाषा-बंधुता इस जातीय समूह के एक जाति में विकास को त्वरित कर सकती है" (पूर्वो०, पृ० ७३)।

प० अ० बरान्निकोव हिंदी को एक भाषा-व्यवस्था मानने का सर्वथा उचित दृष्टिकोण अपनाते हैं और इस व्यवस्था का विभिन्न स्तरों पर संसर्ग के लिए उपयोग करनेवाली आबादी को हिंदुस्तानी कहते हैं। इस बारे में उनसे सहमत हुए बिना नहीं रहा जा सकता कि हिंदी की सीमाओं का निर्धारण करना बहुत जटिल समस्या है। ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण हिंदी बहुत लंबे समय से देश के बहुत से भागों में विभिन्न जातीय समुदायों के बीच संसर्ग-भाषा के रूप में प्रयुक्त होती आयी है। साथ ही हिंदी का सामाजिक-आर्थिक तथा संजाति-जातीय विकास पड़ोसी इलाक़ों से ख़ासा पीछे है, जिनकी आबादी पहले ही जातियों का निर्माण कर चुकी है। वास्तविक हिंदी के इलाक़ों और उन इलाक़ों के बीच, जहां वह अंतःजातीय संसर्ग-माध्यम की तरह काम करती है, सीमा टूटी-फूटी और बहुत ही अनिश्चित है। अमरीकी भाषाविज्ञानी एल्फ़्रेड प्येट्रजीक कहते हैं कि हिंदी के अध्ययन में लगे विवरणकार को अपने से सिर्फ़ यही नहीं कि विवरण कैसे दिया जाये, बल्कि यह भी पूछना चाहिए कि विवरण में क्या शामिल किया जाये (एन० वी० बैद्य [संपा०], 'समकालीन भारत' [अंग्रेज़ी में], बंबई, १९६४, पृ० २५०)।

विवरण के विषय को सीमांकित करने का प्रयास करते हुए एल्फ़्रेड प्येट्रजीक जॉन गंपेर्ज़ और चार्ल्स फ़र्ग्यूसन के साथ "हिंदी प्रादेशिक भाषा क्षेत्र" को तीन संस्तरों में विभाजित करते हैं, "जिनमें से प्रत्येक स्वयं अपने संपर्क-संसर्ग तंत्र के अनुरूप है और प्रत्येक के सामाजिक व्यवस्था में भिन्न-भिन्न कृत्य हैं।" पहला संस्तर "परस्पर बोधगम्य 'स्थानीय' लोक बोलियों का प्रतिबिंब है, जिनमें एक गांव से दूसरे गांव में और एक जात-पांत समूह से दूसरे समूह में विभिन्नता है। इस संस्तर पर अध्यारोपित दूसरा संस्तर अधिक व्यापक इलाक़ों में, छोटे तिजारती क़सबों में और सामान्य माध्यम की अपेक्षा करनेवाली कुछेक शहरी तथा ग्रामीण स्थितियों में प्रयुक्त 'उपक्षेत्रीय' बोलियों का है। स्थानीय और उपक्षेत्रीय बोलियों के ऊपर अध्यारोपित 'मानक' क़िस्म का शहरी संस्तर है, जिसे सामूहिक रूप से हिंदी-उर्दू कहा जाता है। यह शहरी आबादी के एक हिस्से की देशीय बोली है और उसका अपने ख़ासे संसर्गात्मक तथा प्रतिष्ठात्मक महत्व के कारण दूसरे अथवा तीसरे भाषा-स्वरूप के रूप में व्यापक उपयोग किया जाता है।" इस दृष्टिकोण से हिंदी एक ऐसी भाषा-व्यवस्था (संरचना) के रूप में सामने आती है, जिसके विभिन्न तत्व घनिष्ठतः जुड़े हुए हैं और अपने बीच अन्योन्यक्रिया करते हैं (एन० वी० बैद्य, पूर्वो०, पृ० २५२)।

भारतीय मार्क्सवादी विद्वान डॉ० रामविलास शर्मा संजातीय तथा सामाजिक-आर्थिक प्रक्रियाओं और इसी प्रकार हिंदीभाषी क्षेत्रों में भाषाई-स्थिति के विश्लेषण के परिणामस्वरूप इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि सामंत-वाद के ज़माने में ब्रज, अवध, बुंदेलखंड, मिथिला तथा अन्य क्षेत्र छोटे-छोटे जातीय समूहों द्वारा आवासित अंचल थे। सामंतवाद के पतन और पूंजीवादी संबंधों के विकास के साथ अंचलों के अलगाव का अंत हो गया है और छोटे-छोटे जातीय समूह स्वांगीकृत होने और एक हिंदीभाषी जाति का निर्माण करने लगे (डॉ० रामविलास शर्मा, 'भाषा और समाज', दिल्ली, १९६१, पृ० ३६५)। अपनी एक पूर्ववर्ती कृति में रामविलास शर्मा ने हिंदी क्षेत्र में जातीय विकास की समस्या को इस प्रकार सूत्रित किया है कि प्रश्न यह है – अवधी, ब्रजभाषा, बुंदेलखंडी तथा अन्य रूप बोलियां हैं या भाषाएं, अर्थात क्या इन रूपों के बोलनेवाले हिंदुस्तानी जाति के अंग हैं या वे पृथक जातियों में विकसित हो जायेंगे? (रामविलास शर्मा, 'राष्ट्रभाषा की समस्या', दिल्ली, १९६५, पृ० ६४)। रामविलास शर्मा

के अनुसार इस क्षेत्र में सामाजिक-आर्थिक प्रक्रियाओं के विकास की दिशा दिखलाती है कि पूंजीवादी संबंधों के दृढ़ीभूत होने के साथ-साथ उपरोक्त बोलियों के बोलनेवाले एक जाति का, एक स्थिर समुदाय का रूप ग्रहण करते जा रहे हैं, जिसकी एक भाषा और आर्थिक एकता है। यह विकास अभी संपूर्ण नहीं हुआ है। सामान्य सूत्र अभी निर्मित हो ही रहे हैं। यही कारण है कि हिंदुस्तानी के क्षेत्र में भाषा और बोली का सवाल उठता है। खड़ी बोली भाषा बन गयी है, जब कि अन्य रूप बोलियां ही बने रहे हैं (पूर्वो०, पृ० ६५)।

इस निष्कर्ष को एक कामचलाऊ परिकल्पना के रूप में स्वीकार किया जा सकता है और यह देखने की कोशिश की जा सकती है कि कौनसे तथ्य और रुझान इसका समर्थन और कौनसे इसका खंडन करते हैं। जैसे कि रामविलास शर्मा ने लक्षित किया है, किसी हिंदीभाषी क्षेत्र से कलकत्ता या किसी अन्य भाषा-क्षेत्र में आनेवाला आदमी लगातार यही सुनता है कि उसे "हिंदुस्तानी" कहा जाता है। "हिंदुस्तानी" शब्द से हिंदीभाषी सदा से परिचित रहे हैं। उनके मनों में इसका मतलब सारा भारत है, मगर उनके पास स्वयं हिंदी क्षेत्र को द्योतित करने के लिए कोई विशेष पद नहीं है। बेशक, हिंदीभाषी जाति सामान्य आत्म-अभिधान के अभाव में विलुप्त नहीं हो जाती। किंतु दूसरी जातियों के साथ संसर्ग में आने पर हिंदीभाषी व्यक्ति को सोचना होता है–वह किस जाति का है (पूर्वो०, पृ० १२९)। यह कथन हिंदीभाषी आबादी की विशिष्ट आत्मचेतना को प्रतिबिंबित करता है। एक ओर, "हिंदुस्तानी" और "हिंदी" शब्दों को हिंदुस्तानी सारे ही भारत के साथ संबद्ध करता है। इसमें हिंदी की हिंदुस्तान की साहित्यिक भाषा और जातीय समूहों के बीच संसर्ग-भाषा, एक "अखिल भारतीय" भाषा के रूप में दुहरी भूमिका काफ़ी हद तक सहायता देती है। दूसरी ओर, जैसे कि अ० म० द्याकोव, प० अ० बरान्निकोव और म० क० कुद्रियावत्सेव ने लक्षित किया है, अपनी जाति के बारे में पूछे गये ठोस सवाल के जवाब में किसी हिंदीभाषी इलाक़े का रहनेवाला अपने राज्य, ऐतिहासिक अंचल, निकटतम शहर या जात (वर्ण) अथवा बिरादरी तक का नाम देता है। दूसरे शब्दों में, हिंदीभाषी इलाक़ों की आबादी के एक बड़े हिस्से की आत्मचेतना दो धुरों: जातीयातीत, अखिल भारतीय और अवजातीय–सामूहिक या क्षेत्रीय, सांप्रदायिक और जातपांत–के बीच झूलती है। जातीय आत्मचेतना के लक्षण उदित ही हो रहे हैं और इसमें ऐसे कारक

सहायता देते हैं, जैसे प्रदेशांतर विनिमय का विकास, अन्य भाषा-क्षेत्रों के साथ बढ़ते हुए संपर्क तथा भारत के अन्य क्षेत्रों में जातीय और भाषाई आंदोलन, जो देश में पुनर्जाग्रत जातीय जीवन का वातावरण पैदा करते हैं।

हमारा ख़याल है कि हिंदी का और अधिक विवेचन भारतीय विद्वानों के एक दल के निष्कर्षों के आधार पर किया जाना चाहिए, जिन्होंने १९६१ की जनगणना सामग्री को प्रक्रमित किया था। यह इन विज्ञानकर्मियों के प्रभूत अनुभव, उन्हें उपलब्ध सामग्री के अपूर्व स्वरूप और आंकड़ों को प्रक्रमित करने की एकरूप क्रियाविधि के दृष्टिगत सर्वथा उचित होगा। स्मरणीय है कि जनगणना के आंकड़े जन-भावना को और अपनी भाषा के प्रति उसके बोलनेवालों के रवैये को प्रतिबिंबित करते हैं।

जनगणना में "हिंदी" के सामान्य शीर्षक के अंतर्गत सबसे अधिक रूपों को पंजीबद्ध किया गया है, अर्थात ९७*, और हिंदी के विविध रूपों को बोलनेवालों की कुल संख्या में से ९२% ने अपनी मातृभाषा न तो अपनी बोली और न स्थानिक भाषा को ही, बल्कि मानक भाषा को बतलाया है (१९७१ में यह आंकड़ा ९५% था)। इस प्रकार उन्होंने एक सामान्य भाषा के पक्ष में "मत" दिया। यह तथ्य हिंदी क्षेत्र की आबादी द्वारा अपनी भाषाई बंधुता की चेतना का क़ायलकारी प्रमाण और, तदनुसार, इस क्षेत्र में एक जाति के निर्माण का स्पष्ट संकेत है। जनगणना में "हिंदी" शीर्षक के अंतर्गत वर्गीकृत बोलचाल के रूपों को सात समूहों में एकीकृत किया गया है – ख़ास हिंदी, छत्तीसगढ़ी, अवधी, ब्रजभाषा, बुंदेलखंडी, बांगड़ू (बांगरू) और कनौजी (कन्नौजी)। अंतिम छः समूहों को आधारिक हिंदी बोलियों पर नाम दिये गये हैं, जिनका क्षेत्र पश्चिम में राजस्थान के पूर्वी इलाक़ों से लेकर पूर्व में बिहार तक, और उत्तर में हिमालय की निचली पहाड़ियों, तराइयों से लेकर दक्षिण में महाराष्ट्र, ओड़िसा और आंध्र की सीमाओं तक फैला हुआ है। इस क्षेत्र में राजस्थान का एक हिस्सा और पूरे के पूरे हरियाणा, उत्तरप्रदेश तथा मध्यप्रदेश राज्य और दिल्ली संघ-राज्यक्षेत्र समाविष्ट हैं। इस प्रकार हिंदी क्षेत्र की भाषाई

---

*तुलना के लिए अन्य आंकड़े इस प्रकार हैं: राजस्थानी – ७३, मराठी – ६५, तेलुगू – ३६।

सीमाएं "हिंदीभाषी क्षेत्र" की प्रशासनिक-राजनीतिक संकल्पना से संकीर्णतर हैं।

बिहारी तथा पहाड़ी भाषाओं और बोलियों और इसी प्रकार राजस्थानी भाषा के बारे में भी उपरोक्त बातों को ध्यान में रखते हुए और भारतीय विद्वानों द्वारा १९६१ की जनगणना सामग्री से निकाले निष्कर्षों पर चलते हुए हम अवधी और बघेली, ब्रजभाषा, बुंदेलखंडी, कनौजी, बांगड़ू और छत्तीसगढ़ी बोलियों को हिंदी भाषा-व्यवस्था में रखते हैं। अवधी और बघेली एक-दूसरी के इतने निकट हैं कि जनगणना में उन्हें एक समूह के रूप में वर्गीकृत किया गया है।

यह सामान्यतः मान लिया गया है कि बोली को साहित्यिक भाषा से विभेदित करनेवाला एक मुख्य अभिलक्षक बोली के मानकीकरण का निम्न स्तर, दुहरे रूपों का होना और उसके भीतर अनेक स्थानिक भाषाओं की मौजूदगी है। ब्रज और अवधी की सभी हिंदी बोलियों में समृद्धतम और प्राचीनतम लिखित परंपरा—मुख्यतः काव्यात्मक—है। प० अ० बरान्निकोव लिखते हैं: "संभव है कि अगर ब्रजभाषा में गद्य का विकास हुआ होता और उसके बाद गद्य तथा पद्य, दोनों का मानकीकृत व्याकरण आता, तो काव्य की भाषा के लिए भी कुछ मानदंड स्थापित हो गये होते। लेकिन ब्रजभाषा में गद्य की परंपरा विकसित नहीं की गयी और इसलिए वह भारत की अन्य सभी साहित्यिक भाषाओं से न केवल अपनी सरसता के, बल्कि अपनी अव्यवस्था के लिहाज़ से भी अलग होने लगी" (प० अ० बरान्निकोव, 'राष्ट्रभाषा के रूप में हिंदी की समस्याएं' [रूसी में], लेनिनग्राद, १९७२, पृ० ८८)।

अवधी की सबसे महत्वपूर्ण कृतियों में एक, तुलसीदास की 'रामायण' की भाषा का विश्लेषण करते हुए अकादमीशियन अ० प० बरान्निकोव ने लक्षित किया था: "काव्य की आधारिक भाषा अवधी में शैलियों की अधिकतम विभिन्नता प्रतिरूपित है। यह विविध और बहुभाषिका शब्दावली, बहुभाषिका क्रिया तथा संज्ञा रूपों के प्रयोग के ज़रिये हासिल किया गया है" (अ० प० बरान्निकोव, 'तुलसीदास और उनकी रामायण'।—तुलसीदास, 'रामायण' [रूसी में], मास्को तथा लेनिनग्राद, १९४८, पृ० ५७)। तुलसीदास और जायसी की भाषा की तुलना करके डॉ० बाबूराम सक्सेना इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि जायसी की अवधी "तुलसीदास की अवधी से अधिक शुद्ध है, यद्यपि बोली की पूर्णतम शुद्धता अनुपस्थित है और उसकी

आशा भी नहीं की जानी चाहिए" (डॉ० बाबूराम सक्सेना, 'हिंदी की एक शाखा अवधी का उद्विकास' [अंग्रेज़ी में], इलाहाबाद, १९३७, पृ० ११)। बाबूराम सक्सेना एकाधिक बार इसी विचार पर लौटे हैं और उन्होंने ज़ोर दिया है कि अवधीभाषी "बोली की पूर्णतम शुद्धता का सामान्यतया आग्रह नहीं करते" (पूर्वो०, पृ० १०)।

बोलियों की सीमाओं की अस्पष्टता और अनिश्चितता, बोलचाल के ऐसे मिश्रित रूपों की विद्यमानता, जिन्हें किसी भी बोली के साथ निश्चयपूर्वक नहीं जोड़ा जा सकता और हिंदी बोलियों के क्षेत्रों के बारे में अपर्याप्त सामाजिक-भाषावैज्ञानिक ज्ञान के परिणामस्वरूप एक ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गयी है कि शोधकर्ताओं में बोलियों की सीमाओं का निर्धारण करने के बारे में मतभेद हैं और वे उन्हें द्योतित करने के लिए भिन्न-भिन्न नामों का प्रयोग करते हैं। उदाहरण के लिए, डॉ० धीरेंद्र वर्मा ब्रज के प्रदेश को भौगोलिक आधार पर तीन भागों- पूर्वी, पश्चिमी और दक्षिण ब्रज – में बांटते हैं। वह उन्हें इस आधार पर स्थानिक भाषाओं में विखंडित नहीं करते कि उनके विचार में उनके बीच अंतर महत्वपूर्ण नहीं हैं (डॉ० धीरेंद्र वर्मा, 'ब्रजभाषा', इलाहाबाद, १९५४, पृ० ३४–३५)। डॉ० भोलानाथ तिवारी कुल मिलाकर इस विभाजन को स्वीकार करते हैं, मगर वह ब्रज सांतत्यक के और अधिक विस्तृत विखंडन के पक्ष में हैं और उसमें आठ स्थानिक भाषाएं देखते हैं – गांववारी, ढोलपुरी, भरतपुरी, जादोबाटी, सिकरवाड़ी, कठेरिया, डांगी और माथुरी (मथुरही अथवा मथराही) (डॉ० भोलानाथ तिवारी, 'हिंदी भाषा', इलाहाबाद, १९६६, पृ० १४५–१५६)। वह इस सूची में नैनीताल ज़िले में प्रयुक्त स्थानिक भाषा भुक्सा को भी जोड़ते हैं और साथ ही उसे कनौजी के स्थानीय रूपों में भी शामिल करते हैं। "शुद्ध" बुंदेलखंडी के अलावा एम० पी० जायसवाल इस बोली के १३ और स्थानीय रूपों के नाम देते हैं (एम० पी० जायसवाल, 'बुंदेली – मध्यदेश की एक बोली – का भाषावैज्ञानिक अध्ययन', [अंग्रेज़ी में], लीडन, १९६२, पृ० ७–१४)। डॉ० भोलानाथ तिवारी इस सूची में तीन और स्थानीय रूप शामिल करते हैं (पूर्वो०, पृ० १७५–१७७)।

प्रमुख हिंदी बोलियों की सीमाओं में अस्पष्टता उनके नामों और आत्म-अभिधानों में ऐतिहासिक परिवर्तन में प्रतिबिंबित होती है। उदाहरण के लिए, अवधी पहले पूर्वी, कोसली, बैसवाड़ी, आदि नामों से विज्ञात थी। इस बोली को "पूर्वी" नाम प्रत्यक्षतः अवधी के केंद्र के पश्चिम की आबादी

ने दिया था। "कोसली" नाम प्राचीन कोसल अथवा कोशल राज्य से उत्पन्न हुआ है। आजकल यह नाम "महाकोशल" के रूप में मध्यप्रदेश के एक इलाक़े के लिए प्रयोग में आता है, जहां छत्तीसगढ़ी बोली का प्रचलन है। अपनी बारी में "अवधी" नाम मध्ययुगीन अवध रियासत के नाम से निकला है, जिसकी सीमाएं प्राचीन कोशल की सीमाओं से मेल नहीं खातीं। "बैंसवाड़ी" को अपना नाम बैंस राजपूतों से प्राप्त हुआ है, जो उन्नाव और रायबरेली (उत्तरप्रदेश) के बीच के इलाक़े में रहते हैं। अतीत में उन्होंने अवधी के प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की थी और उनका नाम पूरी बोली पर लागू हो गया। आजकल बैंसवाड़ी इस क्षेत्र में प्रयुक्त अवधी का स्थानीय रूप है।

बांगड़ू को हरियानी या हरियाणवी और जाटी या जाटू भी कहा जाता है। बांगड़ू नाम बांगड़ (बांगर से, अर्थात बाढ़ में न डूबनेवाली ऊंची ज़मीन) से निकला है, जो दिल्ली के पश्चिम के इलाक़े का ऐतिहासिक नाम है। हरियाणा हिसार क्षेत्र का पुराना नाम है। जाटू नाम, जैसा कि प्रत्यक्ष है, जाटों से निकला है, जिनकी हरियाणा राज्य में प्रभावी स्थिति है।

ब्रज को माथुरी और ग्वालियरी भी कहा जाता था। माथुरी नाम इस प्रदेश के प्राचीनकालीन केंद्र मथुरा नगर और कायस्थों की माथुर उपजाति के नाम से आया है। ग्वालियरी नाम भूतपूर्व रियासत ग्वालियर के नाम से निकला है, जिसकी भूमिका ब्रिटिश शासनकाल और उसके पहले मराठों के उत्कर्ष के युग में इस इलाक़े में बहुत महत्वपूर्ण थी।

इस प्रकार हिंदी की बोलियों के क्षेत्रों की सीमाओं की अस्पष्टता और उनके इतिहास के चढ़ाव-उतार ने उनके समेकन और ऐसे ऐतिहासिक केंद्रों के निर्माण में बाधा डाली, जो सामंतवाद से पूंजीवादी संबंधों में संक्रमणकाल में जातीय विकास के आधार का काम दे सकते थे। हमारे समय में भी हिंदी बोलियों के बहुत से इलाक़े प्रशासनिक सीमाओं से विभाजित हैं – ब्रज उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश और राजस्थान में बोली जाती है और बुंदेलखंडी या बुंदेली उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश और महाराष्ट्र में।

तीस के दशक में हिंदी बोलियों को समेकित करने का विचार सामने रखा गया। यहां हमारा आशय जनपद आंदोलन से है। सही कहा जाये, तो सही मायनों में यह आंदोलन कभी उठा ही नहीं। वह प्रेस वक्तव्यों और विशेष प्रकाशनों में और सभाओं में उसके समर्थकों के बीच संगोष्ठियों और

परिचर्चाओं तक ही सीमित रहा। जनपद आंदोलन बनारसीदास चतुर्वेदी, शिवदानसिंह, विजय राजेंद्रसिंह और विशेषकर राहुल सांस्कृत्यायन के नामों के साथ जुड़ा हुआ है।

जनपद उत्तरी भारत में (ई० पू० पहले सहस्राब्द के मध्य में) प्राचीन राज्यपूर्व और प्रारंभिक राज्य विरचनाएं थे, जिनकी आबादी सामान्यतया कोई एक प्राकृत बोलती थी। "जनपदों के प्रधान निर्वाचित राजन अथवा विशपति होते थे। वे जनपदों पर एक परिषद की सहायता से शासन करते थे, जिसमें ग्राम पंचायतों के चुने हुए बुज़ुर्ग होते थे" (म० क० कुद्रियावत्सेव, पूर्वो०, पृ० ५१)। जनपदों के प्रदेशों में बड़ी-बड़ी राजकीय विरचनाओं का उदय हुआ—मौर्य साम्राज्य, गुप्त साम्राज्य, चौहान राज्य, कन्नौज, आदि। जनपदों के संगठन का संजातीय सिद्धांत विलुप्त हो गया। 'अर्थशास्त्र' के युग में भी वे विशाल प्रशासनिक एकक बन चुके थे। जनपदों की सीमाओं का पुनर्निर्धारण आगे चलकर, समृद्ध राजपूत राज्यों, मुस्लिम विजयों, मराठा आक्रमणों, अंग्रेज़ों के आगमन, देशी राज्यों के उदय और अंग्रेज़ों द्वारा लागू किये गये हिंदुस्तान के प्रशासनिक विभाजन के युगों में भी हुआ। डॉ० रामविलास शर्मा कहते हैं कि "जनपद" नाम भिन्न-भिन्न युगों में बना रहा, मगर उसका सार-तत्व अपरिवर्तित नहीं रहा (डॉ० रामविलास शर्मा, 'भाषा और समाज', दिल्ली, १९६१, पृ० २३२)। सामंती युग के जनपद प्राचीनकालीन जनपदों से सर्वथा भिन्न थे। रक्त संबंधों पर आधारित जन (क़बायली) संगठन के स्थान पर मध्ययुगीन जनपदों का आधार जातिप्रथा बन जाता है (पूर्वो०, पृ० २४४)।

जनपद आंदोलन के उदय के समय उसमें अंतर्निहित विचार जनतांत्रिक थे। जन्मभूमि के गौरवशाली अतीत को तीस के दशक में ब्रिटिश उपनिवेश के रूप में भारत की स्थिति के मुक़ाबले में रखा गया और इसने राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन की वृद्धि में योग दिया। प्रचलित बोलियों के उपयोग के ज़रिये व्यापक जनसाधारण को मुक्ति संघर्ष के विचारों की ओर आकर्षित करने की इच्छा जनपद आंदोलन के एक प्रगतिशील पहलू की भी परिचायक है। अंतिम बात यह है कि साहित्यिक हिंदी के लौकिकीकरण के लिए और उसे बोले जानेवाले रूप के निकट लाने के लिए प्रचलित बोलियों के अधिक व्यापक उपयोग के पक्ष में घोषणाएं हमारे युग की वास्तविकता से भी मेल खाती हैं। लेकिन इन समस्याओं के समाधान में जनपद आंदोलन के

समर्थकों के योगदान को महत्वपूर्ण नहीं माना जा सकता, क्योंकि उनकी संख्या थोड़ी ही रही और उनका कार्यक्षेत्र फैलकर व्यापक जनसाधारण तक नहीं पहुंचा।

स्वतंत्र विकास के लगभग चार दशकों में भारत में भारी परिवर्तन आ चुके हैं और जनपदों के विचार की ओर प्रत्यावर्तन आज की स्थिति में भिन्न अर्थ रखता है। डॉ० रामविलास शर्मा कहते हैं कि राहुल सांस्कृत्यायन की अवधी, बुंदेलखंडी और दूसरी बोलियों को मानक जातीय भाषाएं स्वीकार करने की मांग प्रतिक्रियावादी है। वह सिर्फ़ उन सामंती शक्तियों के हितों के साथ मेल खाती है, जो अतीत के गर्भ में विलीन होती व्यवस्था को बनाये रखना चाहती हैं। इस तरह की मांग हिंदुस्तान के मज़दूर वर्ग की एकता को चोट पहुंचाती है (रामविलास शर्मा, 'राष्ट्रभाषा की समस्या', पृ० ७६)।

राष्ट्रीय विकास के दृष्टिकोण से हिंदुस्तान की मौजूदा प्रशासन-व्यवस्था आदर्श नहीं है। यह बात भारतीय प्रशासनाधिकारियों और राजनीतिक नेताओं द्वारा भी स्वीकार की जाती है। समय-समय पर किसी ख़ास इलाक़े को अलग राज्य बना देने की मांगें उठायी जाती हैं और प्रशासनिक पुनर्गठन के अन्य विचारों पर भी बहस होती है। अकसर इस तरह की मांगें आंचलिक भावनाओं, विरोधी समूहों के बीच कलह और किसी क्षेत्र विशेष को बड़ी प्रशासनिक इकाई से विच्छिन्न करके उसे अपने प्रभाव में लाने के लिए प्रयत्नशील भूतपूर्व सामंती शासकों की गतिविधियों से उत्पन्न होती हैं। ऐसे मामलों में प्राचीन जनपदों के पुन:स्थापित किये जाने के विचार के प्रचार का मतलब है आंचलिक नज़रियों से कार्यशील राजनीतिक गुटों के और इसी प्रकार सामंती प्रतिक्रियावादियों के हाथों में पड़ना।

हिंदी बोलियों के लक्षणों के अध्ययन में महत्व सिर्फ़ उनके "समस्तर", अर्थात क्षेत्रीय, विभेदन का ही नहीं है। उनका "ऊर्ध्वस्तर", अर्थात सामाजिक संस्तरीकरण भी बहुत महत्वपूर्ण है, जो मुख्यत: अतीत से चली आती सामाजिक संरचनाओं, अर्थात जात-बिरादरियों की मौजूदगी से शासित होता है। डॉ० धीरेंद्र वर्मा लिखते हैं कि भौगोलिक कारकों से उत्पन्न होनेवाले अंतरों के अलावा लोगों की स्थानिक बोलियों में धार्मिक, जात-बिरादरी और वर्गीय नातों से लायी गयी विशेषताएं भी हैं। कुछ मुसलमान किसानों की बोली उनके हिंदू पड़ोसियों की बोली से भिन्न होती है। प्रथमोक्त की बोलचाल ने खड़ी बोली और ईरानी से अधिक तत्व ग्रहण किये

हैं... ब्राह्मण किसान अपनी जाति की श्रेष्ठता को अंकित करने के लिए जान-बूझकर अपनी बोलचाल में संस्कृत के अनेक तत्सम शब्दों का प्रयोग करते हैं (डॉ० धीरेंद्र वर्मा, पूर्वो०, पृ० ३५–३६)।

साहित्यिक हिंदी के संदर्भ में बोलियों की स्थिति के प्रश्न पर आते हुए हम १९६१ की जनगणना सामग्री में पंजीबद्ध आधारिक हिंदी बोलियों के और मानक भाषा के भी बोलनेवालों की संख्या की डॉ० धीरेंद्र वर्मा के अनुमान के अनुसार उनकी संख्या (डॉ० धीरेंद्र वर्मा, 'ग्रामीण हिंदी', इलाहाबाद, १९६४) से तुलना के आंकड़े उद्धृत करेंगे (सारणी ११)।

सारणी ११

बोली	मातृभाषा कहनेवालों की संख्या	बोलनेवालों की संख्या (वर्माजी के अनुसार)	मातृभाषा कहनेवालों की बोलनेवालों से प्रतिशतता
अवधी	६, ६५, ९६३	४२, ००, ०००	१५.८
बघेली	५, ५७, ०३४	४६, ००, ०००	१२.०
बांगड़ू	३, ५५१	२२, ००, ०००	०.१६
ब्रजभाषा	७६, ७२९	७९, ००, ०००	०.९६
बुंदेलखंडी	५४, १४७	६९, ००, ०००	०.७८
कनौजी	११	४५, ००, ०००	०.०००२
छत्तीसगढ़ी	३०, ३५, ४५०	३३, ००, ०००	९०.२
हिंदी	१२, ९०, ३९, ८७५	५३, ००, ०००	२,४३५.०

सारणी ११ के आंकड़े यह दिखलाते हैं कि अधिकांश हिंदी बोलियों के बोलनेवाले हिंदी को अपनी मातृभाषा कहना पसंद करते हैं। दूसरे शब्दों में, हिंदुस्तान की आबादी की अपनी भाषाई बंधुता की चेतना की प्रक्रिया का विकास जारी है। उदाहरण के लिए, ब्रज को अपनी मातृभाषा कहने-वालों की संख्या १९५१ से १९६१ के बीच ५८% घट गयी।* और यह

*और १९६१ से १९७१ के बीच भी बिलकुल इतनी ही।

इस तथ्य के बावजूद कि स्वाभाविक जनसंख्या वृद्धि के कारण उनकी संख्या बढ़ी ही थी। कनौजी को सिर्फ़ ११ लोगों ने ही अपनी मातृभाषा कहा! अलबत्ता यह कहना ज़रूरी है कि विभिन्न बोली-अंचलों में यह प्रक्रिया भिन्न-भिन्न है। उदाहरण के लिए, छत्तीसगढ़ी बोली को अपनी मातृभाषा कहनेवालों की संख्या में—जैसा कि सारणी से पता चलता है—काफ़ी वृद्धि आयी और वह डॉ० धीरेंद्र वर्मा के आंकड़ों के साथ लगभग पूरी तरह से मेल खाती है।

हिंदुस्तान के इलाक़े में मानक हिंदी की ओर मानसिक झुकाव लगभग सभी भारतीय विद्वानों द्वारा लक्षित किया गया है। आगरा क्षेत्र की बोली के बारे में अपनी पुस्तक में रामस्वरूप चतुर्वेदी सामाजिक-आर्थिक विकास और भाषा के प्रति बदलते रवैये में संबंध को दर्शाते हुए कहते हैं कि रेलों ने यात्रा को तेज़ और आसान बना दिया। सड़कों की हालत सुधरी। नये स्कूलों और अस्पतालों तथा पंचायतों के कार्यकलाप ने इस अपेक्षाकृत पिछड़े हुए इलाक़े की आबादी के सोचने के ढंग को बदल दिया है। तार और टेलीफ़ोन ने भिन्न-भिन्न ज़िलों में छोटे-छोटे शहरों को जोड़ दिया है। आजकल देहाती आबादी पंचायतों और स्कूलों में रेडियो सुनती है। इन सभी सामाजिक सुख-सुविधाओं के परिणामस्वरूप गांवों तक में मानक हिंदी की भूमिका बढ़ रही है (रामस्वरूप चतुर्वेदी, 'आगरा ज़िले की बोली', इलाहाबाद, १९६१, पृ० ११)। डॉ० बाबूराम सक्सेना लिखते हैं कि अवधी आज महज़ लोगों की आम भाषा है और वह साहित्यिक माध्यम नहीं है। हिंदुस्तानी बोली (चाहे हिंदी या उर्दू) ही अवधी क्षेत्र की साहित्यिक भाषा है। अशिक्षित लोग आपस में अवधी में बातें करते हैं और पढ़े-लिखे भी अगर अवधियों से बातें कर रहे हों, तो अवधी ही बोलते हैं... ज़िला नगरों में भी, चूंकि सारा सरकारी कामकाज हिंदुस्तानी में ही होता है, इसलिए शिक्षित वर्ग हिंदुस्तानी और अवधी, दोनों रूपों से परिचित हैं और आवश्यकता के अनुसार दोनों बोलते हैं। लेकिन अवधीभाषियों के घरों में रिवाज अलग-अलग है। छोटे शहरों में अवधी इलाक़े के बाहर की अवधी घरों में ब्याही लड़कियां साल-दो साल के भीतर अवधी को अपना लेती हैं और अपनी बोलियों को तज देती हैं। लेकिन अधिक बड़े नगरों में और परिवार के भीतर स्त्री की स्थिति के धीरे-धीरे अधिक मज़बूत होते जाने के साथ-साथ आम तौर पर हिंदुस्तानी बोलनेवाली लड़की अपनी ज़बान नहीं बदलती है, जिससे उसके बच्चे भी हिंदुस्तानी बोलते हैं,

न कि अवधी, जो परिवार के थोड़े से ही सदस्य बोलते हैं। यह असाहित्यिक बोली के निष्कासन की शुरूआत है (पूर्वो०, पृ० ६–१०)।

बुंदेलखंडी के बारे में एक पुस्तक के लेखक एम० पी० जायसवाल भाषा और बोली के बीच संबंध का एक प्रत्यायक चित्र प्रस्तुत करते हैं: "ख़ास बुंदेलखंड और मध्यप्रदेश तथा उत्तरप्रदेश के दूसरे ज़िलों में, जहां बुंदेली बोली जाती है, प्रशासन, न्यायपालिका, व्यापार, राजनीति, शिक्षा, जनसंपर्क माध्यमों, सांस्कृतिक कार्यकलाप, साहित्य और सामाजिक संसर्ग की भाषा अनिवार्यतः हिंदी है... बहुत से सार्वजनिक नेता और सामाजिक कार्यकर्ता जन सभाओं अथवा अपढ़ स्थानीय निवासियों के साथ निजी व्यवहार में बुंदेली का भी प्रयोग करते हैं, क्योंकि आज भी मध्यभारत में मुश्किल से ही ३०% आबादी साक्षर है। आंचलिकता के कुछ प्रतिपादक अथवा वे लोग, जिनका अपनी जन्मभूमि से और उससे संबद्ध नयी-पुरानी, अच्छी-बुरी हर चीज़ के साथ भावनात्मक लगाव है, बुंदेली में कुछ भावुकतापूर्ण कविताएं रचा करते हैं, जो शायद स्थायी साहित्य के निम्नतम मानदंडों तक भी न पहुंच पायें" (एम० पी० जायसवाल, पूर्वो०, पृ० ५)। इस प्रसंग में हरियानी के एक उत्कट समर्थक नानकचंद की यह उक्ति अर्थपूर्ण हो सकती है: राष्ट्रभाषा हिंदी एक महासागर है, जब कि विभिन्न इलाक़ों में बोली जानेवाली बोलियां और स्थानिक भाषाएं महासागर में गिरने और उसे पूरित करनेवाली नदियां हैं (नानकचंद, 'हरियाणवी भाषा का उद्‌गम तथा विकास', होशियारपुर, १९६८, पृ० २८)।

उपरोक्त तथ्यों से कुछ निष्कर्ष निकालना संभव हो जाता है।

पहला, भारतीय विद्वान हिंदी बोलियों को इस भाषा-व्यवस्था का अंग मानते हैं। बोलियों को वे साहित्यिक भाषा के मुक़ाबले पर नहीं रखते, वरन बोली के साहित्यिक भाषा के साथ सहसंबंध का और साहित्यिक मानदंड की अगुआ भूमिका पर बल देते हुए एक व्यवस्था के तत्वों के नाते उनकी अन्योन्यक्रिया का विश्लेषण करते हैं। हिंदी क्षेत्र में आबादी के मनों में एक सामान्य भाषा की तरफ़ आये पलटाव को और आंचलिक नज़रिये के पैरोकारों के लिए व्यापक समर्थन के अभाव को भी ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि इस क्षेत्र में जनसाधारण में अपनी भाषाई बंधुता की बढ़ती हुई चेतना है और साहित्यिक मानक के संसर्गात्मक और प्रतिष्ठात्मक मूल्य की समझ बढ़ रही है। ऐतिहासिक अनुभव यह दिखलाता है कि भाषाई बंधुता की चेतना जातीय आत्मचेतना के आगे के विकास

की एक बुनियाद है, यद्यपि हिंदी क्षेत्र में अब भी ऐसे कारक कार्यशील हैं, जो इस प्रक्रिया में बाधक हैं।

दूसरा, बोलियों की स्थिति और हिंदुस्तान के सार्वजनिक जीवन, उसकी आबादी के मनों और विद्वानों के निष्कर्षों में उनके द्वारा अदा की जानेवाली भूमिका को पुराने ढर्रे के साथ जोड़ा जाता है, जब कि साहित्यिक हिंदी के विकास और उसके सामाजिक कृत्यों के विस्तार को हिंदी क्षेत्र के सामाजिक-आर्थिक तथा सांस्कृतिक विकास की उपलब्धियों और संभाव्यताओं के साथ और नये सामाजिक संबंधों के ढाले जाने के साथ संबद्ध किया जाता है। हिंदी जातीय भाषा की व्यवस्था में साहित्यिक मानक की बढ़ती हुई भूमिका विभिन्न वस्तुपरक कारकों का परिणाम है, यथा क्षेत्र का आर्थिक विकास, विनिमय का प्रसार तथा सर्वव्यापन, नगरों और उनके महत्व की वृद्धि, आबादी की बढ़ती हुई गतिशीलता, जन-संपर्क माध्यमों का विकास, नये सामाजिक संबंधों का उदय तथा सुदृढ़ीकरण और राजनीतिक तथा सार्वजनिक जीवन में जनसाधारण की बढ़ती हुई सहभागिता।

ज्योतींद्र दास गुप्त "पारंपरिक समाजों के आधुनिक राजनीतिक समुदायों में रूपांतरण" को "भाषाई आधुनिकीकरण" के साथ प्रत्यक्षतः संबद्ध करते हैं (ज्योतींद्र दास गुप्त, 'भाषा-विवाद और राष्ट्रीय विकास', बंबई, १९७०, पृ० १७), अर्थात संसर्ग के सबसे महत्वपूर्ण क्षेत्रों में हिंदी व्यवस्था के तत्वों के पुनर्वितरण – साहित्यिक भाषा के सामाजिक कृत्यों में वृद्धि और बोलियों के सामाजिक कृत्यों में कमी – के साथ। इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि फ़्रांसीसी क्रांति के समय कन्वेंशन (राष्ट्रीय समागम) ने जनता से "बोलियों को सामंतवाद के अंतिम कचरे और दासता के स्मारकों के नाते निष्कासित कर देने" का आह्वान किया था (व० व० विनोग्रादोव, 'साहित्यिक भाषाओं और उनकी उत्पत्ति तथा विकास की नियमसंगतियों की समस्याएं' [रूसी में], मास्को, १९६७, पृ० १७)।

तीसरा, युवा पीढ़ी, जिसे शिक्षा पाने के अधिक अवसर प्राप्त हैं और जो सामाजिक दृष्टि से अधिक गतिशील है, साहित्यिक भाषा के लिए अपनी पसंद स्पष्टतः व्यक्त करती है और बोलचाल की बोली के गढ़, दैनंदिन संसर्ग के क्षेत्र में उसके पैठने में सहायता करती है। हिंदी क्षेत्र में भाषाई विकास के भविष्य का निर्धारण करनेवाले कारकों का विश्लेषण करते समय इस तथ्य को ध्यान में रखना महत्वपूर्ण है।

चौथा, बोलियां साहित्यिक मानक के लौकिकीकरण में, उसे ग्राम बोलचाल के निकट लाने में, साहित्यिक हिंदी के मानकीकरण में ग्रौर, विशेषकर, ग्राधुनिक शब्दावली के सर्जन के सिद्धांतों के निरूपण में शुद्धिवादी उपागम का विरोध करने में सकारात्मक भूमिका का निर्वहन करती हैं।

ग्रंतिम, पांचवां, बोली से मानकीकृत बोलचाल की भाषा में संक्रमण नगरीकरण की प्रक्रिया के साथ, ग्रामवासियों के काम की तलाश में शहरों को जाने ग्रौर उनके नगरवासी बन जाने के साथ प्रत्यक्षतः जुड़ा हुग्रा है। यहां हम साहित्यिक हिंदी की जनसाधारण की बोलचाल की बुनियाद के सवाल, उसकी ग्राधारिक बोली की समस्या के निकट पहुंच जाते हैं।

यह मान लिया गया है कि साहित्यिक हिंदी की बुनियाद खड़ी बोली है, जिसे ग्रकसर दिल्ली-मेरठ क्षेत्र की बोली के रूप में परिभाषित किया जाता है। बोलचाल का यह रूप ग्यारहवीं-बारहवीं सदियों में निर्मित होना शुरू हुग्रा, जब हिंदुस्तान के भूभाग पर से विजेताग्रों के कितने ही रेले गुज़रे। दिल्ली विजेताग्रों द्वारा, जो ईरानी ग्रौर तुर्की भाषाएं बोलते थे ग्रौर इस्लाम के ग्रनुयायी थे, स्थापित राज्यों का प्रशासनिक, राजनीतिक तथा सैनिक केंद्र बन गयी। यहां नाना भाषाएं बोलनेवाले सैनिक समूहों ग्रौर इसी प्रकार दस्तकारों, राजगीरों, व्यापारियों, महाजनों, सराफ़ों, शायरों-कवियों ग्रौर धर्म-प्रचारकों – एक शब्द में, मध्ययुगीन नगरों के लाक्षणिक सभी सामाजिक समूहों – का भी एक साथ जमाव होने लगा। यहां परदेशियों का हिंदुस्तान के विभिन्न भागों से ग्रायी स्थानीय ग्राबादी के साथ गहन ग्रंतःमिश्रण हुग्रा। दिल्ली की सिर्फ़ भौगोलिक ही नहीं, भाषाई लिहाज़ से भी बड़ी सुविधाजनक ग्रवस्थिति है, जहां पंजाबी, राजस्थानी, बांगड़ू ग्रौर ब्रजभाषा क्षेत्रों का संगम होता है। फलतः दिल्ली की ज़बान ने विभिन्न भाषाग्रों ग्रौर बोलियों के प्रभाव को बड़ी ग्रासानी से ग्रात्मसात कर लिया। इस ग्रात्मसात्करण ने ही ग्रागे चलकर दिल्ली की स्थानिक भाषा, वहां की बोलचाल की ज़बान के बोलियोपरि स्वरूप को निर्धारित किया। इसके ग्रलावा दिल्ली की बोली ने ग्रपने विजेताग्रों की भाषाग्रों का प्रभाव ग्रन्य बोलियों की ग्रपेक्षा ग्रधिक ग्रनुभव किया है। ग्रनुमान किया जा सकता है कि ग्रारंभिक मंज़िलों में ग्रधिकतम सरलीकृत रूप में दिल्ली की ज़बान ने विजेताग्रों के लिए स्थानीय ग्राबादी के साथ संसर्ग के साधन का काम दिया। ग्रात्मसात्करण होते जाने के साथ-साथ वे इस भाषा

को न्यूनाधिक सफ़ाई और धाराप्रवाहिता के साथ बोलना सीखते गये।

खड़ी बोली कोई तीन सदी बोलचाल की भाषा बनी रही। प्रशासन और न्यायपालिका में फ़ारसी का प्रयोग होता था। रूढ़िवादी हिंदुओं के साहित्य, विज्ञान और सांस्कृतिक जीवन पर संस्कृत का प्रभुत्व था। दिल्ली के पश्चिम में राजपूत रजवाड़ों में वीरकाव्य की भाषा मारवाड़ी का एक मध्ययुगीन रूप डिंगल थी। नये सामाजिक विचारों के प्रचारक भक्तिमार्गी और सूफ़ी ब्रज का व्यापक उपयोग करते थे और खड़ी बोली की ओर वे बाद में जाकर ही मुड़े। अवध में राम के उपासक वैष्णव मुख्यतः अवधी का ही सहारा लेते थे। अकबर के राज्यकाल (सोलहवीं सदी) में ब्रज और अवधी में रचना करनेवाले कवि मुग़ल दरबार की शान थे। लेकिन कालांतर में दिल्ली की ज़बान मुग़ल फ़ौजों, व्यापारियों और दस्तकारों के साथ-साथ धीरे-धीरे गुजरात, महाराष्ट्र और बंगाल में भी पहुंच गयी। उसने दकन में गोलकुंडा और बीजापुर की सल्तनतों में जड़ें जमा लीं, जहां उसे दखनी (दक्खनी अथवा दक्खिनी भी) का नाम मिला। दकन में उसमें पद्यरचना, और कुछ कम हद तक गद्यरचना, का उदय हुआ और उसे बड़ी लोकप्रियता प्राप्त हुई। अठारहवीं सदी में दक्खनी काव्यधारा के प्रभाव में दिल्ली के शायरों ने भी खड़ी बोली को अपना लिया, जिसने फ़ारसी और ब्रज तथा अवधी को भी साहित्यिक भाषाओं के रूप में स्थान-च्युत कर दिया। खड़ी बोली के सामाजिक कृत्यों का तेज़ी से प्रसार होता गया और वह राज-दरबार, न्यायपालिका, प्रशासन, साहित्य और धार्मिक तथा वैज्ञानिक लेखन की भाषा बन गयी।

खड़ी बोली का अत्यंत संक्षिप्त और अतिसरलीकृत इतिहास भी उसके बोलियोपरि स्वरूप को स्पष्टतापूर्वक दिखला देता है। यह विचार कई हिंदी विद्वानों द्वारा प्रतिपादित किया गया है। नानकचंद ने खड़ी बोली पर ब्रज, हरियानी, मेवाती और पंजाबी के प्रभाव को लक्षित किया है (नानकचंद, पूर्वो०, पृ० ३०)। इस बात पर ज़ोर देते हुए कि खड़ी बोली का इलाक़ा वह केंद्र था, जहां विभिन्न भाषाओं और बोलियों के बोलनेवाले आपस में संपर्क में आते थे, एम० पी० जायसवाल लिखते हैं: "नतीजे के तौर पर खड़ी बोली आसानी से विभिन्न प्रादेशिक और विदेशी प्रभावों के अधीन आ गयी। ध्वन्यात्मक दृष्टि से पंजाबी का उस पर काफ़ी प्रभाव पड़ा है। रूपात्मक दृष्टि से राजस्थानी का योगदान भी नगण्य नहीं है..." (एम० पी० जायसवाल, पूर्वो०, पृ० ६)। बोलियोपरि स्वरूप और सामाजिक

प्रतिष्ठा के कारण ही खड़ी बोली* एक क्षेत्रीय बोली से एक अंतःप्रादेशिक बोलचाल की भाषा, साहित्यिक हिंदी की बुनियाद में रूपांतरित हो गयी। निष्कर्षस्वरूप खड़ी बोली का अन्य हिंदी बोलियों की तरह अध्ययन करना क्रियाविधिक दृष्टि से ग़लत है, क्योंकि वे एक भिन्न ही सामाजिक-भाषाई व्यवस्था की परिघटनाएं हैं।

खड़ी बोली के दिल्ली-मेरठ इलाक़े की क्षेत्रीय बोली के साथ सहसंबंध का सवाल उठता है। अभी हाल ही तक यह सहसंबंध विद्वानों के ध्यान में नहीं आया था। खड़ी बोली पद का पारंपरिक रूप से इन तीन परिघटनाओं को द्योतित करने के लिए प्रयोग किया जाता था – एक अंतःप्रादेशिक बोलचाल की भाषा, दिल्ली-मेरठ इलाक़े की क्षेत्रीय बोली और साहित्यिक हिंदी। भारतीय विद्वानों द्वारा हिंदी के बोलीवैज्ञानिक अनुसंधान ने इस प्रश्न को स्पष्ट कर दिया है। राहुल सांस्कृत्यायन द्वारा प्रस्तावित "कौरवी" पद का दिल्ली-मेरठ की बोली को द्योतित करने के लिए अधिकाधिक प्रयोग हो रहा है। चूंकि साहित्यिक मानक के बढ़ते प्रभाव की अवस्थाओं के अंतर्गत भी कौरवी में बोली के आधारिक गुण – मानक का अभाव, स्थानिक भाषाओं की उपस्थिति, दैनंदिन संसर्ग के क्षेत्र में काम आने के उसके सामाजिक कृत्यों का सीमित होना और उसका स्वयं अपने ही क्षेत्र में बंधे होना – बरक़रार हैं, इसलिए उसे अन्य हिंदी बोलियों के साथ रखा जा सकता है। अपने भाषाई अभिलक्षणों और सामाजिक कृत्यों की परिधि के कारण खड़ी बोली को कौरवी और दूसरी हिंदी बोलियों के भी ऊपर रखा जाता है।

जैसे कि ज्ञात है, खड़ी बोली एक नहीं, दो – हिंदी और उर्दू – साहित्यिक रूपों की बुनियाद है। आधुनिक साहित्यिक हिंदी की विशिष्टता संस्कृत से लिये शब्दों का व्यापक उपयोग** और उनकी वर्तनी और उनके उच्चारणों को मानक मानने की प्रवृत्ति भी है। लिखित हिंदी में देवनागरी लिपि का प्रयोग किया जाता है। साहित्यिक उर्दू में अरबी और फ़ारसी से लिये शब्दों का ख़ासा बड़ा अंश पाया जाता है। नयी संकल्पनाओं के लिए पद निकालने में अरबी और फ़ारसी शब्दरचना के नियमों और आदर्शों को अकसर लागू किया जाता रहा है। लखनऊ और अलीगढ़ की मुस्लिम आबादी की पुरानी पीढ़ी की बोलचाल में फ़ारसी और अरबी से लिये ऐसे

---

*अथवा, जैसे कि अमीर ख़ुसरो ने उसे नाम दिया था, देहलवी।
**ये मुख्यतः संस्कृत से लिये गये तत्सम शब्द हैं।

शब्दों और स्वरों की भरमार है, जो हिंदी में नहीं पाये जाते। अपनी बारी में हिंदी में ऐसे व्यंजनों के संयोग से निर्मित तत्सम शब्दों का प्राचुर्य है, जो उर्दू में अथवा उभयनिष्ठ बोलचाल की भाषा में नहीं पाये जाते। लिखित उर्दू में आशोधित फ़ारसी लिपि का प्रयोग किया जाता है। हिंदी और उर्दू की साहित्यिक कृतियों में रीति, शैली और पारंपरिक चरित्रों में लक्षित होनेवाले अंतर इस कारण हैं कि हिंदी में साहित्य प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक परंपरा से उद्भूत होता है, तो उर्दू में उसका मूल ईरानीभाषी लोगों की संस्कृति है।

इस प्रकार यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि हिंदुस्तान क्षेत्र की आबादी में दो इतिहासतः निर्मित सांस्कृतिक, सांप्रदायिक और दैनंदिन रूढ़ प्ररूप अस्तित्वमान हैं, जिन्हें आम तौर पर हिंदू और मुसलमान कहा जाता है।

हिंदी और उर्दू के बीच अन्योन्यक्रिया में कितने ही चरणों को चीन्हा जा सकता है। हम फ़िलहाल इसी बात पर ज़ोर देंगे कि इन दोनों साहित्यिक भाषाओं में विद्यमान सारे ही अंतरों के बावजूद समूचे तौर पर उनमें एक ही स्वनिक व्यवस्था, एक ही रूपप्रक्रिया और एक ही बुनियादी शब्दावली है। एक विवेचन के अनुसार रूपात्मक दृष्टि से हिंदी और उर्दू में कोई अंतर नहीं है। अंतर सिर्फ़ तब पैदा होते हैं, जब हिंदी को संस्कृत और उर्दू को अरबी-फ़ारसी शब्दों से भर दिया जाता है। अगर हिंदी से संस्कृत शब्दों और उर्दू से अरबी-फ़ारसी शब्दावली को अलग कर दिया जाये, तो हिंदी और उर्दू एक भाषा बन जायेंगी (अंबाप्रसाद "सुमन", 'हिंदी और उसकी उपभाषाओं का स्वरूप', प्रयाग, १९६६, पृ० १५६)। दैनंदिन जीवन और अकसर राजनीति में काम आनेवाली बोलचाल की भाषा में अंतर न्यूनतम हो सकते हैं। "कम से कम एक ग्रामीण बोली के औपचारिक विश्लेषण ने दिखलाया है कि स्पर्श्यों और अस्पर्श्यों की बोलचाल में अंतर हिंदुओं और मुसलमानों की बोलचाल में अंतरों की अपेक्षा कहीं अधिक हैं" (जे० जे० गंपेर्ज़, 'उत्तर भारत के ग्रामीण विकास में भाषाई समस्याएं' [अंग्रेज़ी में], जरनल ऑफ़ एशियन स्टडीज़, खंड १६, अंक २, फ़रवरी, १९५७, पृ० २५३)।

खड़ी बोली के विकास की पहली मंज़िल में हिंदी और उर्दू के बीच अंतर लगभग नहीं के बराबर थे। डॉ० भोलानाथ तिवारी के अनुसार आरंभ में (तेरहवीं-चौदहवीं सदियों में—ले०) हिंदी और उर्दू एक ही भाषा थीं।

मुसलमान अपनी भाषा को हिंदवी (हिंदुवी या हिंद्वी), अर्थात हिंदी, शब्दशः फ़ारसी से भिन्न "भारतीय भाषा" कहते थे (डॉ० भोलानाथ तिवारी, पूर्वो०, पृ० २५६)। खड़ी बोली फ़ारसी लिपि में लिखी जाती थी। दिल्ली की भाषा के लिए "उर्दू" नाम सत्तरहवीं–अठारहवीं सदियों के संधिकाल में प्रकट हुआ, जब लिखने में देवनागरी वर्णमाला का प्रयोग किया जाने लगा। यह अनुमान किया जा सकता है कि साहित्यिक हिंदी को हिंदू समुदाय के साथ जोड़कर उसे पृथक करने की कोशिश अन्य धार्मिक समुदायों के प्रति मुग़ल शासकों (औरंगज़ेब के बाद) की कठोर नीति के परिणामस्वरूप पैदा हुई। लेकिन समकालीनों के अनुसार उस समय भी भाषाई अंतर बहुत बड़े नहीं थे। अभिभावी स्थिति उर्दू को प्राप्त थी, जो सत्ताधिकारियों के संरक्षण में थी।

हिंदी और उर्दू के बीच संबंधों में एक नयी मंज़िल का समारंभ उन्नीस-वीं सदी के आरंभ में हुआ। यह ब्रिटिश शासन के सुदृढ़ीकरण और हिंदू तथा मुसलमान समुदायों के ऊपरी संस्तरों के बीच बढ़ते विरोधों के साथ आयी। उन्नीसवीं सदी के प्रारंभिक वर्षों में कलकत्ता के फ़ोर्ट विलियम कॉलेज में ब्रिटिश समर्थन से उर्दू और हिंदी को उनके बीच अंतरों पर ज़ोर देने के आधार पर मानक रूप देने का प्रयास किया गया। ब्रिटिश औपनिवेशिक अधिकारियों ने उर्दू को "मुसलमानों की भाषा" और हिंदी को "हिंदुओं की भाषा" की संज्ञा दी। मुसलमान प्रबोधकों की सरगरमियों में "उर्दू को बचाओ" के नारे ने बहुत बड़ा महत्व प्राप्त कर लिया। हिंदू महासभा और आगे चलकर भारतीय जनसंघ हिंदी के उत्कट पक्षधर बन गये। भाषाई और साहित्यिक समस्याएं प्रचंड राजनीतिक तथा धार्मिक विवादों का विषय बन गयीं, जो अकसर दंगों का रूप ग्रहण कर लेते थे। "दंगों के विपरीत, जो उनमें वास्तव में भाग लेनेवालों के लिहाज़ से मुख्यतः अशिक्षित, समाजविरोधी तत्वों तक ही सीमित हुआ करते थे, हिंदी-उर्दू विवाद तत्वतः हिंदू और मुस्लिम बुद्धिजीवियों के बीच लड़ाई की अभि-व्यक्ति थे" (डॉ० रफ़ीक़ ज़करिया, 'भारतीय राजनीति में मुसलमानों का उत्कर्ष' [अंग्रेज़ी में], बंबई, १९७१, पृ० २९३)।

भाषाई विकास के क्षेत्र में इन "विवादों" ने शुद्धिवादी प्रवृत्तियों को बढ़ाया। हिंदी के "शुद्धिकरण" के पक्षधर इसका लिहाज़ किये बिना उससे सभी विदेशी भाषाओं से लिये शब्दों को निकाल बाहर करने लगे कि उनमें से बहुत से सामान्य व्यवहार में अच्छी तरह से स्थापित हो चुके थे और

उन्हें न विदेशी माना जाता था और न विजातीय। मुस्लिम संगठनों से जुड़े हुए उर्दू के पैरोकार उर्दू से मूल तद्भव शब्दों को निष्कासित करके उसे फ़ारसी और अरबी शब्दों से भरने लगे। भाषा को सांप्रदायिक विचार-धारा और राजनीति के साथ जोड़े जाने के परिणामस्वरूप हिंदी और उर्दू अपने जनव्यापी बोलचाल के आधार से हटती जा रही थीं और "शुद्ध" भाषाएं कृत्रिम विरचनाओं में रूपांतरित होती जा रही थीं। हिंदी और उर्दू के बारे में विवाद में चरमपंथी स्थितियां पारस्परिक असहिष्णुता और सांप्रदायिक मतांधता में परिणत होती जा रही थीं। इस प्रसंग में उर्दू के घोर विरोधी रविशंकर शुक्ल का ठेठ १९४४ का एक कथन उल्लेखनीय है। उन्होंने लिखा था: "उर्दू को मातृभाषा के रूप में लेनेवाले हिंदू विद्यार्थी जब बड़े होते हैं, तो उन्हें अपने धर्म, संस्कृति, पुराणों और दर्शन का बड़ा अजीब अज्ञान होता है और अगर वे हिंदू धर्म और भारत की गौरवशाली परंपराओं के बारे में कुछ भी जानना चाहें, तो उन्हें अपने बुढ़ापे में हिंदी सीखनी पड़ती है... हिंदी जनसाधारण की आशाओं, आकांक्षाओं, स्वप्नों और दैनंदिन सरोकारों को व्यक्त करती है। उसकी जड़ें भारत की भूमि में गहरी गड़ी हुई हैं। उसकी कोई अपर देशीय निष्ठाएं नहीं हैं" (रविशंकर शुक्ल, 'ऑल इंडिया रेडियो की भाषा-नीति' [अंग्रेज़ी में], इलाहाबाद, १९४४, पृ० ११७)। इस कथन में सांप्रदायिक पार्टियों और संगठनों द्वारा "हिंदी, हिंदू, हिंदुस्थान" के नारे के साथ स्वतंत्र भारत में प्रयुक्त कार्यक्रमात्मक स्थापनाओं की रूपरेखा देखी जा सकती है। सांप्रदायिक वैमनस्य ने निस्संदेह हिंदी क्षेत्र में जातीय प्रक्रियाओं के विकास के मार्ग में गंभीर अवरोध खड़े किये। यही नहीं, उसने "दो राष्ट्रों" के तथाकथित सिद्धांत को जन्म दिया, जिसका भारत के विभाजन और पाकिस्तान के निर्माण के संघर्ष में उपयोग किया गया।

स्वतंत्र भारत के संविधान में देवनागरी लिपि में हिंदी को देश की राजभाषा का दरजा प्रदान किया गया है और उसमें हिंदी भाषा के विकास के बारे में निदेश (अनुच्छेद ३५१) समाविष्ट है, जो उसके शब्दभंडार के लिए जहां भी आवश्यक अथवा वांछनीय हो, मुख्यतः संस्कृत और फिर दूसरी भाषाओं से शब्द लेकर उसका समृद्धीकरण सुनिश्चित करने की कल्पना करता है। जहां तक उर्दू की बात है, उसे संविधान की आठवीं अनुसूची में रखा गया है और जम्मू-कश्मीर राज्य की राजभाषा और इसी प्रकार आंध्रप्रदेश में कई ज़िलों में न्यायपालिका की भाषा के रूप में मान्यता

दी गयी है। हिंदी क्षेत्र में उसे कोई ग्राधिकारिक स्थिति प्राप्त नहीं है। उधर, पाकिस्तान में उर्दू राजभाषा है।

यह सवाल पैदा होता है कि क्या उर्दू को हिंदी जातीय भाषा-व्यवस्था का एक तत्व माना जा सकता है या उसे एक स्वतंत्र भाषा-व्यवस्था माना जाना चाहिए? इस पेचीदा सवाल का जवाब देने के पहले हिंदुस्तानी ग्रांदोलन से संबंधित कुछ तथ्यों का उल्लेख करना ठीक रहेगा।

यह ग्रांदोलन भारत में राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष में एक नये उभार के दौरान तीस के दशक में पैदा हुग्रा था। १६२६ में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने ग्रपने कानपुर ग्रधिवेशन में इस ग्राशय का प्रस्ताव पारित किया कि कांग्रेस संगठन की भाषा ग्रब ग्रागे से ग्रंग्रेज़ी नहीं, हिंदुस्तानी होनी चाहिए। महात्मा गांधी इस प्रस्ताव के कार्यान्वियन के सबसे सक्रिय समर्थकों में थे, जो हिंदुस्तानी को हिंदुग्रों ग्रौर मुसलमानों की सामान्य भाषा मानते थे। वह इस भाषा के लिए दो लिपियों के प्रयोग ग्रौर उसके लिए धीरे-धीरे एक सामान्य शब्दावली के तैयार किये जाने के पक्ष में थे। गांधीजी द्वारा प्रकाशित किये जानेवाले एक ग्रख़बार में हिंदुस्तानी के सामान्य शब्दों की सूचियां नियमित रूप से छापी जाती थीं। हिंदुस्तानी के बारे में लिखते हुए जवाहरलाल नेहरू कहते हैं: "हिंदुस्तानी क्या है? मोटे तौर पर हम कह सकते हैं कि इस शब्द में बोलचाल की ग्रौर दोनों लिपियों में लिखित हिंदी ग्रौर उर्दू, दोनों ही शामिल हैं ग्रौर हम इन दोनों के बीच बढ़िया सामंजस्य स्थापित करने की कोशिश करते हैं ग्रौर इसे ही हम हमारी हिंदुस्तानी के विचार का नाम देते हैं" (जवाहरलाल नेहरू, 'भारत की एकता' [ग्रंग्रेज़ी में], लंदन, १६४८, पृ० २४५)। पेचीदा राजनीतिक मामलों के बारे में जवाहरलाल नेहरू के सार्वजनिक वक्तव्यों को हिंदुस्तानी की सबसे बढ़िया मिसालों में माना जाता है।

भारतीय जनता के राष्ट्रीय मुक्ति ग्रांदोलन की एक धारा के रूप में, जो उपनिवेशवादियों की भाषा के प्रभुत्व के विरुद्ध लक्षित थी, हिंदुस्तानी ग्रांदोलन ने उल्लेखनीय सफलता प्राप्त की। हिंदुस्तानी ग्रांदोलन के नेता निरंतर ग्रकेली हिंदुस्तानी ही नहीं, बल्कि सारी ही भारतीय भाषाग्रों को विकसित करने की, हिंदी ग्रौर उर्दू को समन्वित करने की पैरोकारी करते थे। खड़ी बोली के ग्राधार पर एक सामान्य साहित्यिक भाषा के विचार को प्रगतिशील लेखक संघ में ऐक्यबद्ध हिंदी ग्रौर उर्दू लेखकों की

कृतियों में साकार किया गया। हिंदुस्तानी के सर्वप्रमुख लेखकों में से एक, प्रेमचंद की रचनाएं आज भी दोनों साहित्यिक रूपों और उनके बोलचाल के आधार को पास लाने से जनित सृजनात्मक संभावनाओं का एक चित्ताकर्षक उदाहरण हैं। चालीस के दशक तक हिंदुस्तानी के विचार को व्यापक मान्यता प्राप्त हो चुकी थी। यह रविशंकर शुक्ल द्वारा प्रत्यक्ष नाराज़गी के साथ उद्धृत दिलचस्प आंकड़ों से प्रमाणित होता है। ऑल इंडिया रेडियो के बंबई, कलकत्ता तथा मद्रास केंद्रों ने अपने श्रोताओं में एक सर्वेक्षण किया। उनसे एक सवाल पूछा गया: "अगर रेडियो प्रसारण सिर्फ़ एक ही भाषा में किये जायें, तो आप कौनसी भाषा पसंद करेंगे?" बंबई में ३,६५० श्रोता हिंदुस्तानी के और १,७५५ मराठी और गुजराती के पक्ष में थे, कलकत्ता में ३,५५६ ने हिंदुस्तानी और ३६६ ने बंगला के पक्ष में राय दी, और मद्रास में ३,५२५ ने हिंदुस्तानी और ६१३ ने तमिल और तेलुगू को पसंद किया (रविशंकर शुक्ल, पूर्वो०, पृ० १५१)।

भारत के विभाजन के साथ घटनेवाली अनर्थकारी घटनाओं, पाकिस्तान और भारत के उलझे हुए संबंधों और सांप्रदायिक संगठनों के पुनरुज्जीवन ने भी हिंदुस्तानी आंदोलन को काफ़ी नुक़सान पहुंचाया। जैसे हिंदी शुद्धिवादियों की, वैसे ही उर्दू शुद्धिवादियों की हलचलों में भी तेज़ी आयी और दोनों भाषाओं को एक-दूसरी के मुक़ाबले पर खड़ा करने के प्रयासों को तेज़ किया गया। इन प्रवृत्तियों के विकास ने देश में जनतांत्रिक विचार रखनेवालों में चिंता पैदा की। जवाहरलाल नेहरू ने अपने भाषणों और कथनों में इंगित किया कि बड़ी संख्या में शब्दों को ढालने का रुझान हिंदी को एक कृत्रिम भाषा बनाने की तरफ़ ले जा सकता है। "असल में हम किस तरह की हिंदी का इस्तेमाल करने जा रहे हैं? जैसे किसी मशीन से हिंदी शब्दों और मुहावरों को ढालने का धंधा बनावटी, अवास्तविक, बेतुका, ख़याली और हंसने लायक़ है" (जवाहरलाल नेहरू के भाषण, १९५७–१९६३ [अंग्रेज़ी में], खंड ४, दिल्ली, १९६४, पृ० ६०)। संप्रदायवादी भाषाविज्ञानियों और लेखकों के हिंदी को उर्दू के ख़िलाफ़ खड़ा करने के प्रयत्न तत्कालीन प्रधान मंत्री के लिए गंभीर चिंता के विषय थे। उनका कहना था: "हिंदी के लिए मैं यह ज़रूरी समझता हूं कि वह उर्दू के साथ नज़दीकी ताल्लुक़ पैदा करे। इससे हिंदी मज़बूत ही होगी। इसी तरह से, अगर उर्दू को हिंदुस्तान में तरक़्क़ी करनी है, तो उसके लिए अपने को हिंदी से परिचित करना और उसके साथ नज़दीकी रिश्ते क़ायम करना

ज़रूरी है। उर्दू और हिंदी में फ़र्क़ कोई बहुत ज़्यादा नहीं है। फ़र्क़ ज़्यादातर उनकी लिपियों में ही है" (पूर्वो०, पृ० ६३)।

यद्यपि आज भारत में कोई संगठित हिंदुस्तानी आंदोलन नहीं है, फिर भी उसके विचारों, उपलब्धियों और सीखों ने अपना महत्व नहीं गंवाया है। पहली बात तो यही है कि इस आंदोलन में भाग लेनेवाले प्रगतिशील लेखकों और पत्रकारों के काम ने सिद्ध कर दिया है कि हिंदी और उर्दू को उनके सरलीकरण द्वारा नहीं, बल्कि पारस्परिक समृद्धिकरण द्वारा और उन्हें आम बोलचाल की भाषा के नज़दीक लाकर पास-पास लाना संभव है। इस वस्तुपरक संभावना को आज महसूस करना विशेषकर महत्वपूर्ण है, क्योंकि बोली जानेवाली भाषा पर आधारित और व्यापक जनसाधारण द्वारा समझे जा सकने योग्य विकसित और सार्विक संसर्ग माध्यम की आवश्यकता हिंदी संजातीय क्षेत्र में अधिकाधिक प्रत्यक्ष होती जा रही है। डॉ० रामविलास शर्मा ने १९४७ में लिखा था कि आज भी हम हिंदी को जनता की भाषा कहते हैं। लेकिन ९०% लोग हमारी हिंदी को नहीं समझते। वक़्त आ गया है कि लोग शिक्षित हों, स्वयं अपनी भाषा में पारंगत हों और उसके विकास में योगदान करें (डॉ० रामविलास शर्मा, 'राष्ट्रभाषा की समस्या', पृ० ३०)।

दूसरे, हिंदुस्तानी आंदोलन हिंदी और उर्दू के सामान्य आधार के बारे में विद्वानों के निष्कर्षों के व्यावहारिक प्रमाणीकरण का परिचायक था। आंदोलन के प्रभाव से हिंदी क्षेत्र में जातीय प्रक्रिया की गति का त्वरण अत्यधिक महत्वपूर्ण था। हिंदुओं और मुसलमानों के सांस्कृतिक, दैनंदिन और सांप्रदायिक रूढ़ प्ररूपों में निश्चित इतिहासतः निर्मित अंतर हैं, जो सामाजिक सोपान के दोनों ध्रुवों पर न्यूनतम हैं। सामान्य अवस्था में, अर्थात कृत्रिम रूप में भड़काये सांप्रदायिक उन्माद के बिना, ग्रामीण आबादी के निर्धनतम अंशकों और शहरी मज़दूरों में हिंदुओं और मुसलमानों के बीच अंतरों का अकसर बिलकुल भी पता नहीं चल पाता है। इन समुदायों के ऊपरी संस्तरों, विशेषकर विज्ञान और उद्योग के क्षेत्र में काम करनेवाले बुद्धिजीवियों के बारे में भी यही बात कही जा सकती है। अंतर रूढ़िवादी शहरी मध्यम संस्तरों में प्रबलतम हैं, जो भाषा-नीति और संप्रदायवादियों की गतिविधियों के प्रति विशेषकर संवेदनशील हैं। इन संख्यात्मक दृष्टि से बड़े तथा राजनीतिक दृष्टि से सक्रिय अंशकों की सांप्रदायिक मानसिकता उनकी भाषा-चेतना के साथ प्रत्यक्षतः जुड़ी हुई है और जातीय आत्मचेतना

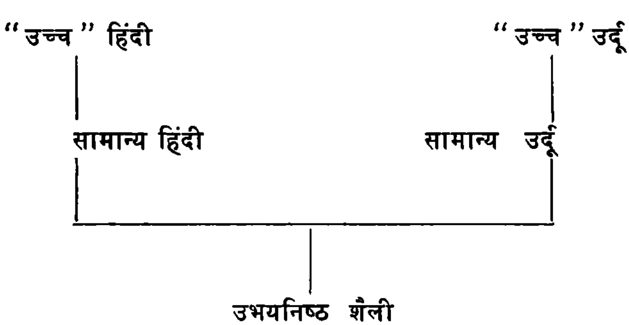
के प्रतिज्ञान के मार्ग में सबसे गंभीर अवरोधों में से एक को प्रतिनिधित करती है। भाषा और संस्कृति में सांप्रदायिक अवशेषों के विरुद्ध निदेशित और मुख्यतः मध्यम संस्तरों की ओर लक्षित हिंदुस्तानी आंदोलन हिंदुस्तान में जातीय प्रक्रिया की सबसे महत्वपूर्ण मंज़िलों में एक था।

तीसरे, हिंदुस्तानी आंदोलन ने प्रतिक्रियावादी प्रवृत्तियों के विरुद्ध, विशेष-कर सांप्रदायिक और जातपांतीय विचारधारा के विरुद्ध संघर्ष में प्रगतिशील और जनतांत्रिक शक्तियों की एकता और जातीय तथा भाषाई प्रक्रियाओं के बीच एक महत्वपूर्ण और प्रत्यक्ष संबंध को प्रकट किया। स्वतंत्रता के बाद भारत में राजनीतिक विकास के अनुभव ने इस संबंध की पुष्टि की है। जब-जब प्रतिक्रिया हल्ला बोलती है, और यह भाषा-नीति में भी प्रति-बिंबित होता है, तब-तब सांप्रदायिक और जातपांतगत टकराव और संगीन होते हैं। जिन दौरों में जनतांत्रिक आंदोलन चढ़ाव पर होता है और व्यापक जनसाधारण प्रगतिशील सामाजिक-आर्थिक रूपांतरणों के आधार पर राज-नीतिक तथा सार्वजनिक जीवन में सक्रिय भाग ले रहे होते हैं, प्रतिक्रिया से जुड़ी हर चीज़ नये के लिए, जिसमें हिंदी क्षेत्र में जातीय विकास भी शामिल है, रास्ता छोड़ते हुए पृष्ठभूमि में धकिया दी जाती है। दूसरे शब्दों में, इस क्षेत्र में जातीय तथा भाषाई प्रक्रिया सिर्फ़ आर्थिक संबंधों के विकास पर ही नहीं, बल्कि जनतांत्रिक आंदोलन की भावी वृद्धि पर भी निर्भर करती है।

अंतिम बात यह कि हिंदुस्तानी आंदोलन साहित्यिक हिंदी और साहि-त्यिक उर्दू के बीच सामाजिक-भाषाई अन्योन्यसंबंध को उजागर करता है, जिनकी एक सामान्य बुनियाद है और वह है अंतःप्रादेशिक बोलचाल की भाषा खड़ी बोली। साहित्यिक भाषा इसके लिहाज़ के बिना कि वह लिखित रूप में पायी जाये या मौखिक रूप में, मानकीकृत भाषा होती है। "साहि-त्यिक भाषा, एक ओर, 'गल्प तथा काव्य की भाषा' की संकल्पना से अधिक व्यापक है, क्योंकि साहित्यिक भाषा में न केवल गल्प तथा काव्य की ही भाषा, बल्कि पत्रकारिता, विज्ञान और राज्य-प्रशासन की भाषा, कामकाज की भाषा और सार्वजनिक वक्तव्यों-घोषणाओं की भाषा, बोलचाल की ज़बान, आदि भी शामिल है, और दूसरी ओर, गल्प और काव्य की भाषा (ललित साहित्य की भाषा) साहित्यिक भाषा की अपेक्षा व्यापकतर संकल्पना है, क्योंकि ललित साहित्य की कृतियों में बोली, शहरी उप-बोलियों और वृत्तिभाषा (jargon) के तत्व भी हो सकते हैं" ('सामान्य

भाषाविज्ञान। भाषा के अस्तित्व के रूप, उसके कृत्य तथा इतिहास' [रूसी में], मास्को, १९७०, पृ० ५०४)।

"साहित्यिक भाषा" के संवर्ग के इस तरह के निर्वचन में हिंदी और उर्दू को न तो शब्दाडंबरपूर्ण किताबी शैली में और न ऐसे शुद्धतावादी रूपों में ही परिणत किया जा सकता है, जिनमें दोनों पारंपरिक सांस्कृतिक रूढ़ प्ररूपों को सूक्ष्मतापूर्वक मुक़ाबले में लाया जाता है। यह कहना चाहिए कि ये रूप एक कहीं व्यापक और अधिक जटिल परिघटना के सिर्फ़ एक हिस्से को ही प्रतिनिधित करते हैं। हिंदी और उर्दू की अन्योन्यक्रिया की विशिष्ट क्रियाविधि के विश्लेषण में सोवियत और भारतीय शोधकर्ता कितनी ही शैलियों को विभेदित करते हैं (ये० प० चेलिशेव, 'आधुनिक साहित्यिक हिंदी में शब्दभंडार के निर्माण और विकास के रास्ते के प्रश्न के बारे में', सोवियत विज्ञान अकादमी के प्राच्यविज्ञान संस्थान की वैज्ञानिक टिप्पणियां, खंड १३, भारतीय वाङ्मीमांसा [रूसी में], पृ० १५५; प० अ० बरान्निकोव, 'आधुनिक हिंदी में शैलीगत पर्याय', पूर्व के जनगण की भाषाएं [रूसी में], लेनिनग्राद, १९६१, पृ० ११३–११७)। इस जटिल प्रश्न के प्रति अभी तक कोई सामान्य उपागम नहीं निकाला गया है: विभिन्न मानदंडों का उपयोग किया जाता है और शैलियों की विभिन्न संख्याओं के नाम दिये जाते हैं। लेकिन शैलियों के प्रश्न के प्रति किसी भी उपागम में एक बात स्पष्ट है–हिंदुस्तानी क्षेत्र में हिंदी और उर्दू एक-दूसरी के अलगाव में नहीं, वरन सतत अन्योन्यक्रिया करते हुए कार्यशील हैं। शैलीगत पर्यायों के विश्लेषण के आधार पर प० अ० बरान्निकोव ने पांच शैलियों को विभेदित और इस प्रकार वितरित किया है (प० अ० बरान्निकोव, पूर्वो०, पृ० ११६):



हिंदुस्तान की आबादी द्वारा दैनंदिन संसर्ग में प्रयोग में लायी जानेवाली उभयनिष्ठ शैली * को हिंदी और उर्दू में स्पष्टतापूर्वक विभाजित नहीं किया जा सकता। सामान्य हिंदी और सामान्य उर्दू बहुत निकट भी हैं। उनके बीच अंतर अकसर औपचारिक लक्षणों के आधार पर किये जाते हैं – लेखन में लिपि के आधार पर और बोलचाल में बोलनेवाले के एक समुदाय विशेष के होने के आधार पर। उल्लेखनीय अंतर सिर्फ़ "उच्च" शैलियों में ही पाये जाते हैं, जिनकी ओर शुद्धतावादियों के प्रयास मुख्यतः लक्षित हैं। दोनों शैलियों के बीच कोई दृढ़ और कठोर विभेदक रेखाएं नहीं हो सकतीं; "उच्च" शैलियों से शब्दावली के अलग-अलग अंश सामान्य शैलियों और बोलचाल की आम भाषा में पहुंचते रहते हैं। अपनी बारी में, "उच्च" शैलियां सामान्य शैलियों से लगातार प्रभावित होती रहती हैं, जिनके बिना उनका विखंडित हो जाना अनिवार्य है।

उपरोक्त सभी बातों से यही निष्कर्ष निकलता है कि हिंदुस्तान के क्षेत्र में उर्दू भाषा इस समय स्वयं अपनी जातीय भाषा-व्यवस्था का निर्माण नहीं करती है और इस विशेष क्षेत्र में यह साहित्यिक भाषा हिंदी जातीय भाषा-व्यवस्था के एक संघटक अंग को प्रतिनिधित करती है। प० अ० बरान्निकोव लिखते हैं: "एक ही जनगण को, जिनमें निर्माणाधीन जाति के सभी लक्षण और, सर्वोपरि, एक राज्य के ढांचे के भीतर क्षेत्रीय एकता का लक्षण विद्यमान हैं, दो भिन्न-भिन्न भाषाएं, अर्थात हिंदी और उर्दू, बोलनेवाले दो जनगण में विखंडित नहीं किया जा सकता" (प० अ० बरान्निकोव, 'राष्ट्रभाषा के रूप में हिंदी की समस्याएं' [रूसी में], लेनिनग्राद, १९७२, पृ० ११६)।

इस प्रसंग में एक और समस्या का विवेचन करना आवश्यक है और यह खड़ी बोली और उन साहित्यिक भाषाओं के अन्योन्यसंबंध की समस्या है, जिनकी वह बुनियाद है। दैनंदिन मौखिक संसर्ग की भाषा के रूप में खड़ी बोली निरंतर विकास की अवस्था में है। एक ओर, शिक्षा-प्रणाली और जन-संपर्क साधनों के प्रभाव के अंतर्गत यह मानकीकृत साहित्यिक भाषा की शब्दावली और तत्वों को नियमित रूप से आत्मसात करती है। शिक्षा प्राप्त करने के बाद कुछ (यद्यपि बहुत ही कम) खड़ी भाषा बोलनेवाले साहित्यिक भाषा को अपना लेते और पूरी तरह से आत्मसात कर लेते हैं,

---

* बुनियादी तौर पर यह खड़ी बोली है।

यद्यपि वे अपनी ज़बान की बोलीगत रंगत को बनाये रखते हैं। दूसरी ओर, दैनंदिन बोली जानेवाली खड़ी बोली की परिधि भी बढ़ रही है, क्योंकि समाज के बहुत से अंशकों के सदस्य शहरों में आ जाने पर अथवा गांव में संसर्ग का परिमाण बढ़ जाने पर अपनी ग्रामीण बोली की जगह अंतः-क्षेत्रीय बोलचाल की भाषा को अपना लेते हैं। इस तरह के संक्रमण में कई क्रमिक मंज़िलें होती हैं– ग्रामीण स्थानिक भाषा से शहरी अंतर्भाषिक अथवा आंचलिक भाषा तक, जिस पर सामान्यतया खड़ी बोली का प्रबल प्रभाव है। इसके बाद खड़ी बोली की आंचलिक क़िस्म और फिर मानक भाषा में संक्रमण आता है। इस तरह के संक्रमण में मंज़िलों की संख्या, उसकी रफ़्तार और व्यक्ति द्वारा "अधिक उन्नत" मानक भाषा के आत्म-सात किये जाने की मात्रा कई कारकों पर निर्भर करती हैं–सामाजिक तथा सांपत्तिक हैसियत, शिक्षा, पेशा, आयु और, अंततः, निजी क्षमता।

यहां बोली और साहित्यिक भाषा के बीच सहसंबंध का एक नया पहलू प्रत्यक्ष हो जाता है। जॉन गंपेर्ज़ और ज्योतींद्र दास गुप्त, जो हिंदी क्षेत्र में प्रमुख बोलीगत विरचनाओं को "आंचलिक मानक" कहते हैं, उनकी ग्रामीण स्थानीय भाषा और बोलचाल की हिंदी के बीच की अंतःस्थ स्थिति को लक्षित करते हैं। आंचलिक मानक* ग्रामीण ज़बान से दैनंदिन खड़ी बोली के ज़रिये साहित्यिक भाषा के संक्रमण के लिए सेतु का काम देता है। बोली बोलनेवालों का दैनंदिन खड़ी बोली के स्थायी संपर्क में आना उसके आंचलिक रूपों को बनाये रखता है और बोलियों के साहित्यिक भाषाओं में निरंतर प्रवेशन में सहायता देता है। साथ ही खड़ी बोली के "निचले" रूपों का, जिन्हें अकसर "बाज़ारी ज़बानें" कहा जाता है, महत्व बना रहता है। खड़ी बोली के "निचले" रूप अत्यधिक नानासंख्य और विविध हैं, लेकिन उन्हें सरलतम रूपों की वैकल्पिकता और परिवर्तनीयता एक करती है। "दूसरे शब्दों में, अगर बोली और साहित्यिक भाषा की अपनी नियम प्रणाली है, तो दैनंदिन बोलचाल की ज़बानों की विशेषता विभिन्नता का ऐसा पैमाना है कि किसी भी नियम अथवा मानदंड प्रणाली का अस्तित्व ही संदेहास्पद हो जाता है" ('सामान्य भाषाविज्ञान। भाषा के अस्तित्व के रूप, उसके कृत्य तथा इतिहास' [रूसी में], पृ० ५२८)। कार्यात्मक दृष्टिकोण से खड़ी बोली के "निचले" रूप एक ही कार्य करते

---

*हमारी शब्दावली में–आंचलिक बोली।

हैं। वे बोलीगत नियम प्रणाली को नष्ट करते हैं और इस तरह से इसकी ज़मीन तैयार करते हैं कि उनके बोलनेवाले दैनंदिन अंतःआंचलिक भाषा के मानदंडों को आत्मसात करें और फिर साहित्यिक मानक को अंगीकार करें।

हिंदी व्यवस्था की संरचनात्मक जटिलता, उसके अवयवों की विविधता, उनके अन्योन्यसंबंधों और कार्यशीलता की विशिष्टता और दो साहित्यिक मानकों की विद्यमानता उस संजातीय-सामाजिक समुदाय के जटिल स्वरूप को प्रतिबिंबित करती हैं, जिसका हिंदुस्तान की आबादी प्रतिनिधित्व करती है।

क़बायली (जनजातीय) भाषाओं के बारे में कुछ टिप्पणियां

भारत में शैक्षिक-वैज्ञानिक और सरकारी हलक़ों में भीली, गोंडी, कुरुख/ओरांव और संताली (संथाली) को "क़बायली भाषाओं" के संवर्ग में रखा जाता है। इस सवाल में उलझे बिना कि भारत में प्रयुक्त रूप में "क़बीला" (आदिवासी, आदिम जाति, जनजाति) शब्द क्या अर्थ रखता है, इन संजातीय समुदायों के आर्थिक तथा सामाजिक पिछड़ेपन को रेखांकित किया जाना आवश्यक है, जो उन्हें ऊपर अब तक विवेचित भाषाओं के बोलनेवालों से अलग करता है। प्रशासनिक नानारूपता की अवस्थाओं में इस पिछड़ेपन ने क़बायली भाषाओं के विकास को रोके रखा है। इस समस्या के एक अध्येता ने इंगित किया है: "यह लक्षित किया जा सकता है कि आर्यभाषाओं के साथ संपर्क में आनेवाली जनजातीय भाषाओं के विघटन के लक्षण पहले ही प्रकट हो चुके हैं" (एन० के० दासगुप्ता, 'जनजाति शिक्षा की समस्याएं और संथाल' [अंग्रेज़ी में], नयी दिल्ली, १९६३, पृ० ७५)।

कई मामलों में क़बायली भाषाएं एक नहीं, अनेक भाषाओं के प्रभाव में हैं। उदाहरण के लिए, महाराष्ट्र में भीली मराठी के प्रभाव के अधीन है, गुजरात में वह गुजराती के, राजस्थान में राजस्थानी बोलियों के और मध्यप्रदेश में हिंदी बोलियों के प्रभाव में आती है। इस कारण भीली ने इन भाषाओं से बहुत से शब्द ग्रहण कर लिये हैं। गोंडों की अवस्थाओं के सर्वेक्षण के परिणामस्वरूप संजातिविज्ञानी इंद्रजीत सिंह इस निष्कर्ष पर

पहुंचे कि मध्यप्रदेश के छत्तीसगढ़ ग्रौर मांडला ज़िलों के कुछ गोंडों द्वारा "उन लोगों की भाषा, वेशभूषा के ढंग ग्रौर पाकविधियों तक को ग्रपना लिया गया था, जो उनके निकटतम ग्रौर बहुसंख्यक पड़ोसी थे। इस प्रकार ये गोंड इन बातों में इसके ग्रनुसार बुंदेलखंडी, छत्तीसगढ़ी, तेलुगू या मराठी थे कि वे इलाक़ों के लिहाज़ से वहां रहते थे, जहां ये भाषाएं ग्रौर संस्कृति ही ग्रभिभावी हैं" (जी० एस० घूर्ये, 'ग्रनुसूचित जनजातियां' [ग्रंग्रेज़ी में], बंबई, १६५६, पृ० २२०)।

बहुभाषाई प्रभाव ग्रलग-थलग रहनेवाली जनजातियों की भाषाग्रों तक में प्रवेश कर जाते हैं। ग्रबूझमड़ियाग्रों (कुल संख्या १२,०००) की, जो गोंडों के ही ग्रंग हैं ग्रौर बस्तर (मध्यप्रदेश) के केंद्र में लगभग ग्रगम्य पहाड़ी इलाक़े में रहते हैं, जीवन-प्रणाली ग्रौर भाषा के एक सर्वेक्षण ने दिखलाया है कि यह क़बीला ग्रपने पड़ोसियों से लगभग पूरी तरह से ग्रलग-थलग है ग्रौर उसके उनके साथ न्यूनतम संपर्क हैं। लेकिन फिर भी "यह उल्लेखनीय है कि ग्रबूझमड़ियाग्रों की बोली में कुछ ग्रपने ही ग्रभिलक्षण हैं ग्रौर वह सिर्फ़ इस इलाक़े तक ही सीमित ग्रौर उसमें स्थानबद्ध है... इन लोगों की भाषा प्रकटतः गोंडी है, जो... कंठ्य उच्चारण से बोली जाती है ग्रौर जिसमें थोड़ी सी हिंदी ग्रौर विशेषकर दक्षिण माड़ में (ग्रर्थात ग्रांध्र के साथ सीमा पर – ले०) तेलुगू शब्दों की मिलावट है" ('बुलेटिन ग्रॉफ़ दि ट्राइबल इन्स्टीट्यूट', छिंदवाड़ा, १६६२, ग्रंक १; १६६२, ग्रंक २; १६६३, ग्रंक २)।

संथालों की भाषा हिंदी, बंगला ग्रौर ग्रोड़िया की बोलियों के प्रभाव के ग्रधीन है। संताली में जो थोड़ी सी पुस्तकें उपलब्ध हैं, वे विभिन्न राज्यों में चार भिन्न लिपियों में छपी थीं – बिहार ग्रौर मध्यप्रदेश में देवनागरी में, पश्चिम बंगाल में बंगला ग्रौर ग्रोड़िसा में ग्रोड़िया में, जब कि ईसाई मिशनरी संताली में धार्मिक पुस्तकें लातीनी लिपि में प्रकाशित करते हैं। कुरुख/ग्रोरांव भाषा के मामले में भी स्थिति ऐसी ही है।

इन भाषाग्रों में लिखित साहित्य भ्रूणावस्था में है। ग्रलावा इसके, ग्रभी इसका समय नहीं ग्राया है कि किसी ऐसी ग्राधारिक बोली को ग्रलग करने की प्रक्रिया की बात की जा सके, जो कालांतर में साहित्यिक भाषा की बुनियाद बन सकती है। उदाहरण के लिए, संताली के मामले में भाषा-विज्ञानी लक्षित करते हैं कि "उत्तरी संताली, जो भागलपुर, मोंघिर, संथाल परगना, बीरभूम, बांकुड़ा, हज़ारीबाग़ (बिहार) ग्रौर मानभूम

(पश्चिम बंगाल) में बोली जाती है, इस जनजाति के भारी बहुलांश की भाषा है और दक्षिणी संताली, अथवा शेष जिलों में बोली जानेवाली बोली अथवा बोलियों के समूह से अधिक परिष्कृत है" (सी० मुकर्जी, 'संताल लोग' [अंग्रेज़ी में], कलकत्ता, १९६२, पृ० ५०); लेकिन यह "अधिक परिष्कृत" बोली भी अभी मानकीकृत भाषा की बुनियाद बनने से बहुत दूर है और अब भी उसकी प्रतिष्ठा बहुत कम है। बोलनेवालों के दृष्टिकोण से बोलियां बराबर हैं। भाषा की प्रतिष्ठा के स्तर की ओर ध्यान दिये बिना बोली में अंतरों को वे सबसे अधिक इस बात का चिह्न मानते हैं कि वे अलग-अलग गोत्रों की हैं। आधारिक बोली का अभाव इन भाषाओं में साहित्य के विकास के लिए बाहर से किये जानेवाले प्रयासों में बाधा डालता है। मध्यप्रदेश में जनजाति कल्याण निदेशालय के अधिकारी गोंडी और संताली में पाठ्यपुस्तकें तैयार करने के काम में लगे हुए हैं। "इन पुस्तकों की तैयारी में बहुत सी कठिनाइयां अनुभव की गयीं, और सबसे कठिन ऐसी भाषा के सामान्य मानदंड को स्थापित करना था, जो भाषा-क्षेत्र के सबसे बड़े हिस्से में प्रचलित हो" ('मध्यप्रदेश की जनजातीय आबादी और जन-जाति क्षेत्रों का एक अध्ययन' [अंग्रेज़ी में], लिथो, इंदौर, १९६६, पृ० ७७)। छोटे जातीय समूहों और जनजातियों की भाषाओं पर परिवेशी भाषा-सातत्य के प्रभाव की एक और भी विशिष्टता उल्लेखनीय है। भिन्न भाषा बोलनेवाले अपने पड़ोसियों के साथ उनके संपर्क मौखिक संसर्ग तक सीमित हैं और सामान्यतया गोंड, संथाल, भील तथा अन्य अपने पड़ोसियों की साहित्यिक भाषा नहीं, बल्कि उनकी परिधीय बोलियों के सहज प्रभाव में आते हैं, जो मानक भाषा से काफ़ी भिन्न होती हैं। मध्यप्रदेश के मांडला ज़िले के गोंडों की भाषा छत्तीसगढ़ी से प्रभावित होती है, जो एक हिंदी बोली है, जब कि वहीं तामिया ज़िले में वह एक और हिंदी बोली बुंदेलखंडी के प्रभावाधीन है (एस० फ़ुत्स, 'पूर्वी मांडला के गोंड और भूमिया' [अंग्रेज़ी में], बंबई, १९६०, पृ० १८–१९; 'बदलती जनजातियां' [अंग्रेज़ी में], इंदौर, १९६१, पृ० ७)। सुनीतिकुमार चटर्जी लक्षित करते हैं कि बिहार के धनबाद ज़िले में, जो बंगला की धुर पश्चिमी बोली और मैथिली की सीमारेखा पर स्थित है, संताली इन बोलियों द्वारा ही, न कि साहित्यिक भाषाओं द्वारा सहज प्रभावित होती है। वह कहते हैं: "संथाल यहां द्विभाषी हैं। घरेलू ज़रूरतों की संकीर्ण सीमाओं के लिए वे अपनी संताली इस्तेमाल करते हैं और घर के बाहर के सारे मामलों में उन्हें बंगला

या बिहारी (मैथिली, मगही) और बाज़ारी हिंदी बोलनी होती है। अपने आसपास के बंगलाभाषी ग्रामीणों की देखादेखी संथाल जो संकर अथवा बोलीरूप बंगला और स्वयं अपनी मातृभाषा संताली बोलता है, दोनों ही को शब्दों और रूपों में, विशेषकर उन शब्दों में, जिन्हें वह आसपास की भाषाओं से अचेतन रूप में ग्रहण करता है, बहुत परिवर्तित होना होता है।" सुनीतिकुमार चटर्जी ने यह लक्षित करते हुए जनजातीय भाषाओं के भविष्य के बारे में यह विचार प्रकट किया था: "...बाहरी दुनिया की भाषा अथवा भाषाओं ने घरेलू भाषा की एकात्मकता और स्वरूप में अप्रतिकार्य घुस-पैठ कर ली है... एक-दो पीढ़ियों में संथाल बेहतर बंगला के पीछे अपनी संकर संताली को पूरी तरह से या लगभग पूरी तरह से भूल जायेगा, जब कि भीतरी भागों की गहराइयों में, जहां संथाल (ऐसी ही स्थिति में स्थित मुंडाओं तथा ओरांवों और अन्यों की ही भांति) बाहरी लोगों के ऐसे घनिष्ठ संपर्क में नहीं हैं, संताली फूलती-फलती रहेगी और उसका अस्तित्व ज़्यादा लंबे समय तक बना रहेगा" ('ट्रिब्यून', अंबाला, ८ मई, १९६६)। डॉ० चटर्जी के विचारों से अन्य विद्वान भी सहमत हैं: "बंगाल के केंद्रस्थल में रहनेवाला संथाल बंगला ख़ासी धाराप्रवाहिता के साथ बोलता है और कुछ, जैसे चिंसुरा (हुगली) में संथालों की छोटी सी बस्ती में रहनेवाले, अपने क़बायली तौर-तरीक़ों और प्रथाओं को भुला देने के ख़तरनाक कगर के बहुत निकट हैं" (सी० मुकर्जी, पूर्वो०, पृ० ५२)।

इस प्रकार, छोटे पिछड़े हुए जातीय समूहों और क़बीलों का प्रशासनिक तथा क्षेत्रीय अलगाव और उसके साथ-साथ दूसरी भाषाएं बोलनेवाले पड़ोसियों से संपर्कों का विकास उनकी संजातीय अनन्यता के विघटन और आधारिक संजातीय क्षेत्र से विच्छिन्न हुए समूहों के क्रमिक समीभवन की तरफ़ ले जाता है। यह प्रक्रिया इन चरणों में चलती है—भाषा-संपर्क—द्विभाषिता—मातृभाषाविलोप—अंततः आसपास की आबादी की भाषा में संक्रमण। पिछड़े हुए जनजातीय समूहों का इस तरह का समीभवन जमशेदपुर, रूड़केला और दुर्गापुर के इलाक़ों में विशेषकर तीव्र है, जहां शक्तिशाली औद्योगिक समुच्चयों का निर्माण हो गया है। अपनी ज़मीनों का मुआवज़ा पाने के बाद ऐसे इलाक़ों के निवासी या तो औद्योगिक नगरों में कुली बन जाते हैं या आसपास के इलाक़ों में बिखर जाते हैं और इस तरह से पुराने सूत्र गंवा देते हैं और अपने अभ्यस्त पर्यावरण से कट जाते हैं

(बी० बी० चटर्जी, 'रूड़केला में दंगे। एक मनोवैज्ञानिक अध्ययन' [अंग्रेज़ी में], नयी दिल्ली, १९६७; ए० आर० देसाई (संपा०), 'भारत में ग्राम समाजविज्ञान' [अंग्रेज़ी में], बंबई, १९६१)। आदिवासी क्षेत्र में निर्मित औद्योगिक केंद्र उनके पारंपरिक नज़रिये को सारतः नहीं बदलते। इन केंद्रों के निवासियों का अत्यधिक भारी बहुलांश दूसरे भाषा केंद्रों से आये प्रवासियों का है, न कि आदिवासियों का, जिनके इलाक़े में वे रहते हैं। गोंड, संथाल, ओरांव और भील शहरी आबादी के विचाराधीन अन्य भाषा-समूहों की अपेक्षा कम प्रतिशत अंश का निर्माण करते हैं। लेकिन साथ ही वे (भीलों को छोड़कर) द्विभाषियों की प्रतिशत संख्या में सबसे ऊपर हैं (सारणी १२)।

सारणी १२

भाषा	दो भाषाएं बोलनेवालों की प्रतिशतता	आधारिक दूसरी भाषा %
गोंडी	४९	हिंदी (४७), मराठी (३०)
ओरांव (कुरुख)	४५	हिंदी (६३)
संताली	३५	बंगला (५४), ओड़िया (२१)
भीली	५	हिंदी (६०), मराठी (२२)

इस प्रकार लगभग हर दूसरा गोंड और ओरांव और हर तीसरा संथाल द्विभाषी है। यहां एक और तथ्य को ध्यान में रखा जाना चाहिए – गोंड, संथाल और ओरांव स्त्रियों में द्विभाषिता की प्रतिशतता पुरुषों की अपेक्षा नगण्य रूप में कम है, जब कि आदिवासी संवर्ग में आनेवाले लगभग सभी अन्य भाषाई समुदायों में द्विभाषी स्त्रियों की प्रतिशतता काफ़ी नीची है। पहाड़ी भाषाओं को तुलना के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है (सारणी १३)।

यह अंतर आदिवासी और पहाड़ी स्त्रियों की भिन्न-भिन्न स्थिति और भूमिका के कारण है। इसके अलावा दोनों ही के परिवर्ती आबादी के साथ संसर्ग का स्वरूप भी बहुत महत्व रखता है। गोंडों, ओरांवों और संथालों

सारणी १३

आदिवासी भाषा	द्विभाषियों की प्रतिशतता	पहाड़ी भाषा	द्विभाषियों की प्रतिशतता
गोंडी	पुरुष ५२ स्त्रियां ४३	गढ़वाली	पुरुष १० स्त्रियां १
ओरांव	पुरुष ४८ स्त्रियां ४२	कुमायूंनी	पुरुष ३३ स्त्रियां ४
संताली	पुरुष ३७ स्त्रियां ३२	पहाड़ी	पुरुष २१ स्त्रियां ६

के मामले में ये संपर्क मूल भाषा पर प्रभाव की मात्रा की दृष्टि से प्रत्यक्षतः अधिक व्यापक, अधिक सर्वतोमुखी और अधिक गहरे हैं। परिवार में दूसरी भाषा का प्रवेश आगे चलकर समीभवन के लिए आधार का निर्माण कर भी चुका होता है।

फलतः आदिवासी अथवा जनजातीय भाषाओं के समेकन और विकास को कितने ही कारक रोकते हैं। इसके बावजूद १९५१ से १९६१ की अवधि में (और इसके बादवाले दशक में भी) भाषा को बोलनेवालों की संख्या में वृद्धि में गोंड और संथाल औसत के नीचे नहीं हैं, जब कि ओरांव और भील तो उसके काफ़ी ऊपर ही हैं। इसके अलावा, जैसे कि सारणी ४ दिखलाती है, ९९% ओरांवों, ९६% संथालों और ९२% गोंडों ने क्रमशः ओरांव, संताली और गोंडी को, न कि उनकी बोलियों को, अपनी मातृभाषा बतलाया था, यद्यपि शोधकर्ताओं के अनुसार इस तरह की बोलियां विद्यमान हैं। अगर आबादी के इन समूहों के भीतर प्रबल आंतरिक संजाति-सामाजिक संबंधों के अस्तित्व को ध्यान में रखा जाये, तो इसे समझा जा सकता है। अगर कोई गोंड, संथाल या भील अपनी भाषा से विलग हो जाता है, अथवा द्विभाषी होने के कारण अपनी मातृ-

भाषा को गौण भूमिका में डाल देता है, तो भी वह अपनी परिवेशी आबादी के नाम को हरगिज़ नहीं ग्रहण करेगा। यह बात उन हालतों में भी सही है, जब हव स्थायी रूप से शहर में रहने लगता है और अपने जातीय समुदाय के साथ उसके संबंध टूट जाते हैं (ए० आर० देसाई, पूर्वो०, पृ० २८४–२८५)। वह अपने को और अपनी भाषा को – वह वास्तव में चाहे जो भी हो – अपने लोगों, अपनी जनजाति अथवा गोत्र या कुल के नाम से ही द्योतित करता है और अपने रीति-रिवाजों का कड़ाई से पालन करता है, ख़ासकर शादी-ब्याह में। जनजाति का आम नाम, जो अक्सर भाषा के नाम से मेल खाता है, पौराणिक रक्त-संबंधों को और किसी एक ही पूर्वज से उद्गम को प्रतिबिंबित करता है। वह अपनी बिरादरी के एक तरफ़ और शेष सभी बिरादरियों के दूसरी तरफ़ होने की स्थिति को द्योतित करता है। संताली का प्रसिद्ध "डिक्कू" (पराया) शब्द तब भी अपने वास्तविक आशय और शत्रुभावी निहितार्थ को बनाये रखता है कि उसका प्रयोग करनेवाला संथाल अधिकतर बंगला ही बोलता हो। भाषाई बंधुता यद्यपि आभासी ही बनती जा रही है, फिर भी उसे बिरादरी के साथ एक आधारिक सूत्र ही माना जाता है।

यद्यपि भीली को आदिवासी भाषाओं में रखा गया है और उसके उनके समान ही अभिलक्षण (शहरी आबादी की निम्न प्रतिशतता और उसके बोलनेवालों का अनेक राज्यों में बिखरे होना) हैं, फिर भी और बातों के लिहाज़ से वह उनसे भिन्न है। पहली बात तो यही कि भीली को इस नाम के अंतर्गत वर्गीकृत सभी भाषा-रूपों के बोलनेवालों में से सिर्फ़ ३१% ने ही अपनी मातृभाषा कहा था। भीली के दूसरे रूपांतर हैं वागडी (३१%), जिसके बोलनेवाले राजस्थान में रहते हैं, और भिलाली (१४%), जिसके बोलनेवाले मध्यप्रदेश में रहते हैं। शेष २४% में ३३ छोटी-छोटी बोलियां आती हैं, जिनके बोलनेवाले राजस्थान, मध्यप्रदेश, गुजरात और महाराष्ट्र में बिखरे हुए हैं। दूसरी बात यह कि यद्यपि भीली के सभी रूपों के बोलनेवालों की संख्या की कुल वृद्धि दस वर्षों में ७०.६% थी, फिर भी जहां तक उसकी मुख्य बोलियों की बात है, वे सर्वथा दूसरा चित्र प्रस्तुत करती हैं। ख़ास भीली के बोलनेवालों की संख्या में ३४% की कमी आयी थी, जब कि भिलाली और वागडी के आंकड़ों में क्रमशः ३२% और ४६% की बढ़ती हुई। ये आंकड़े यह दिखलाते हैं कि "भीली" के सामान्य नाम के अंतर्गत संयुक्त समूहों में से प्रत्येक को अपनी बंधुता की तो चेतना है,

पर भीलों के साथ सामान्य बंधुता की नहीं है। दूसरे शब्दों में, भीलों के समेकन की ओर रुझान का अभाव है, यद्यपि मात्र भाषाई अभिलक्षण के विश्लेषण के आधार पर कोई अंतिम निष्कर्ष संभव नहीं हैं।

अंत में इस बात पर ज़ोर दिया जाना चाहिए कि उन भाषाओं और बोलियों का वर्णन करने का लक्ष्य, जो विवेचित सूचकों के अनुसार औसत से काफ़ी भिन्नता दिखलाती हैं, कोई निर्णायक विश्लेषण प्रस्तुत करना नहीं, बल्कि भाषाई बंधुता के विभिन्न पहलुओं को और उसके समेकन अथवा क्षरण को प्रभावित करनेवाले विविध कारकों को प्रकट करना है।

भारतीय भाषाओं के सामाजिक कृत्य

विचाराधीन भारतीय भाषाओं की तुलना उनके सामाजिक कृत्यों को दर्शानेवाले आंकड़ों के बिना अधूरी ही रहेगी। इन भाषाओं में नियतकालिक पत्र-पत्रिकाओं (प्रेस) का विकास विशेषकर ध्यान खींचता है ('भारत में प्रेस–१९६५', भाग १, नयी दिल्ली, १९६५, पृ० १३–१४, २३–२४; 'भारत में प्रेस–१९७१', भाग १, नयी दिल्ली, १९७१, पृ० १९, २२–२३, ४४, २०५–२०६ [दोनों अंग्रेज़ी में] (सारणी १४)।

सारणी १४ में दी भाषाओं को तीन समूहों में विभाजित किया जा सकता है। पहला, वे भाषाएं, जिनमें प्रेस काफ़ी विकसित हो चुका है–उसमें दैनिक अख़बार निकलते हैं, पत्र-पत्रिकाओं की बिक्री-संख्या ख़ासी प्रभावोत्पादक आंकड़ों तक पहुंच गयी है और विकास की गतिशीलता भावी वृद्धि की काफ़ी संभाव्यता दर्शाती है। दूसरा, कई भाषाओं (डोगरी, कश्मीरी, कोंकणी, मैथिली, नेपाली और संताली) में नियतकालिक प्रेस ने विकसित होना शुरू ही किया है–पत्रकारिता की शैली अभी तक नहीं बन सकी है और पाठकों की संख्या अधिक नहीं है। तीसरा, भाषाओं का यह ऐसा समूह है, जिसमें प्रेस लगभग है ही नहीं–भीली, गोंडी, कुरुख/ओरांव और पहाड़ी भाषाएं।

जहां तक हिंदी बोलियों (अवधी और छत्तीसगढ़ी) और मगही और भोजपुरी में भी नियतकालिक प्रेस की बात है, तो वह अभी उदित होने की अवस्था में ही है। इन भाषा-रूपों में प्रकाशन अनियत रूप से २०० से १,००० प्रतियों में छपते हैं। उनका पाठकों के बहुत ही सीमित समूह में प्रसार है और उनका कोई सामाजिक महत्व नहीं है। उल्लेखनीय है कि

भारतीय एजेंसी इन्फ़ा (इंडियन न्यूज़ एंड फ़ीचर्स एलायंस) द्वारा नियमित रूप से प्रकाशित वार्षिकी, जिसमें "वाणिज्यिक विज्ञापन के लिए महत्वपूर्ण" अख़बारों और पत्रिकाओं की सूची दी जाती है, केवल पटना से मैथिली में प्रकाशित साप्ताहिक 'मिथिला मिहिर' का ही उल्लेख करती है। उसमें दूसरे समूह की दूसरी भाषाओं में और हिंदी बोलियों में प्रकाशनों का कोई उल्लेख नहीं है।

युनेस्को (संयुक्त राष्ट्र शैक्षिक, वैज्ञानिक तथा सांस्कृतिक संगठन) के विशेषज्ञों ने हिसाब लगाया है कि विकासमान देशों में "संचार-अंतर" को पाटने के लिए प्रेस के विकास का एक ऐसा न्यूनतम स्तर होना आवश्यक है कि जो हर १०० व्यक्तियों के लिए अख़बारों की १० प्रतियां सुनिश्चित कर सके। भारत में इस समय प्रति १०० व्यक्तियों के लिए लगभग ५ अख़बार हैं, लेकिन विकास की गति से यह आशा की जा सकती है कि न्यूनतम स्तर कुछ वर्षों के भीतर प्राप्त हो जायेगा। उदाहरण के लिए, १५ वर्षों (१९५६–१९७०) के भीतर पत्र-पत्रिकाओं की संख्या ३,०५० से बढ़कर ११,०३६ हो गयी और बिक्री-संख्या ११३ लाख से बढ़कर २९३ लाख प्रतियां हो गयी, अर्थात लगभग तिगुनी हो गयी। लेकिन यह वृद्धि पहले समूह की भाषाओं में प्रकाशनों (सारणी १४ देखें) और अंग्रेज़ी में प्रकाशनों की बदौलत थी, जिससे इन भाषाओं और शेष भाषाओं के बीच अंतर और बढ़ गया।

पुस्तक प्रकाशन में भी ऐसी ही तसवीर देखने में आती है। निम्नलिखित सारणी (सारणी १५) में कलकत्ता के राष्ट्रीय पुस्तकालय द्वारा प्राप्त पुस्तकों को ध्यान में रखा गया है ('फ़ाइनेंशियल एक्सप्रेस', बंबई, २६ जनवरी, १९६६; 'पैट्रियट', नयी दिल्ली, २२ मार्च, १९७२)। विद्यमान नियमों के अनुसार भारतीय प्रकाशकों को अपने सभी प्रकाशनों की प्रतियां राष्ट्रीय पुस्तकालय को भेजनी होती हैं, इसलिए ये आंकड़े न्यूनाधिक संपूर्ण चित्र प्रस्तुत कर देते हैं। तथापि यह ध्यान में रखा जाना चाहिए कि इस सूची में स्कूलों और कॉलेजों की पाठ्यपुस्तकें शामिल नहीं हैं।

सारणी १५ में न दी गयी कुछ भाषाओं में भी पुस्तकें प्रकाशित होती हैं, लेकिन उनकी संख्या अधिक नहीं है और सामान्यतया वे लोकवार्ता के नमूनों को ही पुनःप्रस्तुत करती हैं। इन भाषाओं की वैज्ञानिक तथा सामाजिक-राजनीतिक शैलियों को अभी विकसित होना है। फलतः, जहां तक

सारणी १४

भाषा और उसकी बोलियां	१९६४			१९७०		
	प्रकाशनों की संख्या		कुल बिक्री	प्रकाशनों की संख्या		कुल बिक्री
	कुल	दैनिक		कुल	दैनिक	
हिंदी	१,७५४	१४९	३९,१७,०००	२,६९४	२१३	५८,५२,०००
अवधी	—	—	—	१	—	हज़ार से कम
छत्तीसगढ़ी	—	—	—	१	—	हज़ार से कम
उर्दू	७७२	६८	१०,९३,०००	८९८	१००	१४,६६,०००
बंगला	५५[illegible]	७	११,६४,०००	७०७	१७	१४,०८,०००
गुजराती	४८२	३४	१२,७५,०००	५७७	५०	१७,५१,०००
मराठी	४३७	४१	१३,५५,०००	६८०	७३	१७,०२,०००
तमिल	४३५	२८	२३,६८,०००	५२१	४७	३०,३५,०००
तेलुगू	२८५	१३	७,६८,०००	३६१	१५	१०,८५,०००
कन्नड़	२६१	३६	५,७५,०००	२४७	३८	७,०९,०००

मलयालम	२५२	३५	१४,६८,०००	४३२	५३	२१,६१,०००
पंजाबी	१९३	१७	२,६५,०००	२३६	१४	३,७१,०००
डोगरी	–	–	–	३	–	१,०००
ओड़िया	७०	४	१,४१,०००	१०३	५	२,२६,०००
असमिया	२९	१	१,२४,०००	३८	३	१,०७,०००
सिंधी	६१	४	१,०४,९३६	७२	४	१,२०,०००
कोंकणी	१६	*	३०,०४७	१८	*	२५,०००
बिहारी	–	–	–	–	–	–
मैथिली	५	–	५ हज़ार से कम	७	–	७,०००
भोजपुरी	३	–	५ हज़ार से कम	३	–	१,०००
मगही	१	–	५ हज़ार से कम	–	–	–
राजस्थानी	२	–	५ हज़ार से कम	७	–	२,०००
हाड़ौती	–	–	–	१	–	*
कश्मीरी	–	–	–	३	–	१,०००
नेपाली	१०	*	८,०२१	८	*	२,०००
संताली	४	–	६,२२६	४	–	७,०००

* आंकड़े अप्राप्य

सारणी १५

भाषा	प्रकाशनों की संख्या	
	१९६१–१९६५	१९६६–१९६९
बंगला	१७,९४२	५,४९७
हिंदी	११,७६८	१२,३६७
माराठी	५,९०३	६,४३८
गुजराती	३,८६६	४,०७१
तमिल	३,८०१	३,१८९
तेलुगू	३,३४१	२,८८६
मलयालम	२,५०२	२,६४१
कन्नड़	२,१२०	२,०६३
पंजाबी	२,०४६	१,२८१
उर्दू	१,३९१	१,५२०
ओड़िया	१,३९०	१,३५५
असमिया	८६०	८१७
कश्मीरी	५	१७
सिंधी	आंकड़े अप्राप्य	७५

प्रकाशनों की मात्रा और कोटि का संबंध है, भाषाओं का पहला समूह अन्यों से सर्वथा भिन्न है और यह अंतर बढ़ता ही जा रहा है। औपनिवेशिक काल में और भारत द्वारा स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद भी अंग्रेज़ी के प्रभुत्व के कारण अधिक विकसित भाषाओं में उपरोक्त शैलियां अब भी निर्मित हो ही रही हैं। उल्लेखनीय है कि भारतीय राष्ट्रीय पुस्तक न्यास (नैशनल बुक ट्रस्ट) द्वारा आयोजित हिंदी पुस्तकों की एक प्रदर्शनी में प्रदर्शित कुल ४,००० शीर्षकों में से १,५५० कथासाहित्य और साहित्य-आलोचना के थे, ६०० पुस्तकें बच्चों की थीं, ५०० ऐतिहासिक पुस्तकें और जीवनियां थीं, २०० अन्य मानविकी विषयों की थीं और सिर्फ़ १५०, अर्थात ३% से कुछ ही अधिक, विज्ञान और प्रौद्योगिकी की थीं ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', दिल्ली, २४ जुलाई, १९६६)।

भारतीय सिने उद्योग के बारे में आंकड़ों से भी भाषाओं के इन्हीं तीन समूहों में विभाजन की पुष्टि होती है। नीचे भारतीय भाषाओं में विभिन्न अवधियों में निर्मित रूपक चित्रों की संख्या दी गयी है ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', २३ दिसंबर, १९६८; 'हिंदुस्तान टाइम्स', नयी दिल्ली, २० अगस्त, १२ अक्तूबर, १९७६) (सारणी १६)।

सारणी १६

भाषा	फ़िल्मों की संख्या		
	१९४७–१९६४	१९६७	१९७५–१९७६
हिंदी/उर्दू	२,११४	८५	११८
तमिल	७९२	६५	७२
बंगला	७७९	२५	३७
तेलुगू	५५१	६१	८५
मराठी	२६८	३२	१७
कन्नड़	१७२	२४	४०
मलयालम	१३१	३९	७७
गुजराती	१०६	३	१७
पंजाबी	४६	५	५
ओड़िया	२९	१	४
असमिया	२८	१	७
भोजपुरी	१०	१	–
राजस्थानी	७	१	–
सिंधी	४	१	–
कोंकणी	२	१	२
नेपाली	१	–	–

जैसा कि सारणी १६ से पता चलता है, स्वातंत्र्योत्तर काल में आधारिक भारतीय भाषाओं में फ़िल्मनिर्माण तेज़ी से विकसित होता रहा है। सिनेमा देश के दूरतम छोरों में भी पहुंच गया है—अशिक्षित जनसाधारण के लिए यह दुनिया के लिए खुले झरोखे की तरह है। राज्य सरकारें आबादी

पर उसके प्रभाव के कारण इस जनसंपर्क माध्यम की ओर विशेष ध्यान देती हैं। अनेक राज्यों की सरकारें फ़िल्मनिर्माताओं को विभिन्न सुविधाएं और प्रेरक प्रदान करती हैं और सर्वोत्तम फ़िल्मों के लिए वार्षिक पुरस्कार दिये जाते हैं। असम, कर्णाटक और ओड़िसा में सरकारी फ़िल्म स्टूडियो स्थापित किये गये हैं। बंबई, मद्रास और कलकत्ता में पारंपरिक फ़िल्म-निर्माण केंद्रों के अलावा मैसूर, कोइंबतूर, त्रिवेंद्रम, अलेप्पी, हैदराबाद, भुवनेश्वर, आदि में भी फ़िल्म स्टूडियो बन गये हैं। राज्यों की सरकारों की नीति और फ़िल्म वितरकों के हित, दोनों ही आधारिक भारतीय भाषाओं में फ़िल्मनिर्माण को प्रोत्साहित करते हैं, क्योंकि इन भाषाओं में फ़िल्में ही व्यापकतम दर्शक और इस प्रकार अधिकतम प्रतिफल सुनिश्चित करती हैं। सत्तर के दशक में हिंदी बोलियों और राजस्थानी, सिंधी तथा नेपाली में भी कोई फ़िल्में नहीं बनायी गयी थीं। वृत्तचित्र और शैक्षिक फ़िल्में बनाने के आदेश देनेवाले सरकारी संगठन उन्हें कुछ मुख्य बोलियों में कमेंटरी के साथ जारी करने की कोशिश करते हैं। इसके पीछे दो लक्ष्य हैं: पहला – फ़िल्म के संदेश (उदाहरण के लिए, गेहूं की खेती की नयी विधियों के बारे में) को अनपढ़ किसानों तक पहुंचाना और दूसरा – किसी मुख्य बोली पर आधारित विशेष रूप से चुने हुए भाषा-रूपों की सहायता से और साहित्यिक भाषा के बुनियादी भंडार से सरलतम वाक्यांशों और शब्दों का उपयोग करते हुए अपढ़ दर्शकों को मानक भाषा को समझने के निकट लाना। यह उन तरीक़ों में से एक है, जिनसे ग्रामीण स्थानिक भाषा से किसी "आंचलिक मानक" अथवा प्रमुख बोली के ज़रिये साहित्यिक भाषा में संक्रमण किया जा सकता है।

स्वतंत्र भारत में रेडियो की भूमिका में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। १९४७ में ऑल इंडिया रेडियो के छः केंद्र और दस ट्रांसमिटर थे, जब कि १९७२ में उसके पास ४२ केंद्र, २० सहायक केंद्र और १३७ ट्रांसमिटर थे। १९५८ और १९७२ के बीच भारत में लोगों के अपने रेडियो सेटों की संख्या १५ लाख से बढ़कर १२० लाख हो गयी। ऑल इंडिया रेडियो (आकाशवाणी) की घरेलू सेवा २० भाषाओं और ५० बोलियों में प्रसारण करती है, लेकिन प्रसारण समय उनके बीच समान रूप से नहीं विभाजित है ('रेडियो तथा टेलीविज़न। प्रसारण तथा सूचना-माध्यमों के बारे में नियुक्त समिति की रिपोर्ट' [अंग्रेज़ी में], नयी दिल्ली, १९६६, पृ० २४–२५, ६७; जी० एस० अवस्थी, 'भारत में प्रसारण' [अंग्रेज़ी में], बंबई, १९६५, पृ०

११९)। संसद में एक प्रश्न का उत्तर देते हुए सूचना तथा प्रसारण मंत्री ने बतलाया था कि मासिक औसत प्रसारण समय हिंदी में ३४९ घंटे १७ मिनट, अंग्रेज़ी में ९५ घंटे ३१ मिनट, पंजाबी में ३३ घंटे ४५ मिनट और अन्य सभी भाषाओं के लिए ७१ घंटे ५५ मिनट था। इन आंकड़ों में स्थानीय केंद्रों के प्रसारण भी शामिल हैं ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', ७ दिसंबर, १९६६)। प्रत्यक्ष है कि प्रसारण समय का अधिकांश विकसित भाषाओं के ही हिस्से में आता है। इन भाषाओं में प्रसारण अनेक प्रकार के विषयों के बारे में होते हैं और काफ़ी हद तक श्रोताओं के विभिन्न समूहों के लिए विशेषकर उद्दिष्ट होते हैं। बोलियों का प्रयोग मुख्यतः देहाती कार्यक्रमों में किया जाता है, जो कुल प्रसारण समय का ७.२% लेते हैं ('रेडियो तथा टेलीविज़न... समिति की रिपोर्ट', पृ० २६)।

जहां तक डोगरी, कोंकणी, मणिपुरी, मैथिली, लद्दाख़ी, आदि में प्रसारणों की बात है, वे संबद्ध भाषा-क्षेत्रों में स्थित स्थानीय रेडियो केंद्रों में तैयार किये जाते हैं। ये रेडियो केंद्र लेखकों की टोलियों को संकेंद्रित करने के स्थल हैं, जो रेडियो कार्यक्रमों की तैयारी के माध्यम से भाषा को मानक रूप देने, सामाजिक-राजनीतिक शब्दावली का निरूपण करने और लोकवार्ता तथा जन-संस्कृति का प्रसार करने का प्रयत्न करते हैं। ऑल इंडिया रेडियो के इस तरह के कार्यक्रमों के प्रसारण साहित्य के विकास में योग देते हैं।

विवेचित सामग्री के आधार पर उन भारतीय भाषाओं को, जिनके बोलनेवालों की संख्या दस लाख से अधिक है तीन समूहों में विभाजित किया जा सकता है।* पहले समूह में स्थापित व्यवस्थाओंवाली जातीय भाषाओं – असमिया, ओड़िया, कन्नड़, गुजराती, तमिल, तेलुगू, पंजाबी, बंगला, मलयालम, मराठी और हिंदी – को शामिल किया जाना चाहिए। दूसरा समूह उन भाषाओं का होना चाहिए, जिनकी व्यवस्थाएं निर्माण की प्रक्रिया में हैं, अर्थात कश्मीरी, कोंकणी, डोगरी, मैथिली और राजस्थानी। तीसरे समूह में, जिसमें भाषा-व्यवस्थाओं के निर्माण के लक्षण देखने में नहीं आते हैं, कुरुख/ओरांव, गोंडी, पहाड़ी भाषा-रूपों, भीली, भोजपुरी और संताली को लिया जा सकता है।

---

*हमारी राय में सिंधी और नेपाली को इन समूहों में शामिल नहीं किया जाना चाहिए, क्योंकि उनके उपयोग-क्षेत्र भारत के बाहर स्थित हैं।

8*

इस तरह का विभाजन, निस्संदेह, यादृच्छिक है। प्रत्येक समूह में भाषाओं को सबसे पहले विकास के स्तर, सामाजिक कृत्यों के विस्तार और संबद्ध क्षेत्र में भाषाई स्थिति के स्वरूप के अनुसार विभेदित किया जाता है। उदाहरण के लिए, मैथिली और कोंकणी पहले समूह के अधिक निकट हैं, जब कि संताली को, कुछ प्रतिबंधों के साथ, दूसरे समूह में रखा जा सकता है। फलतः समूहों के बीच सीमारेखाएं अनम्य और अंतिम नहीं हैं। फिर भी, अपने यादृच्छिक स्वरूप के बावजूद, इस तरह के विभाजन में भाषा-समूहों का अधिक व्यवस्थित विश्लेषण किया जा सकता है, जो प्रत्येक समूह के भीतर सामान्य अभिलक्षणों को प्रकट करता है और इसी प्रकार अलग-अलग भाषाओं के उसी समूह में रखे अन्य भाषा-रूपों से अंतरों को भी दर्शाता है। इस तरह का विभाजन, उदाहरण के लिए, भारत में भाषा संबंधी विधान का विश्लेषण करने में उपयोगी सिद्ध होता है।

संसद द्वारा १९६३ और १९६७ में किये गये संशोधनों के साथ भारत का संविधान देश की राजभाषाओं का और राज्यों की राजभाषाएं स्वीकार करने के नियमों का निर्धारण करता है और उसमें किसी राज्य की आबादी के कुछ हिस्से द्वारा बोली जानेवाली भाषा के बारे में विशेष प्रावधान हैं। विभिन्न स्तरों की अदालतों के काम में प्रयुक्त भाषाओं के बारे में प्रावधानों को विस्तार के साथ निरूपित किया गया है।

इनमें से कुछ सवाल अंतःजातीय संसर्ग की भाषा की जटिल समस्या के साथ जुड़े हुए हैं, जिन पर इस पुस्तक में विचार नहीं किया गया है। हमारी दिलचस्पी संविधान की आठवीं अनुसूची में उल्लिखित भाषाओं में है, जिन्हें उसमें "भारत की भाषाएं" कहा गया है। उनमें से अधिकांश भारत की सबसे बड़ी और सबसे विकसित जातियों की भाषाएं हैं और उन्हें हमने, जहां तक उनके सामाजिक-भाषागत पहलुओं का संबंध है, पहले समूह में शामिल किया है। संसद में अंग्रेज़ी को संविधान की आठवीं अनुसूची में शामिल किये जाने के बारे में प्रस्ताव* पर बोलते हुए प्रधान मंत्री जवाहरलाल नेहरू ने कहा था: "हमारे संविधान के निर्माताओं ने यह निर्धारित करते हुए बड़ी सूझ का परिचय दिया था कि सभी तेरह-चौदह भाषाओं (उस समय सिंधी आठवीं अनुसूची में शामिल नहीं थी – ले०) को राष्ट्रभाषाएं माना जाना चाहिए" ('जवाहरलाल नेहरू के

*यह प्रस्ताव संसद द्वारा पारित नहीं किया गया था।

भाषण, १९५७-१९६३' [अंग्रेज़ी में], खंड ४, पृ० ५३, ६५)। राष्ट्र-भाषाओं की यह परिभाषा भारतीय राजनीतिक हलक़ों में व्यापक रूप से, यद्यपि सार्विक रूप से नहीं, फैली हुई थी। आठवीं अनुसूची में उल्लिखित भाषाओं को "प्रादेशिक" भाषाएं भी कहा जाता है, क्योंकि उनमें से अधिकांश साथ ही राज्यों की भाषाएं भी हैं। लेकिन इस अनुसूची में संस्कृत भी शामिल है, जिसे भारत में साहित्यिक, सांस्कृतिक और धार्मिक परंपराओं का कोषगार और कुछ भारतीय भाषाओं के लिए नयी शब्दावली का स्रोत भी माना जाता है। आठवीं अनुसूची में उपरोद्धृत सिंधी और कश्मीरी भाषाएं भी है, जिनमें कश्मीरी की विधिक स्थिति बड़ी विलक्षण है–भारत के संविधान में कश्मीरी भारत की एक राष्ट्रभाषा है, जब कि राज्य के संविधान* में उसे राज्य की राजभाषा की नहीं, जो उर्दू है, बल्कि डोगरी, बल्ती, दरद, पहाड़ी, पंजाबी और लद्दाख़ी के समकक्ष एक प्रादेशिक भाषा की भूमिका प्रदान की गयी है ('जम्मू-कश्मीर का संविधान' [अंग्रेज़ी में], जम्मू, पृ० ११२)। कुछ कश्मीरी साहित्यकारों ने कश्मीरी को राज्य की एक राजभाषा के रूप में मान्यता दिये जाने की मांग की थी ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', २९ जून, १९६७), मगर कश्मीरी की स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आया है।

किसी भाषा का संविधान की आठवीं अनुसूची में शामिल किया जाना मात्र प्रतिष्ठा की ही बात नहीं है। इससे भाषा के विकास की संभाव्यता काफ़ी बढ़ जाती है और उसके कार्यक्षेत्र का प्रसार हो जाता है। संघ-सेवाओं के लिए प्रवेश परीक्षाओं में केवल आठवीं अनुसूची में उल्लिखित भाषाओं का ही प्रयोग किया जा सकता है। इससे उन्हें बोलनेवालों को अच्छे वेतनवाली नौकरियां पाने में सहायता मिलती है। भारत सरकार ने आठवीं अनुसूची में उल्लिखित भाषाओं के विकास को समन्वित करने के लिए एक विशेष समिति की स्थापना की है (हिंदी और संस्कृत को छोड़कर, जो विशेष परिषदों के क्षेत्राधिकार में आती हैं)। वार्षिक बजटों और पंचवर्षीय योजनाओं में इन भाषाओं के विकास के लिए ख़ासी बड़ी रक़में विनियुक्त की जाती हैं। प्रेस, प्रकाशन व्यवसाय, सिने उद्योग और रेडियो प्रसारण की समस्याओं पर विचार करते समय सबसे ज्यादा ध्यान

---

*भारत के राज्यों में जम्मू-कश्मीर के अलावा और किसी का अलग संविधान नहीं है।

इन भाषाओं में प्रकाशनों, फ़िल्मों और रेडियो प्रसारणों की ओर दिया जाता है। आठवीं अनुसूची में उल्लिखित भाषाओं में सर्वोत्तम बालोपयोगी पुस्तकों, साक्षरता अभियान के लिए शिक्षा-साधनों और पाठ्यपुस्तकों तथा साहित्यिक कृतियों पर नियमित रूप से पुरस्कार प्रदान किये जाते हैं। भाषाओं की इस सूची का राजनीतिक महत्व भी है। भारत के संविधान के अनुच्छेद ३४४ के अनुसार राष्ट्रपति द्वारा आठवीं अनुसूची में उल्लिखित भाषाओं की समस्याओं पर विचार करने के लिए विशेष आयोगों की नियुक्ति की जाती है। दूसरे शब्दों में, इन भाषाओं को अन्य भाषाओं की तुलना में प्रकट विशेषाधिकार प्राप्त हैं।

बिलकुल इसी प्रकार किसी राज्य की राजभाषा की विधिक स्थापना का मतलब प्रशासनिक, वित्तीय तथा अन्य समर्थन है। साहित्य अकादमी द्वारा किसी भाषा को स्वतंत्र साहित्यिक भाषा के रूप में मान्यता प्रदान किये जाने से उस भाषा के साहित्यकारों के लिए साहित्य अकादमी पुरस्कार और एक लाख रुपये के ज्ञानपीठ पुरस्कार के वास्ते अपनी कृतियां पेश करना संभव हो जाता है। साहित्य अकादमी अपने द्वारा मान्यताप्राप्त भाषाओं में लिखित रचनाओं को और तरीक़ों से भी प्रोत्साहन प्रदान करती है।

तथाकथित आदिवासी भाषाएं एक अलग ही समूह का निर्माण करती हैं। राष्ट्रपति के अध्यादेश द्वारा जनजातियों की सूची में सम्मिलित किये जानेवाले संजातीय समुदायों के प्रतिनिधियों को राजकीय सेवाओं और उच्च शिक्षा प्रतिष्ठानों में प्रवेश पाने और संसद तथा विधानमंडलों और अन्य निर्वाचित संस्थाओं के चुनावों में विशेष सुविधाएं प्राप्त होती हैं, जो संविधान में उल्लिखित हैं। लेकिन इसके लिए इन भाषाओं को राज्य सरकारों द्वारा "मान्यता" प्रदान किया जाना आवश्यक है कि सरकारी अभिकरण इन भाषाओं में पाठ्यपुस्तकें तैयार करना और उन्हें प्राथमिक शिक्षा व्यवस्था में और विशेष क्षेत्रों के सरकारी कामकाज में प्रचलित करना शुरू कर सकें। उदाहरण के लिए, असम की जनजातीय भाषाओं की सूची में ३५ भाषाएं हैं, लेकिन राज्य सरकार "सरकारी पत्रव्यवहार के लिए" सिर्फ़ चार – ख़ासी, गारो, मीज़ो और मिकिर (मिकू) – को ही "मान्यता देती है"। ओड़िसा में ६२ जनजातियां और २५ आदिवासी भाषाएं हैं, जिसमें से १२ को उन परीक्षाओं की भाषाओं के रूप में "मान्यता" प्रदान कर दी गयी है, जिनमें उत्तीर्ण होने से राज्य कर्मचारियों को पुरस्कार प्राप्त होते हैं ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', २७ जून, १९६६)। केंद्रीय सरकार के अभिकरणों द्वारा भी

ऐसा ही रवैया अपनाया जाता है। १९६६ में आधुनिक भारतीय भाषाओं के विकास का संवर्धन करनेवाले सार्वजनिक संगठनों को आर्थिक सहायता देने के लिए राशियां विनियुक्त करने के बारे में एक निर्णय लिया गया था। "आधुनिक भारतीय भाषाओं" में हिंदी और संस्कृत के सिवाय उपरोद्धृत अनुसूची में वर्णित सभी भाषाएं और "आदिवासी भाषाओं" सहित अन्य "मान्यताप्राप्त" भाषाएं आती हैं। फलतः किसी भाषा को "मान्यता न देने" का अर्थ उसे सरकारी समर्थन न देना है। इस तरह की भाषाओं के विकास और प्रसार का दायित्व पूरी तरह से उसके समर्थकों पर ही होता है, जो अपने कार्यकलाप में निजी स्रोतों से आर्थिक सहायता पर निर्भर करते हैं।

समकालीन भारत में किसी भाषा की विधिक हैसियत किसी हद तक संसर्ग-संचार के विभिन्न क्षेत्रों में उसके उपयोग की मात्रा को प्रतिबिंबित करती है, लेकिन लगभग किसी भी सूरत में वह उसके कार्य करने की वास्तविक अवस्थाओं के अनुरूप नहीं होती (सारणी १७)।

भारत में भाषाई समस्याओं का विधिक नियमन किसी हद तक विरोधात्मक है। एक ओर, भाषाई विधिनिर्माण का आधार जनतांत्रिक है और समानता के सिद्धांत पर बल देता है। भारत के संविधान के अनुच्छेद २९ में यह प्रावधान है कि नागरिकों के किसी भी अंशक को,.. जिसकी अपनी विशिष्ट भाषा, लिपि अथवा संस्कृति है, उसका संरक्षण करने का अधिकार होगा। अनुच्छेद २९ के खंड २ और अनुच्छेद ३० द्वारा शैक्षिक प्रतिष्ठानों में भाषाई आधार पर विभेद को निषिद्ध किया गया है। अनुच्छेद ३५० में कहा गया है कि प्रत्येक व्यक्ति को किसी भी शिकायत के निवारण के लिए संघ अथवा राज्य के किसी भी अधिकारी अथवा प्राधिकरण को संघ में अथवा राज्य में—जैसी भी सूरत हो—प्रयुक्त किसी भी भाषा में अभिवेदन देने का अधिकार होगा।

दूसरी ओर, विभिन्न भाषाओं को भिन्न-भिन्न दरजे का दिया जाना वास्तव में कुछ भाषाओं के लिए विशेषाधिकारों के होने और अन्यों के लिए उनके अभाव को द्योतित करता है और अंतोक्त की असमान स्थिति अनिवार्यतः विवाद की तरफ़ ले जाती है। बुर्जुआ-जनतांत्रिक दृष्टिकोण पर आधारित कोई भी भाषा संबंधी विधान अनिवार्यतः भाषाओं की वास्तविक असमानता को ही स्थापित करता है और उस पर पार पाने में सहायक

सारणी १७

भाषा	आठवीं अनुसूची में गणना	साहित्य अकादमी की मान्यता	राज्य (संघ-राज्यक्षेत्र) की राजभाषा	अन्य टिप्पणियां
हिंदी	है	है	बिहार, मध्य-प्रदेश, उत्तरप्रदेश, हरियाणा, राजस्थान, दिल्ली, हिमाचलप्रदेश	भारत की राजभाषा
उर्दू	है	है	जम्मू-कश्मीर	आंध्रप्रदेश की एक प्रादेशिक भाषा, तेलंगाना में अदालती भाषा (ज़िला वारंगल को छोड़कर)
बंगला	है	है	पश्चिम बंगाल, त्रिपुरा	कछार ज़िले की राजभाषा (असम)
असमिया	है	है	असम	
ओड़िया	है	है	ओड़िसा	
गुजराती	है	है	गुजरात	
मराठी	है	है	महाराष्ट्र	
तमिल	है	है	तमिलनाडू	
तेलुगू	है	है	आंध्रप्रदेश	
कन्नड़	है	है	कर्णाटक	
मलायलम	है	है	केरल	
पंजाबी	है	है	पंजाब	जम्मू-कश्मीर में प्रादेशिक भाषा
कश्मीरी	है	है	—	जम्मू-कश्मीर में प्रादेशिक भाषा

सारणी १७ (शेहांश)

भाषा	आठवीं अनुसूची में गणना	साहित्य अकादमी की मान्यता	राज्य (संघ-राज्यक्षेत्र) की राजभाषा	अन्य टिप्पणियां
सिंधी	है	है	–	
मैथिली	नहीं	है	–	
भोजपुरी	नहीं	है	–	
मगही	नहीं	है	–	
कोंकणी	नहीं	है	गोवा	
नेपाली	नहीं	नहीं	–	ज़िला दार्जिलिंग की दूसरी राजभाषा
पहाड़ी भाषाएं	नहीं	नहीं	–	
राजस्थानी	नहीं	नहीं	–	
भीली	नहीं	नहीं	–	"आदिवासी भाषा"
गोंडी	नहीं	नहीं	–	"आदिवासी भाषा"
कुरुख/ओरांव	नहीं	नहीं	–	"आदिवासी भाषा"
संताली	नहीं	नहीं	–	"आदिवासी भाषा"

टिप्पणी : साहित्य अकादमी ने डोगरी को स्वतंत्र साहित्यिक भाषा मान लिया है। साहित्य अकादमी के तत्कालीन अध्यक्ष डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी ने कहा था कि १९७२ से अकादमी राजस्थानी और मणिपुरी में कृतियों के लिए पुरस्कार प्रदान करेगी, यद्यपि इन भाषाओं को मान्यता नहीं दी गयी थी।

नहीं होता। सांविधानिक समस्या-विशेषज्ञ धीरेंद्रनाथ सेन ने इस प्रसंग में लिखा है: "किसी भी और देश में, जहां एक से अधिक भाषाएं बोली

जाती हैं और उनकी विकसित रूपप्रक्रिया, शैली तथा अभिव्यक्तियां हैं और विशाल भाषा-समूहों द्वारा संजोयी जाती हैं, ऐसे समूहों के न्यायसंगत दावों की इस प्रकार पूर्णतः और निष्ठुरतापूर्वक उपेक्षा अथवा अवहेलना नहीं की गयी है कि जैसे भारत में की गयी है" (धीरेंद्रनाथ सेन, 'राज से स्वराज तक' [अंग्रेज़ी में], कलकत्ता, १९५४, पृ० ३३७)।

किसी भी भाषा-विवाद के आरंभ होने की क्रियाविधि इस प्रकार है। जातीय आत्मचेतना के बढ़ने के साथ-साथ अपनी भाषा के लिए गर्व, भाषाई बंधुता और भाषा की प्रतिष्ठा की भावना भी बढ़ती जाती है। जातीय समुदाय के भीतर सबसे सक्रिय समूह अथवा एक पूरा का पूरा सामाजिक हिस्सा अपनी भाषा की समानता और उसके विकास की इष्टतम अवस्थाओं के लिए संघर्ष शुरू करने को आगे आ जाता है। इतिहास दिखलाता है कि भाषाओं के किसी समूह के लिए विशेषाधिकारों की विधिक स्थापना के बाद भाषा-नीति में ज़बरदस्ती और विभेद से बचना असंभव हो जाता है और यह देश भर में नकारात्मक प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है और भाषाई संबंधों को उल्लेखनीय रूप से विषम बनाता है।

भाषाई विवाद सामान्यतया प्रचंड आवेशों को जन्म देते हैं और उन्हें चरम पर पहुंचा देते हैं। इस बात को समझना आसान है, क्योंकि लोगों में अपनी मातृभाषा की चेतना धीरे-धीरे मज़बूत हो रही है और जनव्यापी स्वरूप ग्रहण करती जा रही है। उल्लेखनीय है कि भाषाई विवादों की बुद्धिजीवियों और छात्रों में अधिकतम अनुक्रिया होती है, क्योंकि भाषा उनके काम और अध्ययन में और उनके सार्वजनिक तथा राजनीतिक जीवन में प्रधान भूमिका अदा करती है। आबादी के ये शिक्षित अंशक भाषा के क्षेत्र में ज़बरदस्ती और विभेद की विशेषकर तीव्र अनुक्रिया करते हैं। इस प्रसंग में दक्षिण भारत में १९६५ में हिंदी को राजभाषा घोषित किये जाने के विरुद्ध आंदोलन के समय जनव्यापी दंगों का उल्लेख करना समीचीन होगा।

समकालीन भारत में जातीय, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, जात-पांतीय और दूसरे हित अनिवार्य रूप से भाषाई विवादों के साथ उलझकर द्वंद्व स्थितियों को विशेषकर संगीन बना देते हैं।

कुछ निष्कर्ष

भारत में भाषाई विवाद अत्यधिक विविध रूप ग्रहण करते हैं। यह रूप अस्वीकार्य भाषा में नामपटों और सड़कों के नामों को पोतकर मिटा देने के अपेक्षाकृत अहानिकर आंदोलन का हो सकता है, जिसे लेनिन ने टुच्ची, गंवारू, तिरस्करणीय जातीय तकरार की संज्ञा दी थी। लेकिन कभी-कभी ये विवाद जनव्यापी कार्रवाइयों का रूप ले लेते हैं, जिनके परिणाम विनाशक होते हैं। इस बात का अवश्य उल्लेख किया जाना चाहिए कि ऐसा एक भी राज्य अथवा संघ-राज्यक्षेत्र नहीं है, जहां इस तरह के विवाद किसी न किसी रूप में पिछले बीस वर्षों के भीतर न पैदा हुए हों।

भारत में स्थिति हमेशा से ही ऐसी नहीं रहती आयी है। पुरालेखागारों में १८९४ में भारत की भाषाओं और बोलियों का पहला सर्वेक्षण करनेवाले अधिकारियों और विद्वानों की रोचक टीकाएं संरक्षित हैं। "बहुत से इलाक़ों में वहां बोली जानेवाली भाषाओं और बोलियों का अभी तक कोई नाम न था। सर्वेक्षण दल द्वारा यह पूछे जाने पर कि वे जिस ज़बान को बोलते हैं, उसका नाम क्या है, लोग कहते थे: 'अरे, उसका कोई नाम नहीं है। बस यह सही ज़बान है।' पचास मील दूर बोली जानेवाली ज़बान को वे कोई नाम देते थे और इस तरह से इकट्ठा किये गये बोलियों के ज़्यादातर नाम वे नहीं हैं, जो उनके बोलनेवालों ने दिये थे, बल्कि उनके पड़ोसियों के दिये हुए नाम हैं" (रामगोपाल, 'भारत के भाषाई मामले' [अंग्रेज़ी में], बंबई, १९६६, पृ० १६–१७)।

उसके बाद गुज़रे अस्सी वर्षों में जातीय जीवन के जागरण और विकास के परिणामस्वरूप (लेनिन के अर्थों में) स्थिति आमूलतः बदल गयी है। भारत के बहुत से इलाक़ों में भाषाई बंधुता की चेतना ऐसे स्तर पर पहुंच गयी है कि भाषा के अधिकारों का कोई भी अतिक्रमण तुरंत तूफ़ानी प्रतिक्रिया पैदा करता है। ऊपर दिखलाया जा चुका है कि २४ मुख्य भारतीय भाषाओं में से २० के बोलनेवालों के ९०% से अधिक साहित्यिक मानक को अपनी मातृभाषा कहते हैं, यद्यपि उनमें से बहुत से बोलियों का प्रयोग करते हैं। बोलीविज्ञान के दृष्टिकोण से यह एक आत्मपरक तथ्य है, क्योंकि बोलीगत अंतर वस्तुतः हैं, लेकिन सामाजिक मनोविज्ञान के दृष्टिकोण से यह एक वस्तुपरक तथ्य है, क्योंकि यहां हमारा साबिक़ा दिये हुए संजातीय समुदाय में वस्तुतः विद्यमान रवैये से है, जो उसके "आचरण" को प्रेरित

करता और कुछेक चरणों में निर्धारित करता है। ग्राम भाषा को सिर्फ़ उदासीनता से ही, अर्थात संसर्ग-संचार के साधन के रूप में ही नहीं समझा जाता है। भाषा से लगाव भावात्मक रंगत ले लेता है। भाषा की सामान्य सृष्टि और सामान्य उपलब्धि के रूप में भावात्मक चेतना जातीय आत्मचेतना का आवश्यक तत्व और जातीय समेकन में एक महत्वपूर्ण कारक है। इसी सूरत में भाषाई बंधुता जाति का एक लक्षण बन जाती है।

इसके अलावा भाषाई बंधुता की भावात्मक चेतना ज़बरदस्ती के ख़िलाफ़ प्रतिक्रिया का स्रोत है। यह भाषाओं की असमानता से जनित भाषा-विवाद की पूर्वापेक्षा है। जनव्यापी भावना के रूप में भाषाई बंधुता की चेतना सिर्फ़ जातीय समुदाय के भीतर ही नहीं निदेशित होती है। ब० फ़० पोर्शनेव लिखते हैं: "भावना सदा किसी चीज़ की ओर ही नहीं, बल्कि कहीं अधिक किसी चीज़ के विरुद्ध निदेशित होती है। दूसरे शब्दों में, इस तरह की बंधुता (संजातीय – ले०) 'वे', 'उन्हें' या 'उनके' संवर्ग के ज़रिये अत्यंत नग्न रूप में निर्मित होती है" (ब० फ़० पोर्शनेव, 'सामाजिक मनोविज्ञान और इतिहास' [रूसी में], मास्को, १९६६, पृ० ८९)। फलतः भाषाई बंधुता की चेतना दुहरा कार्य करती है – वह जातीय समुदाय को भीतर से ऐक्यबद्ध करती है – "हम" और साथ ही यह उसे अन्य समुदायों के मुक़ाबले पर रखती है – "वे"। "यह स्वयं अपने समुदाय को दूसरे समुदाय के मुक़ाबले पर रखना ही है कि जिसने स्वयं अपने संजातीय अंतरों के प्रकट होने और निश्चित सुदृढ़ीकरण में और इस प्रकार समुदाय के सुदृढ़ होने में हमेशा योग दिया है" (पूर्वो०, पृ० ९५)। इस प्रतिमुखता की प्रभाविता को हमने संथालों के उदाहरण में देखा था, जो "डिक्कू" (ग़ैर, पराया) की संकल्पना की सहायता से अन्य सभी बंधुताओं को स्वयं अपनी बंधुता से विभेदित करते हैं। मणिपुरी लोग "मयंग" (ग़ैर, पराये) शब्द का व्यापक उपयोग करते हैं। राष्ट्रवादी भावना रखनेवाले तमिल लोग अपने आपको "उत्तरवालों" की प्रतिमुखता में देखते हैं।

भाषाई बंधुता के आधार पर उत्पन्न "हम – वे" प्रतिमुखता भाषाई विवाद और राष्ट्रवादी भावनाओं को जन्म दे सकती है। जैसा कि हम देख चुके हैं, ऐसा तब होता है कि जब भाषाओं की विधिक अथवा वास्तविक असमानता का अस्तित्व होता है। यही कारण है कि जातीय समस्या के बारे में अपनी कृतियों में लेनिन ने सभी जातियों और भाषाओं की पूर्ण

समानता के सिद्धांत का निरंतर समर्थन किया है। उन्होंने लिखा है: "जो कोई भी जातियों और भाषाओं की समानता को नहीं मानता और उसका समर्थन नहीं करता और सब तरह के जातीय उत्पीड़न अथवा असमानता के विरुद्ध संघर्ष नहीं करता, वह मार्क्सवादी तो क्या, जनतंत्रवादी भी नहीं है" (व्ला० इ० लेनिन, 'जातियों के प्रश्न पर आलोचनात्मक टीकाएं', १९१३)। मार्क्सवादी जातीय कार्यक्रम की आधारभूत पूर्वपीठिका लेनिन की यह स्थापना है – किसी भी जाति या किसी भी भाषा के लिए कोई विशेषाधिकार नहीं। इसे स्पष्ट करते हुए लेनिन ने लिखा है: "उदार लोग प्रतिक्रियावादियों से इस बात में भिन्न हैं कि वे कम से कम **प्राथमिक** शालाओं में मातृभाषा में शिक्षा पाने के अधिकार को मानते हैं। लेकिन वे प्रतिक्रियावादियों के साथ इस बात में बिलकुल एकमत हैं कि एक अनिवार्य राजभाषा आवश्यक है... हम लोग सिर्फ़ एक चीज़ नहीं चाहते – **ज़बरदस्ती** का तत्व। हम लोगों का डंडे से बहिश्त में हांका जाना नहीं चाहते, क्योंकि 'संस्कृति' के बारे में आप चाहे कितनी भी बढ़िया-बढ़िया बातें क्यों न कहें, **अनिवार्य** राजभाषा में ज़बरदस्ती, डंडे का प्रयोग सन्निहित है" (व्ला० इ० लेनिन, 'क्या अनिवार्य राजभाषा आवश्यक है?', १९१४)। जातीय प्रश्न के बारे में मार्क्सवादी कार्यक्रम को निरूपित करते हुए लेनिन फिर ज़ोर देते हैं: "यही कारण है कि रूसी मार्क्सवादी कहते हैं कि यह आवश्यक है कि आबादी को सभी स्थानीय भाषाओं में शिक्षण प्रदान करनेवाले विद्यालय मुहैया किये जाने और संविधान में किसी भी एक जाति के किन्हीं भी विशेषाधिकारों और जातीय अल्पसंख्यकों के अधिकारों के किन्हीं भी उल्लंघनों को अमान्य घोषित करनेवाले बुनियादी क़ानून के शामिल किये जाने के साथ-साथ कोई अनिवार्य राजभाषा न हो" (पूर्वो०)।

यह एकदम प्रत्यक्ष है कि हर ही जातीय बंधुता को जाति का लक्षण अथवा उसके निर्माण में एक कारक नहीं कहा जा सकता। जातिपूर्व कालों के संजातीय समुदायों की भी सामान्य भाषा रही है। जैसे कि ऊपर कहा गया है, जातीय बंधुता किसी जाति का अभिलक्षण और उसके निर्माण में कारक तब बनती है, जब जातीय समुदाय के सदस्य उसे ऐसा अनुभव करते हैं, जब एक जातीय भाषा-व्यवस्था रूप ले लेती है, जिसमें अगुआ भूमिका साहित्यिक मानक की होती है, जो धीरे-धीरे सामाजिक कृत्यों के एक बड़े परिमाण को अपनी परिधि में लेनेवाला संसर्ग का सार्विक साधन बन जाता है, और जब सामान्य भाषा जातीय समेकन के अन्य कारकों,

अर्थात प्रादेशिक तथा आर्थिक एकता के साथ घनिष्ठ अंतःक्रिया करती है। संजातीय समुदाय के जातीय समुदाय में विकास के कुछेक चरणों में भाषा जातीय जीवन के जागरण में और जातीय आंदोलन में निर्णायक कारक हो सकती है, ताकि आगे चलकर जातीम प्रक्रिया में अनेक कारकों में से एक कारक बन जाये।

इस प्रकार, आधुनिक भारत में सामाजिक विकास की जटिल प्रक्रिया के अभिलक्षक अन्य सभी कारकों में से सिर्फ़ भाषाई कारक का अत्यधिक विस्तृत विश्लेषण भी इस देश में जातीय संबंधों का संपूर्ण चित्र नहीं प्रदान करता। इसके लिए जाति के विभिन्न लक्षणों की अंतःक्रिया की क्रियाविधि का अन्वेषण करना ज़रूरी है।

अध्याय २

प्रादेशिक एकता और भाषा

भाषा को सदा देश के अनुरूप होना चाहिए। उसे उसके मुखड़े, उसके सौंदर्य और उसके स्वरूप को वैसे ही दिखलाना चाहिए कि जैसे सांझ के झुटपुटे में हृदयस्पंदन को जन्म देनेवाली प्यारी सी नदी पर छाये कुहासे में समाता टीला दिखलाता है।

क० ग० पाउस्तोव्स्की

जाति के लक्षण के रूप में प्रादेशिक एकता

किसी जाति के जीवन में भूभाग अथवा प्रदेश की भूमिका को अलग-अलग नज़रियों से देखा जा सकता है। प्रदेश सर्वोपरि किसी नियत संजातीय समुदाय के अधिवास का भौगोलिक क्षेत्र होता है, जिसकी अपनी सीमाएं, अपनी भू-आकृति और अपनी आबोहवा होती है। प्राकृतिक अवस्थाएं इस समुदाय के कुछेक लक्षणों को निर्धारित करनेवाला एक महत्वपूर्ण कारक होती हैं, क्योंकि पहरावे, आवास, आदि का प्रकार जलवायु पर ही निर्भर करता है। संबद्ध प्रदेश में रहती आयी पीढ़ियां उस क्षेत्र के लिए लाक्षणिक नैसर्गिक अवस्थाओं से प्रभावित होती रहती हैं। जीवनावस्थाओं की एक-रूपता एक जातीय समुदाय के सदस्यों के लिए जातीय समेकन में सहायक होती है, तो उनकी विभिन्नता उसमें बाधा डालती है। मैदानी इलाक़ों में रहनेवालों को पहाड़ियों के मुक़ाबले खड़े किये जाने की, या तटवर्ती पट्टी की आबादी को भीतरी प्रदेश के रहनेवालों के मुक़ाबले खड़े किये जाने की मिसालें ज्ञात हैं, यद्यपि दोनों एक ही भाषा अथवा एक ही भाषा की बोलियां बोलनेवाले थे।

जातीय समूह के आवासन के प्रदेश और आर्थिक जीवन के बीच भी निश्चित निर्भरता होती है। उपजाऊ ज़मीन, सिंचाई के स्रोतों, खनिज

अथवा शक्ति साधनों, आदि की सुलभता अथवा अभाव अर्थव्यवस्था के स्वरूप के साथ जुड़े होते हैं। आवास प्रदेश वहां रहनेवाली आबादी के विभिन्न समूहों के बीच पैदा होनेवाले आर्थिक तथा अन्य संबंधों का भौतिक आधार होता है। इस प्रकार के संबंधों का उदय और विकास सामान्य प्रदेश के बिना असंभव है।

प्रादेशिक अथवा भूभागीय एकता के इस प्रकार के अभिलक्षणों को देशिक अथवा स्थानिक कहा जा सकता है। संजातीय और जातीय प्रक्रियाओं के क्रम के विश्लेषण के लिए वे बहुत महत्वपूर्ण हैं, लेकिन वे इस विवेचन का विषय नहीं हैं। हमें प्रादेशिक एकता की संकल्पना का एक और आयाम – कालिक अथवा कालगत आयाम – में अध्ययन करना होगा।

किसी संजातीय समुदाय का किसी प्रदेश विशेष में दीर्घकालिक ऐतिहासिक अवधि के दौरान आवासन होता है, जिसके बिना उसका अस्तित्व अकल्पनीय है।* किंतु प्रादेशिक एकता विकास के एक निश्चित चरण में ही जातीय समेकन का कारक और जाति का लक्षण बनती है। इसके लिए ज़रूरी शर्त यह है कि लोग समस्त संजातीय प्रदेश को मातृभूमि या जन्मभूमि, अपने पिताओं और पूर्वजों की भूमि मानें। सामान्य भाषा, सामान्य आर्थिक जीवन, सामान्य संस्कृति और सामान्य इतिहास के साथ-साथ यह रवैया जातीय आत्मचेतना का निर्माण करनेवाली सबसे आवश्यक कड़ी बनता जा रहा है।

प्रादेशिक एकता की जाति-निर्माण की प्रक्रिया में उदित होनेवाली अभिज्ञा का हमवतनों, हमबिरादरों अथवा सहग्रामीणों जैसे छोटे-छोटे प्रादेशिक समुदायों के नज़रियों से विभेद किया जाना चाहिए, जो "संकीर्ण स्थानीय संबंधों और तद्जनित संकीर्ण स्थानीय दृष्टिकोण" के कभी बाहर नहीं निकल पाते (फ़्रेडरिक एंगेल्स, 'जर्मनी में किसान युद्ध', १८४९)। इसी प्रकार सामान्य संजातीय प्रदेश सामंती जागीरों अथवा रजवाड़ों जैसी प्राक्-जातीय राज्य विरचनाओं से भिन्न है, जो सामंती सामाजिक समूहों में ऐसी ही हितों की एकता और वफ़ादारी की भावना पैदा करती थीं। जातीय समेकन की प्रक्रिया ऐसी एकता के विरोध में आती है और अंततः उसे भंग कर देती है।

---

*बंजारे (जिप्सी) अथवा ख़ानाबदोश जैसे बिखरे हुए समुदायों के अपवाद इस सामान्य सिद्धांत का खंडन नहीं करते।

किसी जाति के निर्माण की अवधि में प्रादेशिक एकता आर्थिक, सांस्कृतिक, भाषाई, राजनीतिक और कभी-कभी सांप्रदायिक संबंधों के, जो उस जातीय समुदाय के आवास के समस्त क्षेत्र पर व्याप्त होते हैं, विकास के साथ जुड़ी होती है। अपनी प्रकृति से यह प्रक्रिया पुराने प्रादेशिक संबंधों का प्रत्यक्ष सातत्य और विकास नहीं होती। इसके विपरीत यह उन्हें भंग और रूपांतरित ही करती है। उनके स्थान पर नये संबंध उदित हो जाते हैं, जो समय के साथ जातीय क्षेत्र को समेकित करते हैं, जातीय विभेदन और जातीय राज्यों के सर्जन की ओर उन्मुख प्रवृत्ति उत्पन्न करते हैं। इस प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति सामान्य भाषा और एकल संजातीय प्रदेश के बीच घनिष्ठ संबंध में होती है। ज्ञात है कि जातीय विभेदन मुख्यतः बोली जानेवाली भाषा के अनुसार होता है। यह तथ्य मामले में सारतः कोई अंतर नहीं लाता कि भाषा-सीमा हमेशा ही जातीय अथवा राजकीय सीमाओं के साथ मेल नहीं खाती है। यह असंगति संजातीय प्रक्रियाओं की अपूर्णता, कुछ इलाक़ों में भाषाई सीमाओं की अनिश्चितता और ऐसी संक्रामी अथवा अंतर्वर्ती बोलियों के अस्तित्व के कारण उत्पन्न होती है, संबद्ध भाषा के साथ जिसके संबंध का ज्ञान की वर्तमान मंज़िल में निर्धारण करना कठिन अथवा असंभव होता है।

लगभग हर ही संजातीय समुदाय के आवास क्षेत्र की सीमाएं उसके युगों के अस्तित्व के दौरान सामूहिक देशांतरणों, विजयों, दैवी आपदाओं, राज्यों के उदय और राजकीय सीमांतों के बदले जाने के परिणामस्वरूप बदली हैं। फ़्रेडरिक एंगेल्स ने लिखा है: "यूरोप में ऐसा एक भी देश नहीं है, जहां एक सरकार के शासन के अंतर्गत विभिन्न जातीय समूह न हों। अपनी जातीयता की दृष्टि से पर्वतीय स्कॉटलैंड के कैल्ट और वैल्श निस्संदेह अंग्रेज़ों से भिन्न हैं, लेकिन बहुत पहले विलुप्त हुए जनों के इन अवशेषों को कोई उसी तरह जाति नहीं कहेगा, जिस तरह से फ़्रांस में ब्रितानी के कैल्ट निवासियों को भी नहीं कहेगा। इसके अलावा कोई भी राजकीय सीमांत किसी जातीय समूह की नैसर्गिक सीमाओं के साथ, अर्थात भाषा की सीमाओं के साथ मेल नहीं खाता... यूरोप पिछले सहस्राब्द में जिस जटिल और मंथर ऐतिहासिक विकास के दौर से गुज़रा है, उसका नैसर्गिक परिणाम यह है कि लगभग हर ही बड़ी जाति को अपनी काया के कुछ परिधीय खंडों से जुदा होना पड़ा है, जो उसके जातीय जीवन से विच्छिन्न होने के बाद किसी अन्य जन के जातीय जीवन में खींच लिये

गये हैं और अब अपने धड़ के साथ फिर से जुड़ना नहीं चाहते" (फ़े० एंगेल्स, 'मज़दूर वर्ग का पोलैंड से क्या वास्ता है?', १८६६)। एंगेल्स का यह निष्कर्ष भारत पर भी पूरी तरह से लागू हो सकता है। इस तथ्य की ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए कि एंगेल्स ने भाषा-सीमा को जातीय समूह की नैसर्गिक सीमा कहा है।

अगर जाति को निरंतर विकास की अवस्था में समुदाय के रूप में देखा जाये, तो भाषाई सीमाओं की कुछ गतिशीलता के नैसर्गिक और वस्तुपरक स्वरूप को स्वीकार करना होगा। जातीय समेकन के क्रम में सभी जातीय अभिलक्षण अधिकाधिक सार्विक होते जाते हैं। विशेषकर किसी जातीय भाषा-व्यवस्था के तत्वों की सापेक्ष स्थिति में परिवर्तन, अर्थात परिधीय क्षेत्रों में साहित्यिक भाषा का प्रसार, जातीय तथा भाषाई सीमांकन में कुछ निश्चितता ले आते हैं, यद्यपि इसके लिए लंबा समय आवश्यक हो सकता है। इस प्रकार, जातीय तथा भाषाई सीमांकन के मार्ग में उत्पन्न होनेवाली कठिनाइयों को विकास की एक ख़ास अवस्था समझा जाता है और वे उन दोनों पड़ोसी जातियों के समेकन के स्तर को प्रतिबिंबित करती हैं, जिनके बीच होकर सीमा गुज़रती है। यद्यपि जातीय सीमांकन मुख्यत: भाषा के आधार पर होता है, तथापि इस प्रक्रिया को आर्थिक तथा सांस्कृतिक संबंधों, ऐतिहासिक परंपरा और राजनीतिक लिहाज़ जैसे कारक और संबद्ध संजातीय समुदाय के प्रदेश में संजातीय प्रक्रियाओं का स्वरूप भी प्रभावित करते हैं। फलत: किसी जातीय क्षेत्र के राजनीतिक तथा प्रशासनिक संगठन में भाषा और संजातीय प्रदेश के बीच कड़ी ने इष्टतम अवस्थाओं के अंतर्गत भी अपने को लगभग कभी भी पूर्णत: शुद्ध रूप में नहीं व्यक्त किया है।

भारतीय जनगण का औपनिवेशिक काल में प्रादेशिक सीमांकन

भारत में जातीय आंदोलनों का सारा इतिहास भाषा और संजातीय प्रदेश के बीच संबंध के होने का परिचायक है। इन आंदोलनों का लक्ष्य **भाषावार प्रांतों** (बाद में राज्यों) का निर्माण, अर्थात एक ही भाषाभाषी आबादी के इलाक़ों का एकीकरण करवाना था। भारतीय जनगण के जातीय जागरण और जातीय प्रदेशों के प्रशासनिक गठन के प्रयासों का समारंभ

उस समय हुआ था, जब भारत ब्रिटिश उपनिवेश ही था। जैसे कि ज्ञात है, ब्रिटिश औपनिवेशिक अधिकारियों ने भारत को दो असमान भागों में विभाजित किया था – अंग्रेज़ों के प्रत्यक्ष शासनाधीन ब्रिटिश भारत और "देशी" भारत, जिसमें कोई ६०० रियासतें थीं और जो देश के ४०% भूक्षेत्र पर फैला हुआ था और देश की एक-तिहाई आबादी को अपनी परिधि में लिये हुए था।

आरंभ में ब्रिटिश भारत तीन प्रेसीडेंसियों – बंगाल, बंबई और मद्रास – में विभाजित था। बंगाल प्रेसीडेंसी में बंगाल के अलावा बिहार और ओड़िसा (उड़ीसा) भी शामिल थे। बाद में उसमें असम (आसाम) और पश्चिम के इलाक़े और जुड़ गये, जिन्हें १८३६ में उत्तर-पश्चिम प्रांत में बदल दिया गया और १६०२ में संयुक्त प्रांत आगरा व अवध का रूप दे दिया गया। १८६१ में मध्य प्रांत का निर्माण किया गया। दिल्ली शहर सहित दिल्ली इलाक़े को, जो पहले उत्तर-पश्चिमी प्रांत में था, १८५८ में पंजाब में मिला दिया गया। १६०१ में उत्तर-पश्चिमी सीमांत क्षेत्र को पंजाब से अलग कर दिया गया और १६३५ में उसे उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रांत में बदल दिया गया। १६१२ में ब्रिटिश भारत की राजधानी को कलकत्ता से दिल्ली अंतरित कर दिया गया। दिल्ली नगर और उसके आसपास के इलाक़ों को पंजाब से अलग कर दिया गया और लेफ़्टीनेंट-गवर्नर के प्रत्यक्ष शासनाधीन कर दिया गया।

बंबई और मद्रास प्रेसीडेंसियों के सीमांत अपेक्षाकृत स्थिर रहे, मगर बंगाल प्रेसीडेंसी के सीमांतों का कितनी ही बार पुनर्गठन हुआ। १६०५ में उसे दो प्रांतों में विभक्त कर दिया गया। एक भाग में बंगाल का पश्चिमी भाग, बिहार और ओड़िसा और दूसरे में पूर्वी बंगाल और असम शामिल थे। १६१२ में बंगालियों के जातीय आंदोलन के दबाव के आगे झुककर औपनिवेशिक अधिकारियों को बंगाल का पुनरेकीकरण करने को मजबूर होना पड़ा। असम, बिहार और ओड़िसा और छोटा नागपुर को भी अलग प्रांत बना दिया गया। अंग्रेज़ों द्वारा अंतिम बड़ा पुनर्गठन १६३५ में किया गया था, जब सिंध को बंबई प्रेसीडेंसी से अलग करके एक अलग प्रांत बना दिया गया और बिहार तथा ओड़िसा को दो प्रांतों में पृथक कर दिया गया।

प्रशासनिक सीमांतों की स्थापना और उनमें परिवर्तन करने में अंग्रेज़ भारतीय आबादी का निर्माण करनेवाली विभिन्न जातियों और भाषाओं की

तरफ़ कोई ध्यान नहीं देते थे। अकसर कई जातीय क्षेत्रों को एक प्रशासनिक इकाई की सीमाओं के भीतर संयुक्त कर दिया जाता था, तो दूसरी तरफ़, कई जातीय क्षेत्र अलग-अलग प्रांतों और देशी रियासतों की सीमाओं से बंटे हुए थे। उदाहरण के लिए, मराठीभाषी इलाक़े बंबई प्रेसीडेंसी, मध्य प्रांत, रियासत हैदराबाद और अनेक दखनी रियासतों में बंटे हुए थे। आंध्र लोग मद्रास प्रेसीडेंसी और हैदराबाद रियासत के बीच, मलयाली मद्रास प्रेसीडेंसी और त्रावणकोर (तिरुवांकुर) तथा कोचीन रियासतों के बीच, ओड़िया जन मद्रास और बंगाल प्रेसीडेंसियों, मध्य प्रांत और २४ रियासतों में विभाजित थे। वास्तव में औपनिवेशिक भारत में एक भी जाति या जातीय समूह ऐसा नहीं था कि जिसके आवास की सीमाएं प्रशासनिक इकाइयों के सीमांतों के साथ मेल खाती हों।

जातीय अनैक्य में सामंती रजवाड़े एक विशेष भूमिका अदा करते थे। ब्रिटिश औपनिवेशिक अधिकारी, जिनका स्थानीय रजवाड़ों पर पूर्ण राजनीतिक नियंत्रण था, उनके ब्रिटिश भारत के पड़ोसी क्षेत्रों से अधिकतम अलगाव को जान-बूझकर प्रोत्साहित करते थे। भारत में सामाजिक-आर्थिक दृष्टि से सबसे पिछड़े इन देशी राज्यों को पड़ोसी इलाक़ों में प्रगतिशील धाराओं से, जातीय जागरण और जातीय समेकन की प्रक्रियाओं से वियुक्त करके रखा जाता था।

अनुसूचित जनजातियों और अनुसूचित क़बीलों के नाम से ज्ञात छोटे जातीय समूहों के प्रति भी औपनिवेशिक अधिकारी बिलकुल ऐसी ही नीति का अनुसरण करते थे। १८८० में "सीमांत प्रदेश विनियमों" के प्रचलन ने जनजातियों द्वारा आवासित पर्वतीय क्षेत्रों को असम के अधिक विकसित मैदानी इलाक़ों से वियोजित कर दिया। अगला क़दम ब्रिटिश-भारतीय क़ानूनों के क्षेत्राधिकार के बाहर और ब्रिटिश अधिकारियों के प्रत्यक्ष नियंत्रणाधीन "संवृत" तथा "अंशतः संवृत" क्षेत्रों का स्थापित किया जाना था। सारतः ये इलाक़े आरक्षित क्षेत्र थे, जिनके भीतर सिर्फ़ ईसाई मिशनरियों, सूदख़ोर महाजनों, व्यापारियों और बाग़ानों के लिए अधग़ुलाम श्रमबल मुहैया करनेवाले ठेकेदारों का ही बोलबाला था।

१९३९ में अंग्रेज़ संजातिविज्ञानी वैरियर एल्विन ने अपने 'बैगा' शीर्षक विनिबंध में, जिसमें इसी नाम की जनजाति का विवरण दिया गया था, जनजातियों के लिए एक तथाकथित "जातीय पार्क" (निषिद्ध क्षेत्र) स्थापित किये जाने का विचार सामने रखा, जिसे आसपास के इलाक़ों

से पूरी तरह से कटा हुआ होना था। एल्विन का लक्ष्य जनजातियों के दैनंदिन जीवन और संस्कृति को दीर्घ काल के लिए अपनी मौलिक अवस्था में संरक्षित रखना था, ताकि उन्हें संजातिविज्ञानियों के लिए अनुसंधान का व्यापक क्षेत्र बनाया जा सके (जी० एस० घूर्ये, 'अनुसूचित जनजातियां' [अंग्रेज़ी में], बंबई, १९५९, पृ० १४४–१४५)। औपनिवेशिक अधिकारी इस तरह के विचारों को प्रोत्साहित करते थे, क्योंकि वे जनजातियों को पृथक रखने की नीति के लिए एक तरह के वैज्ञानिक आधार का काम देते थे। यह भी अवश्य उल्लिखित किया जाना चाहिए कि कुछ जनजातियों के मामले में, जिन्होंने अपनी ख़ानाबदोश जीवन-प्रणाली को बनाये रखा था (बावरिया, भाटू, सांसी, आदि, जिनकी कुल संख्या ४० लाख के लगभग थी), ब्रिटिश अधिकारी आरक्षित क्षेत्र स्थापित करने की हद के भी आगे चले गये थे। इन जनजातियों को सीधे-सीधे "अपराधजीवी जनजातियां" या "जरायमपेशा क़ौमें" घोषित कर दिया गया। विशेष विभेद-मूलक क़ानूनों को लागू करके "निर्धनता और प्रतिकूल परिस्थितियों के इन शिकारों" को भारतीय समाज की परिधि के बाहर कर दिया गया (बी० एस० भार्गव, 'अपराधजीवी जनजातियां – उत्तर भारत में मुख्य जनजातियों और वर्णों का सामाजिक-आर्थिक अध्ययन' [अंग्रेज़ी में], लखनऊ, १९४९, पृ० १२०)।

भारत के प्रशासनिक संगठन के क्षेत्र में औपनिवेशिक अधिकारियों के सारे क़दम जातीय प्रदेशों को विच्छिन्न करने की ओर लक्षित थे। ब्रिटिश प्रशासकों ने भारत में रहनेवाली जातियों और जातीय समूहों के समेकन की प्रक्रिया में भाषा और संजातीय प्रदेश की भूमिका के बारे में अपने को किसी मुग़ालते में नहीं रखा था। १९१८ की मांटेग्यू-चेम्सफ़ोर्ड रिपोर्ट में कहा गया था: "हम इसमें संदेह नहीं कर सकते कि प्रशासनिक इकाइयां अगर ज्यादा छोटी और अधिक समांग भी हों, तो सरकारी कामकाज ज्यादा सरल हो जायेगा... शासन की भाषावार अथवा प्रजातीय इकाइयों के पक्ष में एक सशक्त तर्क यह भी है कि विधिनिर्माण का कामकाज देशी भाषा में करना संभव बनाने से सार्वजनिक मामलों के क्षेत्र में ऐसे लोगों को लाने में सहायता मिलेगी, जो अंग्रेज़ी से अवगत नहीं हैं" (रामगोपाल, पूर्वो०, पृ० ६५–६६)। साइमन आयोग ने भी ऐसा ही मत प्रकट किया था। तथापि भारत में प्रशासन व्यवस्था के पुनर्गठन में ब्रिटिश अधिकारी इन बातों से कभी निर्देशित नहीं हुए। उदाहरण के लिए, अपने सुझावों में साइमन आयोग

ब्रिटिश भारत और देशी राज्यों के तथाकथित संघ के विचार के आगे नहीं गया, जिसके मूल में एक निश्चित लक्ष्य था और वह था भारत के राजनीतिक जीवन में राजाओं के प्रभाव को बढ़ाना और राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन को कमज़ोर करना।

कतिपय भारतीय विद्वानों की कृतियों में यह विचार व्यक्त किया गया है कि अपने औपनिवेशिक शासनकाल में अंग्रेज़ों ने भारत की एकता की "स्थापना" की। उदाहरण के लिए, एम० एन० श्रीनिवास दावा करते हैं कि भारत को अंग्रेज़ों ने पहले-पहल एकल राजनीतिक सत्ता बनाया, जो अपने साथ आधुनिक प्रौद्योगिकी, ज्ञान और प्रशासनिक कौशल लेकर आये ('सेमिनार', नयी दिल्ली, अंक ६०, १९६७)। यह संभव है कि इस तरह का नज़रिया समकालीन भारत में तनावपूर्ण जातीय संबंधों और अतीत के गर्त में समाये साम्राज्य के काल के आदर्शीकरण से उत्पन्न होता हो। लेकिन औपनिवेशिक भारत की एकता सिर्फ़ इतनी ही स्थिर थी कि जितनी मातृदेश की सत्ता और अपनी बारी में इस सत्ता की स्थिरता इस पर निर्भर करती थी कि अंग्रेज़ भारत को किस तरह से आंतरिक रूप में विभाजित रख सकते थे। वास्तव में इसी तरह से "बांटो और राज करो" की नीति अस्तित्व में आयी।

अंग्रेज़ राजनीतिज्ञ और औपनिवेशिक अधिकारी नहीं मानते थे कि भारत की एकता संभव है। डब्ल्यू० के० फ़्रेज़र-टाइटलर ने, जो भारतीय औपनिवेशिक प्रशासन में ३० साल रह चुके थे, लिखा है: "हमें अनिवार्यतः इस निष्कर्ष पर पहुंचना पड़ता है कि भारत में कोई ऐसी चीज़ अंतर्भूत है, जो इस उपमहाद्वीप के विराट मैदानों में पीढ़ियों तक निवास करनेवाली जातियों और नसलों पर विघटनकारी प्रभाव डालती है... हम भारतीय समाज के बारे में कह सकते हैं कि उसमें वह संसक्ति नहीं है, जिससे बाहरी प्रभाव का प्रतिरोध किया जा सके और वास्तव में वह विघटन की अवस्था में है, अथवा अगर उसे विदेशी प्रभुत्व के इस्पाती ढांचे ने एक साथ न रखा होता, तो वह विघटन की अवस्था में होता" (डब्ल्यू० के० फ़्रेज़र-टाइटलर, 'अफ़ग़ानिस्तान: मध्य तथा दक्षिण एशिया में राजनीतिक विकासक्रम का अध्ययन' [अंग्रेज़ी में], लंदन, १९६२, पृ० २८८, २९३)। एक दूसरे प्रशासनाधिकारी ने, ऐलन कार्टहिल के उपनाम से लिखते हुए, ऐसा ही विचार व्यक्त किया है। उन्होंने १९२४ में लिखा था: "अगर साम्राज्य विघटित भी हो जाता है, तो मैं एक ब्रिटिश प्रजाजन के नाम

से कुछ सवाल पूछूंगा। पहला, क्या इसकी कोई प्रत्याभूति है कि ब्रिटिश शासन के विलुप्त हो जाने के बाद भारत एक ही शासन के अधीन एक ही राज्य बना रहेगा?.. बाहर से सशक्त निरोधनकारी आधिपत्य के अभाव में भारत के नाम से विज्ञात कृत्रिम राजनीतिक सत्ता का अस्तित्व शेष हो जायेगा" (ए० कार्टहिल, 'साम्राज्य का विलोप–अंग्रेज़ों ने भारत को क्यों खोया' [रूसी में], लेनिनग्राद, १९२५, पृ० १३०–१३१)।

ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने भारत को अपने औपनिवेशिक साम्राज्य की सीमाओं के भीतर ज़बरदस्ती एकीकृत करके उसे आंतरिक रूप से इतनी गहराई और चतुरता के साथ विभाजित और विखंडित कर दिया कि जैसे इस उपमहाद्वीप के इतिहास में और कोई ताक़त नहीं कर सकी थी।

औपनिवेशिक भारत का प्रशासनिक विभाजन और उसकी अर्थव्यवस्था का मातृदेश के हितों के अधीनीकरण जातीय विकास के सामान्य क्रम, राष्ट्रीय मंडियों के निर्माण और जातीय विशिष्टीकरण में बाधक हुआ। जातीय सीमांकन और जातीय समेकन के विकास को कृत्रिम रूप से निरुद्ध करते हुए अंग्रेज जातीय अंतरों को "घनीभूत" कर रहे थे। इस प्रकार, भारत में आज विद्यमान तनावपूर्ण जातीय संबंध काफ़ी हद तक देश में ब्रिटिश शासनकाल के दौरान आबादी द्वारा जातीय भावनाओं के "संचय" और उत्पन्न अंतर्विरोधों का परिणाम हैं।

औपनिवेशिक भारत में जातीय आंदोलनों का उदय

उन्नीसवीं सदी के अंत तक पूंजीवादी संबंधों के क्रमिक सुदृढ़ीकरण के साथ-साथ भारत में जातीय जीवन के जागरण के लक्षण प्रकट होने लगे। प्रारंभ में उसने बहुजातीय प्रांतों में निर्माणाधीन जातियों के ऊपरी संस्तरों में विभिन्न जातीय समूहों के बीच प्रशासनिक पदों के वितरण और विभिन्न जातीय प्रदेशों के बीच आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए धन के बंटवारे के बारे में विरोधों और कलहों का रूप लिया।

इस तरह के वैमनस्य का एक लाक्षणिक उदाहरण अंग्रेज़ों द्वारा बंगाल प्रेसीडेंसी में एकीकृत बंगालियों, असमियों और ओड़ियाओं के संबंधों में देखा जा सकता है। असम में बंगालियों और बंगला भाषा की भूमिका का

असमी राष्ट्रवादियों द्वारा यह मूल्यांकन लाक्षणिक है। पी० डी० गोस्वामी के शब्दों में: "शांति की सिर्फ़ १८२६ में जाकर ही अंग्रेज़ों के देश में (असम में—ले०) आगमन के साथ पुनःस्थापना हो पायी। लेकिन लगभग इसी समय लोगों के ऊपर एक और विपदा आ पड़ी। यह विपदा १८३६ में अदालतों और स्कूलों पर बंगला भाषा का थोपा जाना था। बंगला कोई पैंतीस साल राजभाषा बनी रही और असमिया को इस अवधि में बहुत क्षति उठानी पड़ी" (वी० के० नरसिंहन, ए० जी० वेंकटाचारी, वी० के० एन० चारी [संपा०], 'भारत की भाषाएं: एक बहुरूपदर्शी सर्वेक्षण' [अंग्रेज़ी में], मद्रास, १९५८, पृ० १८)। इस मत से दूसरे लेखकों ने भी सहमति प्रकट की है (बी० के० बरुआ, 'असमी साहित्य' [रूसी में], मास्को, १९६८, पृ० ५०–५१; डॉ० नगेंद्र [संपा०], 'भारतीय साहित्य' [अंग्रेज़ी में], आगरा, १९५९, पृ० ४४१–४४२)। व्यापारियों और ज़मींदारों तथा अन्य उच्च वर्णों से आनेवाले असमी बुद्धिजीवी न संख्या में अधिक थे और न उनका प्रभाव ही कोई बहुत अधिक था, किंतु असमिया को मान्यता दिलवाने के बारे में वे दृढ़ाग्रही थे। इन मांगों के आगे बंगाल प्रेसीडेंसी के अधिकारियों ने १८५३ में न्यायमूर्ति मिल्स को असम में भाषाई स्थिति का सर्वेक्षण करने के लिए नियुक्त किया। मि० मिल्स ने असमिया को मान्यता दिये जाने के पक्ष में निर्णय लिया और सत्तर के दशक के आरंभ में उसे मान्यता प्रदान कर दी गयी।

बंगाल प्रेसीडेंसी के ही एक और भाग, ओड़िसा में भी उन्नीसवीं सदी के अंत में भाषाई स्थिति बहुत सी बातों में असम की स्थिति जैसी ही थी। यहां भी बंगला की सापेक्षता में ओड़िया की असमान स्थिति के बारे में शिकायतें की जाती थीं। नयी शिक्षा-प्रणाली पर बंगालियों का प्रभुत्व था... प्रशासन और शिक्षा में ओड़िया की बंगला से प्रतिस्थापना करने के लिए क़दम उठाये जा रहे थे—ओड़िया साहित्य के बारे में एक निबंध में कहा गया है ('हीरक जयंती ग्रंथ', काशी, सं० २०११ वि०, पृ० ५७०)। मायाधर मानसिंह लिखते हैं: "उन मनहूस दिनों में, जब ओड़िसा बंगाल प्रेसीडेंसी का प्रशासनिक अंग था, कुछ बंगाली अधिकारियों ने ओड़िसा में ओड़िया की बंगला से प्रतिस्थापना करने का यत्न किया" (डॉ० नगेंद्र, पूर्वो०, पृ० ४६४)। रोचक बात है कि इस तरह की सभी कृतियों में अनिवार्यतः जॉन बीम्ज़ के प्रामाणिक तुलनात्मक व्याकरण (१८७२) का उल्लेख किया जाता है: "बंगालियों का दावा है कि ओड़िया महज़ बंगला

की एक बोली है और उसे स्वतंत्र भाषा माने जाने का कोई आधार नहीं है... ओड़िया जब एक निश्चित और स्थिर भाषा बन चुकी थी, उस समय बंगला अस्तित्व में भी नहीं आयी थी" (जॉन बीम्ज़, पूर्वो०, पृ० ११७, ११६)।

भारत के दूसरे इलाक़ों में और विशेषकर मद्रास प्रेसीडेंसी में भी ऐसे ही अंतर्विरोध उदित हो रहे थे। "तेलुगू संख्या में तमिलों से अधिक थे, लेकिन शैक्षिक दृष्टि से चूंकि तेलुगुओं की तुलना में तमिल कहीं आगे थे, इसलिए सरकारी नौकरियों में तमिल ब्राह्मणों का बहुत बोलबाला था, जिससे काफ़ी ईर्ष्या उत्पन्न होती थी" (गिल्बर्ट स्लैटर, 'दक्षिण भारत: उसकी राजनीतिक तथा आर्थिक समस्याएं' [अंग्रेज़ी में], लंदन, १६३६, पृ० ३१२)।

भारत में जातीय जीवन का जागरण आरंभ में प्रबोधकों और साहित्यकारों के कार्यकलाप तक ही सीमित था। इसलिए जातीय साहित्यिक भाषाओं के समेकन तथा विकास और संसर्ग-संचार के बुनियादी क्षेत्रों में उनकी स्थापना की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। उस समय जागती जातीय शक्तियों और ब्रिटिश उपनिवेशवादियों के बीच एक अपूर्व अंतःक्रिया हो रही थी। ये शक्तियां अभी विदेशी अधिकारियों के साथ टकराव में नहीं आयी थीं और "प्रबुद्ध समर्थन" के लिए अकसर अंग्रेज़ों की तरफ़ देखा करती थीं। उन्नीसवीं सदी के मध्य तक अंग्रेज़ अधिकारी भारतीय भाषाओं और उनके अध्ययन को बहुत महत्व दिया करते थे। यह स्थानीय आबादी के विभिन्न समूहों के साथ संसर्ग के इष्टतम (अंग्रेज़ों के दृष्टिकोण से) साधनों और उन पर प्रभाव डालने की विधियों की खोज का समय था। ईस्ट इंडिया कंपनी के निदेशकमंडल ने १६ सितंबर, १८३० को इस प्रसंग में एक महत्वपूर्ण पत्र में बंगाल सरकार को "सभी विभागों में सार्वजनिक कामकाज की भाषा के रूप में अंग्रेज़ी का प्रचलन करने और उन सभी देशी रजवाड़ों अथवा हैसियतवाले लोगों के साथ, जिनके बारे में ज्ञात है कि वे इस भाषा को समझते हैं, अंग्रेज़ी में पत्रव्यवहार शुरू करने" की सलाह दी थी। साथ ही पत्र में बल दिया गया है: "यह बहुत महत्वपूर्ण है कि अदालती कार्रवाई ऐसी भाषा में हो, जिससे न्यायधीश परिचित हो, मगर यह भी कम महत्वपूर्ण नहीं है कि वह ऐसी भाषा में हो, जिससे मुक़दमे में शामिल पक्ष, उनके वकील और आम लोग परिचित हों; और न्यायाधीश के लिए लोगों की भाषा का ज्ञान प्राप्त करना लोगों के लिए

न्यायाधीश की भाषा का ज्ञान प्राप्त करने की बनिस्बत आसान है" (रामगोपाल, 'भारत में ब्रिटिश शासन – एक मूल्यांकन' [अंग्रेज़ी में], बंबई, १९६३, पृ० २१७–२१८)। लेकिन सिर्फ़ तीस साल बाद ही यह उदार रवैया असंभव हो गया।

अंग्रेज़ों ने भारत में अपने प्रभुत्व को सुदृढ़ करने के लिए सभी संभव क़दम उठाये, अलबत्ता अंग्रेज़ों और भारतीयों के बीच, जिनमें जातीय जागरण के लक्षण प्रकट होने लग गये थे, संबंध स्वाभाविकतया न शांतिपूर्ण और न स्थिर ही हो सकते थे। दासकर्ताओं के हितों और दासकृतों के प्रतिरोध के परिणामस्वरूप धीरे-धीरे एक असमाधेय अंतर्विरोध पैदा हो गया था, जिसने देश के सार्वजनिक जीवन पर सशक्त प्रभाव डाला। भाषा-नीति के क्षेत्र में उन्नीसवीं सदी के चौथे दशक के मध्य तक, विशेषकर मैकाले की प्रसिद्ध टिप्पणियों के बाद, औपनिवेशिक अधिकारियों ने भारतीय समाज के ऊपरी संस्तरों में अंग्रेज़ी को सुविवेचित और व्यवस्थित तरीक़े से प्रचलित करना शुरू कर दिया। सभी भारतीय भाषाओं को अवनत करके "देशी" भाषाओं के दरजे में रख दिया गया और धीरे-धीरे अदालती कार्रवाइयों, प्रशासनिक पत्रव्यवहार, उच्च शिक्षा और संसर्ग-संचार के कुछ अन्य क्षेत्रों के बाहर धकेल दिया गया।

ब्रिटिश नीति में पलटाव और शिक्षा तथा सुधार आंदोलनों से जनित नये वातावरण ने "हम – वे" विरोध के दृष्टिकोण को बदल दिया। असमिया को बंगला के, अथवा ओड़िया को बंगला और तेलुगू के मुक़ाबले पर रखा जाना जातीय जागरण के पहले चरण में मुख्य हेतुक था, जब वह राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन का अभी अंग नहीं बना था। जातीय आत्मचेतना के विकास के दूसरे चरण में प्रबोधकों और सुधारकों का कार्यकलाप वस्तुपरक रूप में ब्रिटिश उपनिवेशवाद के विरुद्ध निदेशित था। उनकी सरगरमियां जातीय समूहों के बीच टकरावों को पृष्ठभूमि में धकेलने और विदेशी प्रभुत्व के प्रतीक के रूप में अंग्रेज़ी के मुक़ाबले पर भारतीय भाषाओं को रखने में सहायक हुईं। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में अंग्रेज़ों की भाषा-नीति भी इस अंतर्विरोध के प्रखरीकरण की तरफ़ ले गयी। "हम" को अपने भारतीय पड़ोसियों नहीं, बल्कि अंग्रेज़ों और उनकी भाषा के मुक़ाबले पर रखा जाता था। इसमें प्रबोधकों के राजनीतिक लक्ष्य भी सहायक थे, जिनकी मांग, विशेषकर, सभी संजातीय प्रदेशों का एक ही प्रशासनिक इकाई के भीतर एकीकृत किया जाना थी। मिसाल के लिए, ओड़ियाभाषी आबादी-

वाले सभी प्रदेशों के एकीकरण के लिए आंदोलन का आरंभ बीसवीं सदी के प्रारंभिक वर्षों में हुआ। प्रसिद्ध प्रबोधक और 'प्रजाबंधु' नामक समाचारपत्र के संपादक पंडित नीलमणि विद्यारत्न ने १६०२ में मद्रास में एक सम्मेलन का आयोजन किया, जिसने अपने कार्यक्रम के आधार के रूप में एकीकरण की मांग सामने रखी। एक साल बाद उत्कल सम्मिलनी नामक राजनीतिक संगठन की स्थापना की गयी, जिसमें इस मांग का समर्थन करनेवालों में से अधिकांश शामिल थे। ओड़िया जातीय जागरण में ओड़िया कवि पंडित गोपबंधु दास ने बहुत महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया, जिन्होंने पुरी के निकट सत्यवादी विद्यापीठ नामक एक माध्यमिक विद्यालय की स्थापना की थी, जो बीस साल तक ओड़िसा में सांस्कृतिक जीवन और शिक्षा का केंद्र बना रहा। विद्यापीठ में ओड़िया में अनेक गद्य तथा काव्य कृतियों की रचना की गयी और ओड़िसा के इतिहास के बारे में शोधग्रंथ लिखे गये और ये सभी सुस्पष्ट जातीय और देशानुराग की भावना से ओतप्रोत थे। विद्यापीठ द्वारा मासिक 'सत्यवादी' और साप्ताहिक 'समाज' प्रकाशित किया जाता था। सत्यवादी विद्यापीठ के कार्यकर्ताओं ने ब्रिटिश उपनिवेशवाद के विरुद्ध वर्धमान राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन में भाग लिया। "भारत के स्वाधीनता संग्राम के आह्वान को सुनकर गोपबंधु अपने विद्यापीठ और अपनी पत्रिकाओं का उत्सर्ग कर देने और **स्वयं अपने प्रांत के निर्माणार्थ ओड़ियाओं के सर्वसम्मत आंदोलन तक को**, जिसके वह अब तक प्राण और प्रेरणा बन चुके थे, **राष्ट्रीय संघर्ष के व्यापकतर हितों की ख़ातिर पृष्ठभूमि में डाल देने में क्षण भर को भी नहीं झिझके** (ज़ोर लेखक द्वारा)। वह और उनके सहकर्मी ओड़िसा में राष्ट्रीय आंदोलन के हरावल में थे" (मायाधर मानसिंह, 'ओड़िया साहित्य का इतिहास' [अंग्रेजी में], नयी दिल्ली, १६६२, पृ० २३७)।

विश्वविख्यात बंगला लेखक और कवि रवींद्रनाथ ठाकुर ने १८६४ में लिखित अपने 'बंगला साहित्य' शीर्षक लेख में लक्षित किया है कि "जिस समय यह सृजनात्मक कार्य (राममोहन राय का कार्यकलाप—ले०) किया जा रहा था, उस समय बंगला की कोई हैसियत नहीं थी और उसे कोई आदर प्राप्त नहीं था; बंगला के ज्ञान से न मान मिलता था, न धन; बंगला में भावाभिव्यक्ति कठिन थी और विचारों को लोगों तक पहुंचाना लगभग असंभव था। उसे न राजाओं का संरक्षण प्राप्त था, न उसे विद्वानों से प्रेरणा मिलती थी।" फिर भी परिवर्तन को वह देख रहे थे: "जिसमें

असाधारण ढिठाई ही न हो, उसके अलावा अब बंगला भाषा के अपने अज्ञान पर कोई नहीं इतरायेगा।"

प्रबोधकों और सुधारकों का कार्यकलाप, जो भारतीय जनता के जातीय जागरण में योग देता था, बड़े शहरों–कलकत्ता, बंबई और मद्रास–तक ही सीमित था, फिर भी जातीय साहित्यिक भाषा के निर्माण और उसके सांस्कृतिक तथा सामाजिक मूल्य को प्रकट करने में उसने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। इन भावनाओं के फैलने के लिए प्रबोधकों और सुधारकों के कार्यकलाप को विकसित होकर व्यापक जनसाधारण द्वारा समर्थित राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन में परिणत होने में लंबा समय लगा। आर्थिक संबंधों के प्रसार, ग्राम समुदाय के मूलाधारों के क्षय, पण्य-द्रव्य संबंधों के विकास, आबादी की गतिशीलता के बढ़ने और ब्रिटिश प्रभुत्व के विरुद्ध जनव्यापी आंदोलनों के छिड़ने के साथ-साथ धीरे-धीरे मोड़ आता गया। इन सभी बातों ने जन-संपर्क माध्यमों की बढ़ती हुई आवश्यकता पैदा की, जिसकी पूर्ति सिर्फ़ भारतीय भाषाओं के कार्यों के प्रसार और पत्रकारिता के विकास से ही हो सकती थी। जनसाधारण के साथ संपर्क स्थापित करने का क़दम भारतीय भाषाओं में पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से उठाया गया। पत्रकारिता शैली का विकास जनसाधारण में राष्ट्रीय चेतना के जागरण में एक महत्वपूर्ण चरण का द्योतक था। के० एम० पन्नीकर लिखते हैं: "एक मानक गद्य शैली का उदय हुआ, जिसके विकास में देशी भाषाओं में पत्रकारिता की वृद्धि ने बहुत योग दिया था। दुनिया में और सभी जगहों की ही तरह पत्रकारिता की भाषा कृत्रिम थी, मगर उसने नये विचारों के बढ़ने में सहायता की, अभिव्यक्ति को लचीला बनाया और उसे समय की राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओं के साथ संबद्ध किया" (के० एम० पन्नीकर, 'एशिया और पश्चिमी प्रभुत्व: एशियाई इतिहास के वास्को दा गामा युग का एक सर्वेक्षण, १८४८–१९४५' [अंग्रेज़ी में], लंदन, १९५३, पृ० ३९७)।

राष्ट्रीय चेतना के जागरण ने साहित्य के लिए नयी समस्याएं भी पैदा कीं। धीरे-धीरे वह ऊपरी संस्तरों का विशेषाधिकार नहीं रह गया और व्यापक पाठक समुदाय की ओर अधिकाधिक मुड़ता गया। इसने अनिवार्यत: कथा-साहित्य में विषयवस्तु, रूप और सामाजिक अभिमुखता में परिवर्तन की मांग की। जहां तक रूप की बात है, तो उस समय के सभी भारतीय साहित्यों की सामान्य प्रवृत्ति लेखकों और कवियों द्वारा पुरानी क्लासिकी और किताबी भाषा की जगह ऐसी भाषा का अपनाया जाना था, जो बोल-

चाल की भाषा के अधिक निकट थी। उदाहरण के लिए, बंगला में यह रवींद्रनाथ ठाकुर और प्रमथ चौधरी के प्रभाव में हुआ। उनकी पत्रिका 'सबुजपत्र' ने "पूरे ज़ोर के साथ लिखनी की भाषा और बोलने की भाषा में बढ़ती खाई को पाटने का प्रतिपादन किया। ठाकुर और चौधरी ने अति-संस्कृतनिष्ठ 'साधुभाषा' के स्थान पर 'चलित भाषा' (बोलचाल की मानक भाषा) के अंगीकरण में पहल की" (डॉ० सुकुमार सेन, 'बंगला साहित्य का इतिहास' [अंग्रेज़ी में], नयी दिल्ली, १९६०, पृ० ३३३)। आधुनिक बंगला की एक सामाजिक-भाषावैज्ञानिक समीक्षा में लक्षित किया गया है कि "साधु मानक कितने ही अख़बारों और पाठ्यपुस्तकों में और विशेषकर सरकारी दस्तावेज़ों में अब भी टिका रह रहा है" (पी० एस० राय, एम० ए० हाई, एल० राय, 'बंगला भाषा संदर्भिका' [अंग्रेज़ी में], वाशिंगटन डी० सी०, १९६६, पृ० ७३)। उसके लेखक उपरोक्त मानकों के उद्‌गम में अंतरों को लक्षित करते हैं: "चलित में मुख्य ऐतिहासिक योग कलकत्ता के कुछ उत्तर में नदी के तट पर बसे हुगली और कृष्णनगर क़सबों की बोलचाल की भाषा का रहा है। लेकिन उसका यही एकमात्र घटक नहीं है और चलित के कई रूपों का उद्‌गम दूसरी बोलियों के योगदान में पाया जा सकता है। साधु भाषा में मुख्य, यद्यपि किसी भी प्रकार एकमात्र नहीं, योगदान नदी के किनारे कुछ और उत्तर में स्थित पंद्रहवीं सदी के उत्तरार्ध के नवद्वीप की भाषा का रहा है, जो ज्ञान का एक केंद्र था" (पूर्वो०, पृ० २)। चलित भाषा का बोलियोपरि आधार, जो प्रत्येक आधुनिक जातीय भाषा का एक लक्षण है, विशेषकर दृष्टव्य है।

ओड़िया साहित्य में जनसुलभ भाषा का प्रयोग फ़कीरमोहन सेनापति (१८४७–१९१८) की कृतियों के साथ जुड़ा हुआ है। इस प्रसंग में मायाधर मानसिंह ने लिखा है: "सामान्य लोगों की बोली को वह जिस ढंग से अप्रत्याशित और प्रभावी उपयोग में लाये हैं, वह सदा एक साहित्यिक चमत्कार रहेगा... सेनापति ने अगर उसका इतना सफल उपयोग न किया होता, तो किसी ने भी इसकी कल्पना भी न की होती कि ओड़िसा की जन-भाषा साहित्यिक उपयोग के योग्य हो सकती है" (मायाधर मानसिंह, पूर्वो०, पृ० १७७)। मायाधर मानसिंह पाठक के ध्यान को सेनापति के समकालीन कवि नंदकिशोर बाला की कृतियों की ओर आकर्षित करते हैं: "फ़कीरमोहन द्वारा अपरिष्कृत बोली के साहित्य में अंगीकरण की भांति ही नंदकिशोर द्वारा लोकगीतों के छंद, सामग्री और रूपबिंब का आधुनिक

गीतों के लिए अंगीकरण निश्चित रूप से नवाचार और श्रेष्ठ कलात्मक योगदान था, जो मिट्टी और गांव की महक को आधुनिक काव्य के परिष्कृत वातावरण में ले आया" (पूर्वो०, पृ० १९७)।

तेलुगू भाषा लंबे समय से साहित्य की भाषा और जन-भाषा के बीच सुस्पष्ट अंतर प्रदर्शित करती आयी है। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध के एक प्रामाणिक तेलुगू व्याकरण के लेखक ए० एच० आर्डेन ने लक्षित किया है कि तेलुगू में "(१) सामान्य वार्तालाप की भाषा, (२) गद्य ग्रंथों की भाषा, (३) काव्य की भाषा हैं। इन तीनों में से प्रत्येक शाखा का अन्यों से सिर्फ़ शब्दों के चयन में ही नहीं, बल्कि उन्हीं शब्दों के वैयाकरणिक रूपों में भी काफ़ी अंतर है" (ए० एच० आर्डेन, 'तेलुगू भाषा का क्रमिक व्याकरण' [अंग्रेज़ी में], दूसरा संस्करण, मद्रास, १९०५, पृ० ३)। साहित्यिक तेलुगू को ग्रंथिका (किताबी) और बोलचाल की भाषा को व्यावहारिका (सामान्य) कहा जाता है। साहित्य में व्यावहारिका को अपनाये जाने के आंदोलन का आरंभ उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में हुआ था। प्रसिद्ध लेखक और प्रबोधक कंडकूरि वीरेशलिंगम इस आंदोलन के संस्थापक थे, जिन्हें प्रायः आंध्रों का राममोहन राय कहा जाता है। जातीय आत्मचेतना के बढ़ने और आंध्र जातीय आंदोलन के आधार के सुदृढ़ीकरण के साथ-साथ शब्दाडंबरपूर्ण ग्रंथिका के विरुद्ध लक्षित आधुनिक तेलुगू आंदोलन का उदय हुआ, जिसे व्यापक समर्थन प्राप्त हुआ। इस सदी के चौथे दशक के अंत तक यह आंदोलन स्पष्टतः जनतांत्रिक स्वरूप प्राप्त कर चुका था। उसमें भाग लेनेवाले ग्रामीण आबादी में निरक्षरता का उन्मूलन करने के लिए काम करते थे और गांवों में स्कूलों और पुस्तकालयों की स्थापना करते थे। "प्रबोधकों के कार्यकलाप की बदौलत साहित्य जीवन से अधिकाधिक घनिष्ठता के साथ जुड़ता जा रहा है और एक गंभीर सामाजिक शक्ति बनता जा रहा है। यह कोई सांयोगिक नहीं है कि इसी समय आंध्र के आधुनिक साहित्यिक जीवन में एक महत्वपूर्ण परिघटना का उदय हुआ—नयी साहित्यिक भाषा के लिए संघर्ष, **जो बोलचाल की भाषा के अधिक निकट हो** (बल लेखक द्वारा)। नवीन साहित्यिक भाषा के लिए आधुनिक तेलुगू आंदोलन के संस्थापकों का कहना है कि बोलचाल की तेलुगू में साहित्य को हर किसान के दरवाज़े पर दस्तक देनी चाहिए" (न० गूरोव, ज० न० पेत्रूनिचेवा, 'तेलुगू साहित्य' [रूसी में], मास्को, १९६७, पृ० १६०; ज० न० पेत्रूनिचेवा, 'तेलुगू (आंध्र) जन की भाषा और साहित्य का इतिहास'

[रूसी में], खंड १३, मास्को, १९५८)। सामाजिक-मनोवैज्ञानिक लिहाज से यह महत्वपूर्ण है कि आंदोलन ने आधुनिक तेलुगू को आम बोलचाल की भाषा माना, जिसने आंदोलन का जनसाधारण में प्रसार सुनिश्चित किया।

मलयालम जातीय क्षेत्र में आधुनिक साहित्यिक भाषा के बनने का इतिहास बहुत जटिल है। मध्ययुगीन केरल में साहित्य में संस्कृत और तमिल के अलावा मणिप्रवालम नामक एक विशेष भाषा का प्रयोग किया जाता था, जो संस्कृत और मलयालम का मिश्रण थी। साथ ही नाटुभाषा नाम की एक आम बोलचाल की भाषा भी मौजूद थी और विकसित हो रही थी। उन्नीसवीं सदी के अंत के निकट केरल के लेखकों में जनसुलभ मलयालम का प्रयोग करने की एक प्रवृत्ति का उदय हुआ। गद्य के क्षेत्र में चंदू मेनन (१८४६–१८९९) तथा अन्य प्रमुख लेखक इस आंदोलन का प्रतिनिधित्व करते थे। काव्य में इन विचारों को वेनमणि धारा ने प्रतिबिंबित किया। इस धारा के कवियों ने "आम बोलचाल की मलयालम को अपनाया और यद्यपि साहित्य में आम लोगों की भाषा का पथ प्रशस्त करने के उनके प्रयासों की तत्क्षण निंदा की गयी, पर साहित्यिक भाषा को सरल करने की प्रवृत्ति जीवनक्षम सिद्ध हुई" ('भारत के जनगण का काव्य। लेख-संग्रह' [रूसी में], मास्को, १९६२, पृ० १०५; के० एम० जॉर्ज, 'मलयालम साहित्य का सर्वेक्षण' [अंग्रेजी में], बंबई, १९६८, पृ० १२६–१३०)। साहित्यिक मलयालम के लौकिकीकरण में केरल के महान जातीय कवि वल्लातोल नारायण मेनन (१८७८–१९५८) का योगदान बहुत भारी है। पारंपरिक मणिप्रवालम में लेखन आरंभ करके अपने सृजन कार्य में प्रौढ़ता पर पहुंचने पर उन्होंने निश्चयपूर्वक बोलचाल की भाषा को अपनाया और उसमें अपनी सर्वोत्तम कृतियों की रचना की, जो राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन की वृद्धि को प्रतिबिंबित करती हैं। वल्लातोल साहित्य परिषद के संस्थापक और प्रधान थे, अनेक साहित्यिक पत्रिकाओं के प्रकाशक थे और सार्वजनिक कार्यकलाप में सक्रिय भाग लेते थे। केरल के जातीय नृत्य कथाकली का पुनरुद्धार और प्रचार मलयाली जातीय संस्कृति के विकास में उनके मुख्य योगदानों में है।

जन-आंदोलनों और विशेषकर राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष ने भारतीय भाषाओं के साहित्यों में नये विषयों और नयी समस्याओं को समाविष्ट किया, जैसे भारत अथवा किसी विशेष जातीय प्रदेश के गौरवशाली इतिहास की ओर

पुनरावर्तन, देशानुरागी विषयवस्तु का चयन और कालातीत प्रथाओं और रूढ़ियों के विरुद्ध संघर्ष का आह्वान। जातीय भावना के निर्माण में अपने देश की प्रकृति और उसके सौंदर्य की प्रशंसा में गद्य तथा काव्य रचना का बहुत महत्व था। मायाधर मानसिंह लिखते हैं: "यद्यपि ओड़िसा भारत के सबसे नयनाभिराम प्रदेशों में एक है, फिर भी प्राचीन अथवा मध्ययुगीन ओड़िया कवियों का ध्यान अपने आंगन के आगे के ही प्राकृतिक सौंदर्य की तरफ़ नहीं जा पाता था... राम और कृष्ण की कथाओं से प्रेरित होकर केवल भक्ति में तल्लीन होकर वे उबा देने की हद तक इन दिव्य नायकों से संबद्ध स्थानों और प्राकृतिक स्थलों के ही गीत गाया करते थे, जिन्हें उन्होंने अपनी आंखों से कभी देखा भी नहीं था... ओड़िया साहित्य के समस्त इतिहास में राधानाथ (जन्म १८४८–ले०) की आधुनिक छायावादी कविता के ज़रिये पहली बार ओड़िसा की प्रकृति मुखरित हुई और ओड़िसा की जातीय चेतना का अभिन्न अंग बन गयी" (मायाधर मानसिंह, पूर्वो०, पृ० १८४–१८५)। वल्लातोल के कृतित्व के बारे में अधिकारी माने जानेवाले चंद्रशेखर कहते हैं: "महाकवि की लोकप्रियता का कारण यह भी था कि उन्होंने अपनी जन्मभूमि के प्राकृतिक सौंदर्य का, केरल के भव्य दृश्यों, ऋतु-परिवर्तनों का गान किया" ('भारत के जनगण का काव्य। लेख-संग्रह' [रूसी में], मास्को, १९६२, पृ० १११)।

अपने जन्म के प्रदेश, उसके प्राकृतिक सौंदर्य और उसके गौरवशाली अतीत के प्रति अनुराग कितनी ही भारतीय भाषाओं के कवियों के कृतित्व का चारित्रिक लक्षण है।

भाषावार प्रांतों के लिए आंदोलन

भाषा तथा संजातीय प्रदेश के बीच संबंध जातीय राज्यत्व के उदय के समय विशेषकर स्पष्टता के साथ देखने में आता है। किसी भी जातीय भाषा को जातीय तथा भाषाई सिद्धांत के आधार पर स्थापित प्रशासनिक इकाई के भीतर विकास की अनुकूलतम अवस्थाएं प्राप्त होती हैं, जहां वह विधिनिर्माण, अदालती कार्रवाइयों और प्रशासनिक कामकाज, उच्च शिक्षा और राजनीतिक तथा सांस्कृतिक जीवन की भाषा बन जाती है। ऐसी सूरत में जातीय भाषा के विकसित होने और संसर्ग के सभी क्षेत्रों में काम करने की सिर्फ़ संभावना ही नहीं, अनिवार्यता उत्पन्न हो जाती है।

भारत में भाषावार प्रांतों के क़ायम किये जाने के ग्रांदोलन को भाषा ग्रौर संजातीय प्रदेश के बीच एक मज़बूत सूत्र स्थापित करने की दिशा में क़दम माना जा सकता है।

संजातीय प्रदेशों के एकीकरण के प्रयास के पहले चिह्न भारत में उन्नीसवीं सदी के ग्रंत ग्रौर बीसवीं सदी के ग्रारंभ में प्रकट हुए। बाल गंगाधर तिलक ने १७ नवंबर, १८६१ को ग्रपने ग्रख़बार 'केसरी' में लिखा था: "भारत का वर्तमान प्रशासनिक विभाजन कुछेक ऐतिहासिक प्रक्रियाग्रों का परिणाम है ग्रौर कुछ मामलों में तो पूर्णतः सांयोगिक परिस्थितियों का नतीजा है... ग्रगर इसकी भाषाई ग्राधार पर निर्मित प्रशासनिक इकाइयों की प्रणाली से प्रतिस्थापना कर दी जाती है, तो उनमें से प्रत्येक किसी हद तक समांग होगी ग्रौर संबद्ध लोगों ग्रौर उनकी भाषाग्रों के विकास में सहायक होगी।" ग्रोड़िसा में, जैसे कि हमने देखा था, समस्त ग्रोड़िया प्रदेशों के एकीकरण की मांग ने ग्रपने को १६०२ में, ग्रौर ग्रसम में १६०५ में ग्रनुभूत करवाया था। लगभग उसी समय बिहार, सिंध ग्रौर भारत के दक्षिणी भागों में जातीय प्रांतों की स्थापना का प्रतिपादन करनेवाले संगठन भी उदित हुए। लेकिन जातीय ग्रांदोलनों के विकास में वर्तन बिंदु ग्रक्तूबर, १६०५ में बंगाल प्रेसीडेंसी का विभाजन ग्रौर उससे जनित घटनाग्रों का सिलसिला था। भारत के तत्कालीन वाइसराय लॉर्ड कर्ज़न ने इस क़दम का ग्रौचित्यस्थापन करते हुए कहा था कि विभाजन ने उन चरमपंथियों ग्रौर ग्रांदोलनकर्ताग्रों की राजनीतिक योजनाग्रों को विच्छिन्न कर दिया, जो राजनीतिक रिग्रायतों के लिए ग्रपने संघर्ष में सारी बंगाली जाति की संयुक्त शक्ति को भविष्य में ब्रिटिश सरकार के ख़िलाफ़ मोड़ देने का कोई ग्रवसर खोज रहे थे ('भारत का नवीन इतिहास' [रूसी में], मास्को, १६६१, पृ० ५३६)।

बंगाली जाति की "राजनीतिक योजनाग्रों को विच्छिन्न" करने की ग्रंग्रेज़ों की कोशिश से बंगाली जातीय भावना में ग्रभूतपूर्व उभार ग्रा गया। १६०५-१६०८ का बंग-भंगविरोधी ग्रांदोलन बंगाल की ग्राबादी के लगभग सभी ग्रंशकों ग्रौर समस्त प्रदेश में फैल गया। एक भी गांव या शहर ऐसा न था कि जो बंगालियों के रहने के सभी प्रदेशों को एकीकृत करने के ग्राह्वान से ग्रछूता रहा हो। इस विभाजन की योजना के तैयार किये जाने की ग्रवधि में बंगाल में लगभग दो हज़ार विरोध प्रदर्शन हुए थे। लाखों लोगों ने उसके ख़िलाफ़ हड़तालों में हिस्सा लिया।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नेताओं को बंगाल की घटनाओं से नतीजे निकालते देर नहीं लगी। १९०७ में ही सिंध (जो बंबई प्रेसीडेंसी का हिस्सा था) और आंध्र (मद्रास प्रेसीडेंसी का हिस्सा) में कांग्रेस के प्रांतीय संगठन स्थापित हो गये। अगले साल बिहार में भी प्रांतीय संगठन स्थापित हो गया। कांग्रेस के १९२० में अंगीकृत संविधान में देश भर में पार्टी के संगठनों के लिए प्रादेशिक-भाषाई सिद्धांत निर्धारित किया गया था। जातीय (भाषाई) समस्या के जनतांत्रिक समाधान का नारा राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन की विचारधारा का अभिन्न अंग बन गया। महात्मा गांधी, बाल गंगाधर तिलक, डॉ० राजेंद्रप्रसाद तथा अन्य कांग्रेसी नेता देश के प्रशासनिक विभाजन के भाषाई आधार पर पुनर्गठन के पक्ष में थे। नवंबर, १९२१ में कांग्रेस कार्यसमिति ने अपना "दृढ़ मत" प्रकट किया कि "समस्त प्रांतीय कामकाज का संचालन और समस्त प्रांतीय साहित्य का प्रकाशन संबद्ध प्रांतों की स्थानीय भाषाओं में किया जाना चाहिए" ('भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस – राज्य-पुनर्गठन के बारे में प्रस्ताव, १९२०–१९५६' [अंग्रेजी में], नयी दिल्ली, पृ० २)। १९२८ में जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में हुए सर्वदल सम्मेलन ने घोषित किया था कि "इसके लिए कि हर सूबा अपनी भाषा के माध्यम से अपने को शिक्षित कर सके और अपना रोजमर्रा का कामकाज चला सके, यह जरूरी है कि वह एक भाषाई क्षेत्र हो... इसलिए प्रांतों का भाषावार आधार पर पुनर्गठन किया जाना अत्यंत वांछनीय हो जाता है" (रामगोपाल, 'भारत के भाषाई मामले' [अंग्रेजी में], बंबई, १९६६, पृ० ६६)।

नवंबर, १९४७ में, भारत के स्वतंत्रता प्राप्त करने के कुछ ही महीने बाद, जवाहरलाल नेहरू ने इस बात की पुनः पुष्टि की कि उनकी सरकार भाषावार प्रांतों के सिद्धांत को स्वीकार करती है। लेकिन देश में परिस्थिति में काफ़ी अंतर आ चुका था। प्रोफ़ेसर जी० एम० हलप्पा लिखते हैं कि "स्वाधीनता-पूर्व काल में भारतीय राजनीति पर धार्मिक अथवा सांप्रदायिक तनावों का प्रभुत्व था। स्वाधीनता के बाद लगता है कि भाषाई विवादों का भारतीय राजनीति पर प्रभुत्व है" (जी० एस० हलप्पा [संपा०], 'भारत में जनतांत्रिक राजनीति के उभयसंकट' [अंग्रेजी में], बंबई, १९६६, पृ० २५१)। यह विचार भारतीय साहित्य में अकसर व्यक्त किया जाता है। "स्वातंत्र्योत्तर काल में भारतीय राजनीतिक जीवन का विश्लेषण इस निष्कर्ष की तरफ़ ले जाता है कि राष्ट्रीय (अर्थात राजकीय – ले०) एकी-

करण के मार्ग में दुर्लंघ्य बाधा प्रस्तुत करनेवाले अन्य कारकों में दो सबसे महत्वपूर्ण कारक भाषा और संस्कृति हैं" (जी० एस० तिवारी, एस० आर० शर्मा [संपा०], 'राजनीतिक अध्ययन' [अंग्रेज़ी में], आगरा, १६६५, पृ० २४५)।

ऐसी अवस्थाओं में भारतीय नेताओं को तत्काल भाषाई पुनर्गठन की कार्यसाधकता के बारे में गंभीर आशंकाएं थीं। एस० के० दार की अध्यक्षता में आंध्र, कर्णाटक, केरल और महाराष्ट्र के, जहां जातीय आंदोलन उस समय विशेषकर प्रबल थे, भाषावार प्रांतों की स्थापना के बारे में सुझाव देने के लिए एक विशेष आयोग गठित किया गया। दार आयोग न केवल इन प्रांतों की ही स्थापना के बारे में, बल्कि समूचे तौर पर भाषावार पुनर्गठन के ही सिद्धांत के भी बारे में नकारात्मक निष्कर्ष पर पहुंचा। आयोग ने अपनी रिपोर्ट में कहा था कि "प्रांतों का केवल अथवा मुख्यत: भी भाषाई विचारों पर निर्माण भारतीय राष्ट्र के व्यापकतर हितों में नहीं है और नहीं किया जाना चाहिए" (रामगोपाल, पूर्वो०, पृ० ७३)। चूंकि प्रशासनिक पुनर्गठन की मांगें बढ़ती ही जा रही थीं, इसलिए दिसंबर, १६४८ में कांग्रेस के जयपुर अधिवेशन ने इस प्रश्न पर विचार करने के लिए एक और समिति गठित करने का निर्णय किया, जिसके सदस्यों में जवाहरलाल नेहरू, वल्लभभाई पटेल और पट्टाभि सीतारामैया भी थे। समिति को स्वतंत्रता के बाद उत्पन्न हुई नयी समस्याओं की रोशनी में भाषावार प्रांत बनाने की उपयुक्तता पर विचार करना था। समिति ने अपनी रिपोर्ट १ अप्रैल, १६४६ को प्रकाशित की। रिपोर्ट के रचयिताओं ने अभूतपूर्व गंभीरता के जातीय (भाषाई) विवादों की बढ़ती संख्या को चिंता के साथ लक्षित किया, जो उनकी राय में भारत के लिए अतिरिक्त कठिनाइयां पैदा कर रहे थे। समिति इस निष्कर्ष पर पहुंची: "हम नये प्रांतों के गठन को कुछ वर्षों के लिए स्थगित करना चाहेंगे, ताकि इस अरसे में हम अपने ध्यान को जीवंत महत्व के दूसरे मामलों पर केंद्रित कर सकें और इस प्रश्न से अपने ध्यान को विचलित न होने दें" ('जयपुर कांग्रेस [दिसंबर, १६४८] द्वारा नियुक्त भाषावार प्रांतों के बारे में समिति की रिपोर्ट' [अंग्रेज़ी में], नयी दिल्ली, १६५३, पृ० २)। स्थगन की आवश्यकता इस तथ्य के कारण भी थी कि देशी राज्यों की नियति का अभी निर्धारण नहीं हुआ था, जिसके बिना, जैसे कि समिति ने ठीक ही कहा था, भाषावार प्रांतों का गठन असंभव प्रतीत होता था। भारत सरकार

ने १९४८–१९४९ में देशी राज्यों का अंत करने के लिए क़दम उठाये। उनमें से कुछ को पड़ोसी प्रांतों का अंग बना दिया गया, तो कुछ को संघ बनाकर प्रांतों में गठित कर दिया गया। (जैसे पेप्सू–पंजाब तथा पूर्वी पंजाब राज्य संघ)। राजाओं को राजनीतिक शक्ति से वंचित कर दिया गया, यद्यपि फ़ौरन ही नहीं।

उस समय जातीय (भाषाई) आंदोलनों में उल्लेखनीय चढ़ाव आया हुआ था। भाषाई आधार पर पुनर्गठन की मांगों को जनव्यापी समर्थन प्राप्त था। १९५३ में भारत सरकार को भाषाई आधार पर पुनर्गठन के बारे में सुझाव देने के लिए एक नये आयोग की नियुक्ति की घोषणा करनी पड़ी। इस आयोग ने बहुत काम किया। उसने अपने सामने प्रस्तुत १,५२,२५० दस्तावेज़ों–ज्ञापनों, टिप्पणियों और तारों–पर विचार किया और ९,००० से अधिक लोगों से मुलाक़ातें कीं। अगस्त, १९५६ में भारतीय संसद ने आयोग की रिपोर्ट के आधार पर सरकार द्वारा प्रस्तुत राज्यों का भाषाई आधार पर पुनर्गठन करने के विधेयक को पास कर दिया।

१९५६ का सुधार–राष्ट्रवादी भावनाओं की वृद्धि

अपनी कृति 'जातियों के प्रश्न पर आलोचनात्मक टीकाएं' में लेनिन ने लिखा है: "जातीयता का सिद्धांत बुर्जुआ समाज में इतिहासतः अनिवार्य है और, इस समाज को ध्यान में रखते हुए, मार्क्सवादी जातीय आंदोलनों के ऐतिहासिक औचित्य को पूरी तरह से स्वीकार करता है। लेकिन इसके लिए कि यह मान्यता राष्ट्रवाद के पक्ष-पोषण में न बदल पाये, यह ज़रूरी है कि उसे ऐसे आंदोलनों में जो कुछ प्रगतिशील है, सख़्ती से उस तक ही सीमित रखा जाये, ताकि यह मान्यता बुर्जुआ विचारधारा को सर्वहारा चेतना को धुंधला न बनाने दे।

"जनसाधारण का सामंती सुषुप्ति से जागरण और समस्त जातीय उत्पीड़न के ख़िलाफ़, जनता की, जाति की प्रभुसत्ता के लिए उनका संघर्ष प्रगतिशील हैं। इसी से जातीय प्रश्न के सभी पहलुओं में सबसे निश्चायक और सबसे सुसंगत जनतांत्रिकता का समर्थन मार्क्सवादी के लिए **बाध्यकारी** कर्तव्य है। यह अधिकांशतः एक नकारात्मक कार्यभार है। लेकिन राष्ट्रवाद के समर्थन में सर्वहारा इसके आगे नहीं जा सकता, क्योंकि इसके आगे

राष्ट्रवाद को पुष्ट करने के लिए सचेष्ट बुर्जुआ वर्ग का 'सकारात्मक' कार्य-कलाप शुरू हो जाता है।"

समकालीन भारत में भाषाई राज्य सामान्यतया सिर्फ़ देश की संघीय राज्य-प्रणाली में एक मुख्य प्रशासनिक इकाई ही नहीं है, बल्कि जातीय राज्यत्व का एक रूप भी है। एक ही भाषा बोलनेवाली आबादी को अपनी सीमाओं के भीतर ऐक्यबद्ध करनेवाला राज्य संबद्ध जनगण के जातीय विकास का, उनकी अर्थव्यवस्था, संस्कृति तथा भाषा के विकास का आधार बन गया है। हर भारतीय राज्य (प्रदेश) की अपनी विधानसभा है, जिसके सदस्य सार्विक गुप्त मतदान द्वारा चुने जाते हैं। अधिकांश मत प्राप्त करनेवाली पार्टी सरकार बनाती है, जिसका प्रधान राज्य का मुख्य मंत्री होता है। संविधान में ६६ विषयों का उल्लेख है, जो राज्यों के विधिनिर्माण के क्षेत्राधिकार के भीतर हैं। राज्य सरकार पर अपने प्रदेश के भीतर क़ानून और व्यवस्था को बनाये रखने और न्याय-प्रणाली का संगठन करने, कृषि का विकास करने, भूमि संबंधी क़ानून बनाने, जल-पूर्ति और सिंचाई की ज़िम्मेदारी है। खनन तथा विनिर्माण उद्योगों का काफ़ी भाग, शिक्षा-व्यवस्था और स्वास्थ्य-संरक्षण भी उसके कार्यकलाप की परिधि के भीतर है। इस प्रकार, राज्यों को काफ़ी स्वायत्तता प्राप्त है, यद्यपि केंद्रीय सरकार ने अपने हाथों में प्रचुर नियंत्रण रखा हुआ है। मिसाल के लिए, भारतीय संसद को विद्यमान राज्यों की सीमाओं को बदलने और नये राज्यों का गठन करने का अधिकार प्राप्त है।

भाषावार राज्यों के निर्माण ने जातीय जीवन के पुनर्जागरण में योग दिया और जातीय समेकन को त्वरित किया। भारतीय भाषाओं को विकसित करने की वस्तुपरक आवश्यकता उत्पन्न हो गयी है और उनके विकास की अधिक संभावनाएं प्रकट हो गयी हैं। जातीय संस्कृतियों–साहित्यों, प्रेस, रंगमंच, सिनेमा, आदि–के तीव्र विकास के लिए अनुकूल अवस्थाएं पैदा हो गयी हैं। उदाहरण के लिए, महाराष्ट्र सरकार ने महाराष्ट्र साहित्य-संस्कृति परिषद की स्थापना की है, जिसे मराठी साहित्य को विकसित करने और एक बहुखंडी मराठी विश्वकोश तैयार करने का कार्यभार सौंपा गया है। मराठी बोलियों के सर्वेक्षण और अध्ययन का काम शुरू हो गया है। सरकारी कामकाज में मराठी के उपयोग को निरंतर बढ़ाया जा रहा है। १९६६ के मध्य में तत्कालीन मुख्य मंत्री ने विधानसभा को सूचित किया था कि ३५० में से ३४३ स्थानीय प्रशासन निकायों में सारा कामकाज मराठी

में ही किया जाता है, जब कि अंग्रेज़ी का सिर्फ़ ६ में ही प्रयोग किया जाता है। पहली मई को महाराष्ट्र दिवस घोषित कर दिया गया है। शिक्षा-प्रणाली को सार्वजनीन बनाया जा रहा है और विशेषकर शिक्षण माध्यम के रूप में अंग्रेज़ी की भारतीय भाषाओं से प्रतिस्थापना की रही है। शिक्षित लोगों के सामाजिक क्षेत्र का विस्तार किया जा रहा है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि भाषाई राज्यों के निर्माण ने "बुर्जुआ वर्ग का सकारात्मक कार्यकलाप" सुगमतर बना दिया है, जिसके जातीय समूहों को इससे समर्थन का ठोस आधार प्राप्त हो गया है। राज्यों के पुनर्गठन के बाद के वर्षों में प्रत्येक राज्य में एक स्थानीय जातीय संभ्रांत संस्तर का निर्माण हो गया है, जिसे वहां पर्याप्त शक्ति और प्रभाव प्राप्त है। उसकी बनावट संबद्ध क्षेत्र की सामाजिक संरचना को प्रतिबिंबित करती है–बुर्जुआ वर्ग के विभिन्न समूह, व्यापारी, ज़मींदार, जात-बिरादरियों के संभ्रांत प्रतिनिधि, उच्चतम अधिकारी और बुद्धिजीवी। प्रत्येक राज्य में एक जातीय सांस्कृतिक तथा वैचारिक संभ्रांत संस्तर का भी उदय हो रहा है। साठ के दशक में जातीय संभ्रांत संस्तरों की वृद्धि के परिणामस्वरूप देश के राजनीतिक जीवन में अखिल भारतीय से प्रादेशिक अभिमुखता की ओर सुस्पष्ट मोड़ आया। एक प्रमुख अखिल भारतीय दैनिक के अनुसार भाषावार पुनर्गठन ने शक्ति-संतुलन को उन राज्यों के पक्ष में बदल दिया, जहां भावनात्मक शक्ति अधिक है और जो देशानुराग का स्रोत होने का दावा तक करते हैं; यह एक ऐसा दावा है कि जो बहुभाषी राज्य नहीं कर सकते। भाषाई राज्यों ने राजनीतिक क्षेत्र को महत्वाकांक्षी लोगों के लिए संकुचित कर दिया है, जो जीवन में अपनी उन्नति का केंद्र-बिंदु अपने राज्यों की राजधानियों को ही बनाना पसंद करते हैं, जहां अभिभावी–भाषाई, सांप्रदायिक अथवा जाति-बिरादराना–सामाजिक समूह के साथ घनिष्ठतम संबंधों में ही सफलता की कुंजी है ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', २६ जनवरी, १९६७)।

हर राज्य का राजनीतिक संभ्रांत संस्तर भारतीय प्रशासनिक सेवा और केंद्रीय सरकार में अपने प्रतिनिधित्व का पूरा-पूरा ध्यान रखता है। १९६५ में विभिन्न राज्यों से १९५६ और १९६३ के बीच भारतीय प्रशासनिक सेवा में लिये गये अधिकारियों के बारे में आंकड़े प्रकाशित किये गये थे। प्रत्येक राज्य से लिये गये अधिकारियों की प्रतिशत संख्या को संबद्ध राज्य की देश की जनसंख्या में प्रतिशतता के साथ संबद्ध किया गया था (सारणी १८)।

सारणी १८

राज्य	अधिकारियों की प्रतिशतता	राज्य की जनसंख्या का भारत की जनसंख्या से अनुपात (%)
असम	२.७१	२.५०
आंध्रप्रदेश	४.२०	८.२०
उत्तरप्रदेश	१५.६०	१६.८१
ओड़िसा	३.१०	४.००
कर्णाटक	२.९०	७.६८
केरल	६.८०	३.८५
गुजरात	१०.५०	४.७०
जम्मू-कश्मीर	६.८०	३.८५
तमिलनाडू	१८.००	७.६८
दिल्ली	०.८०	०.६१
पंजाब	१२.६०	४.६३
पश्चिम बंगाल	९.००	७.९६
बिहार	५.१०	७.३०
महाराष्ट्र	५.००	९.०२
राजस्थान	२.९०	४.६०

कुछ राज्यों के राजनीतिक हलक़ों ने यह महसूस करते हुए कि केंद्रीय प्रशासन में उनके राज्यों का प्रतिनिधित्व अपर्याप्त है, समानुपातिक कोटा स्थापित किये जाने की मांगें उठायीं। इन मांगों को स्वीकार नहीं किया गया, क्योंकि यह पाया गया कि वे संविधान के प्रतिकूल जाती हैं। केंद्रीय सरकार में विभिन्न राज्यों के प्रतिनिधित्व को लेकर भी विवाद पैदा होते हैं। उदाहरण के लिए, १९६७ में संसदीय चुनावों के बाद केंद्रीय मंत्रि-मंडल का गठन किये जाते समय राजस्थानियों ने इस बात पर असंतोष प्रकट किया कि उनके राज्य से किसी भी संसद-सदस्य को मंत्री नहीं बनाया गया है, जब कि बिहार से चार मंत्री लिये गये थे ('स्टेट्समैन', नयी दिल्ली, १७ मई, १९६७)।

केंद्रीय सरकार के खिलाफ़ शिकायतों का मूल काफ़ी हद तक राज्यों के आर्थिक विकास स्तरों में असमानता और उनकी सरकारों की केंद्रीय बजट से अतिरिक्त राशियां प्राप्त करने की इच्छा में पाया जाता है। केंद्रीय सरकार को प्रभावित करने के लिए कुछ राज्यों की आबादी की राष्ट्रवादी भावनाओं का उपयोग किया जाता है। इस तरह की भावनाओं के आधार पर राजनीतिक पार्टियां राज्यों में अपनी मांगों के समर्थन में जन-आंदोलन खड़े करती हैं। १९६९ में असम में विरोधी दलों ने सार्वजनिक क्षेत्र में दूसरा तेल शोधन कारखाना क़ायम किये जाने की मांग को लेकर संघर्ष करने के लिए अखिल असम तेल शोधन कारखाना संग्राम परिषद का गठन किया था। असम के तेल का कुछ भाग शोधन के लिए बरौनी (बिहार) भेजा जाता है। परिषद ने "असम का तेल असम के लिए" के नारे के तहत सितंबर, १९६९ में सत्याग्रह छेड़ दिया, जिसमें लगभग ८ लाख लोगों ने हिस्सा लिया था।

जहां असम में राष्ट्रवादी आंदोलन को विरोधी दलों ने प्रेरित किया था, वहां आंध्र में उसका नेतृत्व शासक दल कर रहा था। १ जुलाई, १९६६ को आंध्र विधानसभा ने मुख्य मंत्री द्वारा प्रस्तुत एक प्रस्ताव को सर्वसम्मति से अंगीकार किया, जिसमें केंद्रीय सरकार से विशाखापट्टनम में एक इस्पात कारखाना स्थापित करने का अनुरोध किया गया था। अक्तूबर में इस मांग के समर्थन में आंदोलन छेड़ दिया गया, जिसके मुख्य सहभागी छात्र थे। आंदोलन के कारण व्यापक अव्यवस्था फैली और दंगे हुए – रेल स्टेशनों, डाक और तारघरों और पुलिस के थानों पर हमले किये गये। विशाखापट्टनम में प्रकाशस्तंभ और रेडियो केंद्र को क्षति पहुंचायी गयी। व्यवस्था को बहाल करने के लिए कुछ नगरों में सेना को बुलाना पड़ा।

केरल में राष्ट्रवादी भावनाओं के मूल अर्थगर्भित हैं। औपनिवेशिक काल में ही स्थापित श्रम-विभाजन के कारण केरल के काजू, काली मिर्च, अदरक, इलायची और काफ़ी के निर्यातों से देश को सालाना विदेशी मुद्रा में १०० करोड़ रुपये से अधिक की प्राप्ति होती है। साथ ही, अपेक्षाकृत ऊंची पैदावार और सारी ही कृषियोग्य भूमि के उपयोग में लाये जाने के बावजूद यह राज्य अपनी ज़रूरत का सिर्फ़ आधा ही अनाज उगा पाता है। कोई १० लाख टन चावल की सालाना कमी होती है। इस स्थिति ने राज्य की आबादी में असंतोष पैदा कर दिया। केरल की जनता की भावनाओं को व्यक्त करते हुए जयपुर में कांग्रेस के सत्तरवें अधिवेशन में वहां

के एक प्रतिनिधि ने इंगित किया कि केरल में लोगों को प्रति दिन १४० ग्राम चावल दिया जाता है, जब कि मद्रास और कोयंबतूर क्षेत्रों में लोगों को २४० ग्राम रोज़ मिलता है। प्रतिनिधि ने इस पर ज़ोर देते हुए कि इस तरह के भेदभाव को बरदाश्त नहीं किया जा सकता, आगे कहा: "अगर मैं भारतीय हूं और अगर दूसरों को २४० ग्राम चावल मिलता है, तो मुझे भी इतना ही मिलना चाहिए... क्या आप चाहते हैं कि हम नक़दी फ़सलें उगाना कम कर दें, जिनसे दुर्लभ विदेशी मुद्रा प्राप्त होती है, और उनकी जगह धान उगाना शुरू कर दें?" ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', १२ फ़रवरी, १९६६)।

केरल में व्यापक असंतोष का एक और कारण, जो चाहे कितना भी विरोधाभासी क्यों न प्रतीत हो, आबादी के उच्च साक्षरता स्तर से जुड़ा हुआ है। शिक्षा आयोग के एक सचिव ने कहा था कि जहां तक शिक्षा का सवाल है, केरल शेष भारत से बीस साल आगे है, वहां १९६१ में ही साक्षरों की प्रतिशतता ४६.८ हो चुकी थी। केरल के बहुत से शिक्षित युवजनों को अपने राज्य में नौकरियां नहीं मिल पातीं और इसलिए, जैसे कि भारत में कहा जाता है, केरल प्रतिभा का निर्यात करता है। लेकिन ऐसी बात नहीं कि मलयालियों को दूसरे राज्यों में हमेशा ही स्नेहपूर्वक अपनाया जाता हो। उदाहरण के लिए, पड़ोसी तमिलनाडू में 'नाम तमिलर' ('हम तमिल') नामक संगठन ने कोयंबतूर, मद्रास और एन्नूर में अनेक मलयालीविरोधी अभियान चलाये। इन अभियानों के दौरान पोस्टरों और पैंफ़लेटों के ज़रिये तमिलों से तमिलनाडू में मलयाली प्रभुत्व के ख़तरे के प्रति जागरूक होने का आग्रह किया गया था ('स्टेट्समैन', नयी दिल्ली, १७ अक्तूबर, १९६७; 'टाइम्स ऑफ़ इंडिया', १ मार्च, १९६९)।

राज्यों की केंद्रीय सरकार के ख़िलाफ़ शिकायतों के अलावा **राज्यों के बीच** भी व्यापक विवाद हैं और ये भी राष्ट्रवाद को पोषित करते हैं। बुर्जुआ पार्टियों द्वारा समर्थन जुटाने के लिए इस्तेमाल किये जानेवाले इन विवादों की सामाजिक-मनोवैज्ञानिक जड़ें अखिल भारतीय हितों के ऊपर प्रादेशिक हितों के प्राधान्य में निहित हैं।

अमरीकी समाजशास्त्रियों ने १९६६ में आधुनिक कृषि प्रविधियों का संवर्धन करने में रेडियो और प्रेस की कारगरता का आकलन करने के लिए कर्णाटक में कई गांवों का सर्वेक्षण किया और ३०० कृषक परिवारों से

पूछताछ की। उनकी पूछताछ से साथ ही यह बात भी सामने आयी कि "राष्ट्रीय एकीकरण" (अखिल भारतीय हित) की अपीलें उत्तरदाताओं में कोई अनुक्रिया नहीं पैदा करती थीं, जब कि स्थानीय समस्याओं (प्रादेशिक हित) में वे अत्यंत सजीव दिलचस्पी जताते थे। अलावा इसके, अधिकांश उत्तरदाताओं ने प्रश्नावली में उल्लिखित आत्मिक मूल्यों में सबसे महत्वपूर्ण अपनी मातृभाषा को बतलाया। इस सर्वेक्षण के निष्कर्षों की अन्य स्रोतों से भी पुष्टि होती है।

जातीय भावना और जातीय मूल्यों की बढ़ी हुई चेतना अपने में द्वंद्व अथवा विरोध को द्योतित नहीं करतीं। किंतु विकसित होते पूंजीवादी संबंधों की अवस्थाओं में हितों का कोई भी ऐसा टकराव होते ही, जो सार्वजनिक ध्यान को आकर्षित करता है, वे द्वंद्व का अभिन्न अंग बन जाती हैं। विवाद अत्यंत भिन्न-भिन्न कारणों से उत्पन्न हो सकते हैं। असमी लोगों को शिकायत है कि उन्हें असम की चाय पर पश्चिम बंगाल में एक शुल्क और कलकत्ता बंदरगाह में एक और शुल्क देना होता है, जो कोचीन बंदरगाह के शुल्क से ३५% अधिक है। कर्णाटक और तमिलनाडू के बीच कावेरी नदी से, आंध्र, कर्णाटक और महाराष्ट्र के बीच कृष्णा-गोदावरी से और पंजाब, हरियाणा तथा उत्तरप्रदेश के बीच यमुना से पानी के सिंचाई और बिजली पैदा करने के लिए वितरण के सवाल पर हितों का टकराव है। नागालैंड और असम के बीच सीमांत क्षेत्र में वनों के और जंगल काट-जलाकर खेती करने के लिए ज़मीन के उपयोग के बारे में, और कर्णाटक तथा आंध्र के बीच राजोलीबांदा गांव पर, जहां तुंगभद्रा परियोजना का शीर्षतंत्र स्थित है, क़ब्ज़े के बारे में विवाद के मूल में आर्थिक कारण हैं। कोरापुट सीमांत क्षेत्र के चौबीस गांवों के बारे में ओड़िसा और आंध्रप्रदेश के बीच दीर्घकालिक विवाद पर बहुत समय से प्रशासनिक स्तर पर चर्चा चल रही है। तेलुगू अख़बार 'आंध्रप्रभा' में ओड़िया त्योहारों के बारे में एक लेख के प्रकाशन के बाद, जिसे ओड़िसा में ओड़िया भावनाओं का अपमान माना गया, इस विवाद ने अंतर्राज्यीय संबंधों की समस्या का रूप ले लिया। 'आंध्रप्रभा' और आंध्रप्रदेश के अधिकारियों द्वारा क्षमा-याचना किये जाने के बावजूद ओड़िसा के सीमांत क्षेत्रों में बड़ी संगीन परिस्थिति उत्पन्न हो गयी। ओड़िया विद्यार्थियों ने अनेक आंध्रविरोधी प्रदर्शन किये, तेलुगू फ़िल्में दिखलानेवाले सिनेमाघरों पर धरने दिये और तेलुगू पत्र-पत्रिकाओं की बिक्री को रोका। छात्रों की

कार्रवाइयां धीरे-धीरे पूरे ओड़िसा में फैल गयीं। छात्र संगठनों ने ओड़िसा सरकार से ओड़िया को प्रशासन की भाषा और कॉलेजों में शिक्षण माध्यम बनाने, सरकारी नौकरियों और निजी उद्यमों में ७५% स्थान ओड़ियाओं के लिए आरक्षित करने और ओड़िया आबादीवाले सभी इलाक़ों को राज्य में शामिल करने के लिए क़दम उठाने की मांग की ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', २७ अगस्त, १९६७)।

इस तरह का कार्यक्रम भारत में कितने ही राष्ट्रवादी आंदोलनों के लिए लाक्षणिक है। यहां प्रशासन तथा शिक्षा में किसी विदेशी (अंग्रेज़ी) भाषा का नहीं, वरन किसी जातीय भाषा का प्रयोग किये जाने की जनतांत्रिक मांग संबद्ध जाति और उसकी भाषा को विशेषाधिकार दिये जाने की स्पष्टत: अंधराष्ट्रवादी मांग में बदल जाती है, जो जातीय अल्पसंख्या के हितों का अनिवार्यत: अतिक्रमण करती है।

महाराष्ट्र और कर्णाटक के बीच सीमा विवाद का आरंभ १९५७ में हुआ, जब तत्कालीन बंबई राज्य की सरकार ने कर्णाटक से ८१४ मराठी-बहुल शहरों और गांवों पर दावा जताकर उन्हें मांगा। कर्णाटक को बदले में ३,३०,००० कन्नड़ आबादी के २३० शहर और गांव देने की पेशकश की गयी। बंबई राज्य के महाराष्ट्र और गुजरात में विभाजित होने के बाद नये महाराष्ट्र राज्य की सरकार ने भी इसी तरह के दावे रखे। विवाद के मुख्य विषय कर्णाटक में बेलगांव और निपाणी शहर हैं। सीमा विवाद ने दोनों ही राज्यों में राष्ट्रवादी भावनाओं को भड़काने के बहाने का काम किया। महाराष्ट्र में राजनीतिक दलों में इसके बारे में बाक़ायदा होड़ शुरू हो गयी कि उनमें से कौन मराठा राष्ट्रवाद को सबसे मुकम्मिल और कारगर ढंग से व्यक्त कर सकता है, जो अधिकाधिक वीभत्स रूप ग्रहण करता जा रहा था। राज्य के स्वास्थ्य मंत्री ने बंबई में राजकीय आयुर्विज्ञान कॉलेज को बंद करने के निर्णय की घोषणा कर दी, क्योंकि उनके दावे के मुताबिक़ स्वयं महाराष्ट्र को उससे इसलिए अधिक लाभ न होता था कि उसके ५०% से अधिक छात्र दूसरे राज्यों के थे। १९६६ में मानसून-पूर्व काल में पानी की सख़्त क़िल्लत के समय बंबई नगर निगम के कुछ सदस्यों ने यह मांग की कि सभी ग़ैर-महाराष्ट्रियों को नगर से जाने को विवश किया जाये और जलाभाव की स्थिति के सुधर जाने के बाद भी वापस न आने दिया जाये! महाराष्ट्र विधानसभा में रोज़गार पाने के

मामले में महाराष्ट्रियों को विशेष सुविधाएं प्रदान किये जाने के बारे में एक विधेयक रखा गया।

१९६७ में आसन्न संसदीय चुनावों से जनित तनावपूर्ण स्थिति में महाराष्ट्र में राष्ट्रवादी उन्माद ने शिवसेना नामक निर्मम अंधराष्ट्रवादी संगठन को उत्पन्न किया। शिवसेना के संगठनकर्ता सुहाने नारों का लिबास पहनाये हुए राष्ट्रवाद से खुले तौर पर प्रचंड अंधराष्ट्रवाद पर पहुंच गये। शिवसेना प्रमुख बाल ठाकरे ने महाराष्ट्र में रहनेवाले दक्षिण भारतीयों को महाराष्ट्रियों की सभी कठिनाइयों और विपदाओं का कारण घोषित कर दिया। उनके अनुसार बंबई में दामों के चढ़ने का कारण कर्णाटक से आये गलियों में फेरी लगाकर माल बेचनेवाले और उपाहारगृहों के मालिक हैं और बेरोज़गारी केरल के रहनेवालों के कारण है, जो महाराष्ट्रियों की रोटी छीन रहे हैं। शिवसेना की ये मांगें थीं: बंबई में ८०% रोज़गार और आवास महाराष्ट्रियों के लिए आरक्षित होने चाहिए, रोज़गार कार्यालय का प्रधान महाराष्ट्रीय होना चाहिए और बंबई के सिनेमाघरों को सिर्फ़ मराठी फ़िल्में प्रदर्शित करना चाहिए। शिवसेना ने मराठी सांस्कृतिक तथा सामाजिक संगठनों को अनुदान देने में प्राथमिकता दिये जाने और बंबई से मद्यनिषेध क़ानून के उठाये जाने की भी मांग की। छोटे दूकानदारों, वर्ग-च्युत तत्वों और बेरोज़गार युवकों को इस्तेमाल करते हुए शिवसेना ने बंबई में ख़ूनी दंगे करवाये, जिनके दौरान सिर्फ़ दक्षिण भारतीयों ही नहीं, बल्कि मज़दूर आंदोलन और कम्युनिस्ट पार्टी के महाराष्ट्रीय कार्यकर्ताओं को भी मारा-पीटा और लूटा गया।

शिवसेना के कारनामों ने भारतीय जनमत में बेचैनी और चिंता पैदा की। प्रसिद्ध भारतीय पत्रकार दिलीप मुकर्जी ने इस प्रसंग में लिखा: "दक्षिण भारतीय क्लर्कों, टैक्सी ड्राइवरों और दूकानदारों के ख़िलाफ़ शिवसेना के विषवमन और यहूदियों पर हिटलर के अत्याचारों में साम्य इतना प्रत्यक्ष है कि उसके बारे में सोचने की कोशिश भी करना अनावश्यक है" ('स्टेट्समैन', १२ अप्रैल, १९६८)। भारत के गृह मंत्री ने, जिन्हें निश्चय ही ऐसे मामलों में देश में सबसे अधिक जानकार मानना होगा, कहा कि शिवसेना को बंबई के कुछ पूंजीपति पैसा देते हैं ('पैट्रियट', २ अप्रैल, १९६८)। महाराष्ट्रियों की नाराज़गी को दक्षिण भारतीय छोटे दूकानदारों के ख़िलाफ़ मोड़ने की कोशिश करने के साथ-साथ ही बाल ठाकरे ने टाटा और बिड़ला जैसे पूंजीपतियों को, जो उन्हीं की तरह देश के

दूसरे भागों से बंबई आये थे, महाराष्ट्रियों के अन्नदाता होने की संज्ञा दी। दूसरे शब्दों में, महाराष्ट्र के मेहनतकशों की वास्तविक कठिनाइयों और बुर्जुआ वर्ग द्वारा प्रोत्साहित राष्ट्रवादी भावनाओं पर दांव लगाते हुए शिवसेना भारतीय इजारेदार पूंजी का हथियार बन गयी, जिसका लक्ष्य मज़दूर वर्ग की और समस्त जनतांत्रिक आंदोलनों की एकता को नष्ट करना है। जैसे कि लेनिन ने लिखा है: "किसी भी सचमुच गंभीर और गहन राजनीतिक प्रश्न में पक्ष जातियों के अनुसार नहीं, वरन वर्गों के अनुसार ग्रहण किये जाते हैं" (व्ला० इ० लेनिन, 'जातियों के प्रश्न पर आलोचनात्मक टीकाएं', १६१३)।

शिवसेना के उदय ने एक शृंखला अभिक्रिया का समारंभ कर दिया और विभिन्न भारतीय राज्यों में अपनी-अपनी सेनाएं पैदा होने लग गयीं, जो अपने को द्योतित करने के लिए जातीय प्रतीकों का प्रयोग करती थीं—तमिलनाडू में तमिलसेना, उत्तरी भारतीय राज्यों में हिंदीसेना, पश्चिम बंगाल में हिंदीविरोधी सेना, गुजरात में सरदारसेना, ओड़िसा में जगन्नाथ-सेना, असम में लछितसेना, आदि।

राष्ट्रवाद को बुर्जुआ वर्ग द्वारा किया जानेवाला एक भारी धोखा कहा जाता है। कर्णाटक और महाराष्ट्र के बीच राष्ट्रवादी झड़पें इस परिभाषा के साथ पूरी तरह से मेल खाती हैं। समस्त मराठीभाषी प्रदेशों अथवा सभी कन्नड़ क्षेत्रों के एकीकरण के लिए तूफ़ानी आंदोलन उसी समय हुए थे कि जब महाराष्ट्र में प्राचीन मराठी प्रदेश विदर्भ के पृथक्करण और उसके अलग राज्य बनाये जाने के लिए प्रचार चल रहा था। कर्णाटक में भी राज्य का दो भागों—पुराने मैसूर और उत्तर कर्णाटक—में विभाजन किये जाने की मांगें उठायी गयी थीं।

उपरोक्त तथ्यों से यही प्रकट होता है कि राष्ट्रवादी टकराव शहरी मध्यम संस्तरों तक ही सीमित हैं और कृषक जनसाधारण उनमें लगभग बिलकुल भी भाग नहीं लेते। आबादी के पूर्वोक्त अंशक की राष्ट्रवादी आंदोलन में भाग लेने की उद्यतता सिर्फ़ समकालीन भारत के राजनीतिक जीवन के तनावपूर्ण वातावरण और जातीयतावादी भावनाओं की भारी अंतः-शक्ति के कारण ही नहीं, बल्कि इस आंदोलन के हर किसी के लिए जीवंत महत्व के रोज़गार के सवाल के साथ सीधे संबंध के कारण भी है। इसके नेता अनिवार्यतः नौकरियों के मामले में अपनी जाति अथवा अपने भाषा-समूह के सदस्यों, या भारत में जैसे कहने का चलन है, "धरतीपुत्रों" के लिए

विशेष सुविधाओं की मांग उठाते हैं। सच पूछिये, तो कोई भी भारतीय राज्य एकभाषी अथवा एकजातीय नहीं है। फिर भी कई राज्यों (असम, आंध्रप्रदेश, उत्तरप्रदेश, कर्णाटक, जम्मू-कश्मीर, बिहार, महाराष्ट्र, आदि) में अधिवास-प्रतिबंध हैं, जो नौकरियों में देशज आबादी – "धरतीपुत्रों" – को प्राथमिकता देते हैं। मसलन, बिहार में ऐसे प्रतिबंध ठेठ १९४७ से ही लागू हो गये थे, जब सभी उद्यमों के प्रबंधकों को भेजे एक परिपत्र में विकास विभाग ने "राज्य के प्रतिनिधियों" को लिपिक तथा अलिपिकवर्गीय कामों के लिए प्रशिक्षित करने और नियुक्त करने का आदेश दिया था। इस आदेश को १९६६ में इस प्रश्न के बारे में नियुक्त एक नये आयोग ने पुनः पुष्ट किया।

बढ़ती बेरोज़गारी की हालतों में राज्य सरकारों की ऐसी नीति "असम असमियों के लिए" अथवा "महाराष्ट्र महाराष्ट्रियों के लिए" के नारों को जन्म दिये बिना नहीं रह सकती थी। १९६७ में इस तरह के नारे पश्चिम बंगाल में भी प्रकट हुए। कलकत्ता में गुमनाम परचे बांटे गये, जिनमें धमकी दी गयी थी कि दक्षिण भारतीय तीन महीने के भीतर राज्य से चले जायें, नहीं तो उन्हें बुरे नतीजे भुगतने होंगे ('हिंदुस्तान टाइम्स', २६ अप्रैल, १९६७)। विधि आयोग के अध्यक्ष न्यायमूर्ति आर० पी० बी० गजेंद्रगढ़कर ने एक सार्वजनिक भाषण में कहा था कि भारत की राजनीतिक एकता को "धरतीपुत्रों के सिद्धांत" द्वारा प्रस्तुत चुनौती का सामना करना पड़ रहा है ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', २८ नवंबर, १९७२)। भविष्य का आकलन करने में इस बात को ध्यान में रखना ज़रूरी है कि भारत में उच्च शिक्षा-प्रणाली में प्रवेश करते जाने के साथ-साथ "धरतीपुत्रों के सिद्धांत" के प्रबलतर होते जाने की संभावना है। इसका एक उदाहरण महाराष्ट्र के स्वास्थ्य मंत्री का बंबई में राजकीय आयुर्विज्ञान कॉलेज को इसलिए बंद कर देने का उपरोद्धृत निर्णय है कि उसमें दूसरे राज्यों के भी बहुत से छात्र अध्ययन करते थे। पंजाब सरकार ने भी ९०% स्थान पंजाबियों के लिए आरक्षित करके अपने प्रदेश में "आयुर्विज्ञान कॉलेजों को जातीय अभिमुखता" प्रदान करना आवश्यक पाया ('हिंदुस्तान टाइम्स', १६ अक्तूबर, १९६६)।

राष्ट्रवादी अभिमुखता माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा का धीरे-धीरे अंग्रेज़ी से भारतीय भाषाओं में संक्रमण संपन्न करने की प्रगतिशील प्रक्रिया की भी लाक्षणिकता बन गयी है। जातीय भाषा में शिक्षण इसकी एक तरह

की अतिरिक्त प्रत्याभूति बन जाता है कि स्थानीय छात्र ही संबद्ध शैक्षिक प्रतिष्ठान में शिक्षा प्राप्त करेंगे। यह रुझान भारतीय शिक्षाशास्त्रियों में चिंता पैदा कर रहा है, जो इस सवाल से जूझ रहे हैं कि क्या उन्हें "पंजाबी, मद्रासी, बंगाली, गुजराती तथा और तरह की शिक्षा के निराशा-जनक नज़ारे को ही भुगतना होगा और क्या कोई सचमुच की भारतीय शिक्षा जैसी चीज़ न हो पायेगी? हमारे बीच अब भी व्याप्त प्रांतीयता और अधिक बड़ा आकार ग्रहण कर लेगी" ('इंडियन एक्सप्रेस', २३ अप्रैल, १९६७)।*

कुछ भारतीय शिक्षाशास्त्री और विद्वान राष्ट्रवाद और प्रादेशिकता को पोषित करने का दोष राजनीतिक दलों को देते हैं। उन्हें राजनीति और शिक्षा के बीच घनिष्ठ संबंध व्याकुल करता है। किंतु राष्ट्रवाद को सामान्य-रूपेण राजनीति नहीं, बल्कि बुर्जुआ राजनीति तब जन्म देती है, जब जनव्यापक समर्थन से भाषाई और सारतः जातीय राज्य के निर्माण की सिद्धि कर लेने के बाद बुर्जुआ वर्ग उसमें अभिभावी स्थिति के लिए और अपने लिए विशेष अधिकारों और सुविधाओं के वास्ते अपना संघर्ष शुरू करता है। अगर यह संघर्ष सफल हो जाता है, तो बुर्जुआ वर्ग अपने वर्गीय हितों को "जातीय" हितों के रूप में पेश करने और अपने को और अपने प्रभावाधीन, सामाजिक अंशकों को दूसरी जातियों के मुक़ाबले पर रखने में कामयाब हो जाता है। सारतः राष्ट्रवादी "हम–वे" टकराव इस तरह से अस्तित्व में आता है।

१९५६ के सुधार के बाद नये राज्यों का निर्माण

प्रादेशिक और भाषाई सीमांकन की प्रक्रिया भारत में १९५६ के सुधार के बाद भी चलती रही। जनव्यापी जनतांत्रिक आंदोलन के दबाव के परि-णामस्वरूप द्विभाषी बंबई राज्य को मई, १९६० में दो अलग राज्यों–

---

*भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय के अनुसार १९६९ के मध्य तक ८६ में से ५२ विश्वविद्यालय अंग्रेज़ी के अलावा हिंदी, बंगला, गुजराती, कन्नड़, ओड़िया, तेलुगू, तमिल, पंजाबी और उर्दू को शिक्षण की भाषाओं के रूप में लागू कर भी चुके थे।

महाराष्ट्र और गुजरात—में विभाजित कर दिया गया। १९६० में भारतीय संसद ने नागालैंड राज्य के निर्माण के बारे में प्रस्तुत विधेयक को पारित किया। इस नये राज्य में असम से १९५७ में ही अलग किये गये और केंद्रीय सरकार के प्रत्यक्ष शासनाधीन तीन ज़िले (कोहिमा, मोककसांग और टुएनसांग) शामिल थे। नागालैंड कई बातों के लिहाज़ से एक निराला ही प्रदेश है। कोई ५,७३,००० (१९७१ की जनगणना के अनुसार) नागा लोग इस पर्वतीय राज्य के ८६० गांवों में रह रहे हैं, जो अभी हाल ही तक एक-दूसरे से लगभग पूरी तरह से अलग-थलग थे। पिछले कुछ वर्षों के भीतर ही सड़कों के निर्माण और डाक, तार और टेलीफ़ोन संचार की स्थापना के ज़रिये इस अलगाव का अंत करने का काम शुरू किया गया है। नागालैंड अकेला ऐसा भारतीय राज्य है, जहां की अधिकांश आबादी ईसाई है और पादरियों का राजनीतिक तथा सार्वजनिक जीवन पर अच्छा-ख़ासा प्रभाव है। इसके साथ ही नागालैंड के कितने ही गांवों में क़बायली संबंधों और रीति-रिवाजों के अवशेष अभी तक चलते चले आ रहे हैं। नागालैंड में "ज़मीन पर सरकार का नहीं, बल्कि सामूहिक रूप में ग्राम समुदाय का स्वामित्व है। नवधनिकों का एक नया वर्ग बड़ी तेज़ी के साथ उदित हो रहा है, जिन्होंने तरह-तरह के ठेके के कामों से आसानी से पैसा बना लिया है। ये लोग जायमान नागा बुर्जुआ वर्ग का निर्माण करते हैं। आगे चलकर, जब उद्योगों में धन-निवेश करने के लिए अवसर उन्मुक्त होंगे, तो ये लोग संपत्तिधारी वर्ग बन जायेंगे और नागा समाज में, जिसमें वर्ग-विभाजन कभी था ही नहीं, वर्ग पैदा हो जायेंगे" ('पैट्रियट', २१ जून, १९६९)। नागा क़बीलों के मुखिया अपने बंधु-क़बायलियों के वास्ते आर्थिक संभावनाओं का प्रसार करने के लिए क़दम उठा रहे हैं। आओ और सेमा जैसे कई नागा क़बीलों की पंचायतों ने ग़ैर-नागा दूकानदारों और व्यापारियों को अपने इलाक़ों से निकाल देने का निश्चय किया है।

राज्य का दरजा हासिल करने के बाद के वर्षों में नागालैंड ने शिक्षा के क्षत्र में ख़ासी प्रगति की है। १९६७ में इस राज्य में ३ कॉलेज, २७ उच्चतर माध्यमिक और १०९ माध्यमिक विद्यालय, ८६६ प्राथमिक विद्यालय और ३० प्रौढ़ शिक्षा केंद्र थे। राज्य की देशज आबादी को सभी स्तरों पर निःशुल्क शिक्षा सुलभ है। आर्थिक पिछड़ेपन के बने रहने की अवस्थाओं में शिक्षा के विकास ने नागा युवजन में बेरोज़गारी की समस्या को पैदा कर दिया है। अन्य राज्य सरकारों की ही भांति नागालैंड की सरकार भी

अपने जातीय कर्मियों से निर्मित प्रशासनिक सेवाओं का निर्माण करने की कोशिश कर रही है, ताकि नागा युवजन को रोज़गार दिये जा सकें और वहां दूसरे राज्यों से भेजे गये सरकारी कर्मचारियों को वापस भेजा जा सके, जिनके तौर-तरीक़े स्थानीय आबादी में अकसर असंतोष पैदा करने का कारण रहे हैं।

नागालैंड को अलग राज्य का दरजा प्राप्त होने का इस इलाक़े में भाषाई स्थिति पर भी प्रभाव पड़ा है। नागा जातीय समूह में स्थिर रूढ़िबद्ध अभिलक्षणों से युक्त १४ जनजातियां (भारतीय संजातिविज्ञानियों की शब्दावली में) अथवा क़बीले हैं। उदाहरण के लिए, अंगामियों को कुशाग्र राजनीतिज्ञ, तो आओ लोगों को सुशिक्षित, सेमाओं को बहुत तेज़ और लड़ाकू, तो कोन्याकों को संकोची तथा अल्पभाषी और चंगियों को मिलनसार माना जाता है, आदि, आदि। लेकिन नागाओं को सिर्फ़ ये लक्षण ही नहीं विभाजित करते हैं। वैरियर एल्विन लिखते हैं: "नागालैंड की भाषा-स्थलाकृति अत्यंत जटिल और नानासंख्य बोलीगत अंतरों के लिए उल्लेखनीय है। कुछ इलाक़ों में गांव-गांव के साथ बोली में बदलाव आता जाता है और पुराने समय में तो कभी-कभी एक ही कुनबे के भीतर भी पुरुषों और स्त्रियों को बोलचाल के अलग-अलग रूपों का प्रयोग करना पड़ता था। इस उलझाव में लोगों का गांव-गांव के आपसी वैर से विभाजन भी निस्संदेह योग देता था। तथापि नागाओं द्वारा बोली जानेवाली भाषाओं और बोलियों में आम समानता है, जो भारतीय भाषा सर्वेक्षण के अनुसार तिब्बती-बर्मी भाषा-परिवार की हैं" (वी० एल्विन, 'नागालैंड' [अंग्रेज़ी में], शिलंग, १९६१, पृ० १२)। भारत की १९६१ की जनगणना के आंकड़ों में नागा-समूह में ४८ भिन्न-भिन्न बोलचाल रूपों को एकसाथ रखा गया है, जिनके बोलनेवालों की कुल संख्या ४,७८,४३९ है (*Census of India*, 1961. Vol. 1, India. Pt II—C [ii]. Language Tables, Delhi, 1964, p. CLXXXVIII)। अभी तक इनमें से कोई रूप अंतरभाषिका संसर्ग के साधन के रूप में सामने नहीं आया है। इस प्रयोजन के लिए मुख्यत: दो भाषाओं का प्रयोग किया जाता है। शिक्षित नागाओं में यह भाषा अंग्रेज़ी है, जिसे राज्य विधानसभा ने राजभाषा घोषित किया है। जनव्यापी संसर्ग-संचार के स्तर पर लंबे समय से तथाकथित नागा-असमिया भाषा का प्रयोग किया जा रहा है, जो नागाओं के असमिया व्यापारियों के साथ संसर्ग-संपर्क के दौरान विकसित एक मिश्रित व्यापारिक

बोली है और जिसका स्वयं नागाओं के बीच संसर्ग-साधन के रूप में अधिकाधिक उपयोग किया जा रहा है। पिछले कुछ समय से इस भाषा को नागामी भाषा का नाम दिया जा रहा है। एल० पी० विद्यार्थी लिखते हैं कि विभिन्न और परस्पर विरोधी समूहों में विभाजित नागाजन नागामी भाषा को अपनी संपर्क भाषा के रूप में स्थापित करने और अपने जातीय राज्य के रूप में वृहत्तर नागालैंड का निर्माण करने के लिए प्रयत्नशील हैं (एम० आर० ख़ान [संपा०], 'राष्ट्रीय एकीकरण। इसका अर्थ और प्रासंगिकता' [अंग्रेज़ी में], वाराणसी, १९७०, पृ० ११२)। नागामी भाषा को अधिक बड़ी और अधिक विकसित अंगामी, आओ और सेमा जनजातियों की, जिनकी नागाजन के जीवन में प्रमुख भूमिका है, बोलियों से व्यवस्थित आदान की सहायता से मानक रूप देने के प्रयत्न किये जा रहे हैं। लंबे समय की अपेक्षा करनेवाली यह प्रक्रिया अनुकूल अवस्थाओं के अंतर्गत नागा भाषा के साहित्यिक मानक की क्रमिक स्थापना की तरफ़ ले जा सकती है।

नागालैंड के पृथक्करण के बाद असम का प्रशासनिक ढांचा, जिसके अंतर्गत राज्य के भीतर बने रहनेवाले पर्वतीय जनों को कुछ स्वायत्तता प्राप्त थी, न्यूनाधिक स्थिर प्रतीत होता था। किंतु १९६० में असम में घटनाओं का एक ऐसा सिलसिला शुरू हुआ, जिसके दूरगामी परिणाम निकलना अवश्यंभावी था–राज्य भर में हिंसामय बंगालीविरोधी दंगों की लहर दौड़ गयी और राज्य विधानसभा ने एक विधेयक स्वीकार किया, जिसके अनुसार असमिया को राज्य की राजभाषा बना दिया गया। इसने राज्य के अन्य संजातीय समूहों को चौकन्ना कर दिया। 'स्टेट्समैन' में एक टीकाकार ने लिखा कि भाषा विधेयक को पारित करके असम ने अपने राजनीतिक विघटन के वारंट पर हस्ताक्षर कर दिये हैं ('स्टेट्समैन', १४ जून, १९७१)। सर्वदल पर्वतीय नेता सम्मेलन ने असम से पर्वतीय जनों द्वारा आवासित इलाक़ों के पृथक किये जाने और उनके लिए एक अलग पर्वतीय राज्य का निर्माण किये जाने की मांग की। इस विषय में केंद्रीय सरकार के साथ वार्ताओं का सिलसिला कई साल तक चलता चला गया। उधर असम में परिस्थिति अधिकाधिक जटिल होती जा रही थी। मार्च, १९६६ में मिज़ो स्वायत्त ज़िले में मिज़ो राष्ट्रीय मोरचे के नेतृत्व में सशस्त्र विद्रोह फूट पड़ा। मिज़ो राष्ट्रीय मोरचा १९५९–१९६० में स्थापित अकालविरोधी मिज़ो राष्ट्रीय मोरचे से उत्पन्न राजनीतिक संगठन था। मोरचे ने

घोषित किया कि उसका लक्ष्य मिज़ोजन के लिए, जिनकी संख्या लगभग २,६०,००० थी और जिनमें से ६८% ईसाई थे, मिज़ोराम नामक अलग स्वतंत्र राज्य की स्थापना करना है। मिज़ो संघ नामक एक और राजनीतिक संगठन आरंभ में सर्वदल पर्वतीय नेता सम्मेलन के साथ मिलकर सामान्य पर्वतीय राज्य के निर्माण के लिए काम कर रहा था, लेकिन बाद में अपने ज़िले में व्याप्त भावनाओं को ध्यान में रखते हुए वह भारत के भीतर अलग मिज़ोराम राज्य की मांग करने लगा। इस मांग का अंत में मिज़ो राष्ट्रीय मोरचे ने भी समर्थन किया।

असम का पुनर्गठन किये जाने की और मांगें भी उठायी गयीं। १९६७ में किसी अजीतनारायण देव ने प्रत्यक्षतः उपरोक्त घटनाक्रमों के प्रभाव में कमतापुर राज्य के निर्माण के लिए आंदोलन छेड़ने के अपने इरादे की घोषणा की, जिसमें उनके अनुसार गारो स्वायत्त पर्वतीय ज़िले, कामरूप ज़िले के एक हिस्से, गुआलपारा ज़िले और पड़ोसी पश्चिम बंगाल के दो सीमांतक ज़िलों को भी शामिल होना चाहिए था। अहोम ताई मंगलीय राज्य परिषद ने १,२०,००० अहोमों के लिए शिवसागर और लखीमपुर ज़िलों को लेकर एक अलग राज्य का निर्माण किये जाने की मांग की।* असमिया और दूसरे छोटे-छोटे जातीय समूहों के बीच अधिकाधिक प्रायिक टकरावों की पृष्ठभूमि में इस तरह की मांगों का सैलाब ही आ गया। इन हालतों में कोई समझौता अनिवार्य हो गया। २५ दिसंबर, १९६९ को भारतीय संसद ने असम के भीतर मेघालय नामक स्वायत्त राज्य को गठित

---

*जे० एच० हटन के वर्गीकरण में अहोमों को मंगोलाभ मूल की एक शान जनजाति के माना गया है, जिन्होंने वर्तमान असम के इलाक़े को तेरहवीं सदी में विजित किया था और जिन्हें स्थानीय आबादी ने लगभग पूरी तरह से आत्मसात कर लिया था (जे० एच० हटन, 'भारत में जात-पांत' [अंग्रेज़ी में], बंबई, १९६३, पृ० २७)। हेम बरुआ इस प्रसंग में लिखते हैं: "जो अकेले लोग आज उनकी (अहोमों की – ले०) भाषा को किसी हद तक जानते हैं, वे क़बायली ज्योतिषी और पुजारी देओधाई और बेलुंग हैं। उनके बिना अहोम भाषा आज बिलकुल मृत हो जाती" (हेम बरुआ, 'लाल नदी और नीली पहाड़ी' [अंग्रेज़ी में], गुवाहाटी, १९६५, पृ० ८७)। इसमें यह भी जोड़ा जाना चाहिए कि १९६१ की जनगणना में अहोम भाषा का उल्लेख नहीं था: भारत में किसी ने भी उसे अपनी मातृभाषा अथवा दूसरी भाषा नहीं कहा।

करने के बारे में एक विधेयक का सर्वसम्मति से अनुमोदन किया, जिसमें खासी-जयंतीया और गारो के पर्वतीय क्षेत्र समाविष्ट थे और जिसकी दस लाख के लगभग आबादी में चार संजातीय समूह थे। इसमें सर्वप्रमुख भूमिका सबसे बहुसंख्यक और सामाजिक-आर्थिक संबंधों में सबसे विकसित खासियों द्वारा अदा की जाती है, जो ऑस्ट्रिक-एशियाई मूल (मोन-ख्मेर समूह) के लोग हैं, जिन्हें ब्रह्मपुत्र घाटी के मूलवासी माना जाता है, जिन्हें बाद में पहाड़ों में खदेड़ दिया गया था। डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी के अनुसार खासी भाषा (इसे खसिया और खस्सी भी कहा जाता है) असम के पर्वतीय जनों की सबसे विकसित भाषाओं में है। इसके अलावा अपनी संजातीय बंधुता की अत्युच्च अभिज्ञा का स्तर खासियों की विशिष्टता है। मेघालय की आबादी का एक और बड़ा समूह गारो लोगों का है, जो आजकल असम के मैदानी इलाक़ों में रहनेवाले बोदो (बड़) जन की एक शाखा है। गारो भाषा चीनी-तिब्बती भाषा-परिवार की असमी-बर्मी शाखा में आती है। गारो लोग अनेक कुलों अथवा गोत्रों में विभाजित हैं, जिनमें मरक और संगमा को मुख्य माना जाता है। विचित्र बात है कि असम के अन्य पर्वतीय इलाक़ों की आबादी के विपरीत खासियों और गारोओं में मातृ-तंत्रीय संबंध अब भी बने हुए हैं (बी०, एन० चौधरी, 'गारोओं के कुछ सांस्कृतिक तथा भाषाई पहलू' [अंग्रेज़ी में], गुवाहाटी, १९५८, पृ० ६–९)।

मेघालय राज्य की स्थापना की आधिकारिक घोषणा २ अप्रैल, १९७० को की गयी। उसे सीमित अधिकार प्राप्त थे और असम के भीतर स्वायत्त राज्य अथवा उप-राज्य की संज्ञा दी गयी थी। चाहे मेघालय में निर्वाचित विधानसभा और मंत्रिपरिषद की कल्पना की गयी थी, पर इन निकायों के अधिकार अन्य राज्यों में समान निकायों की अपेक्षा कहीं अधिक सीमित थे। असम और मेघालय का एक ही राज्यपाल और एक ही उच्च न्यायालय था और दोनों की एक ही संयुक्त राजधानी–शिलंग–थी। मेघालय के प्रदेश में क़ानून और व्यवस्था को क़ायम रखना असम के अधिकारियों के क्षेत्राधिकार के ही भीतर रहा। आरंभ में ऐसा लगा कि एक नये प्रकार की प्रशासनिक इकाई–स्वायत्त राज्य–की स्थापना सफल सिद्ध हुई है। लेकिन मेघालय राज्य की उद्घोषणा किये जाने के छः ही महीने बाद उसकी विधानसभा ने एक प्रस्ताव पारित करके मेघालय को विधिवत राज्य का दरजा दिये जाने की मांग की। सर्वदल पर्वतीय नेता सम्मेलन ने इस मांग

के समर्थन में आंदोलन छड़ दिया। दृष्टव्य है कि अन्य राज्यों के समान ही अधिकारों के लिए संघर्ष के साथ-साथ मेघालय के नेतृत्व में राज्य प्रशासन और सरकार में पदों के वितरण के बारे में खासियों और गारोओं के बीच टकराव भी था। गारोओं को शिकायत थी कि सभी श्रेष्ठ पद अधिक शिक्षित खासियों को प्राप्त हैं।

जनवरी, १९७२ में उत्तर-पूर्वी भारत का एक नया प्रशासनिक पुनर्गठन हुआ – मेघालय, मणिपुर (क्षेत्रफल २२,००० वर्ग किलोमीटर और आबादी १० लाख) और त्रिपुरा (क्षेत्रफल १०,२४० वर्ग किलोमीटर और आबादी १५.६ लाख) को विधिवत राज्यों का दरजा मिल गया। भूतपूर्व उत्तर-पूर्वी सीमांत अभिकरण (नेफ़ा) को अरुणाचल संघ-राज्यक्षेत्र (क्षेत्रफल ८०,३०० वर्ग किलोमीटर और आबादी ४.४ लाख) में पुनर्गठित कर दिया गया। मिज़ो ज़िले को असम से अलग कर दिया गया और मिज़ोराम संघ-राज्यक्षेत्र का दरजा दे दिया गया, जिसका क्षेत्रफल २०,७०० वर्ग किलोमीटर था और आबादी ३,२०,००० थी।*

१९७२ के प्रशासनिक पुनर्गठन के परिणामस्वरूप असम के क्षेत्रफल में २०,००० वर्ग किलोमीटर की और आबादी में ३,२०,००० की घटती हो गयी। अलावा इसके, असम की राजधानी की समस्या भी पैदा हुई। मेघालय के प्रदेश में स्थित शिलंग अब उस राज्य की राजधानी बन गया था। असम के सरकारी निकायों को गुवाहाटी ले जाया गया। मेघालय और मिज़ोराम के असम से अलग कर दिये जाने के बाद असमिया शहरी मध्यम संस्तरों में राष्ट्रवादी भावनाएं काफ़ी तेज़ हो गयी थीं। फ़रवरी, १९७१ में लोक सभा के चुनावों के समय गुवाहाटी निर्वाचन-क्षेत्र में छः उम्मीदवारों के बीच संघर्ष अत्यंत प्रखर था, जिनके नारे लगभग एक समान ही थे, जिनका आधारभूत सार असम के हितों की उपेक्षा था। हर उम्मीदवार का दावा था कि वह असम की शिकायतों को औरों की बनिस्बत ज्यादा अच्छी तरह से मुखरित कर सकता है।

जून, १९७२ में छात्र संगठनों के दबाव के आगे गुवाहाटी विश्वविद्यालय की विद्या परिषद ने विश्वविद्यालय से संबद्ध सभी कॉलेजों में असमिया को शिक्षण की और प्रश्नपत्रों के उत्तर देने की भाषा के रूप में लागू

---

*ये आंकड़े १९७१ की जनगणना के हैं।

करने का निर्णय लिया। अंग्रेज़ी को दस साल की अवधि के लिए अतिरिक्त भाषा के रूप में रहने दिया गया। बंगला और हिंदी में शिक्षण और प्रश्नपत्रों के उत्तर देने को वर्जित कर दिया गया। इस निर्णय ने कछार ज़िले में विरोध को जन्म दिया, जहां की अधिकांश आबादी बंगाली है। कुछ कॉलेजों ने, जिनमें बंगाली छात्रों की संख्या काफ़ी बड़ी थी, इस निर्णय के विरुद्ध भारत के उच्चतम न्यायालय में याचिका दायर की, जिसने यह फ़ैसला सुनाया कि गुवाहाटी विश्वविद्यालय के निर्णय के कार्यान्वयन को स्थगित कर दिया जाये। और अधिक उपद्रवों को रोकने के लिए असम विधानसभा ने सितंबर, १९७२ में एक प्रस्ताव पारित करके गुवाहाटी और डिब्रूगढ़ विश्वविद्यालयों में असमिया के प्रयोग को जारी रखने और कछार में एक नया विश्वविद्यालय स्थापित करने का निर्णय लिया, जिसमें शिक्षण माध्यम बंगला को होना था।

लेकिन इन निर्णयों के बावजूद उपद्रव बंद नहीं हुए। ब्रह्मपुत्र की घाटी में असमिया छात्रों ने कछार में विश्वविद्यालय की स्थापना के विरुद्ध आंदोलन शुरू कर दिया। असमिया और ग़ैर-असमिया लोगों के बीच दंगे-फ़साद और लूटमार और आगज़नी के मामले आम हो गये। बहुत से बंगाली परिवारों को भागकर कछार अथवा पश्चिम बंगाल चले जाना पड़ा। नवंबर, १९७२ तक चलनेवाले इन उपद्रवों के दौरान रेल परिवहन को क्षति पहुंचायी गयी और वायु परिवहन को ठप कर दिया गया। राज्य के कुछ नगरों में कर्फ़्यू लगाना पड़ा और सेना के दस्तों को बुलाना पड़ा। सरकारी आंकड़ों के अनुसार इन दंगों के दौरान ३२ लोग मारे गये थे।

असमिया छात्रों के राष्ट्रवादी आंदोलन ने दूसरे संजातीय समूहों में प्रतिक्रिया उत्पन्न की। बड़ तथा अन्य ग़ैर-असमिया संजातीय समूहों के हितों के रक्षार्थ स्थापित मैदानी जनजाति परिषद ने अपनी मांगें पेश कीं, जो उपद्रवों में तेज़ी आने के साथ-साथ बढ़ती गयीं। आरंभ में परिषद का ज़ोर भाषाई अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा पर ही था। फिर उसने असम की "मैदानी जनजातियों" के लिए अंग्रेज़ी माध्यम के साथ एक अलग विश्वविद्यालय स्थापित किये जाने की मांग रखी। अंत में, अक्तूबर, १९७२ में प्रधान मंत्री के साथ भेंट के समय परिषद के प्रतिनिधिमंडल ने ग़ैर-असमिया संजातीय समूहों द्वारा आवासित असम के उत्तरी इलाक़ों के असम से अलग किये जाने और उनके आधार पर उदयाचल नाम से एक नये राज्य के स्थापित किये जाने की मांग की। कुछ बंगाली संगठनों ने कछार

ज़िले के असम से अलग किये जाने और उसे अलग राज्य अथवा संघ-राज्यक्षेत्र का रूप दिये जाने की मांग की।

ये घटनाएं अस्सी के दशक के पूर्वार्ध में असम में संकटपूर्ण स्थिति की पूर्वपीठिका बन गयीं।

अनुसंधानकर्ताओं के लिए एकभाषी पंजाब, अथवा जैसे कि उसे अकसर कहा जाता है, पंजाबी सूबे का आंदोलन बड़ी दिलचस्पी का है, जो अपने जातीय, धार्मिक, जातपांतीय और वर्गीय कारकों के मिश्रण के साथ इस राज्य और उसके पड़ोसी इलाक़ों के सार्वजनिक जीवन की विशिष्टता को प्रतिबिंबित करता है। पंजाब की समस्या सर्वोपरि इस तथ्य से जुड़ी हुई थी कि उसमें पूर्व में, असली पंजाब और दिल्ली के बीच हिंदीभाषी आबादी की भारी बहुलता का क्षेत्र भी समाविष्ट था।

इसके अलावा इस इलाक़े के ऐतिहासिक विकास के क्रम में पंजाबियों ने अपने आपको तीन धार्मिक समुदायों – मुस्लिम, हिंदू और सिख – में विभाजित पाया। अलग-अलग राजनीतिक दल इन समुदायों के हितों का प्रतिनिधित्व करने का दावा करते थे – मुस्लिम लीग मुसलमानों के, अकाली दल सिखों के और आर्यसमाज, हिंदू महासभा और आगे चलकर भारतीय जनसंघ हिंदुओं के हितों का। इन दलों में आपस में तनावपूर्ण संबंध थे और जनसाधारण पर अधिकतम प्रभाव प्राप्त करने के लिए प्रखर संघर्ष चल रहा था। पंजाबियों में जातीय आत्मचेतना के उदय पर सांप्रदायिक भावनाओं का सुस्पष्ट प्राधान्य रहा। दूसरे शब्दों में, पंजाबी समुदाय में विभाजक शक्तियों का जातीय समेकन के रुझानों पर प्राधान्य था।

इस इलाक़े में भाषा-स्थिति भी जातीय समेकन की प्रक्रिया में बाधक थी। पंजाब के सरकारी और अदालती कामकाज में और सांस्कृतिक तथा सार्वजनिक जीवन में बहुत समय तक उर्दू की अभिभावी स्थिति रही थी। आज दिन तक भी उर्दू लेखकों में से बहुत से पंजाबी ही रहे हैं (इक़बाल, फ़ैज़, कृश्नचंदर, बेदी, अश्क, क़ासमी, आदि, आदि)। यह भी उल्लेखनीय है कि पाकिस्तान में उर्दू को राजभाषा का दरजा दिलवाने के प्रयासों में पंजाबी ही सबसे अधिक सक्रिय रहे हैं। आर्यसमाज और हिंदू महासभा जैसे संगठनों द्वारा चलाये जानेवाले हिंदू धार्मिक "पुनर्जागरण" के प्रचार के प्रभाव से पंजाबी हिंदुओं ने हिंदी को तरजीह दी है। पंजाबी पर संरक्षण का दावा सिख सांप्रदायिक संगठन अकाली दल करता था। "पंजाबी में

अधिकांश लेखन सिखों द्वारा किया जाता था। न सिर्फ़ यही कि उनकी विषयवस्तुओं की परिधि सीमित थी, बल्कि उन्होंने अपने को और भी अधिक सीमित हो जाने दिया, क्योंकि वे अधिकांशतः सिख पाठक समुदाय को संबोधित कर रहे थे। नतीजे के तौर पर पंजाबी सांस्कृतिक जागरण की मुख्य धारा से ऐसे दौर में अधिकाधिक वियुक्त होती गयी, जो भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के उदय और विकास का सहगामी था" ('पंजाबी सूबा: एक परिचर्चा' [अंग्रेज़ी में], दिल्ली, पृ० ४६)। भाई वीरसिंह (१८७२–१९५७) की, जिन्हें पंजाबी साहित्य का जनक कहा जाता है, साहित्यक थाती का विश्लेषण करते हुए विद्वान लक्षित करते हैं कि उनकी कृतियों में मुख्य ध्यान सिख धर्म की विषयवस्तुओं, सिखों के शौर्यमय इतिहास और सिख समुदाय की समस्याओं की तरफ़ ही दिया गया है। पंजाबी भाषा की तरफ़ मुड़ने पर पंजाबी मुसलमान उसे लिखने के लिए फ़ारसी लिपि का, तो हिंदू देवनागरी का प्रयोग करते थे। सिख गुरुमुखी लिपि को तरजीह देते हैं, जिसमें 'आदिग्रंथ' लिखा गया था। इस प्रकार, इस लिपि का नाम ही सिख धर्म के साथ जुड़ा हुआ है।

यह तथ्य पंजाबी भाषा के सिखों के साथ संबंध पर और ज़ोर भी देता था कि बहुत से पंजाबी अपनी मातृभाषा को हिक़ारत के साथ देखते थे। इसके बारे में प्रसिद्ध अभिनेता बलराज साहनी ने, जो जन्म से स्वयं पंजाबी थे और पंजाबी सूबे के सक्रिय समर्थक थे, बड़ी भावुकता के साथ लिखा था: "दुनिया में हर ज़बान पंजाबी को प्यारी है। वह अंग्रेज़ी शायद किसी अंग्रेज़ से भी ज्यादा अच्छी तरह से बोल और लिख सकता है। जब हिंदी और उर्दू की जानकारी की बात आती है, तो वह दिल्ली और लखनऊ में उनके बेहतरीन जानकारों को भी शर्मिंदा कर सकता है। अगर वह बंगाल में बस जाये, तो वह बंगला गाने बंगालियों से भी ज्यादा अच्छी तरह से गा सकता है... मगर एक ज़बान है, जिसे वह स्वीकार नहीं करेगा और यह उसकी ख़ुद अपनी ज़बान—पंजाबी—है। पंजाबी में बातें करना एक ऐसी चीज़ है कि जिसे वह ख़ुद अपने लिए और अपने बच्चों के लिए न चाहता है और न पसंद ही करता है। उसे उसके लोकगीतों से, उसके साहित्य से और उसकी लिपि तक से ज़रा भी लगाव नहीं है" (पूर्वो०, पृ० १७)। इस प्रसंग में राज्य पुनर्गठन आयोग की रिपोर्ट में कहा गया है: "प्रस्तावित पंजाबीभाषी राज्य के पक्ष में आंदोलन गंभीर विवाद का विषय रहा है, जिसका एक खेदजनक परिणाम इस इलाक़े में

सांप्रदायिक भावनाओं का भड़कना रहा है। इसका एक विचित्र परिणाम हिंदू समुदाय के बड़े-बड़े अंशकों द्वारा अपनी मातृभाषा के रूप में पंजाबी का अस्वीकरण रहा है। इसके परिणामस्वरूप विगत जनगणना कार्य में एक ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गयी कि जिसमें हिंदी और पंजाबीभाषी लोगों की पृथक-पृथक सारणियां बनाने को त्यागना पड़ा" ('राज्य पुनर्गठन आयोग की रिपोर्ट' [अंग्रेज़ी में], नयी दिल्ली, १९५५, पृ० १४)। मोटे तौर पर इसमें अजीब कुछ भी नहीं था। चूंकि एकभाषी पंजाब का निर्माण करने की मांग का सिख समुदाय के नेताओं द्वारा समर्थन किया जा रहा था, इसलिए हिंदू सांप्रदायिक नेताओं ने विभिन्न प्रामाणिक स्रोतों का हवाला देते हुए इसी बात का इसरार किया कि पंजाबी कोई स्वतंत्र भाषा नहीं, वरन पश्चिमी हिंदी की एक बोली ही है।

यह दिलचस्प बात है कि पंजाबी की समस्या को लेकर विरोधी शक्तियों का सारा प्रचार आंदोलन मुख्यतः उर्दू में ही चलाया जाता था। जवाहरलाल नेहरू ने अगस्त, १९६१ में कहा था कि आज भी मेरा यही ख़याल है कि अकालियों और पंजाबी हिंदुओं, दोनों ही के सबसे कामयाब अख़बार उर्दू ज़बान में और उर्दू लिपि में ही है। यह बेहद अजीब बात है कि वे दोनों एक-दूसरे पर चोटें और एक-दूसरे के ख़िलाफ़ बहस-मुबाहसा उर्दू लिपि में और उर्दू ज़बान में ही करते हैं (जवाहरलाल नेहरू के भाषण, १९५७-१९६३ [अंग्रेज़ी में], खंड ४, नयी दिल्ली, १९६४, पृ० १५)।

पंजाब में जातीय समूहों और भाषाओं के सीमांकन की कठिनाइयां राज्य की मिश्रित आबादी के कारण और भी बढ़ गयी थीं। "इसलिए राज्य में बोली जानेवाली पंजाबी और हिंदी के बीच सीमारेखा वास्तविक की अपेक्षा सैद्धांतिक ही अधिक रही है। इसके अलावा हाल के वर्षों में पश्चिमी पंजाब (अर्थात पाकिस्तान—ले०) से पंजाबीभाषी लोगों के राज्य के सभी ज़िलों में भारी अंतर्वाह के साथ यह रेखा और भी अधिक धुंधली हो गयी है" ('राज्य पुनर्गठन आयोग की रिपोर्ट', पृ० १४२)। पंजाब के पाकिस्तानी भाग से भारतीय भाग में आनेवाले शरणार्थियों की संख्या ४० लाख से अधिक थी।

पंजाबी सूबे के निर्माण के लिए आंदोलन में विभिन्न शक्तियां शामिल थीं, जिनके लिए यह नारा अलग-अलग अर्थ रखता था। लेकिन सबसे ज़ोरदार आंदोलन सांप्रदायिक स्थितियों से ही चलाया जा रहा था। १९४३ में अकाली दल ने मास्टर तारासिंह की अध्यक्षता में मुस्लिम लीग की

पाकिस्तान की स्थापना की ओर लक्षित नीति के जवाबी उपाय के रूप में आज़ाद पंजाब के निर्माण की मांग की थी। इस प्रश्न के बारे में एक लेख में मास्टर तारासिंह ने लिखा था: "यह योजना सिखों को मुसलमानों के सांप्रदायिक प्रभुत्व से बचाने के लिए बनायी गयी थी" (एस० एम० राय, 'पंजाब का विभाजन: पंजाब की नीतियों और प्रशासन पर उसके प्रभावों का अध्ययन, १९४७–१९५६' [अंग्रेज़ी में], बंबई, १९६५, पृ० ३७)। अस्सी के दशक में आकर समकालीन नवीन परिस्थिति में यह मांग ख़ालिस्तान की सांप्रदायिक मांग में रूपांतरित हो गयी है।

भारत के स्वतंत्र होने और त्रासद घटनाओं के साथ पंजाब के विभाजित होने के बाद पंजाबी सूबे का निर्माण किये जाने के आंदोलन ने प्रतिक्रिया उत्पन्न की। १९४७–१९४८ की घटनाओं की याद पंजाबियों के मनों में अभी ताज़ा थी। पंजाबी सूबे के निर्माण के नारे को कोई समर्थन न मिल सका, क्योंकि उसे पंजाब के "दूसरे विभाजन" की मांग माना गया। लेकिन १९६० में अकाली दल ने पंजाबी सूबे के लिए अपना आंदोलन फिर शुरू कर दिया। मास्टर तारासिंह ने अपने बयानों में इस बारे में ज़रा भी शक नहीं रहने दिया कि उनकी नज़र में पंजाबी सूबा "सिख राज्य" का समानार्थक है। "सिंख पंथ की रक्षा" के लक्ष्य से उन्होंने मांग की कि पंजाबी सूबे की आबादी का ५६% सिखों का होना चाहिए और इस तरह से खुले तौर पर घोषित कर दिया कि पंजाबी भाषा की समस्या गौण महत्व की है। सच तो यह है कि तारासिंह गुट की सरगरमियों में अकेला "भाषाई" पहलू कुछ पंजाबी शहरों में हिंदी नामपटों को पोतकर मिटा देने का अभियान था। तारासिंह गुट के आंदोलन ने हिंदू सांप्रदायिक संगठनों की हलचलों को सुकर बनाया, जिनमें सबसे प्रमुख जनसंघ था। भारतीय जनसंघ को पंजाबी हिंदुओं के शहरी मध्यम संस्तरों का समर्थन प्राप्त था, जिन्हें पंजाबी सूबे के बन जाने की हालत में सिख बहुसंख्या की तरफ़ से भेदभाव के बरते जाने की आशंका थी। जनसंघ ने अकाली आंदोलन के प्रति पंजाबी व्यापारिक हलक़ों के नकारात्मक रवैये का भी उपयोग किया। बात सिर्फ़ यही नहीं थी कि "पंजाब में व्यापारी-दूकानदार, व्यवसायी, साहूकार-महाजन, बैंकर और स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद नये और उदीयमान उद्योगपति अधिकांशतः हिंदू ही थे" ('पंजाबी सूबा: एक परिचर्चा', पृ० ५६)। अकाली हलचलों और अव्यवस्था-उत्पातों के बारंबार फूटने ने राज्य में तनावपूर्ण स्थिति उत्पन्न कर दी थी, जो व्यावसायिक कारबार

में बाधक थी और प्रशासनिक सीमाओं के बदले जाने की संभावना व्यापारिक संबंधों को भंग करने, मंडी को विघटित करने और पूंजी का बहिर्वाह करवाने का ख़तरा पेश कर रही थी। १९६६ के आरंभ में पंजाब के अग्रणी उद्योगपतियों ने भारत के राष्ट्रपति, प्रधान मंत्री, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष और दूसरे प्रमुख राजनीतिक नेताओं को एक ज्ञापन दिया था, जिसमें कहा गया था कि पंजाब में गहरे हित रखनेवाले उद्योगपतियों में पंजाबी सूबा बनाये जाने से संबंधित समाचार चिंता उत्पन्न कर रहे हैं–"अगर पंजाबी सूबा बनता है, तो पंजाब का आर्थिक जीवन ठप हो जायेगा। सूबे की मांग अप्रच्छन्न संप्रदायवाद पर आधारित है।" ज्ञापन में यह धमकी भी दी गयी थी कि अगर अकालियों की मांग मान ली गयी, तो पंजाब के उद्योगपतियों को अपने कारबार को पंजाब के बाहर ले जाने को विवश होना पड़ेगा ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', ७ मार्च, १९६६)। पंजाब के विभाजन के विरुद्ध सिखों की पवित्र नगरी अमृतसर के व्यापारी संघ ने भी एक विरोधपत्र पेश किया था।

इस तरह की भावनाएं हिंदू संप्रदायवादियों द्वारा भड़कायी जा रही थीं, जो अपने सत्ता-संघर्ष की योजनाओं में इस पर निर्भर कर रहे थे कि तनावपूर्ण सांप्रदायिक संबंधों को बनाये रखा जाये और उनका राजनीतिक तथा सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रों में प्रसार किया जाये। दूसरे शब्दों में, संप्रदायवादियों–सिख और हिंदू, दोनों ही–की सरगरमियां पंजाब में जातीय तथा भाषाई सीमांकन के और जनतांत्रिक आधार पर पंजाबी जाति के समेकन के मार्ग में भारी बाधा थीं। पंजाब में स्थिति की जटिलता ने प्रधान मंत्री जवाहरलाल नेहरू को यह कहने को विवश किया कि "इसमें कोई शक नहीं कि पंजाबी सूबे का सवाल भाषाई प्रश्न की तरह से नहीं, बल्कि सांप्रदायिक प्रश्न की तरह से पैदा हुआ है" (जवाहरलाल नेहरू के भाषण, १९५७–१९६३, खंड ४, पृ० १६)।

तारासिंह गुट की हलचलों से अकाली दल के भीतर मतभेद पैदा हो गये। १९६१ में उसमें पंजाबी सूबे के सवाल पर फूट पड़ गयी। बड़े भूस्वामियों और सामंती रजवाड़ों और कुछ बड़े प्रशासनाधिकारियों द्वारा भी समर्थित तारासिंह गुट अल्पसंख्या में रह गया। उसे संत फ़तहसिंह गुट ने विस्थापित कर दिया, जो पूंजीवादी आधार पर काश्त करनेवाले ख़ुशहाल सिख किसानों, शहरी निम्न-बुर्जुआ वर्ग और नये सिख बुद्धिजीवियों के हितों का प्रतिनिधित्व करता था, जो दूसरे सामाजिक समूहों की तुलना में सां-

प्रदायिक भावनाओं से कम प्रभावित होते थे। पंजाबी सूबे के निर्माण के प्रश्न पर इस गुट ने जनतांत्रिक नज़रिया अपनाया। संत फ़तहसिंह ने इस पर बारंबार ज़ोर दिया कि वह ऐसे भाषाई पंजाबी राज्य के पक्ष में है, जिसमें इस लिहाज़ के बिना पंजाबी संस्कृति और भाषा का प्राधान्य होगा कि बहुसंख्या हिंदुओं की है या सिखों की ('स्टेट्समैन', १४ जनवरी, १९६१)। एक भेंटवार्ता में उन्होंने इंगित किया कि "धर्म का भाषा से कोई संबंध नहीं है। आदमी का धार्मिक दृष्टिकोण चाहे कुछ भी क्यों न हो, उसके बदल जाने से उसकी भाषा नहीं बदल जाती। सूबे में सिर्फ़ वे ही लोग होने चाहिए, जो वही भाषा बोलते हों" ('पंजाबी सूबा: एक परिचर्चा', पृ० ५)।

इस बात पर ज़ोर दिया जाना चाहिए कि एकभाषी पंजाब के लिए आंदोलन के सभी चरणों में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने सुसंगत जनतांत्रिक स्थिति अपनायी। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के तत्कालीन महासचिव अजयकुमार घोष ने कहा था: "पंजाब में सांप्रदायिक विभाजन इतने प्रखर हो गये हैं कि उन्होंने सारे ही जनतांत्रिक आंदोलन को भारी चोट पहुंचायी है। यह विभाजन हमारे जनाधार तक को प्रभावित कर रहा है" (अजयकुमार घोष, 'लेख और भाषण' [रूसी में], प्राच्य साहित्य प्रकाशनगृह, मास्को, १९६२, पृ० २६३)। कम्युनिस्ट पार्टी ने सांप्रदायिक संगठनों को विभिन्न संप्रदायों के बीच संबंधों में तनाव लाने और आंदोलन करने के बहानों से वंचित करने के लक्ष्य से पंजाब में भाषाई राज्यों के निर्माण के सिद्धांतों की पूर्ण संगति में जातीय तथा भाषाई सीमांकन किये जाने की मांग की। अजय घोष ने कहा कि एकभाषी पंजाब की समस्या "सिर्फ़ हमारी पार्टी के सुझावों के आधार पर ही हल की जा सकती है। लेकिन इसके लिए जैसे सिख, वैसे ही हिंदू संप्रदायवाद के विरुद्ध सतत संघर्ष की और प्रचंड विचारधारात्मक प्रचार अभियान की आवश्यकता पड़ेगी, ताकि उस सांप्रदायिक प्रभाव का उन्मूलन किया जा सके, जो आज हमारे द्वारा चलाये जानेवाले आर्थिक संघर्षों में भाग लेनेवाले मेहनतकश जनसाधारण तक में काफ़ी प्रबल है" (पूर्वो०, पृ० २५१)।

घटनाक्रम के विकास ने सरकार को पंजाब की समस्या का हल निकालने के उपाय खोजने के लिए विवश कर दिया। १९६६ के आरंभ में राज्य को तीन स्वायत्त प्रदेशों – एक पंजाबीभाषी, एक हिंदीभाषी और एक पहाड़ी – में विभाजित करके एक संघ का निर्माण करने का प्रस्ताव

रखा गया। इनमें से प्रत्येक की अपनी अलग विधानसभा, अलग सरकार और अलग सरकारी निकाय होने थे, मगर राज्यपाल, उच्च न्यायालय और लोक सेवा आयोग सामान्य होने थे। असम की ही तरह संबद्ध पक्षों ने प्रादेशिक संघ के विचार को अस्वीकर कर दिया, क्योंकि पारस्परिक अविश्वास पहले ही बहुत दृढ़ हो चुका था। मार्च, १९६६ में केंद्रीय सरकार ने पंजाब को विभाजित करने का निर्णय लिया, जिसका, समूचे तौर पर, राज्य की जनतांत्रिक शक्तियों ने अनुमोदन किया, किंतु कुछ (मुख्यतः हिंदू) सांप्रदायिक समूहों और उनके समर्थकों ने उसका सख़्त विरोध किया। पंजाब के विभाजन के विरोधियों ने विरोध-प्रदर्शनों और जलसे-जलूसों को भड़कावा दिया, जिनके परिणामस्वरूप हिंसा, लूटमार, आगज़नी और हत्याओं की घटनाएं घटीं। इन दंगों में चौदह लोग मारे गये। फिर भी नवंबर, १९६६ में दो नये राज्यों—एकभाषी पंजाब और हरियाणा—की स्थापना की आधिकारिक रूप से उद्घोषणा कर दी गयी। इस कार्रवाई के बाद घटी घटनाओं ने कई राजनीतिज्ञों की इन आशंकाओं की पुष्टि की कि सांप्रदायिक प्रभाव के विरुद्ध प्रखर संघर्ष के बिना पंजाब का विभाजन बज़ाते ख़ुद विद्यमान समस्याओं को हल नहीं कर पायेगा।

विभाजन के फ़ौरन ही बाद दोनों नये राज्यों ने पंजाब की भूतपूर्व राजधानी चंडीगढ़ पर दावा करके अपने संबंधों को बिगाड़ लिया। इस विषय पर विवाद ने इतना संगीन रूप ले लिया कि केंद्रीय सरकार को चंडीगढ़ को केंद्रीय सरकार के प्रत्यक्ष शासनाधीन संघ-राज्यक्षेत्र बना देना पड़ा। नये राज्यों की सरकारों की भाषा-नीतियां तनाव का एक और स्रोत रही हैं। पंजाबी को पंजाब की राजभाषा घोषित कर दिया गया था। राज्य की हिंदीभाषी अल्पसंख्या की मांग है कि हिंदी को राज्य की दूसरी राजभाषा का दरजा प्रदान किया जाये। भारतीय जनसंघ* ने इसकी विशेषकर बहुत ज़ोरों से मांग की। नतीजे के तौर पर पंजाब सरकार की भाषा-नीति को लेकर संघर्ष सांप्रदायिक कलह के पारंपरिक ढंग से चलाया जा रहा है।

---

*१९७७ में जनता पार्टी की स्थापना होने पर भारतीय जनसंघ उसमें विलीन हो गया था। बाद में केंद्र में जनता सरकार का पतन होने और जनता पार्टी में फूट पड़ने पर उसमें शामिल जनसंघ के सदस्यों ने भारतीय जनता पार्टी के नाम से अलग पार्टी बना ली, जो सारतः जनसंघ ही है।

हरियाणा में भी, जहां हिंदी को राजभाषा घोषित कर दिया गया था, बिलकुल ऐसी ही स्थिति उत्पन्न हो गयी। पंजाबी अल्पसंख्या के नाम पर अकाली दल की हरियाणा शाखा पंजाबी को राज्य की दूसरी राजभाषा का दरजा दिये जाने के लिए आंदोलन चलाती आयी है। अलावा इसके, कुछ राजनीतिज्ञ विशाल हरियाणा के नारे के अंतर्गत पड़ोसी इलाक़ों के मोल राज्य की सीमाओं का प्रसार करने के लिए प्रयत्न करते रहे हैं। हरियाणवी राष्ट्रवाद और भारत के इतिहास में हरियाणा की विशिष्ट भूमिका को व्यापक रूप में प्रचारित किया जाता रहा है। उदाहरण के लिए, इस बात पर ज़ोर दिया जाता रहा है कि 'महाभारत' में वर्णित कौरव-पांडव युद्ध हरियाणा में ही कुरुक्षेत्र की रणस्थली में लड़ा गया था और पानीपत का इलाक़ा भारत की नियति का निर्धारण करनेवाली ऐतिहासित लड़ाइयों का मैदान रहा है। "महान आर्य संस्कृति ने हरियाणा की धरती पर ही जन्म लिया और आकार ग्रहण किया था। वैदिक सभ्यता के प्रभात को भारत ने यहीं देखा था" ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', ३१ दिसंबर, १९६८)। हरियाणा के नगरवासी मध्यम संस्तरों और गांवों के प्रभावशाली लोगों में विशिष्टता की भावना व्याप्त हो गयी है। "किसी भी हरियाणवी बुद्धि-जीवी से पूछ लीजिये कि हरियाणवियों को क्या चीज़ और सभी लोगों से अलग करती है, तो वह यही कहेगा कि हरियाणा एक संकल्पना, जीवन की एक प्रणाली और सबके ऊपर अनुभव करने का एक ढंग है। आप अपने को हरियाणवी अनुभव करते हैं, मगर उसे व्यक्त नहीं कर सकते। वे कहते हैं कि यही वह चीज़ है कि जो सौ साल से अधिक के अंतराल के बावजूद तीन राज्यों में बिखरे हुए हरियाणवियों को एकसाथ इकट्ठा करती है" ('फ़्री प्रेस जरनल', बंबई, २६ जून, १९६६)। अब भी हरियाणवियों को राज्य में ग़ैर-हरियाणवियों के मुक़ाबले पर रखा जा रहा है और राज्य प्रशासन से भारत के अन्य भागों, विशेषकर पंजाब, से आये अधिकारियों के वापस भेजे जाने की मांगें की गयी हैं।

जातीय सीमांकन के अनसुलझे सवाल

भारत इस समय २२ राज्यों और संघ-राज्यक्षेत्रों का दरजा रखनेवाले नौ प्रशासनिक एककों – अंडमान-नीकोबार द्वीपसमूह, अरुणाचलप्रदेश, गोवा-दामण तथा दीव, दादरा और नागर हवेली, लक्षद्वीप, मिज़ोराम, पांडी-चेरी, चंडीगढ़ और दिल्ली – में विभाजित है।

संघ-राज्यक्षेत्रों की प्रशासन-प्रक्रिया का निर्धारण १९६३ के संघ-राज्य-क्षेत्र अधिनियम और इस अधिनियम के आधार पर निरूपित नियमों द्वारा किया जाता है। राज्यों के विपरीत, जो संविधान द्वारा अपने क्षेत्राधिकार में रखे गये मामलों के बारे में स्वतंत्र रूप से निर्णय लेते हैं, संघ-राज्यक्षेत्रों की विधानसभाओं (जहां वे हैं) और सरकारों को केंद्र के प्रतिनिधि–उप-राज्यपाल (दिल्ली, गोवा और पांडीचेरी में), मुख्य आयुक्त अथवा प्रशासक–के अधीन सिर्फ़ परामर्शात्मक कृत्यों का निष्पादन करने का ही अधिकार है। भारत के संघ-राज्यक्षेत्र एक-दूसरे से आकार, आबादी, संजातीय संरचना और सामाजिक-आर्थिक विकास के स्तर की दृष्टि से भिन्न हैं। वे भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में स्थापित किये गये थे। द्वीपीय प्रदेशों को अपना दरजा १९५६ के सुधार के अंतर्गत प्राप्त हुआ था। अरुणाचल और मिज़ोराम को १९७२ में असम के स्वायत्त ज़िलों से अलग इकाइयों का रूप दिया गया था। चंडीगढ़ को, जैसे कि पहले बतलाया जा चुका है, पंजाब और हरियाणा के बीच उसकी स्थिति के बारे में विवाद के कारण केंद्रीय सरकार ने अपने नियंत्रण में ले लिया था।* दिल्ली क्षेत्र को भारतीय गणराज्य की संघीय राजधानी के नाते संघ-राज्यक्षेत्र बनाया गया था। गोवा, दामण तथा दीव और दादरा तथा नागर हवेली को भी १९६१ में उनकी पुर्तगाली उपनिवेशवादियों से मुक्ति के बाद गठित किया गया था। गोवा के भविष्य को लेकर संघर्ष चल रहा है और उसे विधिवत राज्य का दरजा दिये जाने की मांगें उठायी गयी हैं। साथ ही गोवा के महाराष्ट्र में विलयन का प्रश्न भी अभी निर्णीत नहीं हुआ है। अपनी संजातीय संरचना के लिहाज़ से पांडीचेरी तमिलनाडू के अपने साथ लगे इलाक़ों से भिन्न नहीं है। पांडीचेरी के अलग अस्तित्व को इस इलाक़े पर सदियों के फ़्रांसीसी औपनिवेशिक शासन के बाद बच रही कुछ विशिष्टताओं ने आवश्यक बनाया था। फ़्रांसीसी प्रशासनिक तथा विधिक व्यवस्था से भारतीय व्यवस्था में क्रमिक संक्रमण अब आकर पूरा हो रहा है। १९६६ में यहां की नगरपालिका ने अपना कामकाज फ़्रांसीसी भाषा के बजाय तमिल में करने का फ़ैसला किया। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नेतृत्व ने इस प्रदेश के बारे में

---

*अगस्त, १९८५ में प्रधान मंत्री राजीव गांधी और अकाली दल के नेता संत लोंगोवाल के बीच पंजाब समस्या के समाधान के बारे में समझौता हो गया। इसके अनुसार चंडीगढ़ को पंजाब में ही रहना है।

अपने रवैये को इस प्रकार निरूपित किया है: पांडीचेरी को देर-सबेर तमिलनाडू में मिलना होगा, लेकिन यह जनता की इच्छा पर निर्भर करेगा, जिसकी सहमति के बिना एकीकरण नहीं हो पायेगा। साथ ही पांडीचेरी में इस प्रदेश को अलग राज्य में बदल दिये जाने के पक्ष में भावनाएं भी पायी जाती हैं और विभिन्न राजनीतिक समूहों द्वारा समय-समय पर इसी तरह की मांगें उठायी जाती रही हैं।

संघ-राज्यक्षेत्र को अकसर प्रशासनिक संगठन का एक संक्रामक, अस्थायी रूप माना जाता है। इस विचार की मणिपुर, त्रिपुरा और हिमाचलप्रदेश जैसे इलाक़ों को राज्य का दरजा प्रदान किये जाने से पुष्टि होती है। इसकी संसद में तत्कालीक गृह मंत्री के इस आशय के वक्तव्य से भी पुष्टि होती है कि संघ-राज्यक्षेत्रों के भविष्य के बारे में सरकार की नीति यह है कि राष्ट्रीय राजधानी दिल्ली, अंडमान तथा निकोबार द्वीपसमूह और लक्षद्वीप तथा मिनीकोय द्वीपसमूह के सिवाय अन्य सभी को या तो निकटवर्ती राज्यों के साथ मिला दिया जाये या अलग राज्य बना दिया जाये ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', २९ मार्च, १९६९)।

किसी संघ-राज्यक्षेत्र के दरजे को उन्नत करके उसे राज्य बनाये जाने की एक मुख्य पूर्वापेक्षा उसकी संजातीय संरचना नहीं, बल्कि अपने विधायी अभिकरणों और प्रशासनतंत्र को बनाये रखने और उनका ख़र्च उठा सकने की क्षमता है। सरकारी आंकड़ों के अनुसार विद्यमान संघ-राज्यक्षेत्रों में ऐसे व्ययों के ८६% तक की पूर्ति केंद्रीय सरकार से प्राप्त आर्थिक अनुदानों से की जाती है ('पैट्रियट', १३ जून, १९६९)। इसमें संबद्ध संघ-राज्यक्षेत्र की आबादी द्वारा उसे राज्य का दरजा दिये जाने के लिए संघर्ष की तीव्रता भी बहुत महत्व रखती है।

संघ-राज्यक्षेत्रों का सवाल ही समकालीन भारत के जातीय सीमांकन और प्रशासनिक संगठन की एकमात्र अनसुलझी समस्या नहीं है। साठ के दशक में पुनर्गठनों के बाद सार्वजनिक वक्तव्यों, पत्र-पत्रिकाओं और विभिन्न संगठनों के ज्ञापनों और प्रस्तावों के ज़रिये नये राज्यों के निर्माणार्थ बीस से अधिक मांगें की जा चुकी हैं।*

---

* 'राज्योन्माद' का यह वातावरण व्यंग्यकारों को ख़ूब सामग्री प्रदान करता है। एक व्यंग्यकार ने उन भारतीयों के लिए एक "अंग्रेज़ी सूबा" बनाये जाने का सुझाव दिया है, जो पश्चिमी तौर-तरीक़ों और जीवन-प्रणाली का अंधानुकरण करते हैं।

ये मांगें किसी भी तरह एकरूप नहीं हैं। उनके लक्ष्य, प्रेरक शक्तियां, आंदोलनों की व्याप्ति और उन्हें प्राप्त जन-समर्थन की मात्रा, आदि एक समान नहीं हैं। कुछ मांगें किसी सुनिर्धारित संजातीय अथवा सामाजिक समूह की कार्यात्मक मांग को नहीं, वरन किसी विचार या नारे को ही द्योतित करती हैं। अकसर अलग राज्य की मांग किसी राजनीतिक पैंतरे-बाज़ी, पार्टियों के भीतरी संघर्ष में एक चाल या प्रसिद्धि पाने का साधन मात्र होती है। प्रशासनिक पुनर्गठन की मांगें तब विशेषकर ज़ोरदार होती हैं कि जब देश के किसी भाग में पृथक राज्य के लिए जन-आंदोलन चलता होता है और उसके सफल होने के आसार होते हैं। तब ऐसे नारे उठते हैं, जो संजातीय-भाषाई स्वरूप के नहीं होते, बल्कि प्रादेशिक, जातपांतीय, सांप्रदायिक तथा अन्य हेतुकों पर आधारित होते हैं।

छोटे-छोटे जातीय समूहों और जनजातियों की प्रशासनिक तथा प्रादेशिक स्वायत्तता की समस्या से जुड़ी मांगों की तरफ़ विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। दैनिक 'पैट्रियट' के अनुसार राज्य पुनर्गठन आयोग ने मुख्यतः ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा अपने प्रशासनिक प्रयोजनों के लिए स्थापित कृत्रिम बाड़ों और भूतपूर्व देशी राज्यों के एकीकरण से और भी उलझी समस्याओं को हल करने की कोशिश की थी। "जनजातियों की समस्या के प्रति अभी तक कोई वैज्ञानिक उपागम नहीं अपनाया गया है" ('पैट्रियट', ७ नवंबर, १९७२)। स्वातंत्र्योत्तर वर्षों में भारतीय आबादी के इस हिस्से में, जो देश की कुल आबादी के ७% का निर्माण करता है, किसी हद तक स्वायत्तता प्राप्त करने की प्रवृत्ति अधिकाधिक स्पष्टतापूर्वक विकसित होती रही है, ख़ासकर संथालों, गोंडों, भीलों, आदि जैसे बड़े जनजातीय समूहों में। भारत का संविधान और अनेक विधायी उपाय आदिवासियों अथवा अनुसूचित जातियों को शिक्षा तथा रोज़गार के क्षेत्रों में और निर्वाचित निकायों में प्रतिनिधित्व की कुछेक विशेष सुविधाएं प्रदान करते हैं। इन सुविधाओं का मुख्य उद्देश्य आबादी के आर्थिक तथा सामाजिक दृष्टि से पिछड़े हुए अंशकों को प्राप्त अवसरों को उनके अधिक विकसित पड़ोसियों के अवसरों के समान बना देना है। लेकिन क़ानूनी संरक्षण के बावजूद जन-जातियों पर आबादी के अधिक विकसित अंशकों का आर्थिक दबाव बना रहा है। अनुसूचित जाति तथा अनजाती आयोग के एक सदस्य, वैरियर एल्विन ने एक बार कहा था कि "आज भी महाजन ही पर्वतीय और वन प्रदेशों के विशाल विस्तारों का वास्तविक शासक है, व्यापारी अपने

ग्राहकों की सरलता का पूरा-पूरा लाभ उठाता है, वन, पुलिस तथा राजस्व – सभी विभागों के कुछ छोटे अधिकारी बीसियों तरीक़ों से जन-जातीय आबादी से बेगार, मुफ़्त खाना-पीना और पैसा वसूले जा रहे हैं, जिससे उस देश के प्रति सोत्साह अनुराग को शायद ही बढ़ावा मिल सकता है, जिसका इस तरह के लोग प्रतिनिधित्व करते हैं" ('पैट्रियट', ६ जून, १९६८)।

अपने को शोषण से बचाने और अपनी ज़मीन और जंगलों के छीने जाने को रोकने की इच्छा छोटे जातीय समूहों और जनजातियों में स्वायत्तता के पक्ष में भावना को मज़बूत करने में सहायता देती है। ओमप्रकाश सब्बरवाल लक्षित करते हैं कि "आर्थिक मांगों के साथ जनजातीय जागरण में अपनी भाषाई और राजनीतिक मांगों की चेतना से एक नया आयाम जुड़ गया है। विभिन्न जनजातियों में पढ़े-लिखे लोगों के छोटे-छोटे समूहों और मध्यमवर्गीय तत्वों के एक पतले से संस्तर के उदय ने आंदोलन को एक नयी ही राजनीतिक रंगत दे दी है। जनजातीय भाषा ही अकसर नये आंदोलन की धुरी होती है... बहुत जल्दी ही... हम भारत के समस्त 'सभ्य समाज' पर जनजातियों के सशक्त प्रभाव के अनुभूत किये जाने की आशा कर सकते हैं" ('पैट्रियट', ६ जून, १९६८)।

संजातीय समुदायों द्वारा अपने अधिकारों के दावे किये जा रहे हैं, जिन्हें १९५६ के सुधार में अनदेखा कर दिया गया था और जो अब अपने लिए वैसे ही प्रादेशिक तथा भाषाई सीमांकान के किये जाने की मांग कर रहे हैं, जैसा उनके अधिक विकसित पड़ोसियों के लिए किया गया था। इस प्रसंग में झारखंड राज्य अथवा संथालिस्तान के निर्माण के लिए संथालों के आंदोलन का उल्लेख अवश्य किया जाना चाहिए, जिसका लंबा इतिहास है। यह मुख्यतः छोटानागपुर (बिहार) के इलाक़े में फैला हुआ है और निर्विवाद रूप से संजातीय-भाषाई हेतुकों और एक ख़ासे बड़े जातीय समूह की प्रशासनिक स्वायत्तता प्राप्त करने की इच्छा के साथ जुड़ा हुआ है। आंदोलन पर धार्मिक कारकों का प्रभाव भी पड़ा है, क्योंकि कुछ संथाल नेता ईसाई मिशनरियों के असर में हैं। इसमें आर्थिक कारक – स्वयं अपने राज्य के निर्माण के ज़रिये आर्थिक विकास को त्वरित करने, संतालों के अपनी ज़मीनों से बेदख़ल किये जाने का अंत करने और महाजनों और व्यापारियों द्वारा संतालों के शोषण को रोकने की आशा – विशेषकर महत्वपूर्ण है। अरसे तक इस आंदोलन का नेतृत्व झारखंड पार्टी ने किया था। पार्टी

ग्रौर उसके नेता जयपाल सिंह ने संथालों की ग्रपने पड़ोसी लोगों से ना-पसंदगी का फ़ायदा उठाया ग्रौर चुनावों में संथालों के मतों पर इजारा क़ायम करने के इरादे से देश के ग्रन्य भागों में जनतांत्रिक ग्रांदोलनों से उनके ग्रलगाव को बढ़ाना चाहा।* लेकिन तब से परिस्थिति बदल गयी है। झारखंड पार्टी कई विरोधी धरों में विभाजित हो गयी है, जिनमें से प्रत्येक मुख्य होने का दावा करता है, मगर समूचे तौर पर उनका प्रभाव कमज़ोर हो गया है। रांची में संकेंद्रित संथाल बुद्धिजीवियों ग्रौर विद्यार्थियों की संख्या बढ़ रही है। रांची, जमशेदपुर ग्रौर बोकारो में काम करनेवाले संथालों ने ग्रपने ट्रेड-यूनियन कार्यकर्ता पैदा किये हैं, जो संथाल जातीय समेकन की समस्याग्रों के प्रति ग्राम जनतांत्रिक सिद्धांतों पर ग्राधारित नया नज़रिया विकसित कर रहे हैं। संथाल ग्रांदोलन में संथाल ग्राबादी के भविष्य की समस्या को हल करने के वस्तुतः जनतांत्रिक तरीक़ों की खोज की दिशा में मोड़ ग्रा रहा है।

गोंडों के ग्रावास-क्षेत्र – गोंडवाना (मध्यप्रदेश के बस्तर, मांडला, छिंदवाड़ा, रायगढ़ ग्रौर सरगूजा ज़िले) – में भी जातीय प्रक्रिया के विकास के लक्षण देखने में ग्रा रहे हैं। ग्रक्तूबर, १९६८ में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की बस्तर ज़िला परिषद ग्रौर किसान सभा के स्थानीय संगठन के नेताग्रों ने एक ज़िला ग्रादिवासी सम्मेलन ग्रायोजित किया था, जिसने एक प्रस्ताव स्वीकार करके गोंडों के लिए पृथक विधानसभा ग्रौर मंत्रिपरिषद

---

* 'न्यूयॉर्क टाइम्स' के संवाददाता रॉबर्ट ट्रंबल ने, जो भारत में साढ़े सात साल रह चुके हैं, स्व० जयपाल सिंह का इस प्रकार वर्णन किया है: "ग्रॉक्सफ़ोर्ड विश्वविद्यालय के स्नातक, १९२८ के एम्सटर्डम ग्रोलिंपिक खेलों में भारत की ग्रोलिंपिक चैंपियन हॉकी टीम के कप्तान, ... दिल्ली उड्डयन क्लब के मुख्य ग्राधार, खेलकूद के संरक्षक, क़िस्सागो, बढ़िया क्लबों के सदस्य जयपाल सिंह जितने कम क़बायली जैसे लगते हैं, उतना ग्रौर कोई नहीं लगता। लेकिन सुपरिष्कृत ग्रौर सुदर्शन जयपाल सिंह वास्तव में केंद्रीय भारत के पूर्व में रांची के क़बायली हैं। वह कच्छप गोत्र के बेटे हैं, जिन्हें जंगलों में एक मिशनरी ने खोजा ग्रौर पाल-पोसकर शिक्षा, खेलकूद, राजनीति ग्रौर सामाजिक जीवन में शानदार सफलताग्रों के पथ पर बढ़ाया। वह दिल्ली की उच्चकुलीन ग्रतिथिप्रेमी महिलाग्रों में भी उतने ही लोकप्रिय हैं, जितने जंगलों में स्वयं ग्रपने हम-क़बायलियों में" (ग्रार० ट्रंबल, 'मेरी नज़रों का भारत' [ग्रंग्रेज़ी में], लंदन, १९५७, पृ० १३९–१४०)।

के साथ वैसे ही स्वायत्त प्रदेश के स्थापित किये जाने की मांग की थी, जैसे की असम में पर्वतीय राज्य की स्थापना में कल्पना की गयी थी। छत्तीसगढ़ में आयोजित भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के ज़िला सम्मेलन ने भी इस मांग की पुन:पुष्टि की। गोंडों का, जो कई राज्यों के इलाक़ों में बिखरे हुए हैं, आंदोलन अभी विकीर्ण है – वह जन-आंदोलन नहीं बन पाया है, मगर शोधकर्ताओं के मतानुसार उसका भविष्य संभावनाओं से परिपूर्ण हो सकता है।

बीसवीं सदी के आरंभ में भीलों द्वारा आवासित इलाक़ों (मध्यप्रदेश, गुजरात और राजस्थान) में भील राज्य की स्थापना के लिए आंदोलन शुरू करने की कोशिशें की गयी थीं, लेकिन वे जल्दी ही शिथिल हो गयीं। साठ के दशक में भीलों के अपनी आर्थिक स्थिति को सुधारने और ख़राब फ़सल के वर्षों में खाद्य सहायता दिये जाने के लिए बहुत से जन-आंदोलन छिड़े और सरकारी अधिकारियों और पुलिस की ज़्यादतियों के ख़िलाफ़ कई विरोध प्रदर्शन हुए। १९६९ में अलग भीलस्थान राज्य अथवा भीलप्रदेश की स्थापना की भी मांग रखी गयी। इस मांग को समय-समय पर दुहराया जाता है और वह अधिकाधिक समर्थक आकर्षित कर रही है।

'टाइम्स ऑफ़ इंडिया' के अनुसार आगामी वर्षों में देश को जिन दुर्दम समस्याओं का सामना करना पड़ेगा, उनमें से एक लगभग चार करोड़ आदिवासियों को देश के आर्थिक तथा सामाजिक जीवन की मुख्य धारा में लाने की होगी। बहुत सी अन्य समस्याओं की ही भांति पिछले दो दशकों में इस समस्या ने भी पर्याप्त ध्यान नहीं आकर्षित किया था, क्योंकि अधिकांश आदिवासियों को न तो अपने अधिकारों की चेतना थी और न वे इसके लिए पर्याप्त रूप से संगठित ही थे कि राज्य सरकारों पर दबाव डाल सकें ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', १५ मार्च, १९७०)। यह छोटे (भारतीय मानकों से) जातीय समूहों द्वारा आवासित इलाक़ों के विकास की संभावनाओं का एक आकलन है। स्वातंत्र्योत्तर वर्षों में भारत में जातीय प्रक्रिया के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए भारतीय राजनीतिज्ञ और समाजशास्त्री इस निष्कर्ष पर आते हैं कि इन जातीय समूहों द्वारा अपने अधिकारों और हितों के लिए अधिक दृढ़ संघर्ष चलाये जाने की आशा की जानी चाहिए। असम और पूर्वी भारत के दूसरे इलाक़ों के विकास के अनुभव से इसकी पुष्टि होती है, जहां कुछ जातीय समूहों ने अपने संजातीय क्षेत्रों में पृथक प्रशासनिक इकाइयों की स्थापना की सिद्धि कर ली है और जातीय

जीवन के जागरण की प्रक्रिया को त्वरित कर दिया है। भारत के उत्तरी तथा केंद्रीय भागों में (जैसे पहले अध्याय में लक्षित किया गया है) संथालों, गोंडों, भीलों और दूसरे आदिवासियों द्वारा आवासित इलाक़े प्रशासनिक सीमाओं से विभाजित हैं। अलावा इसके, छोटे जातीय समूहों और उनके अधिक विकसित पड़ोसियों के बीच की सीमारेखा धीरे-धीरे मिटती जा रही है। अधिकांश छोटे जातीय समूह संबंधों के अपने पारंपरिक रूपों को बरक़रार रखते हुए अत्यधिक पिछड़ेपन की अवस्थाओं में रह रहे हैं, यद्यपि उनमें भी वर्ग-संस्तरीकरण और उनके समाज के एक निम्न-बुर्जुआ संस्तर के उदय के लक्षण दिखायी देते हैं। आर्थिक संबंधों का विकास, सामुदायिक विकास योजनाओं का कार्यान्वियन, प्राथमिक शिक्षा का धीरे-धीरे प्रसार, राजनीतिक आंदोलन और शैक्षिक संगठनों की "आदिवासी" भाषाओं का मानकीकरण करने और उनके सामाजिक कृत्यों के प्रसार की ओर लक्षित सरगरमियां – ये सभी जातीय जीवन के जागरण और छोटे जातीय समूहों के अलगाव पर पार पाने में सहायता देते हैं।

छोटी जातियों के समेकन और स्वायत्तता का एक संभव रास्ता भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने सुझाया है। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्वाधीन आदिवासी महासभा ने राज्यों के राज्यपालों के अधीन निर्वाचित जनजाति परिषदों की स्थापना के लिए विधायी प्रावधानों की मांग की है। आदिवासी महासभा के अनुसार इन परिषदों को अपने-अपने लोगों के सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक विकास से संबंधित मामलों को निपटाना चाहिए। निर्वाचित स्वशासन के साथ स्वायत्त ज़िलों के निर्माण में असम के अनुभव को बुनियाद के रूप में इस्तेमाल करने के प्रस्ताव भी पेश किये गये हैं।

राजनीतिक संघर्ष के एक रूप के नाते भाषावार आधार पर राज्यों का निर्माण करने की मांगें

नये राज्यों को गठित करने की और मांगें भी पेश की गयी हैं। इस प्रसंग में यह लक्षित करना आवश्यक है कि "प्रत्येक भाषाई राज्य के भीतर लघुतर प्रदेश अथवा अंचल भी होते हैं, जो अधिक समांग हैं और आत्म-तादात्म्य की भावना संजोये हुए हैं। राज्यों के भीतरी प्रदेशों के बीच

प्रतिद्वंद्विता आधुनिक भारतीय राजनीतिक जीवन का वैसा ही तथ्य बन चुकी है कि जैसे विभिन्न राज्यों के बीच प्रतिद्वंद्विता। मुख्य मंत्रियों पर लगातार किसी प्रदेश को कोई न कोई सुविधा-सुलाभ प्रदान करने के लिए दबाव रहता है, जो यह समझता है कि उसकी उपेक्षा की जा रही है" ('सेमिनार', नयी दिल्ली, अंक ९०, १९६७)।

असमान आर्थिक विकास और विशिष्ट आर्थिक अवस्थाएं, प्रदेश का आदर्शीकृत इतिहास, जिसकी यादों को वहां का विशिष्ट वर्ग पोषित करता है, जो अपने प्रदेश में अगुआ भूमिका अदा करता है, अत्यानुरागपूर्वक रक्षित परंपराएं – ये सभी बातें जातीय राज्यों के भीतर स्थानीय भावनाओं, प्रादेशिकता अथवा आंचलिकता की भावनाओं के बने रहने और कभी-कभी पुनरुत्थान में सहायक होती हैं।

प्रादेशिकतावाद की अभिव्यक्ति विभिन्न रूपों में और सबसे अकसर राज्य की सरकार और प्रशासन में प्रादेशिक विशिष्ट वर्ग के सानुपातिक प्रतिनिधित्व के अलिखित नियम के रूप में होती है। इस प्रसंग में एक अंग्रेज़ी साप्ताहिक में प्रकाशित यह विवरण रोचक है: "चुनाव में विजयी होकर एक विदर्भवासी महाराष्ट्र के तीनों अंचलों – पश्चिम महाराष्ट्र, मराठवाड़ा और विदर्भ – के बीच प्रादेशिक क्रमावर्तन की **परिपाटी को तोड़कर** (ज़ोर लेखक द्वारा) दूसरी बार महाराष्ट्र का मुख्य मंत्री बन गया है। तथापि पहले दोनों अंचलों को कुछ सांत्वना देने के लिए श्री नाईक को एक के बजाय दो उप-नेता नियुक्त करने की छूट दी गयी है" ('ईस्टर्न इकोनॉमिस्ट', नयी दिल्ली, १७ मार्च, १९६७)। राजस्थान में राज्य के २१ ज़िलों का मंत्रिमंडल में प्रतिनिधित्व है। अगर दो महत्वपूर्ण समितियों के अध्यक्ष-पदों को भी ध्यान में रखा जाये, तो देखा जायेगा कि २६ में से २३ ज़िलों के प्रतिनिधि महत्वपूर्ण पदों पर आसीन हैं ('लिंक', नयी दिल्ली, १० सितंबर, १९६७)। आंध्रप्रदेश की सरकार और सरकारी अभिकरणों में तेलंगाना और तटवर्ती प्रदेशों के प्रतिनिधियों की संख्या का आकलन इतनी ही एहतियात के साथ किया जाता है। प्रादेशिक प्रतिनिधित्व मुख्य राजनीतिक, सांप्रदायिक, जातपांतीय और दूसरे समूहों के बीच शक्ति-संतुलन के आधार पर स्थापित प्रथा है। अपने प्रभाव को बनाये रखने और मज़बूत करने के लिए ये समूह अपने प्रदेश की आबादी का समर्थन चाहते हैं। इस समर्थन को प्राप्त करने के लिए स्थानीय समस्याओं और उनके द्वारा उत्पन्न की जानेवाली भावनाओं का सक्रिय उपयोग

किया जाता है। प्रादेशिक प्रतिनिधित्व की प्रथा और प्रदेश में समर्थन की खोज से स्वायत्तता की मांग तक बस क़दम भर की ही दूरी है। एम० एन० श्रीनिवास लक्षित करते हैं कि देश के कुछ भागों में "बोलीगत" और सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक अंतरों पर आधारित उप-भाषाई आंदोलन भी मौजूद हैं ('सेमिनार', अंक ९०, १९६७)।

प्रादेशिकतावादी भावनाओं से नये राज्यों का निर्माण करने की मांगों में संक्रमण सदा संजातीय-भाषाई कारकों से ही नहीं होता है। संभ्रांतवर्ग की अपने प्रदेश को अलग राज्य बनाने की आकांक्षा, जिसमें वह समस्त सत्ता को अपने हाथों में ले सकता है, अकसर जातीय अथवा भाषाई सीमांकन के सिद्धांत से किसी भी तरह से संबद्ध नहीं होती है। संघर्ष का लक्ष्य किसी प्रदेश पर उसकी संजातीय संरचना अथवा भाषा-सीमाओं के लिहाज़ के बिना राजनीतिक नियंत्रण प्राप्त करना होता है।

हिंदी क्षेत्र में प्रादेशिक सक्रियता का उल्लेखनीय उभार साठ के दशक में देखने में आया था, जिसका मुख्य आधार शहरी निम्न-बुर्जुआ संस्तर थे, जिनके हित अपने प्रदेश तक ही सीमित थे। हिंदी और उसकी बोलियां बोलनेवाली आबादी जिस इलाक़े पर रहती है, वह कई राज्यों में बंटा हुआ है, जिनमें उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश और बिहार सबसे बड़े हैं। हिंदीभाषी आबादी का एक ही प्रशासनीक तथा राजनीतिक इकाई के भीतर एकीकरण नहीं हुआ है। और सच तो यह है कि उसका विचार भी नहीं पेश किया गया है। डॉ० रामविलास शर्मा ने लिखा है कि हिंदीभाषी लोगों में जातीय चेतना के अभाव की ओर ध्यान दिया जाना चाहिए। जिस समय भारत भर में भाषाई आधार पर राज्यों के निर्माण के लिए आंदोलन चल रहा था, हमारे क्षेत्र में अनेक प्रांतों के एक विशाल हिंद राज्य में एकीकरण का कोई आंदोलन नहीं उठा। यही नहीं, कुछ राजनीतिज्ञ तो उत्तर-प्रदेश के विभाजन के पक्ष में थे (रामविलास शर्मा, 'राष्ट्रभाषा की समस्या', पृ० १२९)। रामविलास शर्मा यहां राज्य पुनर्गठन आयोग के एक सदस्य, के० एम० पन्नीकर, के विशेष मत का उल्लेख कर रहे हैं, जिन्होंने यह सुझाव दिया था कि उत्तरप्रदेश के पश्चिमी भाग को अलग करके अलग आगरा राज्य बना दिया जाना चाहिए। के० एम० पन्नीकर का यह सुझाव संजातीय-भाषाई विचारों पर नहीं आधारित था। उनका बुनियादी तर्क यह था कि उत्तरप्रदेश क्षेत्रफल और आबादी के लिहाज़ से बहुत ही ज़्यादा बड़ा है और इसलिए उसका भारतीय राजनीतिक

जीवन पर बहुत अधिक प्रभाव है ('राज्य पुनर्गठन आयोग की रिपोर्ट' [अंग्रेज़ी में], नयी दिल्ली, १९५५, पृ० २४४–२५२)।

साठ के दशक के मध्य से उत्तरप्रदेश की सीमाओं को बदलने की कितनी ही नयी मांगें की गयी हैं। हिमालय के निचले पहाड़ी प्रदेशों में कुमायूं, गढ़वाल और उत्तरकाशी को लेकर उत्तराखंड राज्य के निर्माण के लिए आंदोलन छिड़े हैं। उत्तराखंड के अलग किये जाने के समर्थकों की मांग के पीछे सबसे बड़ा तर्क यह है कि उत्तरप्रदेश की सरकार इस इलाक़े के हितों की उपेक्षा करती है। इस मामले में एक ख़ास मुद्दा दूसरे राज्यों के निवासियों द्वारा तराई क्षेत्र में उर्वर ज़मीनों का हाथिया जाना रहा है। उत्तराखंड आंदोलन के एक समर्थक के अनुसार "तराई में उच्च सेनाधिकारियों, पूंजीपतियों... और ठेकेदारों के उदीयमान वर्ग ने ज़मीनों को दबोच लिया है, जो यहां बड़े-बड़े फ़ार्मरों की तरह आबाद हो गये हैं और उनके साथ यहां उनके सहायकों और सह-आबादकारों के रूप में समाज-विरोधी अपराधी तत्वों की पूरी फ़ौज ही आ गयी है। अपने मूलस्थान में ही धरतीपुत्र अपने जन्माधिकार से वंचित हो गये हैं" ('मेनस्ट्रीम', १२ दिसंबर, १९७०)।

अलबत्ता स्वयं पर्वतीयजनों में ही पूर्ण मतैक्य नहीं है। ऊपर बतलाया जा चुका है कि इस इलाक़े की आबादी दो भाषा-समूहों–कूमायूंनी और गढ़वाली–की है। गढ़वालियों के नाम पर सक्रिय कुछ राजनीतिक कार्यकर्ता उत्तराखंड के विचार का इस आधार पर विरोध करते हैं कि ऐसे राज्य में प्रधान स्थिति कुमायूंइयों की होगी। गढ़वालियों ने तो एक विशेष सम्मेलन तक आयोजित किया, जिसमें यह घोषित किया गया कि "अगर आठ पहाड़ी ज़िलों से निर्मित राज्य (उत्तराखंड) स्थापित हो जाता है, तो गढ़वालियों का कुमायूंइयों द्वारा शोषण जारी रहेगा" ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', १५ दिसंबर, १९७०)।

हम देख चुके हैं कि अलग राज्य का निर्माण होने के बाद मेघालय में किस प्रकार दोनों संजातीय समूहों–गारो और खासी–में कलह का आरंभ हो गया। गढ़वालियों और कुमायूंइयों के बीच अंतर बहुत पहले ही प्रकाश में आ गये हैं, जब कि उत्तराखंड आंदोलन का परिणाम अभी अनिश्चित ही है। इसके बावजूद यह आंदोलन चल ही रहा है।

उत्तरप्रदेश के मैदानी इलाक़ों में कुछ राजनीतिक दल समय-समय पर राज्य के विभाजित किये जाने की मांग को उठाते रहते हैं। उदाहरण के

लिए, मई, १९७२ में उत्तरप्रदेश विधानसभा के चौदह सदस्यों ने तीन नये राज्यों—ब्रजप्रदेश, अवधप्रदेश और पूर्वीप्रदेश—की स्थापना किये जाने के बारे में एक प्रस्ताव पेश किया। प्रस्ताव विधानसभा द्वारा अस्वीकार कर दिया गया। अचरज की बात है कि विभाजन का समर्थन करनेवालों के तर्क सारतः एक जैसे ही थे, यद्यपि उनके प्रतिपादक उत्तरप्रदेश के अलग-अलग इलाकों के थे, जिनकी सामाजिक-आर्थिक अवस्थाएं भिन्न-भिन्न हैं। विभाजन के एक समर्थक का कहना है कि "उत्तरप्रदेश के पूर्वी भाग में राज्य के किसी भी अन्य प्रदेश की अपेक्षा औद्योगिक विकास में अधिक निवेश की आवश्यकता है। मगर लगता नहीं कि किसी को भी इसकी कोई भी चिंता है। अगर वर्तमान उदासीनता पर पार नहीं पाया जाता, तो एक दिन ऐसा आयेगा कि जब चौदह ज़िलों के लोग उठ खड़े होंगे और, जैसे तेलंगाना आंदोलन के मामले में हुआ था, इन ज़िलों के एक राज्य के रूप में अलग किये जाने की मांग करेंगे" ('लिंक', २९ सितंबर, १९७१)। अपनी बारी में पश्चिमी ज़िलों को भी यह शिकायत है कि केंद्रीय सरकार और राज्य सरकार द्वारा उनके हितों की उपेक्षा की जाती है और पश्चिमी ज़िलों के प्रशासन पर पूर्वी ज़िलों के लोगों का प्राधान्य है ('इंडियन एक्सप्रेस', ९ जून, १९७२)।

राजनीतिक टीकाकारों के अनुसार इस तरह की मांगें राजनीतिक संघर्ष में बदलते शक्ति-संतुलन को, न कि प्रदेश के विकास के बारे में सरोकार को प्रतिबिंबित करती हैं। उदाहरण के लिए, उत्तरप्रदेश के पश्चिमी ज़िलों के अलग किये जाने की मांग सबसे आग्रहपूर्वक भारतीय क्रांति दल* द्वारा की गयी थी, जिसका मुख्य आधार धनी जाट किसानों में है, जो पश्चिमी ज़िलों में ही तो बहुत महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं, मगर पूर्वी ज़िलों में जिनकी कोई जड़ें नहीं हैं। उसके नेताओं ने राज्य को विभाजित करने की मांग चुनावों में हारने के बाद उठायी थी, क्योंकि जहां वे उत्तरप्रदेश में तो सत्ता में आने के बारे में तो आश्वस्त नहीं हो सकते थे, वहां पश्चिमी

---

*भारतीय जनसंघ की ही भांति भारतीय क्रांति दल भी १९७७ में जनता पार्टी में विलीन हो गया था। जनता पार्टी में फूट पड़ने और जनता सरकार के पतन के बाद उसके अधिकांश सदस्यों ने भारतीय लोक दल के नाम से अलग पार्टी बना ली। वर्तमान भारतीय लोक दल सारतः भूत-पूर्व भारतीय क्रांति दल ही है।

ज़िलों के अलग प्रशासनिक इकाई में बदल दिये जाने की सूरत में उनके लिए सत्ता-प्राप्ति की वास्तविक संभावनाएं थीं।

मध्यप्रदेश में भी बिलकुल ऐसी ही स्थिति पायी जाती है, जिसे कभी-कभी एक प्रशासनिक असंगति कहा जाता है। "यह अनेक विषम जातीय इकाइयों से, जिनमें से प्रत्येक का अपना अलग विशिष्ट व्यक्तित्व है, निर्मित सबसे बड़ा राज्य है। राज्य में चार प्रदेश हैं, जिनमें सबसे बड़ा महाकोशल है, जो विधानसभा में १५४ सदस्य भेजेगा। अन्य प्रदेश हैं मध्यभारत (६१ सदस्य), विंध्यप्रदेश (४०) और भोपाल (११)" ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', ५ जनवरी, १९६७)। पिछले दस वर्षों में किसी क्षेत्र विशेष को राज्य बना देने की अपीलें मध्यप्रदेश के राजनीतिक जीवन का एक स्थिर लक्षण बन गयी हैं। सामान्यतया इस तरह की मांगें सत्ता-संघर्ष में हार जानेवाले पक्षों की तरफ़ से ही आती हैं। १९६७ के संसदीय चुनावों के पहले मध्यभारत, भोपाल और महामालवा को अलग करने की मांगें दक्षिणपंथी राजनीतिक पार्टियों द्वारा उठायी गयी थीं, जिन्हें सामंती तत्वों का समर्थन प्राप्त था। चुनावों और दक्षिणपंथी पार्टियों की मिली-जुली सरकार के बनने के बाद महाकोशल के अलग किये जाने की मांग कांग्रेस सदस्यों द्वारा उठायी गयी, क्योंकि उनका इस प्रदेश में काफ़ी प्रभाव था। १९६९ में मध्यप्रदेश के मुख्य धानप्रसू क्षेत्र छत्तीसगढ़ में एक अंतःपार्टी समिति की स्थापना की गयी, जिसने छत्तीसगढ़ के अलग राज्य बनाये जाने की मांग की और सरकार के ख़िलाफ़ इस प्रदेश के हितों की अव-हेलना करने के चिरप्रचलित आरोप लगाये ('स्टेट्समैन', १७ दिसंबर, १९७०; 'इंडियन एक्सप्रेस', ३० जनवरी, १९७२)। मध्यप्रदेश के विभाजन के लिए आंदोलनों को कोई जन-समर्थन नहीं मिल पाया, क्योंकि वे सत्ता-संघर्ष में राजनीतिक दलों के संकीर्ण हितों को ही प्रतिबिंबित करते हैं। उनमें से कोई भी अपने प्रदेश की आबादी के ख़ासे बड़े हिस्से को अपने पक्ष में नहीं ला सका है।

कितनी ही भाषावैज्ञानिक कृतियों में हिंदी क्षेत्र में नये राज्यों के निर्माण की मांग को इस या उस बोली के स्वतंत्र भाषा बनने का लक्षण माना जाता है। इस तरह के आंदोलनों का ध्यानपूर्ण विश्लेषण उनमें संजातीय-भाषाई तत्व का अभाव दिखलाता है।* कभी-कभी किसी प्रदेश की "विशेष

---

*संभवतः मिथिला क्षेत्र को छोड़कर।

संस्कृति" और उसके इतिहास और भौगोलिक स्थिति के निरालेपन को भी रेखांकित किया जाता है। लेकिन किसी राज्य का निर्माण किये जाने की मांग उठाते समय भिन्न-भिन्न संगठन एक-दूसरे से भिन्न प्रादेशिक सीमाएं सुझाते हैं, जिनमें सामान्यतः अनेक बोलीगत क्षेत्र आ जाते हैं। साथ ही यह भी ध्यान में रखा जाना चाहिए कि हिंदी क्षेत्र के प्रशासनिक पुनर्गठन का समर्थन करनेवालों में से किसी ने भी स्थानीय बोली को साहित्यिक हिंदी के मुक़ाबले पर रखने का सुझाव नहीं दिया है। इस प्रसंग में यह दृष्टव्य है कि द्विभाषी पंजाब के विभाजन के संघर्ष में हरियानी (हरियानवी) को उठाकर स्वतंत्र भाषा के पद पर प्रतिष्ठित करना चाहनेवालों के प्रयास असफल रहे थे। अप्रैल, १९६५ में हरियानवी बोली और लोकवार्ता के अनुरागियों के संगठन हरियाणा लोकमंच का वार्षिक सम्मेलन हुआ था। लोगों के अपनी मातृभाषा के प्रति भावात्मक लगाव को ध्यान में रखते हुए सम्मेलन के आयोजकों ने प्रस्ताव रखा कि हरियानवी को नये राज्य की एक राजभाषा घोषित किया जाना चाहिए और उसके संरक्षण तथा विकास के लिए क़दम उठाये जाने चाहिए। तथापि, सम्मेलन में राजनीतिक कार्यकर्ताओं के भाषणों में पंजाबीविरोधी स्वर का प्राधान्य था। जहां तक राजभाषा की बात थी, तो बहुमत निश्चित रूप से साहित्यिक हिंदी के पक्ष में था। हरियाणा लोकमंच का हरियानवी को दिल्ली की दूसरी राजभाषा घोषित करवाने के लिए आंदोलन शुरू करने का प्रयास भी असफल रहा।

एक टीकाकार के अनुसार "भाषाई राज्यों की मांगों के पीछे अकसर जातपांतीय हेतुक चीन्हा जा सकता है—बड़े बहुभाषी राज्य में अल्पसंख्यक किसी ख़ास भाषाई क्षेत्र में प्रभुत्वशाली जात-बिरादरी ने इस आशा में आंदोलन का नेतृत्व किया है कि छोटी इकाई में वह राजनीतिक सत्ता को प्राप्त कर लेगी। भाषावार राज्यों के एक विरोधी ने चेतावनी दी थी कि वे 'वर्ण-व्यवस्था को और भी भीषण रूप में वापस ले आयेंगे' और पुनर्गठन का एक नतीजा जातपांतगत प्रतिद्वंद्विताओं को सत्ता और संरक्षणत्व के उसके दुर्भर फल के लिए प्रतिस्पर्धा की सान पर आत्म-चेतना को तेज़ करना रहा है" ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', २६ जनवरी, १९६७)। जातपांत की अभिमुखता कभी-कभी ख़ासे खुले रूप ग्रहण कर सकती है। उदाहरण के लिए, किसी रामास्वामी पडयाची ने तमिलनाडू श्रमिक पार्टी की स्थापना की घोषणा की, जो वन्नियर-क्षत्रीय बिरादरी

के हितों का प्रतिनिधित्व करने का दावा करती थी और तमिलनाडू में एक अलग वन्नियर राज्य की स्थापना के लिए, जिसका केंद्र वेलूर को होना था, संघर्ष करने का इरादा रखती थी। कच्छ में राजपूत सभा ने इस प्रश्न को हल करने के लिए जनमत-संग्रह की मांग की कि कच्छ गुजरात का हिस्सा बना रहे या उसे संघ-राज्यक्षेत्र बना दिया जाये। कच्छ के अधिकांश राजपूत नेता भूतपूर्व राजा और सामंत हैं और इसलिए इस मामले में हेतुक केवल जातपांतगत ही नहीं, वरन जातपांतगत और सामंती, दोनों ही हैं।

भाषाई राज्य के भीतर जातीय समेकन में बाधा डालनेवाले जातपांतीय झगड़ों का एक अत्यंत सुस्पष्ट उदाहरण कर्णाटक में घटी घटनाओं का सिलसिला है। साठ के दशक के अंत तक कर्णाटक में राजनीतिक संघर्ष यहां की दो मुख्य बिरादरियों – लिंगायतों और वोक्कालिगों – के बीच हित-संघर्ष पर केंद्रित हो चुका था। भूतपूर्व मैसूर रियासत, कर्णाटक के बंबई राज्य में पड़नेवाले भागों, कुर्ग और भूतपूर्व हैदराबाद रियासत के एक हिस्से को कन्नड़भाषी आबादी के साथ एकीकृत करने का सुझाव देते हुए राज्य पुनर्गठन आयोग ने लक्षित किया था कि "संभवतः यह बात पूरी तरह से बोधगम्य नहीं है कि इनमें से कुछ अल्पसंख्यकों को यह आशंका है कि लिंगायतों को भावी कर्णाटक राज्य में जो राजनीतिक स्थिति प्राप्त होगी, उसका एक परिणाम दूसरे धार्मिक समूहों के मोल वीरशैवमत का प्रभुत्व अथवा प्रसार हो सकता है" ('राज्य पुनर्गठन आयोग की रिपोर्ट' [अंग्रेज़ी में], पृ० ९१)। लिंगायतों और वोक्कालिगों* के बीच विवाद वर्षों भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के स्थानीय संगठन में धड़ों के संघर्ष का रूप लेता रहा था। फिर वोक्कालिगा सदस्य संगठन से निकल आये और विरोधी दलों के समर्थन से सत्ता-संघर्ष चलाने लगे। "लिंगायत समुदाय, जिसने अपनी **आर्थिक** (बल हमारा – ले०), शैक्षिक तथा धार्मिक पृष्ठभूमि के

---

*लिंगायतों में कुछ मंझोली और निचली जात-बिरादरियां आती हैं। लिंगायत संप्रदाय का उदय मध्य युग में ब्राह्मणविरोधी (वैष्णवविरोधी) आंदोलन के दौरान एक तांत्रिक शैव (वीरशैवमत) धारा के रूप में हुआ था। आजकल इनमें कुछ कृषिजीवी बिरादरियों और व्यापारी वर्णों की गणना की जाती है।

वोक्कालिगा कृषक, अधिकांशतः भूस्वामी, बिरादरियों के लिए कन्नड़ लोगों में प्रयुक्त सामान्य नाम है।

कारण नये मैसूर राज्य में प्रमुख स्थिति प्राप्त कर ली थी, और वोक्कालिगा समुदाय, जिसका भूतपूर्व मैसूर रियासत में प्राधान्य था, के बीच प्रतिद्वंद्विता को अब एक क्षेत्रीय अभिनति प्रदान कर दी गयी" ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', २३ जुलाई, १९६९)। वोक्कालिगा नेताओं ने भेदभाव के आधार पर "पुराने मैसूर" के अन्य कन्नड़ क्षेत्रों से पृथक्करण की मांग की, अर्थात जातीय राज्य के विभाजन का आग्रह किया। इस मांग को वोक्कालिगों के उच्च संस्तर का समर्थन तो प्राप्त हो गया है, किंतु कर्णाटक की आबादी के बहुलांश का समर्थन नहीं है। किसी भी सूरत में जातपांतीय हित कन्नड़ जातीय समेकन के मार्ग में गंभीर बाधा रहे हैं। जाति-व्यवस्था ही पुरानी सामाजिक विरचनाओं के अवशेषों को बनाये रखने में सहायता देती है और विकास के स्वाभाविक क्रम को मंदित करती है।

अलग राज्य के विचार को कभी-कभी सर्वथा अप्रत्याशित मोड़ दे दिया जाता है। पंजाब और आंध्रप्रदेश के देहाती इलाक़ों में हरित क्रांति और पूंजीवादी संबंधों के तीव्र विकास की अवस्थाओं में भूस्वामियों और खेतिहर मज़दूरों (जिनमें बहुसंख्या अछूतों की है) के बीच अंतर्विरोधों में सख़्त तेज़ी आयी है। कुछ अछूत नेताओं ने आबादी के इन अंशकों के लिए अलग राज्यों – आंध्र में अछूतिस्तान और पंजाब में हरिजनिस्तान – का निर्माण किये जाने की मांगें उठायी हैं। ये विचार, निस्संदेह, यूटोपियाई हैं। भारत में ऐसा कोई अविच्छिन्न इलाक़ा नहीं है, जिसकी आबादी सिर्फ़ हरिजनों की हो। अलावा इसके, स्वयं हरिजनों के भीतर भी विभेदीकरण की प्रक्रिया चल रही है, जिसके दौरान उनमें एक उच्च संस्तर उदित हो रहा है और शोषक वर्गों की क़तारों में शामिल होता जा रहा है। अलगाव के नारे यह उच्च संस्तर ही पेश करता और इस तरह से जातपांतगत पूर्वग्रहों को दृढ़ीभूत करने और जातपांत से निरपेक्षत: मेहनतकशों के हित में सचेतन वर्ग-संघर्ष के विकास को अवरुद्ध करने की कोशिश करता है।

सांप्रदायिक राजनीतिज्ञ डॉ० ए० जे० फ़रीदी का भारत की उर्दूभाषी आबादी के लिए उर्दूस्तान की स्थापना करने का प्रस्ताव भी इतना ही संभावनाहीन प्रतीत होता है। यह विचार सांस्कृतिक तथा जातीय स्वायत्तता के विचार के समान ही है, जिसका व्यवहार में कार्यान्वियन, जैसे लेनिन ने प्रदर्शित किया था, मेहनतकशों को पुरोहितवर्गीय प्रतिक्रियावादियों और सांप्रदायिक राजनीतिज्ञों के प्रभुत्व के अधीन कर देगा।

तेलंगाना के आंध्र से, विदर्भ के महाराष्ट्र से अथवा सौराष्ट्र के गुजरात

से पृथक किये जाने की प्रदेशवादी मांगों की तरफ़ गंभीर ध्यान दिया जाना चाहिए, जो ऐसे राज्यों के विभाजन की ओर लक्षित हैं, जिनका निर्माण जातीय तथा भाषाई सीमांकन के सिद्धांत के सुसंगत कार्यान्वयन के लिए जनव्यापी संघर्ष के दौरान हुआ था। इन मांगों का आगे चलकर, जातीय समेकन की प्रक्रिया में आर्थिक संबंधों की भूमिका के सिलसिले में विवेचन किया जायेगा।

भषााई राज्यों की भूमिका

स्वतंत्र भारत के राजनेता, जिन पर क्षेत्रीय तथा भाषाई सीमांकन के सिद्धांत के आधार पर देश के प्रशासनिक पुनर्गठन के बारे में निर्णय लेने का दायित्व था, केंद्रापसारी प्रवृत्तियों के, देश के राजनीतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक जीवन पर राज्यों के प्रभाव के दृढ़ीकरण की आशा कर रहे थे। जुलाई, १९५२ में संसद में बोलते हुए प्रधान मंत्री जवाहरलाल नेहरू ने लक्षित किया था: "मुझे लगता है कि भाषावार सूबों की मांग के पीछे कुछ ऐसा है, जिसके साथ निपटना भाषाओं की समस्या की बनिस्बत कुछ ज्यादा मुश्किल चीज़ है। यह चीज़ इस मांग को करनेवाले लोगों का यह महसूस करना है कि उनके साथ इंसाफ़ नहीं हुआ है और अगर उनको अपने मामलों का बंदोबस्त आप करने दिया जाता है, तो उन्हें जो हासिल करना है, उसे वे हासिल करके रहेंगे" (जवहारलाल नेहरू के भाषण, १९४९–१९५३ [अंग्रेज़ी में], खंड २, दिल्ली, १९५७, पृ० ५९)। दूसरे शब्दों में, यह प्रत्यक्ष था कि भाषावार राज्य अत्यंत विविध हितों के लिए आकर्षण का केंद्र बन जायेंगे। अलबत्ता कम ही लोग यह भविष्यवाणी कर सकते थे कि भारत में साठ के दशक में जातीय संबंध ऐसे प्रचंड रूप ग्रहण कर लेंगे, जिनका कारण बहुत से भारतवासी स्वयं भाषाई राज्य के सिद्धांत को ही मानते थे। सितंबर, १९६० में जवाहरलाल नेहरू ने लोक सभा में बड़ी तल्ख़ी के साथ कहा था: "हम एक संवृत समाज में, एक नहीं, कितने ही संवृत समाजों में रहते हैं। एक बंगाली संवृत समाज है, एक मराठी संवृत समाज है, एक मलयाली संवृत समाज है, वग़ैरह, वग़ैरह" (जवाहरलाल नेहरू के भाषण, १९५७–१९६३ [अंग्रेज़ी में], खंड ४, नयी दिल्ली, १९६४, पृ० ७)। यह तल्ख़ी, बल्कि किंकर्तव्यविमूढ़ता तक गुजरात की तत्कालीन शिक्षा मंत्री के एक कथन में भी महसूस की जा

सकती है: "इस देश में मैं जहां भी जाती हूं, अपने को अजनबी पाती हूं। दक्षिण में मैं एक भी नामपट नहीं पढ़ सकती; मैं नहीं जानती कि कौनसी राह जाऊं, किससे पूछूं और अपनी बात कैसे समझाऊं" ('लिंक', ५ फ़रवरी, १९६७)। प्रशासन तथा प्रबंधविशेषज्ञ अशोक चंदा की मान्यता है कि "भाषाई राज्यों की संकल्पना राष्ट्र की मौलिक एकात्मता की सिद्धि में भी बाधा डालती है और, निस्संदेह, राष्ट्रीय एकता की वृद्धि में आड़े आती है। नये राज्यों के निर्माण ने नयी जटिल प्रशासनिक समस्याएं भी पैदा की हैं, पेश्तर इसके कि देशी राज्यों के एकीकरण से जनित पूर्ववर्ती समस्याओं को पूरी तरह से हल किया जा सके" (अशोक चंदा, 'लोक प्रशासन' [अंग्रेज़ी में], लंदन, १९५८, पृ० २९)। पत्रकार वी० विवेकानंदन लक्षित करते हैं कि "राज्यों का भाषावार पुनर्गठन भाषा-समस्या के इतिहास में एक महत्वपूर्ण चरण था। लेकिन इस क़दम का समर्थन करनेवालों की आशाओं के विपरीत यह क़दम सामंजस्य की स्थापना करने के बजाय भाषाई प्रतिद्वंद्विता की भावना को बढ़ाने की तरफ़ ही ले गया है। इन सभी बातों ने भारत की एकता को कमज़ोर किया है" ('मेनस्ट्रीम', ६ दिसंबर, १९६७)।

भारतीय वैज्ञानिक तथा राजनीतिक साहित्य में अंधराष्ट्रवादी नारों को लेकर आंदोलन करनेवाली नाना सेनाओं को भाषाई राज्यों के साथ जोड़ा जाता है। राज्यों के ढांचे के भीतर ही तमिलनाडू में द्रविड़ मुनेत्र कड़गम (डी० एम० के०), पंजाब में अकाली दल, बिहार में झारखंड पार्टी, मिज़ोराम में मिज़ो राष्ट्रीय मोरचा, आदि जैसी राष्ट्रवादी और पार्थक्यवादी पार्टियों ने अपनी सरगरमियों को तेज़ किया। विचाराधीन अवधि के भीतर राज्यों में नयी पार्टियों—ओड़िसा में उत्कल कांग्रेस, पश्चिम बंगाल में बंगला कांग्रेस और कर्णाटक में जनता पक्ष—का उदय हुआ, जिन्होंने अपने कार्यकलाप को या तो पड़ोसी राज्यों अथवा केंद्र का विरोध करने, या अधिक स्वायत्तता की मांगों पर आधारित किया।

देश में अंधराष्ट्रवादी भावनाओं की वृद्धि से चिंतित होकर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नेतृत्व ने १९६७ के अंत में संसद से विधिविरुद्ध गतिविधि अधिनियम पारित करवाया, जो पार्थक्यवाद की किसी भी अभिव्यक्ति पर लागू होता था। जनवरी, १९६८ में इस अधिनियम के आधार पर मिज़ो राष्ट्रीय मोरचे पर प्रतिबंध लगा दिया गया, क्योंकि वह मिज़ोराम के भारत से विलग होने का समर्थक था। इस बात पर ज़ोर दिया जाना चाहिए

कि इसके बाद भारत सरकार ने देश में अंतर्जातीय स्थिति की तरफ़ से आंखें नहीं मूंदीं। नवंबर, १६७६ में संसद ने संविधान में बयालीसवां संशोधन करने के बारे में विधेयक पारित किया, जिसमें केंद्र को और समूचे तौर पर राज्य की एकता को मज़बूत करने की ओर लक्षित प्रावधान थे और जिसने अधिकारियों को इस एकता के लिए ख़तरनाक ग़ैर-क़ानूनी गतिविधियों और, सर्वोपरि, "देश के विखंडीकरण के प्रचार" का निरोध करने में समर्थ बना दिया।

भाषाई राज्यों की भूमिका के प्रश्न पर विचार करते समय कुछ राजनीतिज्ञ और कुछ विद्वान भी न केवल उनकी भर्त्सना ही करते हैं, बल्कि देश के प्रशासनिक संगठन को बदलने के लिए निश्चित प्रस्ताव भी रखते हैं, जिन्हें तीन वर्गों में रखा जा सकता है। पहले वर्ग में एकात्मक पद्धति और मज़बूत केंद्र के प्रस्ताव आते हैं। भूतपूर्व राष्ट्रपति वी० वी० गिरि का कहना था कि देश के सामने विखंडित हो जाने का ख़तरा खड़ा हुआ है और भाषाई अंधराष्ट्रवाद मुश्किल से हासिल की गयी आज़ादी को ख़तरे में डाल रहा है... देश में एकात्मक शासन पद्धति होनी चाहिए, ताकि उसकी एकता और स्वतंत्रता को सुरक्षित किया जा सके ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', २० अप्रैल, १६६६)। "मेरी राय में भारत को एकात्मक राज्य होना चाहिए। तब भाषाई राज्यों के निर्माण से उत्पन्न पार्थक्यवादी प्रवृत्तियों को नियंत्रित करना आसान हो जायेगा" (पूर्वो०, १२ अक्तूबर, १६७४)। भारत के भूतपूर्व महाधिवक्ता सी० के० दफ़्तरी, भूतपूर्व मुख्य न्यायमूर्ति मेहरचंद महाजन, आदि भी एकात्मक पद्धति के प्रतिपादक थे। एकात्मक पद्धति के कुछ समर्थक और भी आगे जाते हैं। दिल्ली में प्रमुख विद्वानों और राजनीतिक नेताओं की एक बैठक में कहा गया था कि भारत में राष्ट्रपतिक शासन पद्धति लागू करने का विचार ध्यानपूर्वक सोचने की अपेक्षा करता है। इस तरह के विचार बाद में भी व्यक्त किये गये थे।

सुधारकों का दूसरा वर्ग भाषाई राज्यों के बजाय "मंडलीय अथवा आंचलिक (ज़ोनल) राज्यों" का सुझाव देता है। मंडलीय राज्यों की कोई एक संकल्पना नहीं है। विभिन्न लेखक भिन्न-भिन्न मानदंड सामने रखते हैं—आर्थिक विकास, सुविधाजनक प्रशासनिक प्रबंध, भौगोलिक सुसंहति, समान प्रदेश और समान आबादी होने की आवश्यकताएं। उदाहरण के लिए, वी० बी० कामत, जिन्होंने बंबई में मंडलीय राज्यों के लिए एक संगठन की स्थापना की थी, यह मानते हुए दस द्विभाषी राज्यों (असम-

बंगाल, बिहार-ओड़िसा, जिसका नाम जमशेदपुर होगा, पंजाब-राजस्थान, जिसे जयपुर कहा जायेगा, तथा अन्य) का निर्माण करने का सुझाव देते हैं कि वे "इस समय संकल्पित शुद्धत: एकभाषी राज्यों और अतीत के बहु-भाषी प्रांतों के बीच अच्छा मध्यमार्ग" हैं (वासुदेव ब० कामत, 'भारत का भाषाई विखंडीकरण : इसे अब भी क्यों न रोकें?' [अंग्रेज़ी में], बंबई, १९६६, पृ० २७)।

अंततः तीसरे वर्ग के सुझाव तथाकथित छोटे राज्यों अथवा लघु राज्यों के आधार पर, जो लगभग समान आकार के होंगे और भाषा द्वारा आपस में जुड़े न होंगे, प्रशासनिक पुनर्गठन की अपेक्षा करते हैं। इस सुझाव के प्रतिपादकों का मुख्य तर्क बड़े और छोटे राज्यों के बीच दरजे और अवसरों में असमानता का अंत करना है। छोटे राज्यों के प्रतिपादकों में दिल्ली विश्व-विद्यालय के समाजशास्त्र विभाग के अध्यक्ष एम० एन० श्रीनिवास, विकास-मान समुदाय अध्ययन केंद्र के निदेशक रजनी कोठारी तथा अन्यों का उल्लेख किया जा सकता है। भारतीय जनसंघ के कानपुर अधिवेशन (फ़रवरी, १९७३) के एक प्रस्ताव में एक नया राज्य पुनर्गठन आयोग नियुक्त किये जाने की मांग की गयी थी। लेकिन साथ ही जनसंघ के नेतृत्व ने यह भी कहा कि उसके स्थानीय संगठन नये राज्यों के लिए आंदोलनों का समर्थन करने और इस तरह की मांगें उठाने के लिए स्वतंत्र हैं ('इंडियन एक्स-प्रेस', ८ फ़रवरी, १९७३; 'स्टेट्समैन', ११ फ़रवरी, १९७३)।

मज़बूत केंद्रीय सरकार के साथ "छोटे राज्यों" का विचार भारतीय बड़ी पूंजी के प्रतिनिधियों में विशेषकर पसंद किया जाता है। उनकी दिल-चस्पी राज्य सरकारों द्वारा, जिन्हें स्थानीय आर्थिक समस्याओं का समाधान करने में काफ़ी स्वतंत्रता प्राप्त है और जो इस समय "स्वयं अपने" बुर्जु-आओं और व्यापारियों को ज्यादा प्राथमिकता दिया करते हैं, लगाये जाने-वाले नियंत्रणों और परिसीमनों के बिना अखिल भारतीय मंडी में अधिकतम अनुकूल स्थिति प्राप्त करने में है।

कुछ निष्कर्ष

भाषाई राज्यों का निर्माण भारत जैसे औपनिवेशिक पराधीनता से मुक्त हुए बहुजातीय राज्य में जातीय समस्या के जनतांत्रिक समाधान में एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण चरण है। भारतीय भाषाई राज्य को, बिना किसी

अतिशयोक्ति के, जातीय राज्यत्व का एक रूप कहा जा सकता है, जो जातीय विकास के लिए पर्याप्त गुंजाइश देता और अनिवार्यतः जातीय कलह की तरफ़ नहीं ले जाता। स्वाभाविकतया यहां एकभाषी राज्यों की बात की जा रही है, जो अपनी सीमाओं के भीतर एक जाति द्वारा आवासित एक संजातीय क्षेत्र को ऐक्यबद्ध करते हैं। भारतीय संघ के भीतर राज्यों के कार्य का अनुभव दिखलाता है कि राज्य-संगठन का यह रूप जातीय समेकन की अपेक्षाओं की पूर्ति करता है और जातीय जीवन के औजस्वीकरण में सहायक होता है। एक ही भाषा बोलनेवाली आबादी का एक ही राज्य की सीमाओं के भीतर एकीकरण उस विशेष भारतीय भाषा के विकास और उसके सामाजिक कार्य के प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। "कोई भी भाषित संसर्ग कुछेक अवस्थाओं की पूर्वकल्पना करता है, जिनके बिना वह सर्वथा अकल्पनीय है... किसी भाषा के उसके बोलनेवालों द्वारा समझे जाने में एक निश्चित और न्यूनाधिक सीमित प्रदेश में साथ-साथ रहने के परिणामस्वरूप विकसित समान सामाजिक जीवन, सामान्य लोकाचार, प्रथाओं और आदतों का बहुत महत्व है" ('सामान्य भाषाविज्ञान। भाषा के अस्तित्व के रूप, उसके कृत्य तथा इतिहास' [रूसी में], मास्को, १९७०, पृ० ९१)।

भाषाई राज्य शिक्षा के और प्रशासनतंत्र के कुछ सोपानों के जनतंत्रीकरण का और अभी तक उदासीन रहती आयी आबादी के एक बड़े हिस्से की सक्रिय सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन में सहभागिता का संवर्धन करते हैं। जनसाधारण की जातीय चेतना के जागरण के साथ संबद्ध प्रदेश में सामान्य भाषा की आवश्यकता अधिकाधिक और तेज़ी के साथ अनुभव की जाने लगती है। भाषा सार्वजनिक जीवन और राजनीतिक संघर्ष का एक महत्वपूर्ण कारक बन जाती है। विभिन्न राजनीतिक अभियानों के दौरान राजनीतिक नेता स्थानीय भाषा (और कभी-कभी बोली) के माध्यम से ही निर्वाचकों को संबोधित करते अथवा जनमत को एकजुट करते हैं, जो इस प्रकार अधिकाधिक संसर्गात्मक तथा प्रतिष्ठात्मक महत्व अर्जित करती जाती है और संघर्ष का एक स्वतंत्र विषय बनती जाती है। भारत की विशिष्ट अवस्थाओं में इस संघर्ष में एक भाषा को दूसरी के मुक़ाबले पर रखना, उसे राजभाषा का दरजा प्रदान किया जाना और उसे विभिन्न विशेषाधिकारों का दिया जाना या "भाषा को बचाने" का नारा देना सन्निहित है। इस प्रसंग में अकसर यह विचार व्यक्त किया गया है कि

झगड़े भाषाई प्रश्नों में राजनीति के हस्तक्षेप के परिणामस्वरूप उत्पन्न होते हैं।

इस प्रकार, "भाषावाद" की संकल्पना, जो सामान्यतः भाषाई राज्यों से जुड़ी हुई है, सारतः बुर्जुआ राष्ट्रवाद में बदल जाती है। लेकिन हम देख चुके हैं कि भारत में जातीय और भाषाई विवाद भाषाई राज्यों के निर्माण के बहुत पहले भी होते आये हैं और इसलिए उन्हें ऐसे विवादों का प्राथमिक कारण नहीं माना जा सकता। भारत में स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद की घटनाओं और, विशेषकर, भाषाई राज्य संबंधी संघर्ष ने जातीय प्रश्न के प्रति दो विपरीत उपागमों – एक सुसंगत जनतांत्रिक सर्वहारा अंतर्राष्ट्रीयतावाद, जो जातीय आंदोलनों के ऐतिहासिक आधार को स्वीकार करता है, और एक बुर्जुआ-राष्ट्रवादी उपागम, जो अनिवार्यतः उग्र अंधराष्ट्रवाद की तरफ़ ले जाता है और जातीय आंदोलन को जातीय तकरार में बदल देता है – के बारे में लेनिन के निष्कर्षों की पूर्णतः पुष्टि की है। लेनिन ने लिखा है: "समस्त सामंती दासत्व, समस्त जातीय उत्पीड़न और किसी एक जाति अथवा किसी एक भाषा के समस्त विशेषाधिकारों को उलटना एक जनतांत्रिक शक्ति के नाते सर्वहारा का अविवाद्य कर्तव्य है और अविवाद्य रूप से सर्वहारा वर्ग-संघर्ष के हितों में है, जिसे जातीय प्रश्न पर झगड़े धूमिल और मंदित करते हैं। लेकिन बुर्जुआ राष्ट्रवाद की सहायता करने में इन कड़ाई से सीमित और निश्चित ऐतिहासिक सीमाओं के **आगे जाने** का मतलब सर्वहारा से विश्वासघात करना और बुर्जुआ वर्ग का पक्ष लेना है। यहां एक सीमारेखा है, जो अकसर बहुत महीन होती है... जातीयता का सामान्यतया विकास बुर्जुआ राष्ट्रवाद का सिद्धांत है, यही बुर्जुआ राष्ट्रवाद की अनन्यता का कारण है, यही निरंतर जातीय कलहों का कारण है। सर्वहारा न सिर्फ़ हर जाति के जातीय विकास का समर्थन करने से ही परे रहता है, बल्कि, इसके विपरीत, जनसाधारण को ऐसी भ्रांतियों के ख़िलाफ़ आगाह करता है, पूंजीवादी समागम की पूर्णतम स्वतंत्रता का समर्थन करता है और जातियों के हर प्रकार के स्वांगीकरण का – सिवाय उसके कि जो बलप्रयोग अथवा विशेषाधिकार पर आधारित होता है – स्वागत करता है" (व्ला० इ० लेनिन, 'जातियों के प्रश्न पर आलोचनात्मक टीकाएं', १९१३)।

यह दृष्टव्य है कि स्वतंत्र भारत में जातीय समस्या के जनतांत्रिक समाधान के लिए कार्यशील जवाहरलाल नेहरू ख़तरा भाषाई राज्यों की

स्थापना में नहीं, बल्कि उनके बीच राष्ट्रवादी परिघ खड़े करने के प्रयासों में देखते थे। संसद में राज्य पुनर्गठन आयोग की रिपोर्ट पर बहस के समय उन्होंने कहा था: "मैं इस बात को स्वीकार करता हूं कि लोगों की भाषा उनके विकास के लिए, फिर चाहे वह शिक्षा का, प्रशासन का, या कोई भी और मसला क्यों न हो, सर्वोपरि महत्व का मामला है। लेकिन भाषा को पूर्णतम हद तक विकसित करने और किसी भाषाई क्षेत्र के चहुं ओर एक दीवार खड़ी करने और उसे सीमा कहने के बीच अंतर है। मैं इस कथन को पूरी तरह से स्वीकार करता हूं कि लोग सिवाय अपनी भाषा के ज़रिये और किसी तरह से वास्तव में अपना विकास नहीं कर सकते, मगर इसका यह मतलब नहीं कि उन्हें और उनकी भाषा को विकसित होने देने के लिए उनके और दूसरों के बीच एक बाड़ खड़ी कर दी जाये" (जवाहरलाल नेहरू के भाषण। मार्च, १९५३ – अगस्त, १९५७ [अंग्रेज़ी में], खंड ३, नयी दिल्ली, १९५८, पृ० १७२)। यद्यपि भाषाई राज्यों का उस समय अभी निर्माण नहीं हुआ था, फिर भी जवाहरलाल नेहरू को अब भी उन राष्ट्रवादी शक्तियों के साथ निपटना पड़ रहा था, जो जातीय सीमांकन को राष्ट्रवादी टकराव में बदल देना चाह रही थीं। जवाहर-लाल नेहरू के उपरोक्त कथन के पंद्रह साल बाद, साठ के दशक में भारत के विकास का समाहार करते हुए समाजशास्त्री टी० एन० मदान इस निष्कर्ष पर पहुंचे: "राज्यों का भाषाई और इसलिए सांस्कृतिक समरूपता के आधार पर पुनर्गठन अब भी बहुत युक्तियुक्त प्रक्रिया प्रतीत होता है। फिर भी राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से इस क़दम की ऊंची सामाजिक और राजनीतिक लागत के बारे में कोई शक नहीं किया जा सकता। इसने विखंडनशील प्रवृत्तियों को उन्मुक्त करने में सहायता दी है। जातपांतवाद के विपरीत भाषाई अंधराष्ट्रवाद राज्यीय और राष्ट्रीय स्तर पर कार्य करता है और उसे शिवसेना जैसे युयुत्सु संगठनों का समर्थन प्राप्त होता है" ('हिंदुस्तान टाइम्स', ११ जनवरी, १९७०)।

"सामाजिक और राजनीतिक लागत" को भाषाई राज्यों नहीं, बल्कि शोषक वर्गों के विभिन्न समूहों द्वारा जातीय संबंधों के राष्ट्रवादी और अंधराष्ट्रवादी संबंधों में रूपांतरण के मत्थे लगाना ज़्यादा सही रहेगा। यह कहना होगा कि जातीय और भाषाई संबंधों में पिछले पंद्रह वर्षों के दौरान तनाव बुनियादी तौर पर जातीय तथा भाषाई सीमांकन के सिद्धांत के असंगत कार्यान्वयन के परिणामस्वरूप संचित हुआ है। द्विभाषी बंबई राज्य के

विभाजन के लिए संघर्ष के विकसित होने के समय की, अथवा पंजाबी सूबे के निर्माण के लिए आंदोलन के तेज़ होने के समय की स्थिति की याद भर करना काफ़ी है। राज्यों के केंद्रीय सरकार के ख़िलाफ़ अथवा एक-दूसरे के विरुद्ध और इसी प्रकार अलग-अलग राज्यों की सरकारों के भी विरुद्ध दावे अक्सर प्रशासनिक सीमाओं के जातीय सीमाओं के साथ एकदम सही-सही मेल मिलाने में कठिनाइयों और बहुत से राज्यों में काफ़ी हद तक राष्ट्रवादी भावनाओं के प्रभाव में आ जानेवाले अल्पसंख्यकों की मौजूदगी के कारण भी हैं। भारत की जातीय संरचना की जटिलता को भी ध्यान में रखा जाना चाहिए। यहां सभी कुछ को राज्य के बहुजातीय स्वरूप में और अपेक्षाकृत विकसित जातियों के बीच आबादी और प्रदेश के आकार, प्रदेश में आर्थिक संबंधों के विकास, जातीय आत्मचेतना के विकास की मात्रा, आदि अंतरों में नहीं परिणत किया जा सकता। निस्संदेह, ये अंतर महत्वपूर्ण हैं और उनका "जातीय जलवायु" पर काफ़ी प्रभाव होता है। लेकिन और भी जटिल प्रश्न उन संजातीय समुदायों की नियति का है, जिनका अपना कोई राज्य नहीं है अथवा जो अनेक प्रशासनिक इकाइयों में बिखरे हुए हैं, मगर जिन्हें अपनी बंधुता की चेतना होने भी लग गयी है और जो उसे प्रशासनिक स्वायत्तता के विभिन्न रूपों में समेकित करने के लिए प्रयासशील हैं। इस तरह की भावनाएं डोगरों, मैथिलों और दार्जिलिंग के नेपालियों में और ऐसे ही भारत में जनजातियों अथवा आदिवासियों की श्रेणी में गिने जानेवाले संजातीय जनों (संथालों, गोंडों, भीलों, आदि) में देखी जाती हैं।

भारतीय आबादी की जटिल संजातीय तथा भाषाई संरचना की पृष्ठभूमि में प्रशासनिक तथा राजनीतिक इकाई के दोनों रूपों – राज्य और संघ-राज्यक्षेत्र – की अपर्याप्तता पहले ही अनुभव होने लग जाती है। हम देख चुके हैं कि संघ-राज्यक्षेत्र एक तरह का संक्रामक चरण है। प्रशासनिक संगठन के नये रूपों की खोज भारत में ख़त्म नहीं हो गयी है। मूल विधान के अनुसार मेघालय असम के भीतर सीमित अधिकारों से युक्त राज्य था। असम में स्वायत्त ज़िले भी हैं (मिकिर और उत्तर कछार), जिनका शासन सरकार द्वारा नियुक्त अधिकारी के अधीन नहीं, बल्कि कार्यपालक कार्य करनेवाली परिषद के अधीन है, जिसके आधे सदस्य ज़िले की आबादी द्वारा चुने जाते हैं। प्रत्यक्षत: स्वायत्त ज़िले को छोटे जातीय समूहों की, भारत में जिनकी संख्या अनेक दरजन है, आवश्यकताओं की पूर्ति करनेवाली

प्रशासनिक इकाई के एक नये रूप का आरंभ माना जा सकता है। असम और पंजाब में १९६६ में अंतोक्त के विभाजन के पूर्व संघ स्थापित करने की योजनाओं की भी फिर से याद की जा सकती है। इस खोज के सिल-सिले में भारत में जातीय समस्या के क्षेत्र में सोवियत संघ के अनुभव की ओर अधिकाधिक प्रायिकता के साथ देखा जा रहा है।

नये और पुराने के बीच किसी भी ऐतिहासिक संघर्ष में पुराना सदा बदलती अवस्थाओं के अनुरूप होने और नये में परिणत होने का प्रयास करता है। भारतीय समाज में, जिसमें पूर्ववर्ती सामाजिक-आर्थिक विरचनाओं की विरासतें अभी तक बरक़रार हैं और जो संजातीय दृष्टि से विकास की विभिन्न मंज़िलों में स्थित संजातीय समुदायों की शक्ल में है, जातीय जीवन का जागरण और जातीय समेकन अनिवार्यतः जटिल और विवादास्पद रूप ले रहे हैं। पारंपरिक सामाजिक संस्थाएं (जात-बिरादरी, आदि) न सिर्फ़ धीरे-धीरे क्षय और बुर्जुआ समाज के लिए सामान्य वर्गों और अंशकों में रूपांतरित ही हो रही हैं, बल्कि वे एक निश्चित प्रदेश में उसकी आबादी की जातीय संरचना के लिहाज़ के बिना सत्ता को अपने हाथों में समेकित करके बच रहने और अपने को मज़बूत करने की भी कोशिश कर रही हैं। किसी ख़ास पारंपरिक संस्था के ऊपरी संस्तर के हितों को उस इलाक़े की समूची आबादी के हितों के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। प्रदेशवादी (आंचलिक) भावनाओं का उदय होता है, जो जातीय विकास में बाधा डालती हैं। पारंपरिक ढांचों के ऊपरी संस्तर की नये राज्यों के निर्माण के लिए मांगें न सिर्फ़ प्रदेश और भाषाई सीमांकन के क्षेत्र के बाहर ही होती हैं, बल्कि सामान्यतया – उदाहरण के लिए – महाराष्ट्रियों, आंध्रों और गुजरातियों जैसी जातियों में पहले ही हासिल प्रादेशिक तथा प्रशासनिक एकीकरण को नष्ट करने की ओर भी लक्षित होती हैं।

प्रत्यक्ष है कि जाति के दो "शाश्वत" अभिलक्षणों – सामान्य भाषा और सामान्य प्रदेश – के बीच अन्योन्यक्रिया का विश्लेषण राज्यों में जातीय विकास की प्रक्रिया का और समूचे तौर पर भारत में जातीय संबंधों का पूरा चित्र नहीं प्रदान कर सकता। इसके लिए जाति के एक और बुनियादी अभिलक्षण – सामान्य आर्थिक जीवन – की तरफ़ देखना ज़रूरी है।

अध्याय ३

सामान्य आर्थिक जीवन और भाषा

> बिखरे हुए लोगों के लिए समुदायों में एकत्र होना, नगरों को बसाना, पूजास्थलों और जहाज़ों का निर्माण करना, दुश्मन का सामना करना और संयुक्त प्रयास की अपेक्षा करनेवाले दूसरे कामों को कर पाना कैसे संभव हो पाता, अगर उनके पास अपने विचारों को एक-दूसरे को प्रेषित करने के साधन न होते?
>
> **म० व० लोमोनोसोव**

जाति के अभिलक्षण के नाते सामान्य आर्थिक जीवन

जाति के अभिलक्षण के नाते आर्थिक जीवन की स्थायी एकता एक जटिल संकल्पना है। इसे विभिन्न ढंगों से देखा जा सकता है, उदाहरण के लिए, आर्थिक-भौगोलिक दृष्टिकोण से, अर्थात संबद्ध जातीय समुदाय के रहने के इलाक़े की प्राकृतिक अवस्थाओं के दृष्टिकोण से, जो उसके आर्थिक स्वरूप का काफ़ी हद तक निर्धारण करती हैं। मसलन, राजस्थान के सूखे इलाक़ों और आंध्रप्रदेश में कृष्णा-गोदावरी डेल्टा के धानप्रसू क्षेत्रों में कृषि प्रविधियों में बहुत अंतर है, यद्यपि भूस्वामित्व और भू-उपयोजन के रूप दोनों ही इलाक़ों में समान हो सकते हैं। जातीय क्षेत्रों के आर्थिक स्वरूप की विशिष्टताएं स्थानीय हस्तशिल्पों में सबसे स्पष्टतः प्रतिबिंबित होती हैं। आबादी की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, उसकी दैनंदिन ज़िंदगी और उसके कलात्मक तथा व्यावसायिक कौशलों को अपनी अभिव्यक्ति इन्हीं में मिलती है। अंतर तो तब भी देखने में आते हैं कि जब दस्तकार उसी या उस जैसी ही सामग्री का प्रयोग करते हैं। अत्यंत महत्व का होने पर भी सामान्य आर्थिक जीवन का यह पहलू इस विवेचन का अंग नहीं है, क्योंकि

यह आर्थिक जीवन और प्रदेश में ऐसे संबंध को प्रतिबिंबित करता है, जिसमें भाषा की कोई भूमिका नहीं है।

हमारी दिलचस्पी समकालीन भारत के लिए लाक्षणिक पूंजीवादी संबंधों की उत्पत्ति की प्रक्रिया में है। लेनिन ने इस बात पर ज़ोर दिया था कि रूस में यह प्रक्रिया सामंती अथवा क़बायली संबंधों के सातत्य की नहीं, बल्कि उनके विनाश और "धीरे-धीरे बढ़ते जिंस संचलन और छोटी-छोटी स्थानीय मंडियों के एक इकहरे, अखिल रूसी बाज़ार में संकेंद्रण" से विस्थापन की है। "चूंकि रूस में इस प्रक्रिया के नेता और मालिक व्यापारी पूंजीपति थे, इसलिए इन जातीय संबंधों का निर्माण बुर्जुआ संबंधों के निर्माण के अलावा और कुछ न था" (व्ला० इ० लेनिन, 'नरोदवाद का आर्थिक सारतत्व तथा स्त्रूवे की पुस्तक में उसकी आलोचना', १८९४)। "आर्थिक स्वच्छंदतावादियों" का विरोध करते हुए लेनिन अपने विचार को और विकसित करते हैं: "क्या मध्ययुगीन ग्राम समुदाय, श्रेणी, आर्टेल और ऐसे ही अन्य संबंधों को नष्ट करनेवाला पूंजीवाद उनकी दूसरे संबंधों से प्रतिस्थापना नहीं करता? क्या पण्य अर्थव्यवस्था **अब** भी उत्पादकों के बीच **संबंध, बाजार** द्वारा स्थापित **संबंध** नहीं है? इस संबंध का विरोधात्मक, एकदम अस्थिर और अंतर्विरोधी स्वरूप **उसके अस्तित्व** से इन्कार करने का अधिकार नहीं देता। और हम जानते हैं कि ठीक अंतर्विरोधों का विकास ही अधिकाधिक ज़ोर के साथ इस संबंध की शक्ति को प्रकट करता है, समाज के सभी अलग-अलग तत्वों और वर्गों को संयुक्त होने का और अब एक ग्राम समुदाय की अथवा एक ज़िले की संकीर्ण सीमाओं के भीतर संयुक्त होने का नहीं, बल्कि संबद्ध वर्ग के सभी सदस्यों के **एक पूरे राष्ट्र में** और विभिन्न देशों तक में संयुक्त होने का प्रयास करने के लिए **विवश करता है**" (व्ला० इ० लेनिन, 'आर्थिक स्वच्छंदतावाद का चरित्र-चित्रण', १८९७)।

अपनी कृति 'जातियों का आत्मनिर्णय का अधिकार' (१९१४) में लेनिन ने लिखा है: "दुनिया भर में सामंतवाद पर पूंजीवाद की अंतिम विजय का काल जातीय आंदोलनों के साथ संबद्ध रहा है। इन आंदोलनों का आर्थिक आधार इसमें निहित है कि पण्य उत्पादन की पूर्ण विजय के लिए बुर्जुआ वर्ग द्वारा घरेलू मंडी पर क़ब्ज़ा किया जाना ज़रूरी है, एक ही भाषा बोलनेवाली आबादी के राजकीय दृष्टि से एकीकृत प्रदेशों का होना ज़रूरी है, जिनमें इस भाषा के विकास और साहित्य में उसके सुदृढ़ी-

करण में समस्त अवरोधों को दूर कर दिया गया हो। भाषा मानव-संसर्ग का सबसे महत्वपूर्ण साधन है; भाषा की एकता और उसका अबाधित विकास आधुनिक पूंजीवाद के उपयुक्त वस्तुतः स्वतंत्र और विस्तृत वाणिज्यिक आदान-प्रदान की, अपने सभी भिन्न-भिन्न वर्गों में आबादी के स्वतंत्र और व्यापक समूहन की सबसे महत्वपूर्ण शर्तों में से एक, और अंततः, मंडी के छोटे-बड़े हरेक मालिक, विक्रेता और क्रेता के साथ घनिष्ठ संबंध की शर्त है।" अपने 'मार्क्सवाद का विरूपण और साम्राज्यवादी अर्थवाद' (१९१६) लेख में लेनिन इस बात पर फिर ज़ोर देते हैं कि "जनसाधारण की अपनी मातृभाषा और साहित्य के पूर्ण उपयोग की जागरूकता... पूंजीवाद के पूर्ण विकास की, विनिमय के अंतिम कृषक परिवार तक भी पूर्णतः पैठ जाने की अनिवार्य शर्त और सहवर्ती है।"

लेनिन के उपरोक्त कथनों में जातीय समेकन की प्रक्रिया में आर्थिक जीवन तथा भाषा के अन्योन्य-संबंध को बहुत ही स्पष्टता के साथ दर्शाया गया है। सबसे पहले, वह एक विशिष्ट ऐतिहासिक युग, जातीय आंदोलनों और जातियों की विरचना के साथ पूंजीवादी संबंधों के विरचन के युग के साथ जुड़ा हुआ है। सामान्य और अपेक्षाकृत विकसित भाषा और इसी प्रकार सामान्य प्रदेश किसी जातीय समूह के भी हो सकते हैं, किंतु उसके जाति में रूपांतरित होने के लिए उत्पादन तथा विनिमय में सामान्य भूमिकाओं पर आधारित स्थिर आर्थिक संबंधों का होना आवश्यक है। अगर भाषाई बंधुता, भाषा का अबाधित विकास और जनसाधारण की उसमें साहित्य के उपयोग की आकांक्षा पूंजीवादी संबंधों के विकास की एक अनिवार्य शर्त हैं, तो अंतोक्त के विकास का स्तर, फलतः, जातीय भाषा की व्यवस्था में परिवर्तनों की दिशा का निर्धारण करता है और साहित्यिक मानक को प्राथमिक स्थान देते हुए उसकी सर्वव्यापकता की मांग करता है। और, विलोमतः, पूंजीवाद के विकास की शर्त के नाते भाषाई बंधुता की चेतना की मात्रा और जातीय भाषा-व्यवस्था की स्थिति एक न एक रूप में आर्थिक संबंधों के विकास के स्तर को प्रतिबिंबित करती हैं।

एक निश्चित प्रदेश के भीतर दोनों जातीय अभिलक्षकों – सामान्य आर्थिक जीवन और भाषाई बंधुता – की अन्योन्यक्रिया जटिल और नानारूप होती है। उसका ठोस अर्थों में अध्ययन करने के लिए तीन महत्वपूर्ण समस्या समुच्चयों पर ध्यान केंद्रित करना समीचीन प्रतीत होता है – पहला, भारत के किसी जातीय क्षेत्र में आर्थिक संबंधों के विकास का स्वरूप और जातीय

समेकन में इन संबंधों की भूमिका; दूसरा, जातीय भाषा-व्यवस्थाओं के विकास में नगरों और सामान्यरूपेण नगरीकरण की भूमिका; तीसरा, पूंजीवादी संबंधों के विकास के साथ-साथ भारत में जातीय बंधुताओं के सामाजिक तथा वर्ग स्वरूपों में परिवर्तन और समकालीन समाज के विभिन्न वर्गों और ऐसे ही अवशिष्ट सामाजिक समूहों के भी जातीय भाषा के विकास और भाषा-नीति के प्रति रवैये।

नये सामाजिक संबंध अनिवार्यतः मानव-संसर्ग के बुनियादी माध्यम के नाते भाषा से नयी अपेक्षाएं करते हैं। समाज की आवश्यकताओं और इस समाज के काम आनेवाली भाषा-व्यवस्था की अवस्था में अंतर्विरोध उत्पन्न हो जाता है। यह अंतर्विरोध भाषा के विकास के लिए एक उद्दीपक है, एक जातीय समूह की भाषा से एक जाति की भाषा में संक्रमण की पूर्वापेक्षा है।

भारत के जातीय क्षेत्रों में आर्थिक संबंधों के विकास की कुछ विशिष्टताएं

भारतीय बुर्जुआ वर्ग के गठन का आरंभ उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में हुआ, जब भारतीय बड़ी व्यापारी पूंजी के प्रतिनिधियों ने कृषिजन्य कच्ची सामग्री (कपास, पटसन और गन्ना) के विधायन के लिए औद्योगिक उद्यमों का निर्माण करना शुरू किया। इस सदी के तीसरे और चौथे दशकों तक भारत के तटवर्ती प्रदेशों (महाराष्ट्र, गुजरात, बंगाल और मद्रास) में बुर्जुआ वर्ग का गठन हो भी चुका था। साथ ही औद्योगिक सर्वहारा का भी उदय हो गया। इसी समय संगठित जातीय आंदोलन भी उदित होने लगे। इतिहासकार ए० आर० देसाई लिखते हैं: "ये जाग्रत जातियां अपनी-अपनी भाषाओं का विकास, अपने-अपने साहित्यों का अधिकाधिक सर्जन, अपने-अपने विश्वविद्यालयों की स्थापना, अपने ही जातीय रंगमंचों का गठन और अपनी-अपनी संस्कृतियों को पुनरुज्जीवित और समृद्ध भी करती रही हैं। आंध्रों, महाराष्ट्रियों, कर्णाटकियों और कुछ अन्य जातियों ने अपने-अपने व्यापार मंडल भी स्थापित कर दिये हैं" (ए० आर० देसाई, 'भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि' [अंग्रेज़ी में], बंबई, १९५९, पृ० ३५८)।

जातीय क्षेत्रों में व्यापार और उद्योग मंडलों का क़ायम किया जाना आर्थिक संबंधों के विकास का एक महत्वपूर्ण सूचक है, बुर्जुआ वर्ग के न केवल अस्तित्व का, बल्कि संबद्ध क्षेत्र में व्यावसायिक कार्यकलाप को संगठित तथा नियमित करने की उसकी सुविचारित इच्छा का प्रमाण है। उदाहरण के लिए, राजस्थान व्यापार तथा उद्योग मंडल की स्थापना सिर्फ़ १९४९ में ही (देश के तटवर्ती इलाक़ों की अपेक्षा बीस-तीस साल बाद) की गयी थी, जब यहां प्रशासनिक तथा राजनीतिक एकीकरण और सामंती विच्छिन्नता के उन्मूलन की प्रक्रिया शुरू हो चुकी थी। इस मंडल के सचिव के० एल० जैन ने कहा है कि "यह तथ्य इस इलाक़े के व्यापारिक हितों का प्रतिनिधित्व करनेवाले संगठन की आवश्यकता और उपयोगिता को रेखांकित करता है कि मंडल का निर्माण महाराजस्थान के निर्माण के साथ-साथ ही हुआ" ('इंडियन एक्सप्रेस', ६ फ़रवरी, १९७०)।

ज्ञात है कि राजस्थान का जन्म किसी जनव्यापी सामंतविरोधी आंदोलन के परिणामस्वरूप नहीं हुआ था। इसकी स्थापना स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद भारत के लिए जातीय तथा भाषाई सीमांकन के सामान्य सिद्धांतों के आधार पर हुई थी। राजस्थान का निर्माण किये जाने के समय यहां का बुर्जुआ वर्ग अपने गठन की प्रारंभिक अवस्था में था और उसकी स्थिति सामंती शासकों की प्रशासनिक तथा आर्थिक शक्ति से अतुलनीय रूप में कमज़ोर थी। आर्थिक संबंधों के धीरे-धीरे परिपक्व होने, राज्य के "अपने" बुर्जुआ वर्ग के बनने और राजस्थानी जातीय आंदोलन के प्रारंभ होने के लिए ख़ासे लंबे समय की दरकार होती। देशी रियासतों के उन्मूलन और राजस्थानी प्रदेशों के प्रशासनिक और राजनीतिक एकीकरण के कामों को केंद्रीय सरकार ने, अर्थात समस्त भारतीय बुर्जुआ वर्ग के प्रतिनिधि ने सामंतवाद के अवशेषों के विरुद्ध अपने सामान्य संघर्ष में संपन्न किया था। इसके बाद राजस्थान में आर्थिक संबंधों का विकास तीव्र गति से हुआ। बीस साल (१९५०–१९७०) के भीतर राजस्थान व्यापार तथा उद्योग मंडल की सदस्य-संख्या १० से बढ़कर ४०० हो गयी।

यह एकदम साफ़ है कि किसी बहुजातीय राज्य में समूचे तौर पर देश भर में हो रहे विकास से बिलकुल वियुक्त रूप में लेकर किसी एक जातीय क्षेत्र के आर्थिक संबंधों के अनन्य महत्व पर ज़ोर नहीं दिया जा सकता। दूसरे, अधिक विकसित क्षेत्रों के प्रभाव और देश भर में जातीय संबंधों के सामान्य वातावरण को भी ध्यान में रखना ज़रूरी है। स्वातंत्र्योत्तर वर्षों

में भारत में वहां भी जातीय प्रक्रियाओं में त्वरण आया है, जहां उनके विकास के लिए आंतरिक अवस्थाएं अभी परिपक्व नहीं थीं।

सोवियत शोधकर्ताओं (अ० इ० लेवकोव्स्की, व० इ० पावलोव, ल० इ० रेइस्नेर, ग० क० शिरोकोव तथा अन्यों) ने राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के दौरान भारत के आर्थिक विकास के चारित्रिक लक्षणों को दर्शाया है, जो इस देश में जातीय प्रक्रियाओं की सही समझ के लिए बहुत महत्व के हैं। उन्नीसवीं सदी के अंतिम भाग से स्थानीय तथा जातीय मंडियों का विकास अखिल भारतीय आंतरिक मंडी की वृद्धि के साथ-साथ होता रहा है। यह समकालिकता, जो इन प्रक्रियाओं में से प्रत्येक की अपूर्णता की परिचायक है, काफ़ी हद तक आज दिन तक बरक़रार है – भारत के आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए इलाक़ों में जातीय मंडियों के निर्माण को मुश्किल से ही संपूर्ण माना जा सकता है। कुछ इलाक़ों में स्थानीय आर्थिक संबंधों का जातीय संबंधों में रूपांतरण तो वास्तव में भाषावार राज्यों का निर्माण होने के बाद ही शुरू हुआ।

भारत के स्वतंत्र विकास की पहली मंज़िलों में भारतीय बुर्जुआ वर्ग के दो समूहों की ध्रुवीयता भी देखने में आयी है – एक ध्रुव पर नानासंख्य निम्न-बुर्जुआ वर्ग (दस्तकार और व्यापारी जात-बिरादरियों से उदित), जिसे ब्रिटिश अधिकारियों के विभेदमूलक उपायों से विशेषकर पीड़ित होना पड़ा था और जिसका बड़े व्यापारी और महाजन शोषण करते थे, और दूसरे ध्रुव पर बड़ा बुर्जुआ वर्ग, जिसने व्यापार, साहुकारी और दलाली के कारबार से पूंजीवादी ढंग के व्यापारिक कार्यकलाप में संक्रमण पूरा कर लिया था। भारत के स्वतंत्र होने के बाद बुर्जुआ वर्ग के दूसरे समूह की आर्थिक शक्ति ब्रिटिश पूंजी की क़ीमत पर बढ़ी। काफ़ी लंबे समय से "आद्य और पूंजीवादी संचय की प्रक्रियाओं का, जो आपस में जुड़ी हुई हैं और साथ ही एक-दूसरी के प्रतिकूल भी हैं, संपात" देखने में आया है (ल० इ० रेइस्नेर, ग० क० शिरोकोव, 'समकालीन भारतीय बुर्जुआ वर्ग' [रूसी में], मास्को, १९६६, पृ० ८)। "बुर्जुआ वर्ग के" उपरोक्त "समूहों के बीच शुद्धतः सामाजिक प्रकार के ख़ासे अंतर भी हैं। बड़े उद्योगपतियों की ही भांति भारत में बड़े बैंकर सामान्यतया ख़ूब यूरोपीकृत हैं, ठाट से रहते हैं और उनके देशव्यापी पैमाने पर शक्तिशाली संगठन (व्यापार तथा उद्योग मंडल महासंघ, नियोक्ता संघ, आदि) हैं। इसके विपरीत, व्यापारियों और शहरी बैंकरों-सर्राफ़ों के आम तौर पर छोटे, साधारण

कार्यालय होते हैं, उनके निजी खर्च सीमित होते हैं, वे अत्यंत धर्मपरायण हैं, गांधीवाद के विरुद्ध नहीं हैं और अपने कारबार में बहुत गोपनशील हैं। एक ही बिरादरी, पैतृक नातेदारी, आदि के सदस्यों के बीच पारस्परिक सहायता के तत्व दूसरे समूह में पहले की अपेक्षा कहीं प्रबल हैं" (पूर्वो०, पृ० १००–१०१)।

भारत में पूंजीवादी संबंधों के विकास की विशिष्टता यह है कि उसके मूल में जातीय स्वरूप का अंतर्विरोध निहित है। जातीय क्षेत्रों में आर्थिक संबंधों के निर्माण की अपूर्णता और उसके साथ-साथ अखिल भारतीय घरेलू मंडी का विकास, विकसित पूंजीवादी उत्पादन और पूर्ववर्ती विरचनाओं के तत्वों की बरक़रारगी के साथ उसके निम्नतम रूपों का सहअस्तित्व – ये सभी कारक जातीय विकास के स्वरूप को प्रभावित किये बिना नहीं रह सकते थे।

समकालीन भारत में **पूंजीवाद के तहत जातीय विकास में दो युगों, दो प्रवृत्तियों का इतिहासतः निर्धारित संपात** देखने में आता है। राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष के दौर में ब्रिटिश उपनिवेशवाद के सामने विभिन्न भारतीय जातियों में एकता की भावनाएं अभिभावी थीं। इन भावनाओं ने ही "भारत एक ही राष्ट्र है" के व्यापक रूप से प्रचारित सूत्र को जन्म दिया था, जिससे राष्ट्रीय आंदोलन के नेता उपनिवेशवादियों के इन दावों का प्रतिकार करते थे कि भारत विभिन्न भाषाओं और जात-बिरादरियों का संकुल है, जिसका ब्रिटिश औपनिवेशिक सत्ता के "इस्पाती ढांचे" के बिना ढेर हो जाना अवश्यंभावी है। एक राष्ट्र का नारा मुक्ति आंदोलन के विभिन्न घटकों की एकता को तो बढ़ावा देता था, किंतु वह वास्तविक वस्तुस्थिति को प्रतिबिंबित नहीं करता था। यह नारा, जो आगे चलकर "अनेकता में एकता" के सूत्र में रूपांतरित हो गया, वास्तव में जातीय विकास में दो प्रवृत्तियों के संपात को प्रतिबिंबित करता था।

मुख्य लक्ष्य – राजनीतिक स्वतंत्रता – की प्राप्ति के बाद राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन की मुख्य धारा अलग-अलग जातीय धाराओं – बुर्जुआ वर्ग और निम्न-बुर्जुआ बुद्धिजीवियों के नेतृत्व में जातीय और राष्ट्रवादी आंदोलनों – में विखंडित होने लग गयी। स्वतंत्र अस्तित्व के पहले २०–२५ वर्षों में जातीय विवाद भारत के सार्वजनिक जीवन का एक चारित्रिक लक्षण थे। राष्ट्रीय वातावरण में परिवर्तनों को कई भारतीय अध्येताओं ने लक्षित किया

है। प्रेमलता पंत लिखती हैं: "स्वतंत्रता के पूर्व राष्ट्रवाद स्वतंत्रता के सर्वांगीण और सर्वाभिलषित लक्ष्य और संघर्ष से द्योतित होता था... स्वतंत्रता के बाद भारतीय राष्ट्रवाद को घटकवाद, गुटवाद और सांप्रदायिक हित विकृत कर रहे हैं। वह भाषा, जातपांत और धर्म के आधार पर वर्गों और संप्रदायों में विभाजन से बेतरह आक्रांत है। उसका व्यापक आधार प्रादेशिक सीमाओं और भाषा द्वारा संकीर्ण किया जा रहा है" (एच० सिंह [संपा०], 'द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद राष्ट्रवाद' [अंग्रेज़ी में], जलंधर, १९६७, पृ० १००)। एक अन्य भारतीय विद्वान ने "नवोदित पूंजीपतियों और पहले ही विकसित एकाधिकारी पूंजीपतियों के बीच बढ़ते टकराव" को लक्षित किया है। "सामाजिक रूप से सबसे उत्पीड़ित और निम्नतम जात-बिरादरियों, सबसे पिछड़ी हुई जनजातियों और सबसे अल्पविकसित भाषाई-सांस्कृतिक समूहों और प्रदेशों से, जो अभी तक पीछे रह रहे थे, उत्पन्न नवोदित पूंजीपति, बुद्धिजीवी और छोटे व्यापारी देश के आर्थिक तथा सामाजिक जीवन में अपना स्थान अपने आप पा रहे हैं" (पूर्वो०, पृ० ५१)।

"नवीन" राष्ट्रवाद की स्थापना के बारे में कठोर रवैया नहीं अपनाया जाना चाहिए। स्वतंत्रता-प्राप्ति के तीन महीने बाद, नवंबर, १९४७ में महात्मा गांधी ने अपनी लाक्षणिक अंतर्दृष्टि से लिखा था: "अभिकेंद्री ताक़त बेशक है, मगर वह आवाज़दार नहीं है, शोर मचानेवाली तो हरगिज़ नहीं; दूसरी तरफ़, अपकेंद्री ताक़त सतह पर ही है, और अपनी क़ुदरत से ही वह सबसे ज़्यादा शोर मचाती है, सबका ध्यान खींचती है... ओड़िसा और आंध्र, ओड़िसा और बिहार और ओड़िसा और बंगाल के बीच झगड़े का इतिहास हमारी यादों में ताज़ा ही है" (मो० क० गांधी, 'भाषावार सूबे' [अंग्रेज़ी में], अहमदाबाद, १९५८, पृ० ११)। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद भारतीय जातियों द्वारा अंतर्जातीयता के अनुभव का स्वांगीकरण जारी रहा है, बल्कि त्वरित भी हो गया है, अलबत्ता दूसरे ही आधार पर। जातीय जीवन के विकास में दूसरी प्रवृत्ति का प्रभाव, जिसे भारत में "राष्ट्रीय एकीकरण" कहा जाता है, सिर्फ़ अखिल भारतीय मंडी के और अधिक विकास और बड़ी निजी पूंजी की स्थिति के देशव्यापी पैमाने पर दृढ़ीकरण द्वारा ही नहीं निर्धारित होता है। इस प्रक्रिया में केंद्रीय सरकार का आर्थिक क्षेत्र में कार्यकलाप प्रमुख भूमिका अदा करता है, जो देश के आर्थिक विकास के आयोजन और अर्थव्यवस्था में सार्व-

जनिक क्षेत्रक की, जो जातीय सीमाओं को नहीं मानता, स्थापना का रूप लेता है। औपनिवेशिक प्रशासन के "इस्पाती ढांचे" का स्थान भारतीय प्रशासनिक सेवा ने ले लिया है, जो एक केंद्रीकृत सरकारी अभिकरण की तरह से काम करती है। एकीकरण में अखिल भारतीय राजनीतिक अभियान सहायता देते हैं, जैसे संसद के लिए आम चुनाव और इसी प्रकार देश की जनतांत्रिक शक्तियों का उसके जनतंत्र और सामाजिक-आर्थिक प्रगति के पथ पर विकास के लिए संघर्ष। इसी प्रकार राष्ट्रीय एकीकरण की प्रक्रिया को प्रोत्साहित करने की ओर लक्षित सोद्देश्य प्रयासों को भी नहीं भूलना चाहिए। अंत में, ऐसे बाह्य कारक का भी उल्लेख किया जाना चाहिए, जो बाहर से ख़तरे के, विशेषकर साम्राज्यवादी दबाव के सामने देश की एकता की वस्तुपरक शर्त के नाते भारत की राजकीय अखंडता को मज़बूत करने का तक़ाज़ा करता है।

आर्थिक संबंधों और विभिन्न जातीय समूहों और भाषा-समूहों के बीच संबंधों के विकास की एक अन्य विशिष्टता **भारत में किसी प्रधान अथवा अभिभावी जाति का प्रत्यक्ष अभाव है**। भारत में सत्ता के उच्चतम निकाय – केंद्रीय सरकार और संसद – लगभग सारे ही जातीय राज्यों और प्रदेशों का प्रतिनिधित्व करते हैं और सार्विक मताधिकार तथा समानुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर गठित हैं। सिद्धांततः किसी भी जाति के प्रतिनिधि केंद्रीय सरकार, संसद और प्रशासनतंत्र के सदस्य हो सकते हैं। जातीय प्रदेशों में केंद्रीय अभिकरणों को कोई बाहरी अथवा बेगानी चीज़ नहीं, वरन सहयोग का कारक और जातियों के बीच संबंधों में संतुलन को सुगम बनानेवाला मध्यस्थ जैसा समझा जाता है। अलग-अलग राज्यों के शासक दल आर्थिक सहायता के लिए अपने अनुरोध अथवा मांगें संघीय सरकार से करते हैं और राज्यों के बीच सीमा-विवादों के मामले में उसी से अपील करते हैं। दूसरे शब्दों में, भारत में किसी एक जाति का अन्य जातियों पर प्रभुत्व नहीं है और, फलतः, उत्पीड़ित जातियों का जातीय उत्पीड़न के विरुद्ध कोई सामान्य संघर्ष नहीं है।

यही कारण है कि भारत में जातीय विग्रह बहुध्रुवीय होते हैं। उदाहरण के लिए, बंगाली बुर्जुआ वर्ग अकसर बड़ी मारवाड़ी पूंजी से टक्कर लेता है, जिसकी पश्चिम बंगाल में प्रभुत्वशाली स्थिति है। लेकिन, साथ ही, पड़ोसी असम और बिहार राज्यों में बंगालीविरोधी भावनाएं बहुत प्रबल हैं। असमियों और ओड़ियाओं को नागालैंड में और ओड़िसा के पहाड़ी इलाक़ों

में, जहां कोंड जनजाति (कोंडमाल) को आवास है, नापसंद किया जाता है। लेकिन आलंकारिक भाषा में कहा जाये, तो राष्ट्रवादी भावनाओं का यह बहुसोपानी पैमाना भी कदाचित ही एक ही पटरी पर चलता है। १९६० में असम में बंगालीविरोधी उपद्रवों की लहर आयी थी, जब कि १९६८ के आरंभ के दंगे मारवाड़ी व्यापारियों के विरुद्ध लक्षित थे। मेघालय राज्य का निर्माण करवाने के संघर्ष के दौरान सर्वदल पर्वतीय नेता सम्मेलन की गतिविधियां मुख्यतः असमियों के विरुद्ध ही निदेशित थीं। पर्वतीय राज्य की स्थापना के फ़ौरन ही बाद राज्य के दो जातीय समूहों–गारोओं और खासियों–के बीच नये प्रशासनिक संगठन में पदों के वितरण को लेकर एक और विवाद उठ खड़ा हुआ।

भारत के जातीय क्षेत्रों में आर्थिक संबंधों के उद्विकास की तीसरी विशिष्टता **उनके आर्थिक तथा सामाजिक विकास की असमानता** है। यह असमानता विभिन्न सूचकों पर विचार करने के समय प्रकट होती है। इन सूचकों में से एक आय का प्रति व्यक्ति वितरण है (सारणी १९)।

जैसे कि सारणी १९ से पता चलता है, उच्चतम (२६०.५) और निम्नतम (६६.०) सूचकांकों के बीच अंतर बहुत बड़ा है। विभिन्न भारतीय राज्यों के औद्योगिक विकास के स्तर में अंतर तो और भी अधिक बड़े हैं।

उद्योग में एक वर्ष में सर्जित योजित मूल्य (व्यवहार में–निवल उत्पाद) और राज्यों की आबादी के बीच संबंध की तुलना में यह स्पष्ट हो जाता है कि दो राज्य–पश्चिम बंगाल और महाराष्ट्र–बहुत आगे निकल गये हैं। गुजरात और तमिलनाडू उनके काफ़ी निकट आते हैं। शेष राज्य पीछे रह गये हैं। उत्पादक निवेश और योजित मूल्य के बीच तुलना करने पर अंतर और भी अधिक प्रत्यक्ष हो जाता है (सारणी २०) ('मेनस्ट्रीम', १ जून, १९६८)।

अधिक विकसित राज्यों में प्रति इकाई निवेशित पूंजी के पीछे योजित मूल्य का उत्पादन अन्य राज्यों की अपेक्षा कहीं ऊंचा है। इसका कारण यह है कि बड़े आधुनिक उद्यम अधिक विकसित राज्यों में संकेंद्रित हैं, जब कि दूसरे राज्यों में निवेशों का अधिकांश लघु उद्योगों में लगता है। इस बात पर भी ज़ोर दिया जाना चाहिए कि निवेशों की गत्यात्मकता समूचे तौर पर विद्यमान असमानता के बरक़रार रहने का कारण है (सारणी २१) ('इकोनॉमिक टाइम्स', बंबई, २ मई, १९६५)।

सारणी १६

राज्यानुसार प्रति व्यक्ति आय (१६६०–१६६१)

राज्य, संघ-राज्यक्षेत्र	आय (रुपये)	सूचकांक भारत=१००
दिल्ली	८७१.६१	२६०.५
महाराष्ट्र	४६८.४५	१४०.०
पश्चिम बंगाल	४६४.६२	१३८.६
पंजाब	४५१.३१	१३४.६
गुजरात	३६३.३६	११७.६
तमिलनाडू	३३४.०६	६६.६
असम	३३३.३४	६६.६
त्रिपुरा	३२६.८६	६८.६
हिमाचलप्रदेश	३२८.३५	६८.१
केरल	३१४.८६	६४.१
कर्णाटक	३०४.७१	६१.१
उत्तरप्रदेश	२६७.३५	८८.६
जम्मू-कश्मीर	२८६.०२	८६.४
आंध्रप्रदेश	२८७.०१	८५.८
मध्यप्रदेश	२८५.३५	८५.३
ओड़िसा	२७६.२२	८२.६
राजस्थान	२६७.४३	७६.६
बिहार	२२०.६६	६६.०

टिप्पणी: सारणी की तैयारी में राष्ट्रीय अनुप्रयुक्त आर्थिक अनुसंधान परिषद द्वारा प्रदत्त आंकड़ों का स्रोत के रूप में प्रयोग किया गया है।

जैसे कि पहले ही कहा जा चुका है, आर्थिक विकास की असमानता जातीय विग्रहों का एक मुख्य कारण है। भारत के योजना आयोग के भूतपूर्व सदस्य डॉ० वी० के० आर० वी० राव लिखते हैं: "तब धनी प्रदेशों

सारणी २०

उद्योग में राज्यानुसार पूंजी-निवेश और योजित मूल्य का वितरण
(प्रतिशत, १९६५)

राज्य	उत्पादक निवेश	योजित मूल्य	आबादी का अनुपात
पश्चिम बंगाल	१९.६५	२२.८८	८.०३
महाराष्ट्र	१७.२९	२५.६२	९.०५
मध्यप्रदेश	८.३८	३.१८	७.३९
तमिलनाडू	७.७४	८.५१	७.४९
उत्तरप्रदेश	७.२५	८.५९	१६.६९
बिहार	६.९८	६.९८	१०.५४
गुजरात	६.४७	७.९७	४.७५
ओड़िसा	५.९५	१.९८	३.९७
पंजाब	४.९३	३.४२	४.७३
कर्णाटक	४.२४	४.२७	५.३५
आंध्रप्रदेश	३.८८	२.९५	८.०७
असम	२.२७	१.६३	२.७५
राजस्थान	१.९३	१.२०	४.६६
केरल	१.४१	१.९३	३.८६
जम्मू-कश्मीर	०.०८	०.१७	०.७८
अन्य क्षेत्र	१.५५	१.४२	१.८९
भारत	१००	१००	१००

के और धनी और निर्धन प्रदेशों के और निर्धन होने के साथ प्रादेशिक असमानताओं के रूप में एक विषम चक्र बन बजाने का ख़तरा पैदा हो जाता है और यह अपने साथ राष्ट्रीय अनैक्य की शक्तियों को प्रोत्साहित करने का जोखिम लाता है... मेरा ख़याल है कि आर्थिक विकास में प्रादेशिक बनाम राष्ट्रीय (अर्थात जातीय बनाम राजकीय–ले०) लिहाज़ों की समस्या

औद्योगिक उद्यमों के निर्माण के लिए
प्रदत्त औद्योगिक लाइसेंसों की संख्या
(१९६२ से १९६५ तक)

राज्य	लाइसेंसों की संख्या	राज्य	लाइसेंसों की संख्या
महाराष्ट्र	६८५	मध्यप्रदेश	९२
पश्चिम बंगाल	४४७	कर्णाटक	९२
गुजरात	२७०	केरल	७५
तमिलनाडू	२७०	राजस्थान	५८
बिहार	२०६	ओड़िसा	३७
पंजाब	१६९	असम	२०
उत्तरप्रदेश	१३८	जम्मू-कश्मीर	४
आंध्रप्रदेश	१००	अन्य क्षेत्र	४६

अब जन-मानस पर अपना अधिक प्रभाव डाल रही है और भावनात्मक अधिस्वर भी ग्रहण करती जा रही है, जो हमारी राष्ट्रीय एकता के लिए एक बढ़ता ख़तरा बन जा सकती है" ('पैट्रियट', २५ अगस्त, १९६५)।

केंद्रीय सरकार देश की विभिन्न जातियों के बुर्जुआ वर्गों के बीच संबंधों में सामान्य संसाधनों को वितरित करनेवाली सत्ता की अपनी भूमिका के लिहाज़ से एक संतुलनकारी कारक है। सीमित संसाधनों के कारण ऐसी सूरतों में जातीय विग्रह पैदा होता है, जब केंद्र पर दूसरे जातीय क्षेत्रों की क़ीमत पर कोई मांग पूरी करने के लिए दबाव डाला जाता है, जो ऐसी ही सुविधाओं का दावा करते हैं। इस प्रकार, जब १९७० में संसद चौथी पंचवर्षीय योजना के मसौदे पर विचार कर रही थी, तब भारत सरकार ने घोषित किया कि तीनों दक्षिणी राज्यों में से प्रत्येक में—सलेम (तमिलनाडू), होस्पेट (कर्णाटक) और विशाखापट्टनम (आंध्र) में—

एक-एक इस्पात कारख़ाना स्थापित किया जायेगा। तमिलनाडू ने इस निर्णय को एक जातीय विजय माना। वहां के तत्कालीन शासक दल द्रविड़ मुनेत्र कड़गम (द्रमुक ग्रथवा डी-एम-के) के एक नेता ने एक सभा में कहा कि कर्णाटक ग्रौर ग्रांध्र में इस्पात कारख़ाने का निर्माण दक्षिण के हितों के लिए द्रमुक के संघर्ष का परिणाम है, जिसका श्रेय तमिलों को जाता है ('स्टेट्समैन', ३ मई, १९७०)। दक्षिणी राज्यों में इसके बारे में संतोष सिर्फ़ शासक दलों ने ही नहीं व्यक्त किया, जो इसका परिचायक है कि बुर्जुग्रा राजनीतिक पार्टियों में राष्ट्रवादी भावनाग्रों का दलगत ग्रंतरों पर प्राधान्य होता है।

दूसरे राज्यों के शासक हलक़ों ग्रौर बुर्जुग्रा वर्ग में केंद्रीय सरकार के इस निर्णय ने ग्रसंतोष पैदा किया। मध्यप्रदेश के मुख्य मंत्री केंद्र से ग्रपने राज्य में भिलाई ग्रौर बोकारो के ग्रलावा इस ग्राधार पर तीसरे इस्पात कारख़ाने के निर्माण की ग्रनुमति लेने के लिए दिल्ली गये कि वहां बैला-डिल्ला (ज़िला बस्तर) में उच्च कोटि लोह ग्रयस्क का खनन शुरू हो गया है। केंद्र के निर्णय के ग्रनुसार इस ग्रयस्क को विशाखापट्टनम भेजा जाना ग्रौर ग्रांध्र में बननेवाले कारख़ाने द्वारा प्रयोग में लाया जाना था। मध्यप्रदेश के इस रवैये पर टीका करते हुए एक ग्रख़बार ने लिखा कि "लगता है कि बैलाडिल्ला के ग्रयस्क को ग्रांध्र में प्रस्तावित कारख़ाने के लिए उपलब्ध करने की बनिस्बत मध्यप्रदेश उसका जापान को निर्यात किया जाना ज़्यादा पसंद करेगा" ('स्टेट्समैन', ५ मई, १९७०)। ग्रोड़िसा सरकार ने केंद्र से दो इस्पात कारख़ानों की स्थापना की मांग की। इस मांग का शासक गठबंधन ग्रौर विरोधी दलों के प्रतिनिधियों से निर्मित ग्यारह-दलीय समिति ने समर्थन किया था।

ग्रंततः, ग्रार्थिक संबंधों के विकास की चौथी विशिष्टता **कई जातीय राज्यों के भीतर ग्रंचलों के सामाजिक तथा ग्रार्थिक विकास की ग्रसमानता** है। उदाहरण के लिए, पश्चिम बंगाल की गणना ग्रार्थिक दृष्टि से सुविक-सित राज्यों में की जाती है। लेकिन उसके १७ ज़िलों में से १३ को ग्रार्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए घोषित किया गया है। जातीय राज्यों के निर्माण के परिणामस्वरूप उनके ग्रंचलों में ग्रार्थिक संबंधों के विकास में तेज़ी ग्रायी, यद्यपि यह प्रक्रिया ग्रभी पूर्ण होने से बहुत दूर है। पश्चिम भारत के बारे में ग्रपनी कृति में ल० ग्र० किनयाझीन्स्काया लक्षित करती हैं कि "देश के इस भाग में (ग्रौर समूचे तौर पर भारत में भी) पूंजीवादी विकास

की इस मंज़िल में उसके अलग-अलग क्षेत्रों में आंतरिक भेद और आर्थिक संबंध विकसित पूंजीवाद के देशों की अपेक्षा कम सुस्पष्टतः व्यक्त होते हैं" (ल० अ० क्नियाज़ीन्स्काया, 'पश्चिम भारत' [रूसी में], मास्को, १९५९, पृ० २२८)। इसलिए किसी राज्य के इलाक़ों के बीच आर्थिक संबंधों के विकास का विश्लेषण जातीय समेकन की क्रियाविधि और उसके सामने आने-वाली बाधाओं, विशेषकर आंचलिक भावनाओं को, जो जाति की आंतरिक अनैक्यता को चिरंतन बनाती हैं, प्रकट करता है। इस लिहाज़ से महाराष्ट्र, जिसे विकसित समझा जाता है, और आंध्रप्रदेश, जिसे भारत में पिछड़ा हुआ माना जाता है, लाक्षणिक राज्य हैं।

मराठों के जातीय समेकन के मार्ग में बाधाएं

महाराष्ट्र का निर्माण मराठी और गुजराती भाषा-भाषी आबादी के व्यापक अंशकों के अनवरत संघर्ष के परिणामस्वरूप द्विभाषी बंबई राज्य के १९६० में दो अलग राज्यों–महाराष्ट्र और गुजरात–में विभाजन के साथ हुआ। जातीय आत्मचेतना की दृष्टि से महाराष्ट्रीय लोगों (मराठों) को भारत में एक शीर्षस्थ स्थान प्राप्त है। इसमें भाषा ने बहुत बड़ी भूमिका निबाही है। एक महाराष्ट्रीय लेखक के अनुसार "मराठी भाषा और साहित्य ही वह **मुख्य सूत्र** है (ज़ोर हमारा–**ले०**), जो महाराष्ट्र के लोगों को एक करता है" (सी० डी० देशपांडे, 'पश्चिम भारत: एक प्रादेशिक भू-गोल' [अंग्रेज़ी में], धारवाड़, १९४८, पृ० २४९)। और यह लीजिये एक ग़ैर-महाराष्ट्रीय की राय: "मराठी भाषा के महाराष्ट्र की बुनियाद के रूप में इस्तेमाल किये जाने के मामले की जड़ें ज़्यादा गहरी हैं, जो इस क़ौम के मुग़ल शासन से उद्धार, धार्मिक स्वतंत्रता की प्राप्ति, जनसाधारण के साथ संसर्ग और सहयोग पर आधारित जीवन-प्रणाली की स्थापना के लिए और, सर्वोपरि, असुदूर अतीत में ही सबसे दुर्जेय शत्रु, अंग्रेज़ों, के विरुद्ध संघर्ष तक पहुंच जाती हैं... इस प्रकार, मराठी सामान्य अर्थों में कोरी भाषा ही नहीं है–यह भारतीय परिवेश में सबसे प्रबल भू-राजनीतिक तत्वों में एक है" (जी० एस० सिंह, 'मराठा भू-राजनीति और भारतीय राष्ट्र' [अंग्रेज़ी में], बंबई, १९६६, पृ० ३३)।

मराठी भाषा आसपास की भाषाओं से भिन्न है। जॉन बीम्ज़, जॉर्ज ग्रियर्सन और उत्तरवर्ती विद्वानों ने महाराष्ट्रियों के अपने पड़ोसियों से अनेक

सदियों के प्रादेशिक वियोजन से जुड़े मराठी के एकत्व को लक्षित किया है। इससे मराठी और दूसरी भाषाओं के बीच अंतर्वर्ती बोलियों के बिना सुस्पष्ट भाषाई सीमा स्थापित हो गयी, सिवाय उत्तर-पूर्व के, जहां हलबी बोली के जरिये मराठी क्रमशः छत्तीसगढ़ी में रूपांतरित हो जाती है, जो हिंदी की एक बोली है। इसके अतिरिक्त बोलीगत अंतरों पर मानकीकरण की अत्युच्च मात्रा की प्रधानता का होना मराठी की लाक्षणिकता है। मानक मराठी (देशी), पुणे (पूना) और उसके पास-पड़ोस की बोली पर आधारित है। बंबई से १२० किलोमीटर दक्षिण-पूर्व में स्थित पुणे १८१८ से १८७३ तक, जब अंतिम पेशवा ने अंग्रेज़ों के सामने आत्मसमर्पण किया, मराठा राज्यमंडल की राजधानी था। आज भी पुणे महाराष्ट्रियों का एक महत्वपूर्ण राजनीतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक केंद्र है, जब कि बंबई को अकसर एक "सर्वदेशीय", बहुजातीय नगर माना जाता है। मराठा इतिहास में पुणे की भूमिका ने इस इलाक़े की बोली के आधुनिक मानकीकृत भाषा के आधार बन जाने को पूर्वनिर्धारित कर दिया। कुछ भारतीय विद्वानों के मतानुसार मराठों के इतिहास के आरंभिक चरणों में उनके संजातीय समुदाय के समेकन का केंद्र विदर्भ अंचल था। इसी अंचल में पहले मराठा राज्य का उदय हुआ। बाद में राजनीतिक केंद्र पुणे चला गया। नतीजे के तौर पर मानक भाषा के बोलीगत आधार का प्रसार हुआ और उसने बोलियोपरि स्वरूप ग्रहण कर लिया।

बोलीगत अंतरों के समतलीकरण में सहायता देनेवाला एक और कारक बहमनी सल्तनत के चरमोत्कर्ष और विशेषकर शिवाजी और मराठा राज्यमंडल के समय मराठों का अपने संजातीय प्रदेश के पूरे विस्तार में प्रवास-उत्प्रवास था। मराठा सेनाओं के कूचों और उनके पीछे-पीछे व्यापारियों और दस्तकारों के आवागमन के दौरान विभिन्न मराठी भाषा-रूपों में आपस में अन्योन्यक्रिया हुई और पुणे की बोली का और प्रसार हुआ।

दूसरी-तीसरी सदी ईसवी से चली आ रही अविच्छिन्न साहित्यिक परंपरा ने भी इस भाषा को बहुत प्रभावित किया है। प्राकृत साहित्य के ज़माने में भी महाराष्ट्री (माहाराष्ट्री) का मराठों के संजातीय प्रदेश की सीमाओं के कहीं बाहर तक साहित्य में प्रयोग होता था। प्राचीन वैयाकरण इसकी पुष्टि करते हैं। "प्रधान प्राकृत के नाते माहाराष्ट्री को पहला स्थान दिया जाता है और स्वनप्रक्रिया तथा रूपप्रक्रिया के उसके सभी मुख्य लक्षणों का बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया जाता है। अन्य भाषाओं को इसके

बाद माहाराष्ट्री के सामान्य नियमों के अपवादों के उदाहरणों के रूप में दिया जाता है..." (एस० एम० कत्रे, 'प्राकृत भाषाएं और भारतीय संस्कृति में उनका योगदान' [अंग्रेज़ी में], पूना, १९६४, पृ० २८)। मराठा-भूमि के दूरस्थ कोनों में भी मध्ययुगीन संत कवियों – ज्ञानेश्वर (१२७५–१२९६), नामदेव (१२७०–१३५०), तुकाराम (१५९८–१६४९) और रामदास (१६०८–१६८०) – की रचनाओं की लोकप्रियता का अवश्य उल्लेख किया जाना चाहिए। इन संत कवियों की धार्मिक स्वरूप की रचनाओं में सामाजिक समस्याओं को उठाया गया है। उनके बहुत से विचार समकालीन महाराष्ट्रीय समाज की समस्याओं से भी मेल खाते हैं।

मराठी भाषा व्यावसायिक कामकाज में लंबे समय से प्रयुक्त होती आयी है। बारहवीं सदी में, यादव वंश के शासनकाल में, यह राज-दरबार की भाषा बन गयी। विभिन्न मराठा राज्यों में ठेठ अठारहवीं सदी तक मराठी के उपयोग की अविच्छिन्न परंपरा की इतिवृत्तों से पुष्टि होती है। सिर्फ़ ब्रिटिश शासन के अधीन ही मराठी को सरकारी कामकाज से निष्कासित कर दिया गया था और उसका स्थान अंग्रेज़ी ने ले लिया था। महाराष्ट्र की स्थापना के बाद से मराठी के सामाजिक कृत्यों का दायरा फिर बढ़ गया है।

मराठी साहित्य सम्मेलन ने १९४६ में मराठी आंदोलन शुरू किया। पचास के दशक के अंत में भावी महाराष्ट्र के नगरों में व्यापक मेहनतकश जनसाधारण उसमें सक्रिय भाग लेने लग गये। महाराष्ट्र के निर्माण के बाद उसमें राष्ट्रवादी और अन्य जातीय समूहों के प्रति अंधराष्ट्रवादी असहिष्णुता के लक्षण प्रकट होने लगे, जिनके परिणामस्वरूप शिवसेना का उदय हुआ। चरम बुर्जुआ राष्ट्रवाद के अभ्युदय के साथ राज्य के कुछ भागों में स्वायत्तता की मांग को लेकर आंचलिक शक्तियां सक्रिय हो गयीं।

मराठा जातीय आंदोलन का अंतर्विरोधी स्वरूप सर्वोपरि महाराष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग के विशिष्ट ढांचे और वहां के मज़दूर वर्ग तथा शहरी मध्यम संस्तरों की बहुजातीय संरचना के कारण है। इस इलाक़े में अगुआ आर्थिक भूमिका लंबे समय से ग़ैर-महाराष्ट्रियों की ही रही है। मुग़ल साम्राज्य के समय में ही दूसरे इलाक़ों के निवासी – मारवाड़ी, गुजराती और पारसी – यहां बसने लग गये थे और साहूकारी, वाणिज्य-व्यापार और कर-संग्रहण की ठेकेदारी के कामों में लगे हुए थे। पूंजीवादी संबंधों के विकसित होने के साथ ये समूह ही सबसे पहले बड़े व्यावसायिक और दलाली कारबारों

में लगे और भारतीय मानकों से उन्होंने ज़बरदस्त आर्थिक शक्ति संचित कर ली। तीव्र आर्थिक तथा औद्योगिक प्रगति ने बंबई, नागपुर, शोलापुर और दूसरे महाराष्ट्रीय नगरों को उत्तरी तथा दक्षिणी भारत के दूर-दूर के इलाक़ों के मज़दूरों, नौकरीपेशा लोगों, सरकारी कर्मचारियों, दस्तकारों और छोटे उद्यमकर्ताओं के लिए आकर्षण के केंद्र बना दिया। महाराष्ट्रीय व्यापारियों, साहूकारों और ठेकेदारों का उदय कहीं अठारहवीं सदी में, मराठा सामंती राज्य के चरमोत्कर्ष के समय जाकर ही हुआ। छोटे कारख़ानेदारी उत्पादन की स्थापना और विकास के परिणामस्वरूप नवधनिक मराठा शिल्पजीवी जातपांतों से छोटे उद्यमकर्ताओं का उदय हुआ। व० इ० पावलोव लिखते हैं: "मराठा बुर्जुआ वर्ग की उत्पत्ति मुख्यतः छोटे व्यावसायिक और कारख़ानेदार बुर्जुआ वर्ग के रूप में हुई। व्यावसायिक कारबार की उच्चतर मंज़िलों में उसके उत्थान के मार्ग में उपनिवेशवाद बाधक था... इसलिए अपने जन्मजात सांप्रदायिक तथा जातपांतीय परिसीमनों और विचारधारा के पुरातन रूपों के बावजूद मराठा छोटे बुर्जुआ वर्ग के वस्तुपरक हित उसे साम्राज्यवाद के विरुद्ध अशाम्य संघर्ष में धकेल रहे थे" (व० इ० पावलोव, 'भारतीय बुर्जुआ वर्ग का गठन' [रूसी में], मास्को, १९५८, पृ० २६२–२६३)। राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष में सक्रिय भाग लेनेवाला महाराष्ट्र का वर्धमान मज़दूर वर्ग भी अपनी वर्ग-स्थितियों से अधिकाधिक पूंजीवादी शोषण के ख़िलाफ़ मैदान में आ रहा था। इस प्रकार, औपनिवेशिक दासता से मुक्ति प्राप्त होने तक मराठों के जातीय समेकन का गौण महत्व ही रहा।

१९४७ के बाद मराठा जातीय आंदोलन के सामने कितनी ही कठिनाइयां आयीं। मराठीभाषी इलाक़े कितनी ही प्रशासनिक इकाइयों में विभक्त थे। बंबई के बड़े बुर्जुआ वर्ग ने मराठा आंदोलन के विभिन्न समूहों में भेदों को गहरा करने और आंचलिक भावनाओं को भड़कावा देने की कोशिश की। उसने बंबई का महाराष्ट्र से इस आधार पर पृथक्करण करवाने का भी प्रयास किया कि यह शहर अखिल भारतीय महत्व का "सर्वदेशीय" वाणिज्यिक, वित्तीय और औद्योगिक केंद्र है, जो अपने महाराष्ट्रीय स्वरूप और बहुसंख्या को गंवा चुका है।* निम्न-बुर्जुआ स्वरूप के मराठा जातीय आंदोलन ने वस्तुपरक कठिनाइयों और दूसरे जातीय समुदायों के बुर्जुआ वर्ग

---

*१९६१ में बंबई नगर में मराठीभाषियों की संख्या ४४% से अधिक नहीं थी।

के प्रतिरोध पर पार पा लिया। आंदोलन ने अंतिम चरणों में जनव्यापी और सुसंगठित रूप ग्रहण कर लिया। उसमें निर्णायक भूमिका महाराष्ट्रीय नगरों के व्यापक मेहनतकश जनसाधारण ने अदा की थी, जिनके लिए मराठीभाषी राज्य के लिए संघर्ष सारे ही देश के मुख्य शोषकों – गुजराती-मारवाड़ी बुर्जुआ वर्ग – के विरुद्ध संघर्ष के साथ जुड़ा हुआ था, अर्थात वह वर्ग-आधारित था। मेहनतकश जनसाधारण, निम्न तथा मध्यम महाराष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग और प्रभावशाली मराठा भूस्वामी संस्तर अपने ख़ुद के राज्य के लिए संघर्ष को अपनी स्थिति में तीव्र सुधार आने की आशाओं के साथ जोड़ते थे।

महाराष्ट्र राज्य चार अंचलों अथवा प्रदेशों में विभाजित है – पश्चिम महाराष्ट्र अथवा देश, अर्थात असली महाराष्ट्र; तटवर्ती कोंकण; विदर्भ, अर्थात नागपुर क्षेत्र के चार ज़िले, जो १९६० के पहले मध्यप्रदेश के अंग थे; और मराठवाड़ा, अर्थात औरंगाबाद क्षेत्र के पांच ज़िले, जो पहले हैदराबाद रियासत के हिस्से थे। इन अंचलों में जलवायु, जनसांख्यिक और प्राकृतिक अवस्थाओं के लिहाज़ से और उद्योगों, परिवहन तथा कृषि के विकास के स्तरों के लिहाज़ से भी अंतर हैं। साठ के दशक के आरंभ में राज्य में औसत प्रति व्यक्ति आय २९२ रुपये थी – पश्चिम महाराष्ट्र में वह ३४५ रुपये थी, तो मराठवाड़ा में सिर्फ़ १७४ रुपये थी। औद्योगिक विकास-स्तर में अंतरों का अनुमान सारणी २२ में दिये आंकड़ों से लगाया जा सकता है (जी० एस० सिंह, पूर्वो०, पृ० ११७)।

जैसे कि सारणी २२ से प्रकट होता है, वृहत्तर बंबई में औद्योगिक विकास का स्तर विशेषकर ऊंचा है, जहां समस्त औद्योगिक उद्यमों के ७०% संकेंद्रित हैं। मराठवाड़ा और कोंकण (बंबई को छोड़कर) सबसे पिछड़े हुए हैं। जहां तक कृषि की बात है, तो अंचलों में भूस्वामित्व की प्रणालियों में अंतर हैं। पश्चिम महाराष्ट्र और कोंकण में रैयतवाड़ी – छोटी और मंझोली ख़ुदकाश्त – का प्राधान्य है, तो विदर्भ में ऊंचे लगान के साथ बड़ी ज़मींदारियां पायी जाती हैं। मराठवाड़ा में अभी हाल ही तक बड़ी सामंती ज़मींदारी के जागीरदारी और मालगुज़ारी रूप बरक़रार थे। इस अंचल में प्रशासनिक कामकाज में – अन्य अंचलों के विपरीत – उर्दू को राजभाषा की हैसियत प्राप्त है।

महाराष्ट्र की स्थापना के अवसर पर १ मई, १९६० को बंबई में भाषण देते हुए जवाहरलाल नेहरू ने कहा था: "एक नया राज्य पैदा

सारणी २२

सूचक, % में	अंचल				समूचे राज्य का योग
	औरंगाबाद (मराठवाड़ा)	नागपुर (विदर्भ)	पुणे (देश)	बंबई	
आबादी	२०.८	२३.८	२६.१	२९.३	१००
औद्योगिक उद्यमों की संख्या . . .	५.९	१६.१	२३.२	५४.८	१००
औसत श्रमिक संख्या	४.१	१०.९	१२.२	७२.८	१००
औसत श्रमिक संख्या (अंचल की आबादी की %)	०.४	०.९	०.९	५.०	२.०
बिजली की खपत .	०.४	६.९	५.३	८७.४	१००

हो गया है और महाराष्ट्र एक ख़ूबसूरत राज्य है। लेकिन इस ख़ूबसूरत राज्य के एक हिस्से में इन ख़ुशियों के बीच कुछ उदासी भी देखने में आ रही है... मैं विदर्भ की तरफ़ इशारा कर रहा हूं, जिसने हमारी आज़ादी की लड़ाई में शानदार हिस्सा लिया है। एक ऐसे दिन, जब सभी ख़ुशियां मना रहे हैं, विदर्भ के लोग अपने शकों और शुबहों से नहीं निकल पा रहे हैं। यह महाराष्ट्र के लोगों का काम है कि उनके शकों और अंदेशों को दूर करें। विदर्भवालों को भी संयुक्त महाराष्ट्र की ख़ुशहाली के लिए काम करना चाहिए और मैं उनसे अपील करता हूं कि वे ऐसा ही करें" (जवाहरलाल नेहरू के भाषण, १९५७–१९६३ [अंग्रेज़ी में], खंड ४, नयी दिल्ली, १९६४, पृ० ९५)। इस प्रकार, महाराष्ट्र की स्थापना के समय विदर्भ में प्रादेशिकतावादी भावनाएं इतनी प्रबल थीं कि प्रधान मंत्री के ध्यान को भी आकृष्ट करें। महाराष्ट्र का गठन किये जाने के ही वर्ष नाग-विदर्भ आंदोलन समिति की स्थापना की गयी थी, जिसने पृथक विदर्भ राज्य की स्थापना को अपना लक्ष्य घोषित किया। १९६६ में पृथक विदर्भ संघर्ष समिति नामक एक और संगठन की स्थापना की गयी। इन संगठनों

का निर्माण मराठा जातीय समेकन के संदर्भ में उनके नेताओं के दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन आ जाने का परिचायक था। जहां मराठीभाषी विदर्भ को हिंदीभाषी मध्यप्रदेश से अलग किये जाने की पहलेवाली मांगें एक जातीय मराठीभाषी राज्य का निर्माण करने के लक्ष्यों से किसी हद तक मेल खाती थीं, वहां अब इन समितियों की गतिविधियां एक क्षेत्र के मराठीभाषियों को दूसरे क्षेत्र के मराठीभाषियों के मुक़ाबले रखने पर आधारित थीं। उदाहरण के लिए, पृथक विदर्भ के सबसे उत्कट पक्षधरों में से एक, एम० एस० अणे का कहना था कि महाराष्ट्र के नेताओं के सोचने का ढंग साम्राज्य-वादी है ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', १७ जुलाई, १९६६)। उनके अनु-गामी महाराष्ट्र सरकार पर विदर्भ के साथ "सौतेली मां जैसा व्यवहार" करने और उसके हितों की उपेक्षा करने का आरोप लगाते थे। विदर्भ में जनमत की थाह लेनेवालों ने लक्षित किया है कि विदर्भ में समय-समय पर ऐसे राजनीतिज्ञ और आम लोग भी मिलते हैं, जिनके मनों में पश्चिम महाराष्ट्र के सरकारी कर्मचारियों और राजनीतिज्ञों के बारे में संदेह हैं। इससे यही निष्कर्ष निकाला जाता है कि राज्य के अंचलों और विशेषकर विदर्भ का "भावनात्मक एकीकरण" नहीं हुआ है ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', २८ जनवरी, १९६५)।

नागपुर में मराठा भोंसले राजवंश के "गौरवशाली अतीत" की यादें, "पुणे के ब्राह्मणों" और स्वातंत्र्यप्रेमी मराठों के हेतु के साथ विश्वासघात करनेवाले अंतिम पेशवा (पेशवाओं की राजधानी पुणे थी और वे ब्राह्मण थे–अनु०) के प्रति अविश्वास की भावना, ब्रिटिश शासनकाल में नागपुर की मध्य प्रांत की राजधानी के नाते प्रतिष्ठित स्थिति और साथ ही प्रांत की हिंदीभाषी बहुसंख्या द्वारा भेदभाव की निरंतर शिकायतें–इन सभी ऐतिहासिक कारकों ने इस अंचल के राजनीतिक और जातपांतीय विशिष्ट संस्तर में शेष महाराष्ट्र के प्रति सकारात्मक और नकारात्मक भावनाओं की एक जटिल संसृष्टि का निर्माण करने में योग दिया। उपरोद्धृत समितियों के नेताओं ने "जनव्यापी आंदोलन" चलाने की धमकी दी और "जन-भावना का सम्मान" करने के लिए अंचल को अलग राज्य बनाये जाने की अपील की। उन्होंने अंचल की आबादी की इच्छाओं का पता लगाने के लिए जनमत-संग्रह करवाने का आग्रह किया ('हिंदुस्तान टाइम्स', ५ मई, १९६६)।

विदर्भ के पृथक्करण के लिए दो संगठन आंदोलन कर रहे हैं। लक्ष्यों

की समानता के बावजूद उनमें आपस में शत्रुता है। १९६७ के संसदीय चुनावों और १९६९ में नागपुर नगर निगम के चुनावों में दोनों संगठन विरोधी गठबंधनों में शामिल थे और अपने नारों की समानता के बावजूद उन्होंने एक-दूसरे का विरोध किया।

विदर्भ के पृथक्करण के पक्षधरों द्वारा शुरू की गयी कार्रवाइयों में आम तौर पर कुछ हज़ार लोग हिस्सा लेते हैं, जो भारतीय मानकों के अनुसार कोई बहुत बड़ी संख्या नहीं है। स्वायत्ततावादियों की गतिविधियों का क्षेत्र नागपुर नगर तक ही सीमित है और उसमें इस अंचल के गांव और दूसरे शहर शामिल नहीं हैं। इन कार्रवाइयों के मुख्य सहभागी समाज के मध्यम संस्तरों के पुरानी पीढ़ी के लोग हैं, जिन्हें याद है कि नागपुर को कभी राजधानी का दरजा प्राप्त था और उनके लिए शासनिक सेवाओं में प्रवेश पाने की अधिक संभावनाएं थीं। नागपुर का व्यापारी-समुदाय समितियों के "पृथक विदर्भ" के समर्थन में हड़ताल करने के आह्वानों की आम तौर पर उपेक्षा ही करता है। व्यवसाइयों के प्रादेशिक संगठन (जैसे विदर्भ उद्योग संघ और विदर्भ केंद्रीय बुनकर सहकारी समिति) स्वायत्तता-वादियों की गतिविधि के प्रति विरोधी रवैया अपनाते हैं, जिसका सामाजिक आधार बहुत संकीर्ण है और जो अतीत में बद्धमूल भावनाओं पर आधारित है। यह उल्लेखनीय है कि छात्र, जो किसी भी जन-आंदोलन में भाग लेने के लिए हमेशा ही तैयार रहते हैं, स्वायत्ततावादियों से दूर ही रह रहे हैं। अंचल की आबादी के प्रगतिशील अंशक महाराष्ट्र के विभिन्न अंचलों के बीच घनिष्ठतर आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा अन्य संबंधों के पक्ष में हैं। वे सारे ही राज्य के लिए व्यापकतर अवसर और संभावनाएं चाहते हैं।

इस प्रकार, विदर्भ में (जैसे राज्य के अन्य अंचलों में भी) प्रादेशिकता-वादी भावनाएं बनी हुई हैं, लेकिन वे अतीत का एक अवशेष मात्र हैं। वे मराठा जाति के समेकन की वस्तुपरक प्रक्रिया के विरुद्ध जाती हैं और लगता है कि अभी काफ़ी समय तक महाराष्ट्र के जातीय जीवन पर प्रतिकूल प्रभाव डालती रहेंगी।

आंध्र में प्रादेशिकतावादी आंदोलन

आंध्रप्रदेश तीन अंचलों में विभक्त है: तटवर्ती आंध्र, तेलंगाना और रायलसीमा। तटवर्ती आंध्र सघन वाणिज्यिक कृषि का क्षेत्र है, जिसे "दक्षिण

भारत का धान्यागार" कहा जाता है। यहां उच्च कोटि का वर्जीनिया तंबाकू, गन्ने और दूसरी औद्योगिक फ़सलों को भी काश्त किया जाता है। दुग्ध उद्योग में इसे भारत में एक उच्चतम स्थान प्राप्त है। समुद्रतटीन नगरों में और उनके आसपास कृषिजन्य कच्ची सामग्री के संसाधन, समुद्रजल से नमक के निष्कर्षण, अबरक के खनन के उद्योग विकसित है। विशाखा-पट्टनम नगर में विशाल रासायनिक, तेल तथा इंजीनियरी प्रतिष्ठानों का निर्माण किया गया है। यहां एक जहाज़ निर्माण कारख़ाना और बंदरगाह भी है, जो सिर्फ़ आंध्र हो नहीं, बल्कि पड़ोसी राज्यों के भी काम आता है।

तेलंगाना १९५६ तक रियासत हैदराबाद का हिस्सा था। यह आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ इलाक़ा है, जहां अकसर सूखा पड़ता है और सामंती संबंधों का प्राधान्य है। क्षेत्रांतर्गत आर्थिक सूत्र और परिवहन व्यवस्था कमज़ोर हैं। तेलंगाना के केंद्र और राज्य की राजधानी हैदराबाद को विशेष महत्व का स्थान प्राप्त है, जहां स्वातंत्र्योत्तर वर्षों में इंजीनियरी रासायनिक, युद्ध सामग्री तथा अन्य उद्यमों का निर्माण किया गया है। यह एक बड़ा औद्योगिक समुच्चय बनता जा रहा है, जो दूसरे क्षेत्रों को अपनी तरफ़ खींचता है। तेलंगाना में कोयला, लोहा, तांबा अयस्क, चूना-पत्थर, आदि के समृद्ध निक्षेप खोजे गये हैं।

रायलसीमा भारत के सबसे पिछड़े हुए और सूखे इलाक़ों में एक है, जहां प्रति व्यक्ति आय दहुत ही नीची है। यहां की आबादी का एक बड़ा हिस्सा पहाड़ी इलाक़ों में रहनेवाले आदिवासियों का है।

आंध्र के विभिन्न अंचलों के बीच आर्थिक सूत्र पर्याप्तरूपेण विकसित नहीं हैं। उनमें से प्रत्येक ने आर्थिक जीवन और भूस्वामित्व के अपने ख़ुद के रूप को बरक़रार रखा है। अलबत्ता यह संभव है कि भविष्य में विकास के साथ वे एक एकल आर्थिक प्रदेश बन जायें। "विशाखापट्टनम बंदरगाह, ककिनाड और मसूलीपटन के बंदर, श्रीकाकुलम से लेकर आदिलाबाद तक राज्य के पूरे सीमांत पर स्थित घने जंगल, गोदावरी और कृष्णा की उपजाऊ घाटियां, उनके डेल्टा क्षेत्रों को फलदायी कृषि, रायलसीमा की खनिज संपदा और तेलंगाना का कोयला तथा औद्योगिक संभाव्यता इस अनपूरक अर्थव्यवस्था के एकदम वांछनीय घटकों का निर्माण करते हैं" (डॉ० राजबहादुर गौड़, 'तेलंगाना समस्या : कम्युनिस्ट नज़रिया' [अंग्रेज़ी में], नयी दिल्ली, १९६६, पृ० ३७)। आंध्र के सामाजिक-आर्थिक सर्वे-

क्षण के आधार पर भारतीय राष्ट्रीय अनुप्रयुक्त आर्थिक अनुसंधान परिषद ने राज्य के विभिन्न प्रदेशों के संतुलित आर्थिक विकास की योजना तैयार की है। भारतीय वैज्ञानिक बल देकर कहते हैं कि प्रत्येक अंचल की आर्थिक संभाव्यताओं का सिद्धिकरण और अंचलों के विकास में असंगतियों का उन्मूलन सिर्फ़ एक बड़ी प्रशासनिक इकाई के ढांचे के भीतर ही संभव है, जिसमें बड़ी रक़मों का प्रयोग किया जा सकता है और प्रत्येक इकाई का जातीय स्वरूप विकास का एक अतिरिक्त उपादान होता है। अलग-अलग इनमें से कोई भी अंचल इन समस्याओं को अपने बूते हल नहीं कर सकता।

इस प्रकार, सामान्य आर्थिक जीवन का त्वरित गठन और आंध्रों का जातीय समेकन वस्तुपरक संभावनाओं पर आधारित हैं। लेकिन अपने अंत-र्निहित अंतर्विरोधों के साथ पूंजीवादी रास्ते से विकास और देहात में अर्ध-सामंती संबंधों का बने रहना एक दुर्लंघ्य बाधा पेश करते हैं। आंध्र जातीय आंदोलन की प्रारंभिक मंज़िलों में भी तटवर्ती आंध्र और रायलसीमा अंचलों के राजनीतिक विशिष्ट संस्तरों में टकराव था। तेलंगाना का आंध्र के साथ एकीकरण १९५६ में एक अलिखित क़रार के साथ संपन्न हुआ था, जिसमें तेलंगाना के शीर्षस्थ राजनीतिज्ञों के अधिकारों को विनिर्दिष्ट किया गया था—राज्य विधानसभा की सदस्यता, एक सांविधिक आंचलिक परिषद का गठन और मुल्क़ी क़ानूनों, अर्थात सरकारी सेवा में निम्नतम पदों पर नियुक्तियों में आवास प्रतिबंधों का बने रहना, आदि। ठेठ निज़ाम-शाही के समय से ही चले आ रहे मुल्क़ी क़ानूनों के अनुसार निज़ाम की सेवा में कोई भी पद प्राप्त करने के लिए प्रार्थी का रियासत में कम से कम पंद्रह साल से रहते आना अनिवार्य था।

सभी आंध्र क्षेत्रों का जातीय राज्य की सीमाओं के भीतर एकीकरण, निस्संदेह, आंध्र जाति के हितों के साथ मेल खाता है। लेकिन व्यापक आंध्र जनसाधारण ने जिस एकीकरण के लिए संघर्ष किया था, वह विभिन्न अंचलों के शीर्षस्थ बुर्जुआ और ज़मींदारों के बीच समझौते के परिणामस्वरूप कार्यरूप में परिणत हुआ था। १९४६–१९४८ में तेलंगाना में देशभक्तों और निज़ाम हैदराबाद के भाड़े के गिरोहों—रज़ाकारों—के बीच सशस्त्र संग्राम चला। इस संघर्ष की मुख्य मांगों में एक निज़ाम की रियासत का ख़त्म किया जाना और तेलुगूभाषी तेलंगाना का आंध्र में अधिमिलन था। इस संघर्ष को तटवर्ती इलाक़ों के आंध्रों का समर्थन प्राप्त था। संघर्ष का केंद्र आंध्र का विजयवाड़ा नगर था। "अगर दोनों अंचलों का एकीकरण

इस संघर्ष के समय हुआ होता, तो वह आम लोगों के तल पर एकीकरण होता और इस तरह के एकीकरण से उत्पन्न परिणाम और ही तरह के हुए होते। लेकिन आज यह एकीकरण शिखर पर ही है और वह भी दोनों अंचलों के कांग्रेसी नेताओं के बीच, जिनकी बुनियादी दिलचस्पी अपने राजनीतिक तथा निहित हितों को बनाये रखने में ही है..." ('मेनस्ट्रीम', ८ फ़रवरी, १९६९)।

तेलंगाना में १९६९ में फूट पड़नेवाले दंगों में भाग लेनेवाले मुख्यतः कॉलेजों और स्कूलों की उच्च कक्षाओं के छात्र थे। "अगर तेलंगाना संघर्ष के अग्रणी छात्र रहे हैं, तो यह ख़ासकर इस डर के कारण है कि अपनी शिक्षा के समाप्त होने के बाद वे पा सकते हैं कि उन्होंने जिन कामों की योग्यता प्राप्त की है, उनमें से अधिकांश आंध्र ज़िलों के युवक-युवतियों को मिल गये हैं" ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', १ सितंबर, १९६९)। प्रोफ़ेसर एन० वी० तीर्थ ने हैदराबाद के कॉलेज और माध्यमिक स्कूल छात्रों में एक सर्वेक्षण किया था। वह लिखते हैं: "पूर्वग्रह के पैमाने पर तेलंगाना के छात्र (तेलुगूभाषी समूह के) आंध्र के (तेलुगूभाषी ही) छात्रों के प्रति जितना द्वेषपूर्ण पूर्वग्रह प्रदर्शित करते थे, वह तमिल अथवा कन्नड़भाषी समूहों जैसे अन्य भाषा समूहों के छात्रों के प्रति प्रदर्शित पूर्वग्रह से अधिक था। आंध्र राज्य के गठन के कुछ ही समय बाद, जब तेलंगानावासियों के मनों में तटवासी आंध्र लोगों के प्रति संदेह की और उनकी तरफ़ से अपने पर प्रभुत्व जमाये जाने की भावना बनी हुई ही थी, किया गया यह सर्वेक्षण इस विचार का समर्थन करता है कि आर्थिक तथा राजनीतिक प्रयोजनों का संयोजन सामाजिक विभेदों के भाषाई तथा अन्य रूपों को अधिक प्रखरता और शत्रुभाव प्रदान कर देता है" (एन० वी० तीर्थ, 'राष्ट्रीय एकीकरण। शिक्षा के सामाजिक मूलाधारों की एक जांच' [अंग्रेज़ी में], जलंधर तथा दिल्ली, १९६४, पृ० १८)।

छात्र उत्पात जनवरी, १९६९ में शुरू हुए। उस समय छात्रों की मांगें अलिखित क़रार द्वारा विहित प्रत्याभूतियों के नियमनिष्ठ अनुपालन तक ही सीमित थीं। छात्र आंदोलन उन मंत्रियों के विरुद्ध निदेशित था, जो राज्य सरकार में तेलंगाना का प्रतिनिधित्व करते थे, मगर, छात्रों की राय में, जो उसके हितों की रक्षा के लिए काम नहीं कर रहे थे। कुछ बाद में जाकर ही उस्मानिया विश्वविद्यालय के छात्रों के एक समूह ने, जो जनसंघ के प्रभाव में था, पृथक तेलंगाना की मांग उठायी। यह उल्लेखनीय है कि

फ़ौरन ही छात्रों – प्रत्याभूतियों के अनुपालन के पक्षधरों और स्वायत्तता-वादियों – के बीच सख़्त टकराव शुरू हो गये, क्योंकि युवजनों में इस बात की समझ अधिकाधिक पैदा होती जा रही है कि उनकी पीढ़ी का भविष्य शिक्षित श्रम-शक्ति की प्रादेशिक गतिशीलता द्वारा प्रदत्त व्यापक अवसरों के साथ, न कि अंचल के संकीर्ण ढांचे के भीतर उसके अलगाव के साथ जुड़ा हुआ है। मार्च में छात्र आंदोलन के नेतृत्व को तत्कालीन शासक दल के उन राजनीतिज्ञों ने अपने हाथों में ले लिया, जो गुट संघर्षों में पराजित हो गये थे और पृथक तेलंगाना की स्थापना हो जाने की सूरत में सत्ता में आने की आशा कर रहे थे। आंदोलन ने अब ध्वंसात्मक स्वरूप ग्रहण कर लिया।

स्वायत्ततावादियों को शीर्षस्थ मारवाड़ी बुर्जुआ वर्ग का समर्थन प्राप्त हुआ, जिसके हित आंध्र बुर्जुआ वर्ग के हितों के साथ, जो आंध्र की स्थापना के बाद से तेज़ी के साथ बढ़ रहा था, अधिकाधिक टकरा रहे थे। संसद में आंध्रप्रदेश से निर्वाचित एक सदस्य ने भाषण देते हुए कहा था: "उत्तर-प्रदेशी, गुजराती और राजस्थानी व्यापारी और उद्योगपति, जो लंबे समय से तेलंगाना की अर्थव्यवस्था पर छाये हुए हैं, तटवर्ती आंध्र और रायल-सीमा के नये उद्यमकर्ताओं से ईर्ष्या करते हैं और उन्होंने ही उपद्रवों को इस आशा से भड़काया है कि पृथक तेलंगाना राज्य में वे अपने पुराने प्रभुत्व को फिर से स्थापित कर सकेंगे" ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', २ अप्रैल, १९६९)।

स्वायत्ततावादियों को पुराने हैदराबादी अभिजातों और अर्धसामंती ज़मीं-दारों का समर्थन भी प्राप्त था, जो शहर में अपने राजनीतिक प्रभाव को खो चुके थे और देहात से जिन्हें धीरे-धीरे बाहर धकेला जा रहा था। "भाषावार आधार पर निर्मित राज्यों ने राजनीतिक दृष्टि से सक्रिय समु-दायों के बीच संतुलन को भंग कर दिया। आंध्र की कुछ मौजूदा समस्याएं सत्ता के एकाधिकार के अधिक विकसित ज़िलों के, जो पहले ब्रिटिश शासना-धीन इलाक़े के अंग थे (अर्थात तटवर्ती आंध्र के – **ले०**), धनी किसानों द्वारा हथियाये जाने से उत्पन्न हुई हैं" ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', ३ मई, १९६९)। आंध्र क्षेत्रों के तेलंगाना में एकीकृत हो जाने के बाद तटवर्ती इलाक़ों से धनी फ़ार्मरों का अंतर्वाह शुरू हो गया, जिन्होंने तेलंगाना में सस्ती ज़मीनें ख़रीद लीं और वहां पूंजीवादी कृषि करने लगे। इससे तैलंग गांवों में शक्ति-संतुलन में काफ़ी परिवर्तन आ गये। सामंती हैदराबाद के

देहात में एक छोर पर ज़मींदार, जो सामान्यतया मुसलमान, शहर में रहनेवाला, निज़ाम का ख़ादिम होता था, और दूसरे छोर पर पद-दलित, शोषित और उत्पीड़ित तेलुगू किसान हुआ करता था। तेलंगाना में ख़ुशहाल किसान बिरले ही देखने में आता था। अपने अहलकारों-कारिंदों और ग्राम अधिकारियों के बूते पर ज़मींदार असीम सत्ता और प्रभाव का उपभोग करता था। धनी किसान के अभ्युदय ने शक्ति-संतुलन को बदल दिया। धनी किसान धीरे-धीरे देहात में स्वशासनिक निकायों को अपने हाथों में लेने, सहकारी समितियों में प्रमुखता प्राप्त करने और जनमत का निर्धारण करने लग गया। शहर में रहनेवाले ज़मींदार की सत्ता और प्रतिष्ठा गिर गयीं।

तैलंग गांव स्वायत्ततावादी नारों के प्रति उदासीन थे। अलावा इसके, स्वायत्ततावादियों द्वारा गड़बड़ी शुरू करने के प्रयासों के चरम के समय आंध्र के कम्युनिस्टों ने ज़मीन के लिए संघर्ष के नारे को लेकर हैदराबाद में एक प्रदर्शन का आयोजन किया, जिसमें राज्य के सभी अंचलों से २५,००० किसानों और खेत मज़दूरों ने हिस्सा लिया। उल्लेखनीय है कि प्रदर्शन की एक मांग आंध्र की एकता को क़ायम रखने की थी। इस बात पर बल दिया जाना चाहिए कि भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी और उसकी आंध्र शाखा ने स्वायत्ततावादी आंदोलन का सतत और दृढ़तापूर्वक विरोध किया है। जहां तक तेलंगाना के मज़दूरों की बात है, तो उनका एक नगण्य हिस्सा ही उत्पातों में शामिल था। श्रीशैलम नगर में तैलंग और आंध्र खनन मज़दूरों में मारपीट हुई थी। एक और खनन नगर, बेल्लमपल्ली में तैलंग मज़दूरों ने एक आंध्र मैनेजर के मकान पर हमला किया था। दंगों के दौरान राज्य के तीन प्रमुख ट्रेड यूनियन संगठनों ने एक संयुक्त वक्तव्य प्रकाशित किया, जिसमें कहा गया था कि "हमें विश्वास है कि पृथक तेलंगाना का नारा तैलंग जनता के हितों के विरुद्ध है और इसलिए हम मेहनतकश वर्ग के सभी अंशकों से अपील करते हैं कि वे प्रस्तावित बंध और (स्वायत्तता-वादियों की—लै०) दूसरी भ्रामक कार्रवाइयों में भाग न लें" ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', ३ फ़रवरी, १९६९)। बाद में मज़दूरों की दंगों में सहभागिता विरल ही रही। तेलंगाना में उपद्रव अकसर हिंसात्मक कार्रवाइयों में परिणत हो जाते थे। व्यवस्था को बहाल करने के लिए अधिकारियों ने सेना को बुला लिया और बीसियों लोग मारे गये। राज्य सरकार के अनुमान के अनुसार जनवरी से जुलाई, १९६९ के बीच संपत्ति को पहुंचा नुक़सान ५२ करोड़ रुपये का था। मकानों और दूकानों के लूटे जाने,

द्राक्षोद्यानों और फ़ार्मों के विनाश और रेल स्टेशनों और बसों के जलाये जाने के मामलों ने आबादी को डरा दिया और उसे स्वायत्ततावादियों के ख़िलाफ़ कर दिया। १९६९ के अंत तक आंदोलन में स्पष्ट उतार आने लग गया। दूसरे इलाक़ों की ही भांति प्रादेशिकतावादी मांगों की निरर्थकता जितना ही प्रत्यक्ष होती गयी, स्वायत्ततावादियों के नेताओं में मतभेद उतना ही अधिक होते गये। १९७० के मध्य में जब तेलंगाना जन समिति तेलंगाना के पृथक्करण के लिए अपने व्यापक रूप से प्रचारित "अंतिम और निर्णायक" आंदोलन को न छेड़ सकी, तो उसके नेतृत्व में कलह फूट पड़ा, जिसका अंत उसके तीन विरोधी धड़ों में बिखर जाने के साथ हुआ।

अक्तूबर, १९७२ में आंध्र में फिर उपद्रव भड़क उठे। इन्हें पुराने नारे और पुरानी मांगें उठानेवाले उन्हीं राजनीतिज्ञों ने शुरू किया था। अलबत्ता राज्य में अब दूसरी ही परिस्थिति थी। अक्तूबर उपद्रवों के ठीक पहले आंध्र में प्रगतिशील सामाजिक-आर्थिक परिवर्तनों को कार्यान्वित करने के लिए क़दम उठाये गये थे। राज्य सरकार ने विधानसभा के ज़रिये भारत में पहली बार भू-संपत्ति की उच्चतम सीमा और भूमिहीन किसानों में वितरणार्थ फ़ालतू ज़मीन के अधिग्रहण के बारे में एक क़ानून बनाया। बस सेवाओं के राष्ट्रीयकरण और संपत्तिधारी वर्गों के उच्चतम अंशकों के विरुद्ध लक्षित अन्य उपायों की भी घोषणा की गयी। प्रादेशिकतावादी मांगें इन क़दमों का विरोध करती थीं और इस तरह से प्रादेशिकतावाद का सामाजिक तथा वर्गीय अंतर्य एकदम उजाकर हो गया। १९७२–१९७३ के बीच सिर्फ़ सत्ता के लिए गुट संघर्ष ही नहीं चल रहा था। राज्य के तेलंगाना और तटवर्ती आंध्र में विभाजन के पक्षधर प्रगतिशील सुधारों के ख़िलाफ़ थे और प्रादेशिकतावादी नारे महज़ जनसाधारण के ध्यान को वास्तविक सामाजिक-आर्थिक समस्याओं की तरफ़ से हटाने और जनतांत्रिक शक्तियों की क़तारों में फूट डालने का ही काम करते थे। यही कारण है कि विरोधी शक्तियों का टकराव इस बार इतने व्यापक स्तर पर था। जहां १९६९ में उपद्रव सिर्फ़ तेलंगाना तक ही सीमित रहे थे, १९७२–१९७३ में वे राज्य भर में फैल गये और तटवर्ती आंध्र में विशेषकर ज़ोरदार थे। स्वायत्ततावादियों का आंदोलन इलाक़े के बड़े ज़मींदारों और इसी प्रकार बस कंपनियों के स्वामियों और बुर्जुआ वर्ग के दूसरे समूहों की भी आर्थिक सहायता से चलाया जा रहा था। उल्लेखनीय है कि मांगों में मुख्य ज़ोर तेलंगाना को तटवर्ती आंध्र से पृथक करने पर नहीं, वरन अंतोक्त के तेलं-

गाना से पृथक किये जाने पर था। स्वायत्ततावादियों ने अपनी सरगरमियां राजनीतिक क़दमों तक ही सीमित नहीं रखी थीं, बल्कि बड़े पैमाने पर संगठित हिंसा का भी सहारा लिया था और इसके लिए सशस्त्र दस्ते बनाये थे। उनकी सरगरमियों ने राज्य में दैनंदिन जीवन को काफ़ी समय के लिए ठप कर दिया था। मंत्रिमंडल को इस्तीफ़ा दे देना पड़ा और राज्य पर राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया। क़ानून और व्यवस्था को बनाये रखने और महत्वपूर्ण ठिकानों की हिफ़ाज़त के लिए सेना को बुलाना पड़ा। स्कूलों और कॉलेजों को बंद कर दिया गया। शहरों को खाद्य सामग्री और दस्तकारों तथा छोटे उद्यमकर्ताओं को कच्चे मालों की पूर्ति भंग हो गयी। बिजली की पूर्ति अनियमित हो गयी। परिवहन सेवाओं के भंग हो जाने और बाज़ारों के बंद हो जाने से किसानों के लिए तंबाकू और दूसरी फ़सलों को बेच पाना और अपनी ज़रूरत के सामान ख़रीदना असंभव हो गया।

प्रादेशिकतावादियों को सबसे संगठित और सुसंगत जवाबी चोट आंध्र में कम्युनिस्टों ने दी। कम्युनिस्ट पार्टी की आंध्रप्रदेश परिषद ने राज्य की एकता के पक्षधरों द्वारा चलाये जानेवाले जवाबी आंदोलन का नेतृत्व किया। कम्युनिस्टों की कार्रवाई को न सिर्फ़ शहरी मध्यम संस्तरों से ही, बल्कि हरिजनों सहित ग़रीब किसानों से भी समर्थन प्राप्त हुआ, जिनके लिए स्वायत्ततावादी ज़मींदार साथ ही शोषक भी था। जातीय राज्य की एकता के लिए संघर्ष साथ ही आंध्र शोषक उच्च संस्तर के विरुद्ध भी संघर्ष बन गया। आंध्र में घटनेवाली घटनाओं ने इस उच्च संस्तर के वर्ग-हितों के जैसे जनविरोधी, वैसे ही जातिविरोधी स्वरूप को भी अनावृत किया। साथ ही इन घटनाओं ने यह भी सुस्पष्ट रूप से प्रदर्शित कर दिया कि समकालीन भारत में जातीय समस्याओं का जनतांत्रिक समाधान सिर्फ़ व्यापक जनसाधारण के समर्थन से प्रगतिशील सामाजिक-आर्थिक सुधारों के लिए वामपंथी और जनतांत्रिक शक्तियों के संयुक्त संघर्ष के ज़रिये ही संभव है।

तेलंगाना और विदर्भ का पृथक्करण किये जाने के पक्ष में आंदोलन ऐसे एकभाषी राज्यों में हुए हैं, जहां जातीय आत्मचेतना का स्तर ऊंचा और राष्ट्रवादी भावनाएं प्रबल रही हैं। इसके बावजूद ठीक यहीं ऐसी शक्तियां सक्रियतापूर्वक काम कर रही हैं, जो इन राज्यों में निवास करनेवाली जातियों में से प्रत्येक के संजातीय प्रदेश का फिर से विखंडन करवाना चाहती हैं। परिणामस्वरूप, जातीय समेकन को सुनिश्चित करने के लिए

भाषाई तथा प्रादेशिक एकता आवश्यक तो है, पर काफ़ी नहीं है। तेलंगाना में घटनाओं से ठीक यही निष्कर्ष निकाला गया था। राजनीतिक टीकाकार नंदन कागल लिखते हैं: "जहां भाषाई संबंध इतना मज़बूत तो है कि किसी राज्य को संघ के दूसरे राज्यों अथवा केंद्र के साथ अपने व्यवहार में ऐक्यबद्ध कर सके, वहां वह इतना मज़बूत नहीं है कि आंचलिक असमानताओं द्वारा जनित दबाव को झेल सके" ('इंडियन एक्सप्रेस', २७ मार्च, १९६९)।

प्रादेशिकतावादी भावनाएं किसी राज्य के भीतर प्रादेशिक विकास की असमानताओं पर और प्रदेशों के बीच अपर्याप्ततः विकसित आर्थिक सूत्रों पर पनपती हैं। इस तरह की भावनाओं पर पार पाना प्रत्यक्षतः ऐसे सूत्रों के व्यापक विकास पर और असमानता और भेदभाव के अहसास को चिरंतन बनानेवाले सभी कारकों के उन्मूलन पर निर्भर करता है। जैसे कि हम देख चुके हैं, जातीय समेकन की गति, किसी जातीय क्षेत्र के भीतर स्थिर आर्थिक संबंधों के उत्पन्न होने, और प्रादेशिक विकास में असमानताओं के उन्मूलन के बीच निश्चित अन्योन्याश्रितता है। यह अन्यो-न्याश्रितता एकदम सहज प्रतीत होती है—किसी ख़ास संजातीय प्रदेश में आर्थिक संबंध जितना ही अधिक स्थिर होते हैं, विभिन्न अंचल जितना ही अधिक समान रूप से विकसित होते हैं, जातीय समेकन की प्रक्रिया उतना ही अधिक सफल और तीव्र होती है। लेकिन जातीय विकास की जटिल प्रक्रिया में आर्थिक कारक प्रादेशिकतावादी भावनाओं और स्वायत्ततावादी आंदोलनों के अस्तित्व का न तो एकमात्र और न निरपेक्ष कारण ही हो सकता है। सच तो यह है कि भारत में कोई भी ऐसा संजातीय प्रदेश पाना कठिन है कि जहां सभी अंचल समान रूप से विकसित हुए हों, लेकिन फिर भी प्रादेशिकतावादी भावनाओं का—स्वायत्ततावादी आंदोलनों की तो बात ही क्या—उनमें से सिर्फ़ कुछ ही में वजूद है। प्रत्यक्षतः, सामाजिक-आर्थिक पिछड़ेपन की एक सीमा होती है, जिसके नीचे—अन्य अवस्थाएं समान हों, तो—प्रादेशिकतावाद जातीय प्रदेश की एकता के लिए ख़तरा नहीं पेश करता। बुनियादी आर्थिक सूचकों के लिहाज़ से मराठवाड़ा और रायलसीमा विदर्भ तथा तेलंगाना से पिछड़े हुए हैं, मगर प्रथमोक्त में प्रादेशिकतावादी भावना अंतोक्त की अपेक्षा कहीं कम देखने में आती है। अलावा इसके, सामाजिक चेतना चूंकि सामाजिक अस्तित्व से पीछे रहती है, इसलिए किसी जातीय क्षेत्र में पूंजीवादी क़िस्म के स्थिर

आर्थिक संबंधों का पैदा होना प्रत्यक्षतः प्रादेशिकतावाद के तत्काल और अपने आप उच्छेदन की तरफ़ नहीं ले जाता। इसके लिए कि जातीय आत्मचेतना को जातीय अस्तित्व की वास्तविकताओं की अनुरूपता में लाया जा सके, समय की और प्रादेशिकतावादी पूर्वग्रहों के विरुद्ध जनतांत्रिक स्थितियों से सक्रिय संघर्ष की ज़रूरत है।

जातीय समेकन प्रक्रियाओं पर नगरीकरण का प्रभाव

नगरों की भूमिका का बढ़ना पूंजीवाद को पूर्ववर्ती सामाजिक विरचनाओं से अलग करनेवाला एक सबसे महत्वपूर्ण लक्षण है। मार्क्स और एंगेल्स ने कहा है कि एक कृषक जातीय समूह के रूप में रहनेवाले लोगों के विपरीत जाति एक औद्योगिक, अथवा नगरीय, जातीय समूह है। साथ ही मार्क्स इस बात पर ज़ोर देते हैं कि एक सामाजिक-आर्थिक विरचना से दूसरी में परिवर्तन के साथ शहर की प्रकृति और कार्यात्मक भूमिका, दोनों बदल जाती हैं। उन्होंने लिखा है कि "क्लासिकी पुराकाल का इतिहास शहरों का इतिहास था – अलबत्ता ज़मीन की मिल्कियत और काश्त पर आधारित शहरों का; एशिया का इतिहास शहर और देहात के अव्यक्त एकत्व का एक प्रकार था (वहां के वस्तुतः बड़े शहरों को महज़ सर्वोच्च शासक के डेरे, आर्थिक देहबंध पर शब्दशः उगी हुई चीज़ माना जा सकता था)। मध्यकाल (जर्मन युग) में देहात अपने में इतिहास का प्रारंभ-बिंदु था, जिसका आगामी विकास शहर के देहात से प्रतितुलन के रूप में हुआ। आधुनिक इतिहास नागरिक संबंधों का देहात में अंतर्व्यापन है, जब कि प्राचीन विश्व में, इसके विपरीत, ग्राम्य संबंध शहरों में अंतर्व्याप्त होते थे" (का० मार्क्स, 'अर्थशास्त्र की समीक्षा का एक प्रयास', १८५७–१८५८)।

लेनिन ने इस प्रश्न की ओर बहुत ध्यान दिया। उन्होंने लिखा है कि "शहर का देहात पर प्राधान्य (आर्थिक, राजनीतिक, बौद्धिक और अन्य सभी लिहाज़ों से) उन सभी देशों में, जहां पण्य-उत्पादन और पूंजीवाद हैं, एक सार्विक और अनिवार्य चीज़ है" (व्ला० इ० लेनिन, 'आर्थिक स्वच्छंदतावाद का चरित्र-चित्रण', १८९७)। वह कहते हैं कि "शहर जनता के आर्थिक, राजनीतिक तथा आत्मिक जीवन के केंद्र होते हैं और

प्रगति के मुख्य अभिवाहक बन जाते हैं" (व्ला० इ० लेनिन, 'जातीय प्रश्न पर स्थापनाएं', १६१३)।

जातीय समेकन प्रक्रियाओं के लिए नगर का विकास और बुर्जुआ संबंधों के स्थापित होते जाने के साथ-साथ उसकी कार्यात्मक भूमिका का बदलना विशेष महत्व रखते हैं। राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में सामान्य भूमिकाओं के आधार पर शहर में सामाजिक विभेदीकरण अत्यंत प्रखर रूप में होता है। नगर आप्रवासन का केंद्र, आर्थिक संबंधों के विकास का जनित्र और आबादी के "अंतःमिश्रण", उसकी गतिशीलता और जाति के आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक जीवन में उसकी सक्रिय सहभागिता का संवर्धक बन जाता है। शहर से एक ऐसे आवेग का उत्सर्जन होता है, जो कृषक समुदाय के अलगाव को नष्ट कर देता है। शहरों में ही लोगों के और विभिन्न सामाजिक समूहों के बीच संसर्ग के नये रूप विकसित होते हैं, जो पड़ोसियों के बीच परंपरागत संबंधों को प्रतिस्थापित करते हैं। जन-संपर्क साधनों के विकास के साथ-साथ, जो मुख्यतः नगरों में केंद्रित होते हैं, लेकिन फिर धीरे-धीरे देहात में भी व्याप्त हो जाते हैं, ये नये रूप अधिकाधिक सार्विक स्वरूप ग्रहण करते जाते हैं। ये रूप जातीय भाषा से नयी अपेक्षाएं करते हैं और साहित्यिक भाषा के सामाजिक कृत्यों के प्रसार में सहायता देते हैं। विश्वविद्यालय, कॉलेज, प्रकाशनगृह, मुद्रणालय, रेडियो तथा टेलीविज़न केंद्र, फ़िल्म स्टूडियो, सिनेमा, थियेटर, पुस्तकालय, लेखक संगठन तथा अन्य सृजन-विधाकर्मियों के संघ नगर में ही संकेंद्रित होते हैं, जो न केवल भौतिक उत्पादन का, बल्कि बौद्धिक जीवन का भी केंद्र होता है। शहरों में एक नया बुद्धिजीवी समुदाय विकसित होता है, जिसे अपनी भाषा के विकास में दिलचस्पी होती है और जो अकसर उसके विकास के रास्ते के चयन को प्रभावित करता है। इस प्रकार, यह कहा जा सकता है कि नगरीकरण का स्तर किसी जाति के विकास की मात्रा का एक मुख्य सूचक होता है।

पिछले ६० साल से भारत में नगरीकरण प्रक्रिया तीव्र गति से चलती रही है। १६०१ और १६६१ के बीच क़सबों की तादाद १,६१० से बढ़कर २,६६० और १ लाख से ज़्यादा आबादी के शहरों की संख्या २७ से बढ़कर १०७ हो गयी। भारत की नगरीय आबादी इसी अवधि में २६० लाख से बढ़कर ७६० हो गयी और अब वह सारे देश की जनसंख्या की १८% से अधिक है। भारत में नगरीकरण का विशिष्ट स्वरूप भी अब स्पष्ट

हो गया है। "जनसंख्या वृद्धि का दो-तिहाई हिस्सा प्रथम श्रेणी के नगरों में संकेंद्रित हो गया है। यह भी उल्लेखनीय है कि छोटे क़सबों, अर्थात २०,००० से कम आबादी के क़सबों, का हिस्सा हर दशक के साथ घटता रहा है। गांवों से उत्प्रवासन बड़े और प्रथम कोटि के नगरों को, न कि छोटे क़सबों को हो रहा है। दूसरे शब्दों में, उत्प्रवासन छोटे क़सबों को अलग छोड़ते हुए हो रहा है" ('स्टेट्समैन', २६ नवंबर, १९७०; पी० बी० देसाई, 'भारत में आबादी का आकार और स्त्री-पुरुष संख्या – १९०१–१९६१' [अंग्रेज़ी में], दिल्ली, १९६९, पृ० २७–३०)।

नगरीकरण के स्तर को जातीय विकास का निरपेक्ष सूचक नहीं समझना चाहिए। अव्वल तो भारत के कुछ इलाक़ों में नगरीकरण कृत्रिम स्वरूप का है, उदाहरण के लिए, गुजरात के सौराष्ट्र क्षेत्र में। "गुजरात में और विशेषकर राज्य के सौराष्ट्र क्षेत्र में भूतपूर्व देशी रियासतों के संकेंद्रण से इन इलाक़ों में नगरों की प्रचंड गति से संवृद्धि हुई है। राजा लोग अपनी राजधानियों को प्रतिष्ठा-प्रतीक समझते थे और उन्हें बुनियादी शहरी सुविधाओं से युक्त करने में दिलचस्पी लेते थे। नतीजे के तौर पर राज्य के सौराष्ट्र क्षेत्र में शहरी आबादी की प्रतिशतता भूतपूर्व बंबई राज्य के गुजरात क्षेत्र की बनिस्बत ऊंची है" ('इंडियन एक्सप्रेस', १ मई, १९७०)। इस तरह के शहर अभी तक "प्रगति के मुख्य अभिवाहक" नहीं बन पाये हैं, क्योंकि मार्क्स के शब्दों में वे कई बातों के लिहाज़ से "सर्वोच्च शासक के डेरे, आर्थिक देहबंध पर उगी हुई चीज़" ही बने हुए हैं। यह ध्यान में रखना भी ज़रूरी है कि विकासमान देशों में नगरीकरण आर्थिक विकास की अपेक्षा तीव्र गति से होता है। "देश के उपयुक्त आर्थिक विकास के बिना तीव्र नगरीकरण के बहुत सारे परिणामों में से हम सिर्फ़ एक का ही उल्लेख करेंगे – इस तरह से पैदा होनेवाले शहर अपनी ओर स्वाभाविक रूप से खिंचनेवाले क्षेत्रों को एकीकृत करने के अपने कार्य का समुचित रूप से निष्पादन नहीं करते और, अलावा इसके, नयी सामाजिक-आर्थिक संरचनाओं के निर्माण में वे बहुत कम हद तक ही सहायक होते हैं" (ये० क्लेयेर, '"तीसरी दुनिया" के देशों की सामाजिक-आर्थिक संरचनाओं का विश्लेषण' [रूसी में], मास्को, १९६८, पृ० ४६–४७)। अपने सर्वेक्षण के आधार पर पी० के० कुलकर्णी ने दिखलाया है कि पिछले ३० वर्षों में पुणे की गंदी बस्तियों की आबादी २५ गुना बढ़ गयी है! गंदी बस्तियों में रहनेवाले २४% पुरुषों

और ८४% स्त्रियों का कोई स्थायी धंधा नहीं है ('पैट्रियट', १६ जनवरी, १९६९)। इस तरह का नगरीकरण इतना सर्वहारा को उत्पन्न नहीं करता कि जितना नानासंख्य शहरी विपन्नों और वर्गच्युत तत्वों को।

फिर ग्रामीण आबादी के शहरों में आप्रवास के अलावा स्वातंत्र्योत्तर वर्षों में भारत में अपेक्षाकृत तीव्र नगरीकरण विभाजन के बाद भारत और पाकिस्तान के बीच आबादी विनिमय के कारण भी है, जिसके परिणामस्वरूप एक देश के ग्रामीण क्षेत्रों के शरणार्थी आम तौर पर दूसरे देश के शहरी इलाक़ों में जाकर बसे हैं। मिसाल के लिए, फ़रीदाबाद क़सबा (हरियाणा), जो २५,००० शरणार्थियों के बसने की जगह के रूप में १९४८ में अस्तित्व में आया था, २० साल में १,२०,००० से अधिक आबादी के एक विकासमान औद्योगिक नगर में परिणत हो गया।

आख़िरी बात यह कि बंबई, कलकत्ता और मद्रास जैसे भारतीय नगरों के उदय की विशिष्टता यह है कि उनकी स्थापना ब्रिटिश शासन के गढ़ों के रूप में हुई थी और सिर्फ़ बाद में जाकर ही उन्हें संबद्ध प्रदेशों के आर्थिक तथा जातीय विकास में एकीकृत किया गया था। भारत के औपनिवेशिक शोषण के परिणामस्वरूप कितने ही पुराने नगरों का अपक्षय हुआ, जो अंग्रेज़ों के आगमन के पहले फूल-फल रहे थे और दस्तकारी उद्योग के केंद्रों में विकसित हो गये थे, जिनके प्रादेशिक संबंध लगातार बढ़ रहे थे (मुर्शीदाबाद, ढाका, आदि)। दूसरे शब्दों में, पारंपरिक केंद्रों के विकास में ऐतिहासिक सातत्य भंग हो गया और नये नगरों की उत्पत्ति के आधार पर संबंधों का पुनर्विन्यास हुआ।

जातीय भाषा-व्यवस्था के निर्माण और उसके जाति के लिए लाक्षणिक तत्वों के नये सहसंबंध की उत्पत्ति में नगर महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। सोवियत विद्वानों द्वारा जातीय साहित्यिक भाषाओं के विकास की प्रक्रियाओं के अध्ययन ने दिखलाया है कि उनमें सबसे लाक्षणिक शहरी जन-भाषा अथवा स्थानिक भाषा (वर्नाक्यूलर) का, अर्थात किसी जातीय प्रदेश के प्रशासनिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक केंद्र की बोली का जातीय साहित्यिक भाषा के आधार के रूप में उदय है, जैसे इंगलैंड में लंदन, चीन में पीकिंग, जापान में तोक्यो, उज़्बेकिस्तान में ताशक़ंद, आदि के मामले में। किसी जाति के संजातीय केंद्र के नाते नगर के कृत्यों का दायरा जितना ही ज्यादा व्यापक होता है और इस केंद्र की ऐतिहासिक स्थिति

जितना ही अधिक स्थिर होती है, जातीय साहित्यिक भाषा का आधार उतना ही अधिक सार्विक और प्रामाणिक होता है। भारत में इस अन्योन्याश्रितता को दिखलाने के लिए हमें सारणी ६ (पृ० ४५) की तरफ़ फिर से लौटना होगा, जिसमें मुख्य भारतीय भाषाओं के बोलनेवालों की शहरी आबादी की प्रतिशतता की संबद्ध राज्य अथवा प्रदेश के नगरीकरण के स्तर से तुलना की गयी है। सारणी में सन्निहित मात्रात्मक सूचना में एक गुणात्मक अभिलक्षण जोड़ा जा सकता है। सारणी के पहले भाग में मुख्यतः "आप्रवासी भाषाएं" दी गयी हैं, जिनके बोलनेवालों में शहरी आबादी का अनुपात बहुत ऊंचा है। उनके बोलनेवाले बिखरे हुए हैं और उनका अपना कोई संजातीय केंद्र नहीं है, जो भारत के बाहर छूट गया है। इस मामले में शहरी आबादी की प्रतिशतता और जातीय विकास के स्तर में कोई प्रत्यक्ष अन्योन्याश्रितता नहीं है। सारणी के निचले हिस्से में कुरुख/ओरांव, भीली, गोंडी, संताली, पहाड़ी और तीन बिहारी भाषाओं के आंकड़े दिये गये हैं। इन सभी भाषाओं की अभिलाक्षणिकता संजातीय प्रदेश के भीतर प्रशासनिक तथा राजनीतिक संगठन का अभाव, आबादी का (मैथिली के सिवाय) अनेक प्रशासनिक इकाइयों में बिखरा होना, आबादी का आर्थिक तथा सामाजिक पिछड़ापन, अल्पविकसित लिखित साहित्य और किसी ऐसी आधारिक बोली का अभाव है, जो साहित्यिक मानक के आधार का काम दे सके। इन भाषाओं के बोलनेवालों का नगरीकरण स्तर औसत भारतीय स्तर के बहुत नीचे है। यह और जोड़ा जाना चाहिए कि शहरी आबादी की ऐसी निम्न प्रतिशतता भी ख़ुद "अपने" नहीं, बल्कि संजातीय दृष्टि से "पराये" नगरों में पायी जाती है।

जनजातीय प्रदेशों में स्वतंत्रता के बाद उदित होनेवाले शक्तिशाली औद्योगिक केंद्रों ने स्थिति को बदला नहीं है, क्योंकि ये नगर संबद्ध संजातीय क्षेत्र में आंतरिक आर्थिक संबंधों के विकास के परिणामस्वरूप नहीं उत्पन्न हुए हैं। उन्हें केंद्रीय सरकार द्वारा और बड़ी निजी पूंजी द्वारा बाहर से "लाया" गया था। स्थली के चयन को औद्योगिक और आर्थिक लिहाज़ों (अयस्कों, कोयले, तेल, बिजली और पानी की उपलभ्यता) ने निर्धारित किया था। संथाल प्रदेशों में स्थित जमशेदपुर, रांची और दुर्गापुर जैसे औद्योगिक केंद्रों की आबादी संथालों से नहीं, बल्कि अधिकांशतः भारत के अन्य भागों के आप्रवासियों से निर्मित हुई है। कुछ संथालों को उपनगरीय बस्तियों में जाकर रहना पड़ा, तो कुछ जंगलों में चले गये। शहरों में

रहनेवाले अधिकांश संथालों को रोज़ंदारी पर काम दिया जाता है और वे शहरी आबादी के दूसरे समूहों से घुलते-मिलते नहीं हैं, क्योंकि वे उनके समाज में नीची जाति की हैसियत से शामिल होना नहीं चाहते। थोड़े से संथाल, जो सरकार द्वारा प्रदत्त सुविधाओं का लाभ उठाने को तैयार होते हैं, पढ़ते हैं, सरकारी सेवा में निम्न पदों पर काम करते हैं और सार्वजनिक तथा राजनीतिक जीवन में भाग लेने लगते हैं।

सारणी ६ के मध्यवर्ती हिस्से में ऐसी भाषाएं हैं, जो नगरीकरण के औसत भारतीय स्तर से नगण्य विचलन दर्शाती हैं। ये ऐसी भाषाएं हैं, जिनके सामाजिक कृत्यों का दायरा व्यापक है और लंबी साहित्यिक परंपरा, विकसित कार्यात्मक शैलियां और स्थापित मानक हैं। उनके बोलनेवालों का भाषाई राज्य के रूप में अपना राज्यत्व है। इन बातों के लिहाज़ से वे उपरोद्धृत भाषाओं से आमूलतः भिन्न हैं, लेकिन इस समूह की भाषाओं में भी अंतर हैं। इनमें से कुछ के प्रदेश में इतिहासतः स्थापित केंद्र हैं, जिनकी बोलियां मानक साहित्यिक भाषाओं के आधार का काम देती हैं—गुजरातियों के यहां अहमदाबाद-गांधीनगर, तमिलों के यहां मद्रास, महाराष्ट्रियों के यहां पुणे-बंबई, कश्मीरियों के यहां श्रीनगर, बंगालियों के यहां कलकत्ता, मलयालियों के यहां त्रिवेंद्रम-कोचीन, कन्नड़ों के यहां बंगलूर और ओड़ियाओं के यहां कटक। जहां तक इस समूह की दूसरी भाषाओं की बात है, तो मामला अधिक जटिल है। राजस्थानी के मामले में कई केंद्रों की बात की जा सकती है—जोधपुर मारवाड़ी बोली का इलाक़ा है, जिसे साहित्यिक राजस्थानी का आधार माना जाता है; जयपुर राज्य की राजधानी और शेखावाटी बोली के क्षेत्र में स्थित राजनीतिक तथा प्रशासनिक केंद्र है; और कोटा हाड़ौती बोली के इलाक़े में स्थित औद्योगिक केंद्र है, जो साहित्यिक भाषा के नाते काम करने का दावा नहीं करती।

आंध्र में भी ऐसी ही तसवीर देखने में आती है। यद्यपि भाषाई आधार पर स्थापित किया जानेवाला यह पहला भारतीय राज्य था और यहां का जातीय आंदोलन विशेषकर सशक्त और जनव्यापी स्वरूप का था, फिर भी आंध्रों के सामान्यतः स्वीकृत केंद्र का निर्धारण अभी होना ही है। १९२० में, जब भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने देश को कांग्रेस के प्रांतों में विभाजित किया, तो आंध्रों के लिए किसी केंद्र की स्थापना नहीं की गयी थी। बाद में स्थानीय कांग्रेस संगठन के सुझाव पर विजयवाड़ा को ऐसे केंद्र की संज्ञा दे दी गयी थी। यह नगर बहुत समय तक शक्तिशाली विजयनगर

राज्य की राजधानी रहा था। इस साम्राज्य के ज़माने को राष्ट्रवादी साहित्य में "आंध्रों का स्वर्णयुग" कहा जाता है। औपनिवेशिक काल में यह शहर एक बड़ा औद्योगिक केंद्र और रेल जंकशन बन गया, जिसने आसपास के इलाक़ों में गहन वाणिज्यिक कृषि को प्रोत्साहन प्रदान किया। विजयवाड़ा ज़िले को आंध्रों का संजातीय नाभिक माना जा सकता है। इस इलाक़े की बोली को साहित्यिक भाषा का आधार माना जाता है। प्रमुख तेलुगू प्रकाशन-गृह और प्रभावशाली तेलुगू अख़बारों के संपादकीय कार्यालय इसी शहर में स्थित हैं। इसी शहर में आंध्र में इस्पात कारख़ाने के निर्माण के लिए संघर्ष के नारे लेकर राष्ट्रवादी भावनाएं उदित और विकसित हुईं। आंध्र राज्य के क़ायम किये जाने के पहले भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने सुझाया था कि उसकी राजधानी का दरजा विजयवाड़ा को प्रदान किया जाये। राज्य की स्थापना होने के बाद पहले पांच साल रायलसीमा अंचल का प्रादेशिक नगर कुरनूल आंध्र की राजधानी रहा। तेलंगाना के आंध्र में शामिल हो जाने के बाद राजधानी का पद हैदराबाद को मिल गया, जिसका अपना विशिष्ट सांस्कृतिक और सामाजिक स्वरूप है। २०० साल से अधिक यह शहर हैदराबाद रियासत की राजधानी और "मुस्लिम संस्कृति" के प्रबल प्रभाव के अधीन रहा था। हैदराबाद रियासत की राजभाषा उर्दू थी, जिसकी आज भी तेलंगाना में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका है, क्योंकि वह न्यायपालिका की भाषा बनी रही है। आंध्र राज्य के अस्तित्व में आने के बाद के वर्षों में हैदराबाद में उद्योग-धंधों का ख़ूब विकास हुआ। तटवर्ती प्रदेशों से आंध्रों के आप्रवास के परिणामस्वरूप शहर की आबादी बढ़ी। नगर में तेलुगू भाषा और उसके साहित्य के विकास का संवर्धन करनेवाले संगठनों की स्थापना की गयी। अलबत्ता समाजशास्त्रियों और राजनीतिक कार्यकर्ताओं के अनुसार हैदराबाद और तेलंगाना तटवर्ती आंध्र के साथ अभी तक पूरी तरह से एकीकृत नहीं हो सके हैं।

बहुकेंद्रता असम की भी अभिलक्षक रही है। १८६४ से १९७२ तक इसकी राजधानी शिलंग (शिलांग) नगर था, जो ख़ास असमी इलाक़ों में नहीं, वरन खासी और गारो लोगों द्वारा आवासित पहाड़ी इलाक़े में था। अंग्रेज़ों द्वारा असम की राजधानी के लिए चुना गया यह शहर असमियों का कोई ऐतिहासिक केंद्र न था। १९६९ में, मेघालय की स्थापना के बाद, शिलंग उसकी भी राजधानी बन गया। असम सरकार ने नयी राजधानी के लिए उपयुक्त स्थली की तलाश करने का निर्णय लिया। ब्रिटिश शासन-

काल में कांग्रेस द्वारा देश के अपने संगठनात्मक प्रांतों में विभाजित किये जाने के समय असम के केंद्र को ब्रह्मपुत्र घाटी के पश्चिमी भाग में असमी भाषा की पूर्वी तथा पश्चिमी बोलियों की सीमा पर स्थित गुवाहाटी नगर ले जाया गया था, जो असमियों के प्राचीनतम सांस्कृतिक केंद्रों में एक है। १६४६ में यहां असम विश्वविद्यालय की और असमिया भाषा तथा साहित्य के संवर्धन और प्रचार-प्रसार के लिए निर्मित असम साहित्य सभा की स्थापना की गयी थी। गुवाहाटी ही में १६६०, १६६८ और १६७२ में राष्ट्रवादी आंदोलनों का समारंभ हुआ था। यहीं अंधराष्ट्रवादी संगठन लछित सेना ने अपनी कार्रवाइयों से अपने को सरनाम किया था। धीरे-धीरे राष्ट्रवादी भावनाओं की लहर ब्रह्मपुत्र घाटी के साथ-साथ पूर्व की ओर फैलती हुई शिवसागर ज़िले तक जा पहुंची, जिसकी बोली साहित्यिक असमिया का आधार है। १६७३ में असम सरकार ने गुवाहाटी के उपांतों में स्थित दिशपुर नामक गांव में राज्य की अस्थायी राजधानी स्थापित करने का निश्चय किया। वहां सरकारी कार्यालयों, रिहायशी मकानों और सार्वजनिक तथा व्यावसायिक कामकाज की इमारतों का निर्माण शुरू हो गया और अनुमानों के अनुसार यहां कोई १ लाख लोग निवास करेंगे।

पंजाब में भी बिलकुल ऐसी ही स्थिति पैदा हो गयी। भारत में पंजाबियों का संजातीय प्रदेश तीन अंचलों – माझा, दोआबा और मालवा – में विभाजित है। माझा अंचल में अमृतसर और गुरदासपुर ज़िले और पाकिस्तान में स्थित लाहौर का पड़ोसी इलाक़ा भी शामिल हैं। अमृतसर – लाहौर इलाक़े में प्रचलित माझी बोली ने ही साहित्यिक भाषा के आधार का निर्माण किया और उसे मानक माना जाता है (न० इ० तोलस्ताया, 'पंजाबी भाषा' [रूसी में], मास्को, १६६०, पृ० ७–६), लेकिन अभी निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि पंजाबियों के संजातीय विकास का केंद्र माझा ही है। अमृतसर शहर की इस राज्य में एक विशेष ही भूमिका है। गुरू रामदास द्वारा स्थापित यह नगर व्यापारिक रास्तों के संगम पर उपयुक्त स्थिति के कारण जल्दी ही एक समृद्ध व्यापारिक केंद्र बन गया। औपनिवेशिक काल में यहां एक बड़ी थोक कपड़ा मंडी थी। स्वातंत्र्योत्तर वर्षों में यहां उद्योग का और विशेषकर छोटे और मंझोले पैमाने के उद्योग का तेज़ी से विकास हुआ। अलबत्ता यह शहर एक धार्मिक केंद्र, विशेषकर सिखों की प्रसिद्ध स्वर्ण मंदिर की यात्रा की स्थली के नाते अधिक प्रसिद्ध है। अपने सांप्रदायिक स्वरूप के कारण अमृतसर का पंजाब का

सामान्यतः स्वीकृत केंद्र बन पाना कठिन है, क्योंकि पंजाबी तीन मुख्य संप्रदायों – सिख, हिंदू और मुस्लिम – में विभक्त हैं और उनके बीच संबंधों को कदाचित ही सामंजस्यपूर्ण कहा जा सकता है। दोआबा में जलंधर और होशियारपुर ज़िले आते हैं, जहां दोआबी की एक बोली, अथवा जलंधरी, बोली जाती है। जलंधर शहर मुख्यतः छोटे पैमाने के उद्योगों का केंद्र है। यहां कई प्रकाशनगृह और पंजाब में प्रभाव रखनेवाले पत्र-पत्रिकाओं के संपादकीय कार्यालय भी हैं। मालवा क्षेत्र में राज्य के दक्षिण-पूर्वी भाग में स्थित लुधियाना, पटियाला, संगरूर तथा अन्य ज़िले आते हैं, जहां मालवाई बोली* ही अधिकांशतः बोली जाती है। उन्नीसवीं सदी के मध्य में विदेशी मिशनरियों ने इस बोली की तरफ़ विशेष ध्यान देते हुए इसमें साहित्य, शब्दकोशों और व्याकरण की पुस्तकों का प्रकाशन किया, लेकिन उससे वह साहित्यिक पंजाबी की बुनियाद नहीं बन सकी।

पटियाला शहर औद्योगिक विकास में अमृतसर और जलंधर से पीछे है, मगर हाल के समय में वह आगे बढ़कर पंजाबी के विकास और प्रचार-प्रसार में अगुआ भूमिका अदा करने लग गया है। १९६२ में यहां पंजाबी विश्वविद्यालय की स्थापना की गयी, जिसका मुख्य लक्ष्य "पंजाबी भाषा का विकास करना और उसके प्राविधिक साहित्य के भंडार को आपूरित करना है, जिससे वह अंततः ज्ञान की सभी शाखाओं में शिक्षण माध्यम के रूप में अंग्रेज़ी की प्रतिस्थापना कर सके" ('इंडियन एक्सप्रेस', २८ फ़रवरी, १९६१)। पटियाला विश्वविद्यालय कई खंडों में पंजाबी लेखकों की कृतियों सहित विभिन्न प्रकाशन कर रहा है और पंजाबी की वर्तनी के मानकीकरण और अध्यापक प्रशिक्षण के काम में लगा हुआ है। राज्य सरकार का भाषा विभाग, जो पटियाला में ही स्थित है, पंजाबी विश्व-कोश के बहुखंडीय संस्करण की तैयारी, प्रशासनिक कामकाज के लिए शब्दावली का निरूपण और क़ानूनी तथा दूसरी सरकारी दस्तावेज़ों का पंजाबी में अनुवाद करने के काम में लगा हुआ है।

पंजाब का प्रशासनिक-राजनीतिक केंद्र स्वतंत्रता के बाद निर्मित और हिंदी तथा पंजाबीभाषी इलाक़ों की सरहद पर स्थित चंडीगढ़ है। द्विभाषी पंजाब के ख़ास पंजाब और हरियाणा में विभाजित होने के बाद चंडीगढ़

---

*इसे मालवा (मध्यप्रदेश) में बोली जानेवाली हिंदी की मालवी बोली के साथ नहीं उलझाना चाहिए।

के बारे में विवाद उत्पन्न हो गया। चंडीगढ़ के हरियाणा को सौंपे जाने के पक्षधरों का कहना था कि उसकी अधिकांश आबादी हिंदी बोलती है, जैसा कि १९६१ की जनगणना और १९६३ में भारत के योजना आयोग द्वारा किये गये चंडीगढ़ के सामाजिक-आर्थिक सर्वेक्षण के परिणामों से प्रकट होता है। अंतोक्त आंकड़ों के अनुसार नगर की ५३.८% आबादी हिंदी बोलती है और अगर द्विभाषिकता को ध्यान में रखा जाये, तो यह आंकड़ा ९५.५% हो जायेगा ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', २८ अक्तूबर, १९६९)। अंत में चंडीगढ़ को केंद्र द्वारा शासित संघ-राज्यक्षेत्र बना दिया गया। लेकिन इससे इस विवाद का अंत नहीं हो गया और चंडीगढ़ का पंजाब में शामिल किया जाना पंजाब समस्या की सबसे बड़ी अनसुलझी गुत्थियों में एक बना रहा।

हिंदी क्षेत्र में बहुकेंद्रता

हिंदी क्षेत्र में एक विशेषकर जटिल परिस्थिति उत्पन्न हो गयी है। यह एक विराट आकार और आबादी का इलाक़ा है, जहां "बड़ी दूरी का कारक" विशेष प्रबलता के साथ अनुभूत किया जाता है और दीर्घ-कालिक प्रशासनिक अनैक्य से वह और भी विषम हो गया है। हिंदी क्षेत्र की विशिष्टता कुछ औद्योगिक तथा वाणिज्यिक केंद्रों और ग्रामीण इलाक़ों के बीच, जो आर्थिक तथा सामाजिक दृष्टि से अत्यधिक पिछड़े हुए हैं, सख़्त विरोधाभास है। चूंकि इस क्षेत्र में पूंजीवादी संबंधों के विकास का आरंभ भारत के अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा बाद में हुआ, इसलिए यहां आर्थिक और विशेषकर अंतःप्रादेशिक संबंध कमज़ोर हैं। संजातीय दृष्टि से भी हिंदी क्षेत्र समरूप नहीं है, क्योंकि यहां विभिन्न छोटे जातीय समूहों, जनजातियों और संजातीय समूहों का आवास है, जो हिंदीभाषी आबादी से भिन्न हैं।

इन अवस्थाओं में हिंदी प्रदेश में बहुकेंद्रता को इस भाषा को बोलने-वाली आबादी के संजातीय विकास की मौजूदा मंज़िल के लिए लाक्षणिक नैसर्गिक परिघटना माना जा सकता है। अव्वल तो यह उल्लेखनीय है कि हर उस राज्य की राजधानी, जहां हिंदी को राजभाषा घोषित किया जा चुका है, उसके विकास का एक केंद्र है। इन नगरों में सरकारी और सार्वजनिक संगठन हिंदी में शब्दावली के निरूपण, प्राविधिक साहित्य के

अनुवाद और पाठ्यपुस्तकों, शब्दकोशों और मानक व्याकरणों की तैयारी के कामों में लगे हुए हैं। दिल्ली में केंद्रीय सरकार का हिंदी निदेशालय भी इसी तरह की समस्याओं को हल करने में लगा हुआ है। इस तरह के संगठन में शब्दावली और वर्तनी के बारे में मतभेदों का होना अनिवार्य है और इसलिए स्वीकार्य समाधान निकालने के लिए मुख्य मंत्रियों और संबद्ध विभागों के अधिकारियों के सम्मेलन होते रहते हैं। इसके अलावा, लगभग सभी हिंदीभाषी राज्यों में ऐसे कई शहर हैं, जो प्रमुख आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक अथवा धार्मिक केंद्र होने का दावा करते हैं।

उत्तरप्रदेश को भारत का "सर्वाधिक हिंदीभाषी" राज्य माना जाता है, क्योंकि हिंदीभाषी आबादी का अधिकांश यहीं रहता है और हिंदी के विकास तथा प्रचार-प्रसार में रत अधिकांश आधिकारिक संगठन भी यहीं स्थित हैं। उत्तरप्रदेश में कितने ही शहर ऐसे हैं, जिनका व्यक्तित्व एकदम अनूठा है। आबादी की तेज़ वृद्धि और उसके मिश्रित स्वरूप के बावजूद राज्य की राजधानी लखनऊ की एक माने हुए उर्दू केंद्र की प्रतिष्ठा अब भी बनी हुई है। गद्य और पद्य, दोनों ही की अपनी निराली परिष्कृत शैली और कुछ विशेष वैयाकरणिक रूपों का प्रयोग लखनवी उर्दू की अभिलाक्षणिकताएं हैं। साथ ही उत्तरप्रदेश सरकार का हिंदी विभाग प्रशासनिक कामकाज में हिंदी के प्रचलन और ज्ञान की विविध शाखाओं में हिंदी में पुस्तकों और पाठ्यपुस्तकों के प्रकाशन की तरफ़ भी बहुत ध्यान दे रहा है। लखनऊ से कुछ ही दूर अपने नानासंख्यक मज़दूर वर्ग और हिंदी क्षेत्र के विभिन्न प्रदेशों की विविध बोलियां बोलनेवाले लोगों के सक्रिय मिश्रण का विशाल औद्योगिक तथा वाणिज्यिक केंद्र कानपुर स्थित है। लखनऊ के पूर्व में राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम के वर्षों में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की जनतांत्रिक नीति का केंद्र और नेहरू परिवार की गतिविधियों के साथ घनिष्ठ रूप से संबद्ध इलाहाबाद (प्रयाग) नगर है। इलाहाबाद एक विश्वविद्यालय नगर और अपनी प्रगतिशील परंपराओं के लिए विज्ञात एक प्रमुख सांस्कृतिक केंद्र है। इलाहाबाद त्रिवेणी – गंगा, यमुना और पौराणिक सरस्वती नदियों के संगम – के लिए भी प्रसिद्ध है, जहां हर बारहवें साल कुंभ के अवसर पर मेला लगता है, जो भारत के कोने-कोने से लाखों तीर्थयात्रियों को आकर्षित करता है। इलाहाबाद का हिंदी के विकास पर काफ़ी प्रभाव है, क्योंकि यहां "शुद्ध" हिंदी के प्रतिपादक हिंदी साहित्य सम्मेलन का मुख्यालय है। अंत में पवित्र नगरी वाराणसी (बनारस,

काशी) का भी अवश्य उल्लेख किया जाना चाहिए, जो हिंदू सनातनता, रूढ़िवादिता और सांप्रदायिक विचारधारा का केंद्र है। वाराणसी अपनी अनूठी जीवन-प्रणाली और प्राचीनता से अनुराग के लिए विशेषकर उल्लेखनीय है। प्रसिद्ध विद्वान और उत्तरप्रदेश के भूतपूर्व मुख्य मंत्री डाक्टर संपूर्णानंद के शब्दों में वाराणसी आधुनिकता का ऐसी शक्ति से प्रतिरोध करती है, जो अन्य नगरों ने कदाचित ही प्रदर्शित की है और लगभग हर ही क़दम पर मरणांतक संघर्ष करती है ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', १९ दिसंबर, १९६७)। पॉल आर० ब्रास लक्षित करते हैं कि "हिंदू शास्त्र-सम्मतता का पारंपरिक गढ़ बनारस पंडित मदनमोहन मालवीय के नेतृत्व में हिंदू धार्मिक पुनर्जागरण का केंद्र बन गया। मालवीयजी का पुनर्जागरण-वाद लगभग अनिवार्यतः सांप्रदायिक विग्रह की तरफ़ ले गया... हिंदी भाषा का समर्थन करने के लिए मालवीयजी को उर्दू पर प्रहार करना ही था" (पॉल आर० ब्रास, 'एक भारतीय राज्य में गुट राजनीति – उत्तर-प्रदेश में कांग्रेस पार्टी' [अंग्रज़ी में], बंबई, १९६५, पृ० २०)।

स्वरूप में सारी विभिन्नताओं और विविधताओं के बावजूद इन नगरों में दो सामान्य लक्षण हैं। एक तो यह कि वे सभी मानक हिंदी की आधारिक बोली के क्षेत्र के बाहर स्थित हैं। इसलिए उनकी आबादी हिंदी की विभिन्न प्रादेशिक बोलियों के प्रभाव के अधीन है। दूसरा यह कि इनमें से कोई भी नगर सारे ही हिंदी क्षेत्र का केंद्र होने का दावा नहीं करता, क्योंकि उनमें से प्रत्येक उसकी परिरेखा पर स्थित है। अलावा इसके, उनमें से कोई भी अभी ऐसा बड़ा केंद्र नहीं बन पाया है कि जिसकी तरफ़ दूसरे क्षेत्र खिंचें। इस समय यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है कि हिंदी क्षेत्र के विभिन्न इलाक़े किस तरह से विकसित होंगे। स्वतंत्रता के बाद के पहले दशकों में उसके विकास से अनुमान लगाया जाये, तो हमारी राय में विशेष भूमिका दिल्ली और उसके आसपास के इलाक़ों को निबाहनी होगी। इसी शहर में अंतःप्रादेशिक बोलचाल की भाषा खड़ी बोली का उदय हुआ था, जिसने आधुनिक साहित्यिक हिंदी के आधार का निर्माण किया। यहीं से खड़ी बोली ने अन्य संबंधित बोलियों के इलाक़ों में प्रवेश किया। लंबे समय के लिए दिल्ली ने उत्तर भारत के प्रशासनिक, राजनीतिक, वाणिज्यिक और सांस्कृतिक केंद्र होने की अपनी भूमिका दूसरे शहरों, उदाहरण के लिए, मथुरा और आगरा, को सौंप दी थी, जिसने इन इलाक़ों में प्रयुक्त बोली ब्रजभाषा के अस्थायी उन्नयन में सहायता दी।

अंग्रेज़ों द्वारा भारत-विजय के आरंभ से लेकर १९१२ तक ब्रिटिश भारत की राजधानी कलकत्ता रहा। १८५७ के जन-विद्रोह के बाद दिल्ली समकालीनों के विवरणों के अनुसार एक "सोये हुए बड़े गांव" की तरह थी। यह उल्लेखनीय है कि हिंदी को अंग्रेज़ी के मुक़ाबले पर रखने के विचार से उसका प्रचार-प्रसार कार्य पहले कलकत्ता और बाद में बंबई के भारतीय प्रबोधकों और सुधारकों द्वारा चलाया गया था। यह भी उल्लेखनीय है कि औद्योगिक रूप से विकसित बंबई नगर हिंदुस्तानी में फ़िल्में बनाने का मुख्य केंद्र बन गया और अब भी इस क्षेत्र में सबसे आगे ही है। स्वतंत्रता के ठीक पहले के वर्षों में हिंदी का विकास उत्तर भारत में सांप्रदायिक कलह के प्रखर होने और हिंदी तथा उर्दू के पक्षधरों के बीच संघर्ष से काफ़ी हद तक अवरुद्ध हुआ था। उत्तर भारत के नगर सांप्रदायिक दंगों का मुख्य रंगमंच बन गये, जिन्होंने हिंदी के विकास और प्रचार-प्रसार से संबंधित लगभग सभी संगठनों के कार्यकलाप पर अपनी छाप डाली।

भारत के स्वतंत्र होने और संघीय राजधानी के नाते दिल्ली की स्थिति के सुदृढ़ होने के बाद भारत के सार्वजनिक जीवन में उसकी भूमिका में तेज़ी के साथ वृद्धि आयी। दिल्ली संसद, सरकार और उसके मंत्रालयों, विभागों तथा अन्य सेवाओं, उच्चतम न्यायालय और अपने नानासंख्य कर्मियों सहित दूसरे केंद्रीय अभिकरणों का केंद्र और इसी प्रकार मुख्य राजनीतिक दलों का मुख्यालय भी है।

दिल्ली के आर्थिक विकास के सूचक प्रभावोत्पादक हैं। १९४७ में यहां ८,१६० औद्योगिक उद्यम थे, जिनमें ६९,००० मज़दूर काम करते थे। १९७३ तक उद्यमों की संख्या ३०,००० और मज़दूरों की २,५०,००० हो गयी थी। इसके अलावा, दिल्ली का औद्योगिक क्षेत्र नये औद्योगिक नगरों—गुड़गांव, फ़रीदाबाद, ग़ाज़ियाबाद, मेरठ और मथुरा तक—को अपनी तरफ़ खींचता है। दिल्ली और हरियाणा के ग्रामीण क्षेत्रों तथा पश्चिमी उत्तरप्रदेश के बीच, जहां "हरित क्रांति" हो रही है, आर्थिक संबंध तेज़ी के साथ बढ़ रहे हैं। दिल्ली का क्षेत्रीय विस्तार भी हो रहा है—१९५१ से १९६१ तक की दसवर्षीय अवधि में आसपास के ५० से अधिक गांवों को दिल्ली की नगर-सीमाओं के भीतर ले लिया गया था। वृहत्तर दिल्ली अथवा राष्ट्रीय राजधानी प्रदेश की योजनाएं तैयार की जा रही हैं, जिसका विस्तार हरियाणा में रोहतक से लेकर उत्तरप्रदेश में बुलंदशहर तक

होगा और दिल्ली से १०० किलोमीटर की परिधि में आनेवाले इलाक़े का समन्वित विकास किया जायेगा। दिल्ली के आसपास १२ अनुषंगी नगर स्थापित किये जाने की योजनाएं बनायी जा रही हैं, जो दिल्ली के औद्योगिक, वाणिज्यिक तथा सांस्कृतिक समुच्चय के अंग होंगे। दिल्ली की आबादी तेज़ी के साथ बढ़ रही है। १९४७ में वह ९ लाख थी और १९८३ तक ६० लाख से अधिक हो चुकी थी। कभी-कभी कहा जाता है कि दिल्ली की आबादी भाषाई दृष्टि से अधिकाधिक मिश्रित होती जा रही है, क्योंकि उसमें मुख्यतः आप्रवासियों से आपूरण होता है, जो हर साल २ लाख की रफ़्तार से दिल्ली में आकर बस रहे हैं। १९७० में नगर की ६१% आबादी आप्रवासियों की ही थी। लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि दिल्ली में भाषाई स्थिति अव्यवस्था की है। यहां दूसरी भाषाएं बोलनेवाली आबादी की प्रतिशत संख्या कम ही है। मिसाल के लिए, १९६१ में बंगाली दिल्ली की आबादी के १.१% का, तमिल ०.९% का, मलयाली ०.४% का, गुजराती और महाराष्ट्रीय प्रत्येक ०.३% का और तेलुगू ०.२% का निर्माण करते थे (वी० के० आर० वी० राव, पी० बी० देसाई, 'वृहत्तर दिल्ली: नगरीकरण का एक अध्ययन, १९४०–१९५७' [अंग्रेज़ी में], बंबई, १९६५, पृ० ४८)। भारत के योजना आयोग के भूतपूर्व सचिव अशोक मित्र अपने सर्वेक्षण के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि दिल्ली में आबादी के ग़ैर-हिंदीभाषी का अनुपात घटने की प्रवृत्ति दर्शाता है ('हिंदुस्तान टाइम्स', १० सितंबर, १९७०)।

दिल्ली की आबादी का भारी बहुलांश (९५%) हिंदी और उसकी बोलियां, उर्दू, पहाड़ी भाषाएं और पंजाबी बोलता है। एक सर्वेक्षण के आंकड़ों के अनुसार दिल्ली के नानासंख्य छोटे अथवा मंझोले उद्यमकर्ताओं* में ६४% पाकिस्तान से आये हिंदीभाषी लोग हैं और २६% पड़ोसी पंजाब और हरियाणा से आये आप्रवासी हैं। दिल्ली में सबसे बड़ा ग़ैर-हिंदीभाषी समूह पंजाबियों का है (लगभग २०%), लेकिन वे, सामान्यतया, द्विभाषी हैं और हिंदी अकसर उनकी मुख्य भाषा बन जाती है। हिंदीभाषी "अन्यत्रवासियों" की ख़ासी बड़ी संख्या को भी ध्यान में रखा जाना चाहिए, जो दिल्ली में स्थायी रूप से काम करते हैं, पर निकटवर्ती शहरों और क़सबों में रहते हैं। मिसाल के लिए, दिल्ली में केंद्रीय सरकार

---

* शहर में उनकी संख्या (परिवार के सदस्यों के बिना) २,५०,००० थी।

के कार्यालयों में काम करनेवाले २,३०० कर्मचारी गुड़गांव (हरियाणा) में रहते हैं ('पैट्रियट', ४ दिसंबर, १९७०)।

दिल्ली एक वर्धमान सांस्कृतिक केंद्र भी है, जहां एक बड़ा बुद्धिजीवी समुदाय और नानासंख्य छात्र हैं। यहां बड़े-बड़े प्रकाशनगृह, लेखक संगठन, पुस्तकालय और थियेटर स्थित हैं। सारणी २३ में हिंदी नियतकालिक पत्र-पत्रिकाओं के क्षेत्रीय प्रसार तथा वृद्धि को दर्शाया गया है ('भारत में समाचारपत्र – १९६५', भाग १, नयी दिल्ली, १९६५; 'भारत में समाचारपत्र – १९७१', भाग १, नयी दिल्ली, १९७१ [दोनों अंग्रेज़ी में])।

सारणी २३

	राज्य, प्रदेश	प्रकाशनों की संख्या		औसत बिक्री, हज़ार में		१९७० में प्रति हज़ार व्यक्ति प्रतियों की संख्या
		१९६४	१९७०	१९६४	१९७०	
हिंदीभाषी	दिल्ली	१७३	२८८	८७९	१,४०१	३४१
	उत्तरप्रदेश	७०९	१,००१	१,२७१	१,७३६	२०
	राजस्थान	२२६	४६२	२२२	५२४	२०
	मध्यप्रदेश	२३७	३९८	२७८	५३१	१२
	हरियाणा	–	९४	–	६६	७
ग़ैर-हिंदीभाषी	महाराष्ट्र	७०	९७	४४७	७०५	१४
	पश्चिम बंगाल	९२	८८	३६५	२८३	६
	पंजाब (१९६४ में हरियाणा सहित)	९८	४९	८१	६३	५

भारत की संघीय राजधानी के नाते और हिंदीभाषी क्षेत्र में प्रमुख राजनीतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक भूमिका ग्रहण करनेवाले नगर के नाते

दिल्ली में साहित्यिक हिंदी के सामाजिक कृत्यों का प्रसार केंद्र बन जाने की हर संभाव्यता है।

जातीय भाषा-व्यवस्था की उत्पत्ति में बहुकेंद्रता का प्रभाव विवाद का विषय है। एक ओर, इतिहासतः निर्मित जातीय केंद्र का अभाव जातीय भाषा के मानकीकरण और समूचे तौर पर जाति के समेकन के मार्ग में बाधा है। ऐसी कोई भी आधारिक बोली, जिसकी पुश्त पर जातीय केंद्र की स्थानिक भाषा होने की प्रतिष्ठा न हो, अपने को जातिव्यापी मानक के रूप में स्थापित करने में कठिनाइयों का सामना करती है। ऐसी स्थिति साहित्यिक भाषा के विकास में, मिसाल के लिए, शुद्धतावादियों द्वारा, हस्तक्षेप को सुगम बना देती है। किसी बोली के संबद्ध जातीय भाषा की रूप लेती व्यवस्था से अलग कर दिये जाने की भी संभावना बनी रहती है। दूसरी ओर, साहित्यिक भाषा का अपने मौखिक तथा लिखित रूपों में बोली क्षेत्रों में प्रसार और बहुकेंद्रता की अवस्थाओं में बोलियों का इन रूपों पर अधिक सक्रिय प्रभाव साहित्यिक मानक की बोलियोपरि स्वरूप प्राप्त करने और भविष्य में जातीय प्रदेश के समस्त विस्तार में उसके सार्विक तथा स्थायी अंगीकरण में सहायता देते हैं।

संजातीय केंद्र का अभाव यह द्योतित करता है कि संबद्ध संजातीय समुदाय की जातीय समेकन प्रक्रिया भ्रूणावस्था में है और गंभीर कठिनाइयों का सामना कर रही है। प्रादेशिक वितरण की दृष्टि से जिन जातियों के निश्चित केंद्र हैं, वे – सामान्यतया – भारत के तटवर्ती इलाक़ों में रहती हैं, जहां पूंजीवादी संबंधों का विकास सबसे पहले शुरू हुआ था। बहुकेंद्रता अधिक पिछड़े हुए और दूरस्थ इलाक़ों की अभिलाक्षणिकता है, जहां विकास में भारत के स्वतंत्र होने के बाद तेज़ी आयी। पिछड़े हुए संजातीय समुदाय दुर्गम पहाड़ी इलाक़ों में या अपने पड़ोसियों से प्राकृतिक अवरोधों द्वारा कटे हुए इलाक़ों में रहते हैं।

नगरीकरण का स्तर जातीय विकास के स्तर का एकमात्र सूचक नहीं हो सकता है। उदाहरण के लिए, बंगाल में कलकत्ता जैसे इतिहासतः निर्मित जातीय केंद्र का होना भी बंगाली जाति के सांप्रदायिक आधार पर विभाजन को न रोक सका। फलतः, जातीय केंद्रों की स्थापना और नगरों के विकास को सामान्य आर्थिक जीवन की स्थापना के महत्वपूर्ण पहलुओं में से सिर्फ़ एक ही माना जाना चाहिए।

भारतीय समाज की सामाजिक तथा वर्ग संरचना में बदलाव और भाषा-नीति

स्थिर सामान्य आर्थिक जीवन की स्थापना में जाति बनते संजातीय समूह के वर्गीय तथा सामाजिक ढांचे का पुनर्गठन सन्निहित है। वह जातीय भाषा-व्यवस्था को भी, उसे नयी अवस्थाओं के अनुसार बदलते हुए, प्रभावित करता है। सामाजिक परिघटना के रूप में भाषा विभिन्न वर्गों के प्रति उदासीन होती है, यद्यपि इसका विलोम सही नहीं है। भाषा-विकास की समस्याओं, समाज में उसकी भूमिका और उसके सामाजिक कृत्यों के प्रति भिन्न-भिन्न वर्ग अलग-अलग रवैये अपनाते हैं। इन प्रश्नों के बारे में एक विवाद चल रहा है, जो इतिहास की किसी भी विशेष मंज़िल में विकास के क्रम का निर्धारण करनेवाली शक्तियों को प्रकट करता है।

उपलब्ध साहित्य से जहां तक अनुमान लगाया जा सकता है, उससे यही प्रकट होता है कि समस्या के इस अत्यंत महत्वपूर्ण पहलू की अभी तक न तो समूचे तौर पर भारत के पैमाने पर और न ही किसी अलग जातीय प्रदेश के पैमाने पर परीक्षा की गयी है। इसलिए निम्नलिखित निष्कर्षों को किसी भी प्रकार सर्वांगीण नहीं माना जा सकता और उनमें मुख्यतः समस्या को प्रस्तुत ही किया गया है और उसके प्रति कुछ कार्यविधिक उपागम ढूंढ़ने का प्रयास ही किया गया है।

जाति के गठन और समेकन के दौरान भारतीय समाज के पुनर्गठन की मुख्य दिशा सामंतवाद में अंतर्निहित श्रेणियों और जातपांत पर आधारित सामाजिक संरचना से आबादी के विकसित पूंजीवाद के लिए लाक्षणिक वर्गों में व्यापक तथा स्वतंत्र समूहन की ओर गति है।* भारत के सामाजिक

---

*व्ला० इ० लेनिन ने लिखा है: "यहां वर्ग और सामाजिक श्रेणी के बीच अंतरों में से **एक** को सही इंगित किया गया है, अर्थात यह कि वर्गों को एक-दूसरे से जो चीज़ विभेदित करती है, वह विधिक विशेषाधिकार नहीं, वरन वास्तविक अवस्थाएं है और, फलतः, यह कि समकालीन समाज में वर्ग **विधिक समानता** की पूर्वकल्पना करते हैं... यहां यूरोपीय और रूसी इतिहास में श्रेणियों और वर्गों के बीच एक और अंतर को सही इंगित किया गया है, अर्थात यह कि सामाजिक श्रेणियां सामंती समाज की और वर्ग पूंजीवादी समाज की विशेषता हैं" (व्ला० इ० लेनिन, 'नरोदवादी मंसूबेबाज़ी के कमाल', १८६७।

स्वरूप का निर्धारण काफ़ी हद तक उसके अनेक ढांचों का स्थायित्व करता है। "यहां हमारा आशय किसी निश्चित सामाजिक-आर्थिक विरचना की चट्टान में जमी हुई कालातीत उत्पादन विधियों की छिपटियों से नहीं, बल्कि उत्पादन संबंधों के उन सहअस्तित्वमान बड़े (संहत) 'ढेलों' से है, जो एक-दूसरे के आमने-सामने होते हैं और साथ ही जटिल और बदलते हुए सूत्रों से साथ-साथ जुड़े रहते हैं" (अ० इ० लेवकोव्स्की, 'समकालीन दुनिया में तीसरी दुनिया' [रूसी में], मास्को, १९७०, पृ० ९)। अतः भारतीय समाज की संरचना को भी नानारूप कहा जा सकता है: अपेक्षाकृत विकसित मज़दूर वर्ग और बुर्जुआ वर्ग के साथ-साथ, जिन्हें अपने वर्ग-हितों की समझ है, भारत में सामाजिक संगठन के पारंपरिक – जातपांतीय, सांप्रदायिक और क़बायली – रूप भी बने हुए हैं। अपने को नये सामाजिक संबंधों के अनुरूप ढालते हुए पारंपरिक सामाजिक संरचनाओं ने आबादी के ख़ासे बड़े हिस्से को अब भी कसकर जकड़ रखा है। चूंकि सामाजिक चेतना हमेशा सामाजिक अस्तित्व से पिछड़ी रहती है, इसलिए भारतीय आबादी का ख़ासा बड़ा अंशक, मसलन, औद्योगिक सर्वहारा की क़तारों में पक्की तरह से आ जाने के बाद भी काफ़ी लंबे समय तक अपनी जात-बिरादराना, क़बायली अथवा सांप्रदायिक मनोवृत्ति को बनाये रखता है, जो उसके सामाजिक आचरण को निर्धारित करती है। यह तथ्य वर्गीय, राजनीतिक और विचारधारात्मक संघर्ष पर और, निस्संदेह, जातीय संबंधों पर, जो इस संघर्ष का अभिन्न अंग हैं, अपनी विशिष्ट छाप डाल देता है।

समकालीन भारत में सामाजिक तथा वर्गीय संबंधों की विरोधात्मक विविधता का एक चारित्रिक लक्षण विशिष्ट अथवा संभ्रांत लोगों के समूहों का होना है, जो समूचे तौर पर भारत और अलग-अलग राज्यों में शासक सोपानक का निर्माण करते हैं। विकसित पूंजीवादी देशों के संभ्रांतवर्ग से भिन्न, जो अभिभावी वर्ग के हितों का प्रतिनिधित्व करता है और उसकी ओर से समाज के आर्थिक, राजनीतिक तथा सार्वजनिक जीवन को शासित करता है, विकासमान देशों में संभ्रांतवर्ग या तो नयी वर्ग-विरचनाओं का केंद्रक होता है और कुछ समय तक अभी अनिर्मित वर्ग की भूमिका निबाहता है, या वह आबादी के किसी पारंपरिक समूह के ऐसे हिस्से के रूप में प्रकट होता है, जो आधुनिक समाज के किसी वर्ग में शामिल होने

की प्रक्रिया में है, अर्थात वह वर्ग-विरचना की प्रक्रिया में उत्प्रेरक की भूमिका अदा करता है।

भारत की सामाजिक-वर्गीय संरचना के विश्लेषण में शोधकर्ता भारतीय समाज की तथाकथित ऊपरी परत अथवा अधिसंभ्रांतवर्ग को विभेदित करते हैं, जिसमें बड़ी और एकाधिकारी पूंजी के प्रतिनिधि, बड़ी फ़र्मों के प्रबंधक, उच्चतम सरकारी अधिकारी, अखिल भारतीय बुर्जुआ पार्टियों के नेता, भूतपूर्व राजा-नवाब (जो राजनीति और व्यापार में अधिकाधिक सक्रिय भाग ले रहे हैं), उच्चतम सैनिक अधिकारी, आदि आते हैं। इस संस्तर के प्रतिनिधि सारे ही भारत को अपनी सरगरमियों का मैदान समझते हैं। उनमें से बहुतों में अपने सामाजिक संबंधों, जीवन-प्रणाली, अभिरुचियों और पहनावे में पश्चिमी मानकों को अपनाने का झुकाव है। भारतीय उच्च संस्तर पूंजीवाद के अंतर्गत जातीय विकास की दूसरी प्रवृत्ति (पूंजी का अंतर्राष्ट्रीयकरण, जातीय सीमांतों का विघटन, आदि) की प्रेरक शक्तियों में एक है। वह भाषावार राज्यों और स्थानीय राष्ट्रवाद अथवा प्रादेशिकता-वाद का विरोधी है। भारत को एकात्मक राज्य बनाने अथवा आर्थिक क्षेत्रीयकरण के आधार पर, जो पूंजी, जनशक्ति और मालों के संचलन को प्रोत्साहित करे, प्रशासनिक विभाजन का सुधार करने के सुझाव इसी समूह से आते हैं। उच्चतम संस्तर की मुख्य भाषा अंग्रेज़ी रही है और भारत में अंग्रेज़ी भाषा की सामाजिक स्थिति की दृढ़ता उसे प्राप्त इस "उच्चवर्गीय संरक्षण" में है। शासक उच्च संस्तर अंग्रेज़ी की विशेष स्थिति को बनाये रखने के पक्ष में है, जिसे वह सिर्फ़ अभ्यासगत संसर्गमाध्यम ही नहीं, बल्कि एक प्रत्यक्ष सामाजिक विशेषाधिकार भी समझता है।

तथापि यह दावा करना ग़लत होगा कि भारतीय समाज के उच्चतर अंशक पूर्णतः पाश्चात्यीकृत हो गये हैं और भारत की मिट्टी से नाता तोड़ चुके हैं। ऊपरी अंशकों के पाश्चात्यीकरण, अपने हितों की सामान्यता और सिर्फ़ मेहनतकश जनसाधारण ही नहीं, बल्कि कई बातों में निम्न-बुर्जुआ वर्ग के हितों के भी विरोध के अहसास ने उन्हें ऐसे संहत समूह में नहीं परिणत कर दिया है कि जो सभी प्रश्नों पर सदा ही सामान्य स्थिति से काम करे। अधिसंभ्रांतवर्ग में न्यूनाधिक संवृत जात-बिरादरी (जैसे मारवाड़ी, बनिये, चेट्टियार, आदि) और सांप्रदायिक (पारसी, जैन, इस्माइली, आदि) समूह आते हैं। अपनी जात-बिरादरी अथवा संप्रदाय के सदस्यों के संदर्भ

में ये समह ऐसे संभ्रांतों की भूमिका में आते हैं, जो संप्रदाय अथवा जात-बिरादरी के भीतर संबंधों को प्रोत्साहित करते हैं और जो अपनी आय का कुछ हिस्सा "सामान्य" आवश्यकताओं – विभिन्न संस्थाओं और धर्मार्थ संगठनों के रखरखाव – के लिए देते हैं। यद्यपि उत्पादन संबंधों के ढांचे में अपनी वास्तविक स्थिति के लिहाज़ से इस तरह के समूह लेनिन के शब्दों में "अंतर्राष्ट्रीय रूप से एकीकृत पूंजी" का प्रतिनिधित्व करते हैं, जो मज़दूर वर्ग की विरोधी है, तथापि अपनी सामाजिक मानसिकता और सामाजिक आचरण में उनमें पूंजीवाद-पूर्व संकीर्णता के कई लक्षण अब भी बने हुए हैं। इस के अलावा, पूंजीवाद के तहत जातीय विकास में दोनों प्रवृत्तियों के एक साथ कार्यशील होने की अवस्थाओं में भारतीय समाज का उच्च संस्तर दोनों से ही प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। "स्वतंत्र भारत में इजारेदार समूह के स्वतंत्र कार्य ने जातीय पूंजी के स्थानीय समूहों और राज्य सरकारों तथा अन्य स्थानीय प्राधिकरणों के सक्रिय सहयोग का तक़ाज़ा करना शुरू कर दिया है" (ल० इ० रेइस्नेर, ग० क० शिरोकोव, 'समकालीन भारतीय बुर्जुआ वर्ग' [रूसी में], मास्को, १९६६, पृ० ६०)। दूसरे शब्दों में, उच्च संस्तरों को राज्यों में राष्ट्रवादी भावनाओं को ध्यान में रखना पड़ता है और कभी-कभी उनका वर्ग संघर्ष में उपकरणों की तरह उपयोग करना पड़ता है। बड़े व्यवसाइयों द्वारा अंधराष्ट्रवादी मराठा संगठन शिवसेना को प्रदत्त संरक्षण इसका एक सजीव उदाहरण है।

स्वातंत्र्योत्तर वर्षों के दौरान भारत में घटनाक्रम ने दिखलाया है कि राज्य अथवा प्रादेशिक स्तर पर जातीय आंदोलनों में अगुआ शक्ति, सामान्यतया, शहरी निम्न-बुर्जुआ वर्ग होता है, जो संख्या के लिहाज़ से ख़ासा बड़ा और सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन में प्रभावशाली है। इसकी मिसाल पंजाब और तमिलनाडू से दी जा सकती है, जो इस उपमहाद्वीप के विपरीत छोरों पर स्थित हैं और बहुत सी बातों में भिन्न हैं। इन भेदों के बावजूद, और शायद उन्हीं की बदौलत, भारत में जातीय प्रक्रियाओं में सामान्य लक्षणों को देखना संभव हो जाता है।

चुनावों में विजय प्राप्त करने के परिणामस्वरूप १९६७ में तमिलनाडू में सत्ता द्रविड़ मुनेत्र कड़गम (द्रमुक या डी-एम-के) के हाथों में आ गयी। द्रमुक को मुख्यतः शहरी मध्यम वर्गों का समर्थन प्राप्त है और

वह द्रुत गति से बढ़ते तमिल बुर्जुआ वर्ग के हितों को प्रतिबिंबित करता है। द्रमुक की सफलता को तमिल राष्ट्रवाद के उद्भव के साथ जोड़ा जाता है, जिसका आरंभ ब्रिटिश शासनकाल में ब्राह्मणविरोधी आंदोलनों और स्वातंत्र्योत्तर वर्षों में हिंदी को एकमात्र राजभाषा का दरजा दिये जाने के विरुद्ध जनव्यापी संघर्ष में हुआ था। द्रमुक नेताओं ने तमिल भाषा के विकास में महत्वपूर्ण योगदान किया था। द्रमुक और बाद में उसी से उदित अन्ना द्रविड़ मुनेत्र कड़गम (आद्रमुक) के बहुत से नेता प्रसिद्ध लेखक, कवि, नाट्यकार, पत्रकार, अभिनेता, सिने तथा रंगकर्मी और लोकप्रिय वक्ता हैं। उन्होंने बोलचाल की तमिल का संसर्ग के उन क्षेत्रों में प्रचलन करने के लिए क़दम उठाये, जिन पर अभी हाल ही तक क्लासिकी साहित्यिक भाषा का एकाधिकार था, जो बोलचाल की भाषा से काफ़ी भिन्न है। इन क़दमों का न सिर्फ़ शहरी आबादी ने ही, बल्कि राज्य की कृषिजीवी जात-बिरादरियों ने भी स्वागत किया, जो राजनीतिक तथा सामाजिक जीवन में अधिकाधिक खिंचती जा रही हैं। अपने 'द्रमुक की सफलता का रहस्य' शीर्षक लेख में एस० रागी सिंहन लिखते हैं: "कुछेक सकारात्मक पूर्वपीठिकाओं पर आधारित विचारधारा की खोज में द्रमुक ने उसे अंततः तमिल पुनर्जागरण [आंदोलन] में पा लिया। अच्छे वक्ता और प्रभावशाली लेखक होने के अलावा अधिकांश द्रमुक नेताओं में सूझबूझ और नवान्वेषण की भी क्षमता है। धीरे-धीरे तूफ़ानी कवि सुब्रह्मण्य भारती के ढंग से शुरू करके वे हर कल्पनीय माध्यम के ज़रिये राज्य के कोने-कोने में एक नयी ओजस्वी तमिल का प्रसार करने लगे... तमिल लोग अपनी भाषा को पहले किसी भी [समय] की अपेक्षा अधिक चाहने लगे और धीरे-धीरे उसकी समृद्धि और अपनी संस्कृति पर भी गर्व करने लगे" ('इंडियन एक्सप्रेस', १९ मार्च, १९६७)। एक और लेखक ने लक्षित किया: "मद्रास के मुख्य मंत्री और तमिल पुनर्जागरण के प्रेरणा-स्रोत श्री अन्नादुरै (जिनका १९६९ में देहांत हो गया—ले०) ने कुछ समय पहले कहा था कि 'हर आदमी अपनी भाषा से प्यार करता है, मगर तमिलों का तमिल से प्यार निराला ही है और उसके अर्थभेदों को शायद हर कोई नहीं समझ सकता।' किसी भी और प्रदेश या देश में अपनी मातृभाषा के प्रति वह अंधानुराग देखने में नहीं आता, जो तमिलनाडु में देखने में आता है" (वहीं, ६ फ़रवरी, १९६८)। उन्होंने लक्षित किया है कि समकालीन तमिल पुनर्जागरण

का एक और महत्वपूर्ण लक्षण उसका धर्म-निरपेक्ष स्वरूप, अर्थात धार्मिक साहित्य की भाषा का अस्वीकरण है। यह ध्यान में रखा जाना चाहिए कि तमिल व्यापारियों और बुर्जुआ वर्ग के दूसरे अंशकों ने मातृभाषा के संरक्षण और विकास के लिए द्रमुक और छात्र आंदोलन का समर्थन किया।

तमिलनाडू में राष्ट्रवादी भावनाओं की व्याप्ति प्रत्यक्ष है। इसकी मिसाल १९६५ के छात्र उपद्रवों से मिलती है, जिनके दौरान कितने ही छात्रों ने उन्माद की अवस्था में "तमिल ज़िंदाबाद!" के नारे लगाते हुए मद्रास की सड़कों पर आत्मदाह किया। द्रमुक सरकार के तमिल भाषा के विकास और उसके कार्य-क्षेत्र के विस्तार के लिए क़दमों का छात्रों और शहरी निम्न-बुर्जुआ वर्ग ने सोत्साह समर्थन किया। लेकिन तमिलनाडू सरकार के १९७० में राज्य की शिक्षा व्यवस्था में अंग्रेज़ी की तमिल से प्रतिस्थापना करने और सरकारी सेवा और तमिल निजी फ़र्मों में सिर्फ़ तमिल माध्यम में शिक्षा देनेवाली संस्थाओं में शिक्षा समाप्त करनेवालों को ही नौकरी देने के निर्णय ने विरोध की लहर पैदा कर दी। राज्य में छात्रों की कई हड़तालें हुईं। उन्होंने इस निर्णय के रद्द किये जाने और अंग्रेज़ी को बनाये रखने की मांग की। सरकार को आख़िर झुकना पड़ा। यह भी दृष्टव्य है कि तमिलनाडू में छात्र रोजगार की बेहतर संभावनाओं की आशा में अधिकाधिक हिंदी का अध्ययन कर रहे हैं। राज्य के नगरों में हिंदी फ़िल्मों की लोकप्रियता बढ़ रही है। संक्षेप में, जुझारू राष्ट्रवाद की पृष्ठभूमि तक में एकीकरण प्रक्रियाएं चल रही हैं।

जातीय विग्रह का एक और स्रोत तमिल बुर्जुआ वर्ग के एक हिस्से का दक्षिण भारत में प्रधान स्थिति का दावा है। "विंध्य पर्वतमाला के दक्षिण में स्थित समस्त प्रदेश में समाविष्ट अस्पष्टतः परिभाषित 'दक्षिणी राज्यों' का संजातीय एकत्व द्रविड़ मुनेत्र कड़गम के लिए अपने विकास के पहले दशक में एक धर्म-सिद्धांत की तरह था। इसी काल में उसने द्रविड़-स्तान अथवा द्रविड़नाडू, अर्थात तमिलों के नेतृत्व में स्वतंत्र राज्य का नारा रखा था। साठ के दशक में प्रारंभिक संसदीय विजयों का स्वाद रख लेने के बाद, किंतु संविधान में पृथकतावादविरोधी संशोधन के संदर्भ में अपने भविष्य के बारे में चिंतित द्रमुक ने द्राविड़ प्रजाति सिद्धांत के तर्कसंगत लक्ष्य, अर्थात द्रविड़नाडू, को तज दिया और 'भारतीय संघ के भीतर

एकीकृत दक्षिणी राज्यसंघ' के लिए प्रयास करने के संशोधित लक्ष्य पर ज़ोर देना शुरू कर दिया। तथापि, व्यवहार में, द्रविड़नाडू की संकल्पना—द्राविड़ एकत्व का विचार—अपने आपको विशुद्ध तमिलजातीय अंधराष्ट्रवाद से अधिक और किसी चीज़ के रूप में व्यक्त नहीं करती थी" ('पैट्रियट', ५ फ़रवरी, १९७०)।

जहां तक उत्तर से टकराव का, और विशेषकर हिंदी को एकमात्र राजभाषा बनाये जाने के विरोध का सवाल है, तो इसमें दक्षिणी राज्य एक ही स्थिति अपनाते हैं। लेकिन आंध्र, कर्णाटक और केरल स्पष्टतः अपनी एकात्मता की समझ प्राप्त कर चुके हैं। उनके अपने उदीयमान बुर्जुआ वर्ग, बुद्धिजीवी समुदाय और दूसरे "जातीयमना" अंशक हैं, जो तमिलों की नेतृत्वकारी भूमिका को स्वीकारने से इन्कार करते हैं। मामला तब और भी उलझ गया कि जब द्रमुक ने "तमिलनाडू तमिलों के लिए!" के नारे का प्रयोग करना शुरू किया, जो राज्य में रहनेवाले भाषाई अल्पसंख्यकों और विशेषकर मलयालियों के विरुद्ध निदेशित था। साठ के दशक के अंत से मद्रास और राज्य के दूसरे नगरों में समय-समय पर ऐसी पुस्तिकाएं और परचियां प्रकाशित होती रही हैं, जिनमें "तमिलनाडू में मलयाली प्रभुत्व" के विरुद्ध संघर्ष करने का आह्वान किया जाता है ('लिंक', २१ अप्रैल, १९७४)।

तमिलनाडू और कर्णाटक के बीच संबंधों में भी पेचीदगियां पैदा हुईं। जातीय विकास की दृष्टि से कर्णाटक का विशिष्ट लक्षण यह है कि कन्नड़-भाषी आबादी के सभी प्रदेशों का एकीकरण अभी तक उनके आर्थिक तथा राजनीतिक एकीभवन को संपन्न नहीं कर सका है। और न कोई एक साहित्यिक भाषा ही है। विद्वानों ने लक्षित किया है कि बोलचाल की कन्नड़ की दो क़िस्में हैं—मैसूरी बोली और धारवाड़ी बोली। "लेकिन समूचे तौर पर ज़बान की मानक भाषा की स्थिति अभी संक्रमण की अवस्था में ही प्रतीत होती है और वर्तमान रुझान मैसूरी बोली की तरफ़ झुकाव की दिशा में ही अधिक नज़र आता है" (आर० सी० निगम, पूर्वो०, पृ० २८०)। सरकारी कामकाज में कन्नड़ को प्रचलन में लाने के काम में लगे विशेषज्ञों के अनुसार सबसे बड़ी समस्याएं शायद लिखित भाषा में बोलीगत अंतर ही पेश करते हैं। इसलिए, राज्य सरकार के निर्णय के अनुसार, सरकारी कामकाज में कन्नड़ का प्रयोग सिर्फ़ ज़िला स्तर पर ही किया जाता है, यद्यपि कन्नड़ को विधायी रूप से राज्य की राजभाषा घोषित किया जा

चुका है। अलावा इसके, वोक्कालिगा जाति के संभ्रांत संस्तर के हितों के साथ जुड़े राजनीतिज्ञों के एक समूह ने "पुराने मैसूर" का अलग राज्य में इस आधार पर पृथक्करण किये जाने की मांग की है कि इस इलाक़े के ख़िलाफ़ विभेद किया जाता है। "पुराने मैसूर" के पारंपरिक जात-बिरादरीगत और राजनीतिक संभ्रांत संस्तर की अलगाववादी इच्छाओं का कर्णाटक के वर्धमान व्यावसायिक और औद्योगिक बुर्जुआ वर्ग द्वारा अत्यंत सक्रियतापूर्वक विरोध किया जा रहा है। विभाजन के पक्षधरों की कार्रवाइयों के चरम के समय मैसूर वाणिज्य मंडल के नेताओं ने राज्य के विभिन्न भागों के उद्यमकर्ताओं और दूसरे वाणिज्यमंडलों के प्रतिनिधियों को सामान्य सूत्रों और पारस्परिक समझ को मज़बूत करने और राज्य की एकता को बनाये रखने के लिए संघर्ष शुरू करने के उद्देश्य से आमंत्रित किया। वर्धमान बुर्जुआ संभ्रांत संस्तर ने पारंपरिक संभ्रांत संस्तर के प्रादेशिकतावाद को जान-बूझकर अस्वीकार किया है। मैसूरी बुर्जुआ वर्ग न सिर्फ़ राज्य के सभी अंचलों के बीच आर्थिक संबंधों को विकसित करने के लिए ही क़दम उठा रहा है, बल्कि राष्ट्रवादी नज़रिये से क्रियाशील और तमिलविरोधी नारों की सहायता से जनमत को एकजुट करनेवाले संगठनों को प्रोत्साहित भी कर रहा है।

एकभाषी पंजाब राज्य की स्थापना १९६६ में, अर्थात तमिलनाडू की बनिस्बत १० साल बाद हुई थी। स्वातंत्र्योत्तर वर्षों में पंजाब में छोटे और मंझोले पैमाने के उद्यमों और विशेषकर कृषि में पूंजीवादी रूपों की काफ़ी वृद्धि हुई है। सामाजिक-वर्गीय संरचना में परिवर्तनों की गति और व्याप्ति की दृष्टि से पंजाब का भारत में एक सर्वोपरि स्थान है और उसकी तमिलनाडू से बख़ूबी तुलना की जा सकती है। इसके अलावा, कुलकों – दूसरे किसानों का शोषण करनेवाले धनी किसानों – और उद्यमकर्ताओं की संख्या पंजाब में प्रत्यक्षतः तमिलनाडू की अपेक्षा अधिक है। शोधकर्ता इन समूहों की विशेष "सामाजिक आक्रमकता" और राज्य के सार्वजनिक तथा राजनीतिक जीवन पर उनके बढ़ते प्रभाव को लक्षित करते हैं। साथ ही इन दोनों राज्यों में पारंपरिक संभ्रांत संस्तरों की प्रकृति और जातीय-भाषाई प्रश्नों के प्रति शहरी मध्यम संस्तरों के दृष्टिकोणों में काफ़ी अंतर है। तमिल समाज में धार्मिक समांगता है, क्योंकि उसका भारी बहुलांश हिंदुओं का है। पारंपरिक जातपांतगत वैमनस्य तमिल बुर्जुआ वर्ग के लिए जनमत को उत्तर और हिंदी के ख़िलाफ़ एकजुट करने में बाधक नहीं होता, जो तमिलों के

लिए पराये हैं। जातपांतगत विवाद पंजाबी समाज के अभिलक्षण नहीं हैं, किंतु वह आंतरिक रूप से तीन धार्मिक समुदायों में बंटा हुआ है – सिख, हिंदू और मुसलमान। भारत के विभाजन के बाद पंजाब में मुस्लिम समुदाय का आकार बहुत अधिक घट गया और वह राज्य के राजनीतिक जीवन में कोई महत्वपूर्ण भूमिका नहीं अदा करता है। जहां तक सिख समुदाय की बात है, तो अकाली दल, नियमावली के अनुसार जिसकी सदस्यता सिर्फ़ सिखों के लिए ही संभव है, उसके हितों का प्रतिनिधित्व करने और पंजाबी चरित्र – पंजाबियत – का वाहक होने का दावा करता है। जनसंघ (अब भारतीय जनता पार्टी) और आर्य समाज पंजाबी हिंदुओं के हितों के रक्षक होने का दावा करते हैं। 'टाइम्स ऑफ़ इंडिया' के एक टीकाकार के अनुसार "पंजाब में अकाली दल पिछले कुछ वर्षों में अपने नेतृत्व के संकीर्ण शहरी सिख संभ्रांतों से किसानों और शहरी मध्यम संस्तरों तक दोलन के साथ और इस प्रकार अनेक घटकों को जीवन प्रदान करते हुए बारंबार विभाजन का शिकार हुआ और पुनरेकीकृत हुआ है" ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', २ जनवरी, १९७१)। "ख़ुशहाल सिख फ़ार्मर अकाली दल का मेरुदंड हैं। इसी प्रकार अधिकांश धनी हिंदू व्यापारी जनसंघ का समर्थन करते हैं", एक और टीकाकार का कहना है (वहीं, २५ जनवरी, १९७१)। अकाली दल गुरुमुखी लिपि के प्रयोग के साथ पंजाबी भाषा का संरक्षक होने का दावा करता है, तो जनसंघ हिंदी के सार्विक उपयोग का समर्थन करता है। इस आधार पर दोनों पार्टियों में प्रचंड वाद-विवाद चलता रहता है। भाषा के प्रश्न पर मतभेदों ने अकाली दल – भारतीय जनसंघ गठबंधन के भंग किये जाने के बहाने तक का काम दिया।

तमिलनाडू के विपरीत, जहां तमिल भाषा की सदा बहुत प्रतिष्ठा रही है, अपनी ही भाषा के प्रति तिरस्कारपूर्ण रवैया पंजाबी बुद्धिजीवियों और शहरी मध्यम संस्तरों के ख़ासे बड़े हिस्से में पक्की जड़ जमा चुका है। इसे "नौकरों और गंवारों की बोली" कहा जाता था। पंजाबी भाषा का प्रतिष्ठात्मक मूल्य ऊंचा नहीं था। बात यह है कि सौ साल से अधिक संस्कृति और साहित्य तथा पत्रकारिता में भी प्रमुख स्थान उर्दू (और बाद में हिंदी भी) का, और ज्ञान-विज्ञान तथा सरकारी कामकाज में अंग्रेज़ी का रहा था। पंजाबी को मुख्यतः सिखों का समर्थन प्राप्त था, जो उसे अपनी एकता का प्रतीक समझते थे। राज्य के बुद्धिजीवी समुदाय के प्रतिनिधियों ने खेदपूर्वक इस तथ्य की ओर इंगित किया है कि पाठक पंजाबी

में लिखी कृतियों में दिलचस्पी नहीं दिखलाते। इसी प्रकरण को और विकसित करते हुए डी० एन० कल्हण लिखते हैं कि "पंजाबी चाहे शायद देश की आबादी के सबसे उद्यमी हिस्से की भाषा है, फिर भी स्कूलों और कॉलेजों के बाहर ज़्यादा लोग कभी भी उसे पढ़ने की ज़हमत नहीं करते। पंजाबी पद्य और गद्य लेखकों को प्रकाशक हमेशा ही नहीं मिल पाते और अगर प्रकाशक मिल भी जायें, तो भी वे कदाचित ही इसके आश्वस्त हो सकते हैं कि उनकी किताबें ज़रूर बिकेंगी" ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', २६ अक्तूबर, १९६९)। राज्य सरकार ने इस समस्या की तरफ़ सहानुभूति का रुख़ अपनाया और पंजाब के हर गांव में सरकारी ख़र्च से एक पुस्तकालय स्थापित करने का निश्चय किया, जिससे पंजाबी में हर नयी किताब की १२,००० तक प्रतियों का बिकना सुनिश्चित हो जाये।

अपनी भाषा और अपने साहित्य को जानने की इच्छा अधिकांश पंजाबियों में जाग्रत होना शुरू ही हुई है। जनमत को पंजाबी के पक्ष में ढालने में एक महत्वपूर्ण कारक उसका राज्य की राजभाषा घोषित किया जाना था, जिसने भाषाविज्ञानियों और शेष सृजनधर्मी बुद्धिजीवियों की गतिविधियों को प्रेरणा प्रदान की। लोकवार्ता का संकलन किये जाने का काम शुरू हो गया है, पंजाबी बोलियों का क्षेत्र-अध्ययन किया जा रहा है, मानकीकरण के सिद्धांत निरूपित किये जा रहे हैं और साहित्यिक कार्यकलाप में उल्लेखनीय वृद्धि देखने में आ रही है। पंजाबी और हिंदी संबद्ध भाषाएं हैं और हिंदी की पंजाब में बहुत समय प्रभावी स्थिति रही है। यह तथ्य अनिवार्यतः हिंदी शब्दों के पंजाबी भाषा में स्वतः अंतःप्रवेश की तरफ़ ले गया है और उनके जान-बूझकर उपयोग ने पंजाबी की संभाव्यताओं को हानि ही पहुंचायी है। इस रुझान का पंजाबी लेखकों ने पहले भी विरोध किया था। एकभाषी पंजाब राज्य का निर्माण होने के बाद शुद्धतावादी प्रवृत्ति बलवती हो गयी। प्रोफ़ेसर दरबारा सिंह इस पर ज़ोर देते हैं कि "पंजाबी का विकास इस प्रकार होना चाहिए कि वह अपनी विशिष्टता को बनाये रखे, समझने और लिखने में आसान हो।" वह पंजाबी लेखकों का अभिव्यक्ति के मौलिक साधन निकालने का, संस्कृत और हिंदी से शब्दों और मुहावरों को ग्रहण करने में ही न लगने का आह्वान करते हैं, ताकि "पंजाबी भाषा हिंदी की भौंड़ी नक़ल ही बनकर न रह जाये" ('इंडियन एक्सप्रेस', ५ फ़रवरी, १९६८)। मई, १९६८ में ५०० से

अधिक पंजाबी लेखकों और भाषाविज्ञानियों का जलंधर में सम्मेलन हुआ। उन्होंने "पंजाबी की संस्कृत-हिंदी साम्राज्यवाद के आक्रमण से" रक्षा किये जाने की मांग की, ताकि वह अपनी शुद्धता और पृथक विशिष्टता को क़ायम रख सके" ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', १३ मई, १६६८)। चंडीगढ़ और पटियाला में आयोजित लेखक सम्मेलनों में भी ऐसे ही विचार प्रकट किये गये ('इंडियन एक्सप्रेस', १३ मई, १६६८; 'पैट्रियट', १६ जनवरी, १६६६; 'हिंदुस्तान टाइम्स', १ जुलाई, १६७२)। संस्कृतनिष्ठ हिंदी के मुक़ाबले में पंजाबी को आम तौर पर एक अपरिष्कृत, पर ऐसी अभिव्यंजनात्मक भाषा की तरह से पेश किया जाता है, जो पंजाबी किसान अथवा उद्योगपति के उद्यमशील, उत्साहपूर्ण और जीवंत मिज़ाज को प्रतिबिंबित करती है और कृत्रिम "शहरी" हिंदी से भिन्न है, जो ज़मीन से पूरी तरह से कटी हुई है।

शुद्धतावादी प्रवृत्तियों के सामाजिक उद्गम

लगभग हर ही जातीय साहित्यिक भाषा के इतिहास में भाषा के मूल स्वरूप के संरक्षण अथवा पुनरुद्धार के नारों के अंतर्गत शुद्धतावादियों के प्रचंड कार्यकलाप के दौर आते हैं, अलबत्ता विभिन्न शुद्धतावादी धाराओं की विशिष्ट सामाजिक अभिमुखता अलग-अलग हो सकती है। जहां तक पंजाबी का सवाल है, तो हिंदी से आदानों को सीमित करने का आग्रह करनेवाले साहित्यकारों को यह आशंका उद्विग्न कर रही है कि इसमें लिखित भाषा के बोलचाल की भाषा से वियुक्त हो जाने का और लेखकों के व्यापक पाठक समुदाय से, जिसे उन्होंने अभी हासिल करना शुरू ही किया है, वियोजित हो जाने का ख़तरा है। अपनी बारी में पंजाबी के "कृषक" स्वरूप पर बल प्रत्यक्षत: पंजाब के राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन पर धनी किसानों के प्रभाव में उस वृद्धि को प्रतिबिंबित करता है, जिसकी तरफ़ ऊपर इशारा किया जा चुका है। उल्लेखनीय है कि पड़ोसी राजस्थान में भी ऐसी ही प्रवृत्ति देखने में आती है। राजस्थानी में विभिन्न पाठ-अवतरणों के विश्लेषण के आधार पर ल० व० ख़ोख़लोवा उनमें संस्कृत रूपों के प्रयोग और हिंदी से आदानों में क्रमिक कमी को लक्षित करती हैं। साहित्यिक राजस्थानी के मानकीकरण की समस्या को "अधिकांश संबद्ध लोग (सबसे पहले राजस्थानी भाषाविज्ञानी और लेखक)

उसकी 'हिंदी प्रभाव से सफ़ाई' करके हल करते हैं" (ल० व० ख़ोख़लोवा, 'राजस्थान में प्रयुक्त हिंदी और राजस्थानी भाषाएं [सामाजिक-भाषावैज्ञानिक अनुसंधान का अनुभव]' [रूसी में], पृ० १७६)।

जन भाषा की संपन्नता का उपयोग करने की इच्छा पर आधारित शुद्धतावादी प्रवृत्ति बुनियादी तौर पर जनतांत्रिक हो सकती है, क्योंकि यह सांस्कृतिक थाती से लाभ उठाने की आवश्यकता से उद्भूत होती है। इस तरह की प्रवृत्ति का विकास साहित्यिक भाषा और साहित्य को संबद्ध जातीय समुदाय के व्यापक जनसाधारण के लिए अधिक सुलभ बनाने की तरफ़ भी ले जाता है।

तथापि शुद्धतावादी प्रवृत्तियां ऐसी भी होती हैं, जिन्हें दूसरे सामाजिक कारक जन्म देते हैं। उत्तर भारतीय भाषाओं के लिए वैज्ञानिक, प्राविधिक, सामाजिक तथा राजनीतिक शब्दावली के निरूपण के काम में लगे कुछेक संगठनों का प्रारंभ-बिंदु संस्कृत शब्दावली और शब्दरचना रूपों का अधिकतम उपयोग करने का प्रयास है, क्योंकि यह समझा जाता है कि इस तरह निरूपित शब्दावली अधिकांश भारतीय भाषाओं के लिए सामान्य हो सकेगी और उनको निकट लाने में सहायक होगी। लेकिन बात सिर्फ़ शब्दावली तक ही सीमित नहीं है। ऐसे सामान्यतः स्वीकृत बुनियादी शब्दों को भी "निष्कासित" करने की कोशिशें की जाती हैं, जो सामाजिक परिष्करण से गुज़र चुके हैं, व्यापक उपयोग में आते हैं और आम तौर पर समझे जाते हैं। इस तरह के शब्दों को "परकीय" अथवा "हीन" घोषित कर दिया जाता है। साथ ही संस्कृत उच्चारण के मानकों को पुनःस्थापित करने और उनसे लंबे समय के दौरान निर्मित बोलचाल की साहित्यिक भाषा के उच्चारण के मानकों की प्रतिस्थापना करने की सोची जाती है। प्रसिद्ध शिक्षाकर्मी जे० डी० खोसला ने शुद्धतावादियों के इस तरह के प्रयासों के परिणामों का इस प्रकार समाहार किया है: "आजकल की हिंदी पाठ्यपुस्तकें मेरे पोतों को दहशत में डाल देती हैं। मैं किसी भी आदमी से इस बारे में शर्त बदने को तैयार हूं कि दिल्ली, इलाहाबाद या लखनऊ में ऐसी कोई सड़क नहीं मिलेगी कि जहां वैसी हिंदी बोली जाती हो, जो स्कूलों में आठ-नौ साल के बच्चों को पढ़ायी जाती है" ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', ६ फ़रवरी, १९६२)।

दिल्ली में आयोजित एक पुस्तक प्रदर्शनी की समीक्षा करते हुए एक अख़बार ने टीका की थी: "हिंदी पर्यायों का चयन करते समय लक्ष्य

संस्कृत धातुओं पर आधारित पदों का चयन करके सभी भारतीय भाषाओं में अधिकतम एकरूपता की प्राप्ति होना चाहिए। लेकिन संस्कृत धातुओं पर आधारित पदों पर कितने लोग सहमत होंगे? 'साइंस' जैसा मामूली सा शब्द, जिसे उत्तर में 'विज्ञान' कहा जाता है, तमिल में 'तेरियाचइ' बना दिया जाता है" ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', ३ सितंबर, १९६७)। यही पत्र भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक तथा प्राविधिक शब्दावली आयोग द्वारा निरूपित २,००,००० पदों के बारे में लिखता है: "विकसित की जा रही राष्ट्रीय शब्दावली का विश्लेषण दिखलाता है कि ३०% पद अंतर्राष्ट्रीय शब्द हैं, ६०% संस्कृत धातुओं से व्युत्पन्न हुए हैं—यह इसलिए कि वे अधिकांश प्रादेशिक भाषाओं के लिए सामान्य हैं—और १०% जनसाधारण में व्यापकतः प्रचलित देशज शब्द हैं। यह कोई बुरा अनुपात नहीं है। जिस प्रारंभिक उत्साह के साथ प्राविधिक शब्दों के शाब्दिक अनुवाद किये गये थे और जिसने जबड़ातोड़ अनेकाक्षरी विद्रूप पैदा किये थे, उसे अब व्यावहारिकता ने संयमित कर दिया है" ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', २५ अगस्त, १९६७)।

इस परिघटना का कारण व्यावहारिकता को नहीं माना जाना चाहिए, जो स्वयं किसी हद तक ज़बरदस्ती के साथ राजभाषा के रूप में हिंदी के कृत्रिम रूप से प्रचलन के ख़िलाफ़ बढ़ते प्रतिरोध का एक परिणाम है। व्यावहारिकता जनतांत्रिक शक्तियों द्वारा प्रतिक्रियावादी शुद्धतावाद के सैद्धांतिक आधार, हिंदू पुनर्जागरण के विरोध के परिणामस्वरूप भी उदित होती है। इस तरह के विचारों के प्रतिपादक साहित्यिक भाषा का सभी "परकीय" रूपों को, चाहे वे सामान्यतः स्वीकृत और समझे जानेवाले भी क्यों न हों, निष्कासित करके अधिकतम संस्कृतीकरण किये जाने का विशेषकर सक्रियतापूर्वक प्रचार करते हैं। अतः यहां शुद्धतावाद की एक और क़िस्म देखने में आती है, जो भाषा-नीति को प्रतिक्रियावादी सांप्रदायिक, और कुछ हालतों में अंधराष्ट्रवादी तथा पार्थक्यवादी नीति का एक तत्व और सातत्य समझती है।

शुद्धतावाद के ये रूपांतर आधुनिक भारतीय भाषाओं में एक-दूसरे के सामने-सामने आते हैं, लेकिन सापेक्षतया स्वस्थ प्रवृत्ति भी बढ़कर अंधराष्ट्रवादी और सांप्रदायिक प्रवृत्ति में बदल जा सकती है, अगर संबद्ध जातीय समुदाय की जनतांत्रिक शक्तियां इसका विरोध नहीं करतीं। ऊपर कहा गया था कि पंजाबी भाषा में ये दोनों प्रवृत्तियां मौजूद हैं। इसमें यह भी

जोड़ा जाना चाहिए कि रूढ़िवादी विचारों के पंजाबी शुद्धतावादियों के कार्य-कलाप में सांप्रदायिक नीति के साथ, इस विश्वास के साथ स्पष्ट संबंध देखा जा सकता है कि "सिख धर्म भारतीय परंपराओं से एकदम और पूरी तरह से अलग है" और पंजाबी भाषा की "दूसरी भारतीय भाषाओं के साथ कोई भी सामान्यता नहीं है" ('पैट्रियट', २७ अप्रैल, १९७३)। जहां पहले प्रकार के शुद्धतावाद को किसी जातीय भाषा-व्यवस्था की उत्पत्ति का स्वाभाविक उपोत्पाद माना जा सकता है, वहां दूसरे प्रकार का शुद्धतावाद सबसे अधिक संसर्ग के उन क्षेत्रों में अंग्रेज़ी की बरक़रारगी की तरफ़ ही ले जाता है, जिनमें जातीय भाषा को ही काम देना चाहिए, अर्थात इस तरह का शुद्धतावाद जातीय विकास में बाधक होता है। पंजाब में अकाली दल और हिंदू सांप्रदायिक दलों के बीच राजनीतिक संघर्ष के दौरान पंजाबी और हिंदी का टकराव (तमिलनाडू की ही भांति) अंग्रेज़ी की स्थितियों को बनाये रखने की आकांक्षा में परिणत हो जाता है। मिसाल के लिए, सबसे पुराने सिख संगठन खालसा दीवान ने यह कहते हुए पंजाब के उच्च शिक्षा प्रतिष्ठानों में अंग्रेज़ी को बनाये रखने की पैरोकारी की है कि अंग्रेज़ी को प्रतिस्थापित किये जाने की मांग बुनियादी तौर पर चोरी से हिंदी को लाने की कोशिश के अलावा और कुछ नहीं है। १९६८ में अखिल भारतीय सिख शिक्षा सम्मेलन में भी अंग्रेज़ी को शिक्षण माध्यम के रूप में बनाये रखने के बारे में विचार व्यक्त किये गये थे ('इंडियन एक्सप्रेस', २ मार्च, १९६८)।

सामाजिक और राजनीतिक अर्थों में भाषा-नीति में प्रतिक्रियावादी शुद्धतावादी प्रवृत्ति अवशिष्ट सामाजिक समूहों के उच्च संस्तरों के अपनी स्थितियों को बनाये रखने के संघर्ष का एक रूप है। इस प्रवृत्ति के पैरोकार संसर्ग-साधन के रूप में भाषा की सर्वप्रयोजनता और भाषा के मामले में जन-भावनाओं की प्रखरता और व्यापकता को निस्संदेह ध्यान में रखते हैं। मध्यम संस्तरों के नये बुद्धिजीवी समुदाय को अपने प्रभाव में लाने के लिए भाषा-समस्याओं को उपयोग में लाने को वे विशेष महत्व देते हैं, जिसके प्रतिनिधि अधिकांश मामलों में रूढ़िवादिता और धर्मांधता पर आधारित सांप्रदायिक प्रचार से तो नहीं प्रभावित होते, पर अपनी भाषा, उसके स्वीकरण और विकास में जीवंत दिलचस्पी प्रदर्शित करते हैं।

सामाजिक संसर्ग के नये रूप और जातीय प्रक्रियाओं में शहरी मध्यम संस्तरों की भूमिका

भारत में जातीय प्रक्रियाओं के नानारूप और अंतर्विरोधी स्वरूप के बावजूद उनका विकास कुछेक नियमों के अधीन होता है। उनमें से एक यह है कि पूंजीवाद का विकास और जातियों का समेकन सामाजिक संसर्ग के नये रूपों को उत्पन्न करते हैं, जो जातीय भाषा-व्यवस्था के पुनर्गठन को उद्दीपित करते हैं। गोत्र अथवा कुल, पारिवारिक, क़बायली तथा प्रादेशिक संबंधों पर और इसी प्रकार सामंती प्रभु और किसान की प्रधानता और अधीनता, जागीरदार और अधीनस्थ सामंत के संरक्षण और सेवा पर और समुदाय के सदस्यों के परस्पर सहायता-समर्थन और श्रम-विभाजन पर आधारित व्यक्तिगत और प्रतिवेशी संसर्ग-रूप सामंती युग के लिए लाक्षणिक हैं। इसके अलावा इस तरह के संसर्ग का स्वरूप आंतरायिक था – केंद्रीय सत्ता से जागीरदार, जागीरदार से पटवारी, पटवारी से ग्राम-प्रधान, प्रधान से किसान और अंततः, किसान से सेवक जातियां। अछूत अथवा अस्पर्श्य लगभग पूर्णतः सामाजिक संसर्ग के बाहर थे। ग्राम समुदाय की संकीर्ण दुनिया में बंद सामंती समाज का भारी बहुलांश बौद्धिक-आत्मिक-नैतिक मूल्यों अथवा विचारधारा से संपर्क से सर्वथा वंचित था, जो उच्चतम सामाजिक श्रेणियों और पुरोहित वर्ग के विशिष्टाधिकार थे। गांव की बोली ही लोगों के लिए संसर्ग का मुख्य साधन और जन-सृजनशीलता का रूप बन गयी थी। साहित्य, ज्ञान-विज्ञान, प्रशासन और मध्ययुग की अभिभावी विचारधारा – धर्म – की भाषाएं या तो विजेताओं की भाषाएं (फ़ारसी, अरबी) थीं, या प्राचीनकाल की क्लासिकी साहित्यिक भाषाएं (संस्कृत, साहित्यिक प्राकृत), जो सामंती समाज के उच्च संस्तरों द्वारा इस्तेमाल की जाती थीं और ग्राम आबादी के लिए परायी थीं। समुदाय के सदस्यों के धार्मिक अनुष्ठानों, उत्सवों और त्योहारों-समारोहों के समय धर्माधिकारियों से संपर्क से स्थिति में कोई अंतर न आता था, क्योंकि पंडित संस्कृत का प्रयोग करते थे, तो मुल्ला अरबी का। संसर्ग की आंतरायिकता और उसका वर्गीय स्वरूप सर्वप्रयोजन संसर्ग साधनों की वस्तुपरक आवश्यकता नहीं पैदा करते थे और इस तरह के अनेक साधनों के परिरक्षण में सहायता देते थे, जिनमें से प्रत्येक साधन एक विशिष्ट क्षेत्र में काम आता था।

पूंजीवादी संबंधों का विकास संसर्ग को व्यक्तिगत और प्रतिवेशी से "भौतिक" संसर्ग में, अर्थात उत्पादन तथा विनिमय प्रक्रिया में और वर्ग-संघर्ष के उदय और विकास में संसर्ग में रूपांतरित करके उसके नये रूपों को जन्म देता है। सामंतवाद के अंतर्गत श्रेणीबद्ध और आंतरायिक संसर्ग का स्थान बुर्जुआ समाज में सार्विक और अबाधित स्वरूप का सामाजिक संसर्ग ले लेता है। भाषा और समाज के बीच संपर्क चूंकि संसर्ग के ज़रिये मूर्त होता है और चूंकि संसर्ग भाषा के अस्तित्व का एक रूप है, इसलिए कहा जा सकता है कि किसी जातीय भाषा-व्यवस्था की स्थिति का निर्धारण संबद्ध जातीय समुदाय में अभिभावी संसर्ग के रूपों द्वारा किया जाता है। दूसरे शब्दों में, जैसे कि मार्क्सवादी समाजशास्त्र ने स्थापित किया है, सामाजिक संसर्ग के रूपों और जातीय समूह के विकास के स्तर के बीच एक निश्चित संगति है। इस दृष्टिकोण से संसर्ग के सबसे महत्वपूर्ण क्षेत्रों में अंग्रेज़ी का रहने दिया जाना, प्रतिक्रियावादी शुद्धतावादी प्रवृत्तियां और ऐसे ही आबादी के ख़ासे बड़े समूहों का ग्रामीण बोली की संकीर्ण चौखट के भीतर अलगाव — ये सभी बातें जातीय समेकन में बाधा डालती हैं। जाति के आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक जीवन में अपनी-अपनी भूमिका के अनुसार विभिन्न वर्गों और सामाजिक संस्तरों के इन बाधाओं को दूर किये जाने के तरीक़ों के बारे में भिन्न-भिन्न विचार हैं। इस संबंध में शहरी मध्यम संस्तरों की तरफ़ विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए।

भारतीय समाजशास्त्री शहरी मध्यम संस्तरों की तीव्र वृद्धि और कुलक स्वरूप के नये ग्रामीण संभ्रांत संस्तर के उदय को स्वातंत्र्योत्तर वर्षों में सामाजिक ढांचे में आनेवाला सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन माना करते हैं। यह भी लक्षित किया जाता है कि शहरी मध्यम संस्तर देश के राजनीतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन में सबसे सक्रिय भूमिका अदा करते हैं और जातीय आंदोलनों में मुख्य शक्ति भी हैं। बिहार के राजनीतिक संभ्रांत संस्तर के एक अध्येता ने लिखा है: "सार्वजनिक राजनीति आज बुनियादी तौर पर मध्य वर्गों के सरोकार की चीज़ है... सभी आंदोलनों और प्रदर्शनों का उदय शहरी केंद्रों में ही हुआ करता है और विस्तृत ग्रामीण आधार तक वे आसानी से नहीं पहुंच पाते हैं। इन आंदोलनों और प्रदर्शनों में आम तौर पर भाग लेनेवाले और ख़ासकर उन्हें संगठित करनेवाले मध्य वर्गों के लोग होते हैं। सच तो यह है कि विभिन्न राजनीतिक दलों की सदस्यता का अधिकांश मध्य वर्गों द्वारा ही प्रदान किया जाता है" (एस०

झा, 'बिहार में राजनीतिक संभ्रांतवर्ग' [अंग्रेज़ी में], बंबई, १९७२, पृ० २६२)। समाजशास्त्री कभी-कभी पूरे-पूरे शहर की आबादी को मध्य-वर्गीय मान लेते हैं: "पटना निम्न-मध्य वर्ग का शहर है। यहां कोई उल्लेखनीय औद्योगिक उद्यम नहीं है... फिर भी यह क्लर्कों और छोटे व्यवसाइयों की निरंतर बढ़ती आबादी का ऐसा शहर है, जिसकी मंडियां लगातार विकसित होती जाती हैं, मगर अर्थव्यवस्था निश्चल ही रहती है" ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', ६ जनवरी, १९७४)।

छोटे और मंझोले उद्यमकर्ताओं, व्यापारियों, दूकानदारों, दस्तकारों, प्रविधिज्ञों, छोटी और मंझोली फ़र्मों के प्रबंधकों, सरकारी कर्मचारियों, बुद्धिजीवी समुदाय के अन्य समूहों और छात्रों को शहरी मध्यम संस्तरों का हिस्सा माना जाता है, जिनका कार्यक्षेत्र सामान्यतः राज्य के ढांचे के भीतर ही सीमित होता है। उनमें अधिकर्मी और कुशल मजदूर भी खिंच आते हैं, जो आम तौर पर छोटी-छोटी कार्यशालाओं के मालिक होते हैं। शहरी मध्यम संस्तरों की ग्रामीण उच्च संस्तर से आपूर्ति होती रहती है, जो पूंजीवादी ढंग की कृषि को अपना रहा है और शहर के साथ घनिष्ठ संबंध स्थापित कर रहा है।

विकासमान बुर्जुआ समाज की सामाजिक संरचना के विश्लेषण में लेनिन नौकरशाही की भूमिका को बहुत महत्व देते थे। उन्होंने लिखा है: "समकालीन समाज में नौकरशाही ही वह विशेष संस्तर है, जिसके हाथों में सत्ता है। इस निकाय का समकालीन समाज में अभिभावी बुर्जुआ वर्ग के साथ सीधा और घनिष्ठ संबंध इतिहास से (सामंती प्रभुओं के ख़िलाफ़ और सामान्यतः 'पुरानी अभिजात' प्रणाली के प्रतिनिधियों के ख़िलाफ़ नौकरशाही बुर्जुआ वर्ग का पहला राजनीतिक उपकरण थी और राजनीतिक शासन के रंगमंच पर उन लोगों के पहले-पहले आविर्भाव की द्योतक थी, जो उच्चकुलजात भूस्वामी नहीं, वरन सामान्यजन, 'मध्य वर्ग' थे) और इस वर्ग की, जिसमें प्रवेश सिर्फ़ 'जनता से उदित' बुर्जुआ लोगों के लिए ही खुला है और जो इस बुर्जुआ वर्ग के साथ हज़ारों मजबूत सूत्रों से जुड़ा हुआ है, विरचना और भरती की अवस्थाओं से ही प्रत्यक्ष है" (व्ला० इ० लेनिन, 'नरोदवाद का आर्थिक सार-तत्व और श्री स्त्रूवे की पुस्तक में उसकी आलोचना', १८९४)। लेनिन का यह कथन समकालीन भारत पर पूरी तरह से लागू हो सकता है। टी० एन० मदान लिखते हैं: "साठ के दशक में भारत में नौकरशाही के आकार और कार्यों, दोनों में कल्पनातीत प्रसार हुआ है।

यह प्रसार पचास के दशक में शुरू हुआ था और उसने अब ऐसा चकराने-वाला आकार ग्रहण कर लिया है कि जिसकी स्वतंत्रता के पहले कुछ वर्षों में कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। समूचे तौर पर नौकरशाही का सामाजिक आधार अनिवार्यतः काफ़ी व्यापक हो गया है, जिसके दूरगामी परिणाम हैं... शिक्षा, व्यवसाय और आय जीवन में आदमी की स्थिति के अधिकाधिक महत्वपूर्ण निर्धारक बनते जा रहे हैं। फलतः, सामाजिक संस्तरीकरण के नये रूप देखे जा रहे हैं" ('हिंदुस्तान टाइम्स', ११ जनवरी, १९७०)।

नीचे के आंकड़ों (सारणी २४) से स्पष्टतः देखा जा सकता है कि दस वर्षों में अराजपत्रित कर्मचारियों, अर्थात सरकारी कर्मचारियों के सबसे बड़े अंशक की संख्या यहां उल्लिखित राज्यों में ५०% से ९५% बढ़ गयी है। दूसरे राज्यों के सूचक और भी अधिक प्रभावोत्पादक हैं। मिसाल के लिए, मध्यप्रदेश में १९५७ में १,७४,००० से १९७१ में ४,४७,००० सरकारी कर्मचारी हो गये थे, अर्थात उनकी संख्या में १५७% की वृद्धि हुई थी।

सारणी २४

भारत में सरकारी कर्मचारियों की संख्या-वृद्धि

कर्मचारियों की संख्या	१९५५–१९५६	१९६५–१९६६
केंद्रीय अभिकरणों में :		
राजपत्रित कर्मचारी . . .	१८,०००	३७,०००
अराजपत्रित कर्मचारी . .	१६,००,०००	२३,००,०००
पश्चिम बंगाल में :		
राजपत्रित कर्मचारी . . .	१,९५४	१,९६४
अराजपत्रित कर्मचारी . .	१४,२०,०००	२३,४०,०००
उत्तरप्रदेश में :		
राजपत्रित कर्मचारी . . .	१,९५२	१,९६५
अराजपत्रित कर्मचारी . .	२,५९,४४५	५,०५,९९०

टिप्पणी : ये आंकड़े 'टाइम्स ऑफ़ इंडिया' में प्रकाशित सरकारी अभिकरणों के बारे में एक लेखमाला से लिये गये हैं। मार्च, १९६९ में केंद्रीय अभिकरणों में ४९,८२१ राजपत्रित और २७, ५७, ५७९ अराजपत्रित कर्मचारी थे।

मंझोली और निचली श्रेणियों के सरकारी कर्मचारी नये ग्रामीण उच्च संस्तर, अर्थात पहली पीढ़ी के नगरवासियों सहित आबादी के व्यापक अंशकों का प्रतिनिधित्व करते हैं। आय के स्तर और सामाजिक हैसियत के लिहाज़ से अराजपत्रित सरकारी कर्मचारी (विशेषकर चतुर्थ, अर्थात अंतिम, श्रेणी के) भारतीय नगरों के सर्वहाराओं और अर्धसर्वहाराओं से अधिक भिन्न नहीं हैं। विचारधारा और राजनीति में मध्यम और निचले अंशकों के कर्मचारी भिन्न और अकसर विरोधी भावनाएं प्रदर्शित करते हैं—क्रांतिकारी-जनतांत्रिक से लेकर सांप्रदायिक और अंधराष्ट्रवादी प्रवृत्तियों तक और प्रतिक्रियावादी रूढ़िवादिता से लेकर "वामपंथी" अतिवादिता तक।

स्वातंत्र्योत्तर वर्षों में नौकरशाही परत के सिर्फ़ सामाजिक आधार का ही प्रसार नहीं हुआ है, बल्कि उसके कार्य भी बहुत अधिक बढ़ गये हैं। प्रशासन के सामान्य कार्यों के अलावा वह अब नये-नये क्षेत्रों में पदार्पण कर रही है—अर्थव्यवस्था का नियमन और सार्वजनिक (सरकारी क्षेत्रक के) उद्यमों का संचालन, सांस्कृतिक तथा विचारधारात्मक कार्यकलाप, उद्यमकर्ताओं, व्यापारियों, स्वतंत्र धंधों में लगे लोगों, विज्ञान, संस्कृति और शिक्षा के क्षेत्रों में काम करनेवालों और अपने जातीय प्रदेश के ग्रामीण संभ्रांतों के साथ घनिष्ठ संपर्क में आना। बुर्जुआ राजनीतिक दलों के नेताओं के साथ स्थिर संपर्क स्थापित किये जाते हैं। नौकरशाही को बुर्जुआ वर्ग और मध्यम संस्तरों के साथ जोड़नेवाले "हज़ारों मज़बूत सूत्र" पैदा हो जाते हैं। सरकारी कर्मचारियों की फ़ौज विभिन्न भारतीय भाषाओं और उनकी समस्याओं के साथ घनिष्ठतः जुड़ी हुई है। स्वतंत्रता के बाद लगभग सभी राज्यों में प्रादेशिक भाषाओं को विधायी रूप में राजभाषा घोषित कर दिया गया। राज्य सरकारों के अधीन भाषा-विकास निदेशालय स्थापित किये गये। निदेशालयों के कर्मचारी पारिभाषिक शब्दावलियों और पदावलियों को तैयार करने और प्रचलन में लाने और शब्दकोशों, शब्दसंग्रहों, संदर्भ-ग्रंथों, व्याकरणों और शैक्षिक साधनों के प्रकाशन के काम में लगे हुए हैं। निदेशालय नानासंख्य सरकारी फ़ार्मों, अधिनियमों और ज्ञान के विविध क्षेत्रों में पुस्तकों का प्रादेशिक भाषाओं में अनुवाद और प्रकाशन करते हैं। बड़ी संख्या में सरकारी कर्मचारी, जिनमें कुछ प्रसिद्ध लेखक और कवि भी हैं, सरकारी रेडियो और टेलीविज़न सेवाओं में काम कर रहे

हैं और इस प्रकार जातीय भाषाओं के विकास और मानकीकरण को प्रभावित कर रहे हैं।

उपरोक्त श्रेणियों के सरकारी कर्मचारी अपने काम की क़िस्म से भाषा के दृढ़ीकरण पर सक्रिय प्रभाव डालते हैं। शेष सरकारी कर्मचारी भी जातीय भाषा का सिर्फ़ शासनतंत्र के भीतर ही नहीं, बल्कि आबादी के विभिन्न समूहों के साथ अपने व्यवहार में भी उपयोग करके कोई कम महत्वपूर्ण कार्य का निष्पादन नहीं करते। भाषा संबंधी क़ानूनों का व्यावहारिक कार्यान्वयन और भाषा का वास्तविक विकास बहुत हद तक आम सरकारी कर्मचारियों के अपनी भाषा के प्रति रवैये पर निर्भर करते हैं। दृष्टव्य है कि बढ़ती बेरोज़गारी और राज्यों में राष्ट्रवादी भावनाओं के स्पष्टतः बल पकड़ने की अवस्थाओं में अधिकांश सरकारी कर्मचारी अपनी भाषा के सरकारी पत्रव्यवहार और कामकाज के दूसरे क्षेत्रों में प्रचलन के पक्ष में हैं, चाहे इसमें उनके लिए कुछ असुविधाएं और कठिनाइयां क्यों न सन्निहित हों—मसलन, नयी शब्दावली और मुहावरों को सीखने की ज़रूरत। भारतीय शासनतंत्र के कामकाज के क्षेत्र में और सार्वजनिक जीवन के कई अन्य क्षेत्रों में भी उस ज़माने से, जब सरकारी कर्मचारियों के लिए अंग्रेज़ी का ज्ञान होना अनिवार्य था, भारतीय भाषाओं में पारंगति पाने के लिए विहित संक्रमणकाल का पूरा होना अभी बहुत दूर की बात है। शासनतंत्र के सामाजिक आधार का प्रसार होने के बावजूद स्वातंत्र्योत्तर वर्षों में अपनी मातृभाषा में शिक्षित और उसकी विभिन्न कार्यात्मक शैलियों में प्रवीणता-प्राप्त अपेक्षाकृत बहुत कम लोगों का ही प्रवेश हुआ है। कुछ कर्मचारियों पर अपनी-अपनी बोली का प्रभाव अब भी बना हुआ है, जब कि सरकारी कामकाज और पत्रव्यवहार की भाषा को उन सभी को अपने काम की प्रक्रिया में ही सीखना है। सामाजिक और मानसिक दृष्टिकोण से मंझोली और निचली श्रेणियों के बहुत सारे कर्मचारी सरकारी कामकाज में मातृभाषा के प्रचलन को "धरतीपुत्रों" का दूसरे राज्यों से आये "ग़ैरों" से संरक्षण करने का साधन समझते हैं। इस तरह की भावनाएं भाषाई अवपीड़न की ज़मीन तैयार करती हैं। मिसाल के लिए, महाराष्ट्र सरकार के इस निर्णय को कि टैक्सी रखने और चलाने के परमिट सिर्फ़ उन्हीं लोगों को दिये जायें, जो मराठी पढ़ और बोल सकते हों, भारतीय प्रेस ने खुले भेदभाव का क़दम होने की संज्ञा दी थी ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', २३ जुलाई, १९७२)।

मातृभाषा को प्रोत्साहन, उसे प्राप्त सरकारी अधिकारियों के संरक्षण और राष्ट्रवादी भावनाएं – रोज़गार देनेवाले नियोजक इन सभी बातों को ध्यान में रखते हैं। भारतीय समाचारपत्रों में "रिक्त स्थान" और "आवश्यकता है" के स्तंभों पर नजर दौड़ाते समय एक अनिवार्य शर्त के रूप में भारतीय भाषाओं की जानकारी की बढ़ती मांग ध्यान में आये बिना नहीं रह सकती। इसकी कुछ मिसालें देखिये: "कलकत्ता राज्य परिवहन निगम: मुख्य यांत्रिक इंजीनियर के पद के लिए प्रार्थनापत्र आमंत्रित किये जाते हैं। बोलचाल की बंगला की जानकारी अनिवार्य है"; "बंबई स्थित फ़र्म को रेडियो वायरमैनी सिखलाने के लिए अनुभवी अनुदेशकों की आवश्यकता है। सिर्फ़ मराठी जाननेवाले ही आवेदन करें"; "अहमदाबाद में एक प्राइवेट लिमिटेड कंपनी के लिए मैनेजर की आवश्यकता है। लिखित और बोलचाल की गुजराती की जानकारी अनिवार्य है।" "दिल्ली में फ़र्म के लिए प्राइवेट सेक्रेटरी की आवश्यकता है। हिंदी में पत्रव्यवहार की योग्यता अनिवार्य है।" इस परिघटना की व्याप्ति का अनुमान केंद्रीय सरकार के नियोजन-विशेषज्ञों के निष्कर्षों से लगाया जा सकता है। उन्होंने पाया है कि कुछ राज्यों – केरल, पश्चिम बंगाल, तमिलनाडू और आंध्र – में योग्यता-प्राप्त इंजीनियरों और प्रविधिज्ञों का अतिरेक है, जब कि दूसरे राज्यों में उनकी कमी है। इन विशेषज्ञों की राय में इस तरह के कर्मियों के समान वितरण के मार्ग में एक मुख्य बाधा प्रादेशिक भाषा की जानकारी का न होना अथवा संबद्ध राज्य की सरकारों द्वारा दूसरे राज्यों के निवासियों के सरकारी सेवा में लिये जाने पर लगायी गयी प्रत्यक्ष पाबंदियां हैं।

हाल के समय में भारतीय समाजशास्त्रियों के लिए तथाकथित नया सामाजिक संभ्रांतवर्ग विशेष दिलचस्पी का विषय रहा है, जिसके केंद्रक का निर्माण छोटे और मंझोले उद्यमकर्ता करते हैं। उनकी तरफ़ दिये जानेवाले इस ध्यान का कारण इन समूहों का संबद्ध राज्य के आर्थिक तथा सामाजिक जीवन पर बढ़ता प्रभाव और उनकी "सामाजिक आक्रामकता" है। इस नगरवासी समूह का समाजवैज्ञानिक चित्र अभी किसी भी तरह से पूरा नहीं हुआ है। उसके सिर्फ़ कुछ ही लक्षण प्रकट हो पाये हैं, जिससे यहां विवेचित समस्याओं के बारे में अत्यंत सामान्य पूर्वानुमान ही किये जा सकते हैं। पहली बात तो यही है कि नया पूंजीपति किसी औपनिवेशिक देश में ब्रिटिश पूंजी के व्यावसायिक हितों का उपोत्पाद नहीं है, वरन आंतरिक विकास की उपज है और इसलिए उसके सारे ही समाज के साथ

स्वाभाविक और घनिष्ठ–आर्थिक तथा सामाजिक–संबंध होते हैं। इस तरह के व्यवसायी के संपर्कों का दायरा व्यापक होता है–सरकारी अधिकारी, बैंक, दूसरे व्यवसायी, व्यापारी, वकील, उपभोक्ता, मज़दूर। इन संपर्कों के साधन के लिए क़ुदरती तौर पर भाषा और, परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुसार, अकसर एक से अधिक भाषा ज़रूरी है। इसलिए यह महत्वपूर्ण है कि किस भाषा में हिसाब-किताब रखा जाता है, सरकारी कार्यालयों के साथ पत्रव्यवहार किया जाता है और मज़दूरों और उपभोक्ताओं को संबोधित किया जाता है। उल्लेखनीय है कि कुछ उद्यमकर्ता और विभिन्न राज्यों में उनके संगठन अपने उत्पाद के स्थानीय भाषा में सर्वोत्तम विज्ञापन के ढंग के बारे में प्रतियोगिताएं आयोजित करते हैं और इनामों के रूप में ख़ासी बड़ी रक़में देते हैं।

छोटे उद्यमकर्ताओं का सामाजिक तथा जातपांतगत उद्गम अलग-अलग है और रूढ़िबद्ध समाज में उनकी सांपत्तिक हैसियत (औसत के ऊपर) और सामाजिक हैसियत (औसत के नीचे, पारंपरिक संभ्रांतों के दृष्टिकोण से) में असंगति है। इसके परिणामस्वरूप कभी-कभी नये उद्यमकर्ताओं और जातीय समाज के अन्य अंशकों के बीच संसर्ग में दरार पैदा हो जाती है। उदाहरण के लिए, एक राज्य में शहरी छोटे उद्यमकर्ताओं और ग्रामीण उच्च संस्तर के बीच एक-दूसरे को अस्वीकारने की प्रवृत्ति पायी जाती है, चाहे उनके राजनीतिक और आर्थिक हित आपस में मेल खाते हों या किसी हद तक एक समान हों। हरियाणा और पंजाब के नगरों में "नवसंभ्रांतों" के बारे में एक समाजशास्त्रीय समीक्षा के लेखक का कहना है कि इन राज्यों के उद्यमकर्ता और फ़ार्मर "एक-दूसरे को तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं" और फ़ार्मर अपने को सामाजिक रुतबे में कहीं ऊंचा समझते हैं। हरियाणा का रहनेवाला उद्यमकर्ता स्वयं अपने राज्य और निकटवर्ती राज्यों के व्यवसाइयों के साथ मेल-जोल करना तो पसंद करता है, पर "अपने" ग्रामीण संभ्रांतों के साथ संपर्क में आने से परहेज़ करता है ('हिंदुस्तान टाइम्स', ४ फ़रवरी, १९७३)। भारतीय समाजशास्त्रियों ने कुछ राज्यों में "नवसंभ्रांतों" के विकेंद्रीकरण को भी लक्षित किया है। नये उद्यमकर्ताओं के समूह राज्य के विकासमान औद्योगिक केंद्रों के चहुं ओर संकेंद्रित होते हैं, जिनके साथ उनके व्यावसायिक और सामाजिक हित जुड़े होते हैं, मगर वे आपस में कदाचित ही संपर्क स्थापित करते हैं। ऐसी स्थिति मुख्यतः उन क्षेत्रों में विद्यमान है, जहां प्रदेशांतर्गत आर्थिक

संबंध अभी अपर्याप्त रूप में ही विकसित हुए हैं और आबादी की जातीय आत्मचेतना निर्माणावस्था में ही है (हिंदी क्षेत्र), अथवा जहां उद्यमकर्ताओं में दूसरे जातीय क्षेत्रों के रहनेवालों की उच्च प्रतिशतता है (पश्चिम बंगाल, महाराष्ट्र का कुछ भाग और आंध्र)। उन भाषाई राज्यों में, जहां जातीय और राष्ट्रवादी आंदोलन की कई लहरें आ चुकी हैं (तमिलनाडू, केरल, असम), बुर्जुआ वर्ग "जातीय मूल्यों" के संरक्षण के नज़रिये से आगे आने भी लगा है। ज़रा कर्णाटक राज्य का विघटन करने की कोशिशों का विरोध करने में उद्यमकर्ताओं की भूमिका को याद कीजिये। उपरोद्धृत राज्यों के उद्यमकर्ताओं को "जातीय विचार" की सन्नहनकारी शक्ति और बाहरी प्रतियोगिता के विरुद्ध संरक्षण के रूप में उसके संभाव्य उपयोग का आकलन करने का व्यावहारिक अवसर प्राप्त हो चुका है। भारतीय समाचारपत्रों ने द्रमुक और उसकी राष्ट्रवादी मांगों को तमिलनाडू के शहरी निम्न-बुर्जुआ वर्ग द्वारा प्रदत्त समर्थन के बारे में काफ़ी-कुछ लिखा है। इस तरह की परिस्थिति में विवेचनाधीन सामाजिक संस्तर मातृभाषा का अत्यंत सक्रिय पक्षधर बन जाता है और उसे सभी तरह के विशेषाधिकार दिये जाने के लिए संघर्ष करता है।

एक विशेष सामाजिक समूह के प्रतिनिधि होने के नाते छोटे और मंझोले उद्यमकर्ताओं का अपने राज्य के पारंपरिक संभ्रांत संस्तर के साथ, जो शहर में बड़े व्यापारियों और देहात में भूस्वामियों से मेल करता है और जिसकी राजनीति और शासनतंत्र में सुदृढ़ स्थिति है, संबंध जटिल है। पारंपरिक मूल्यों, प्रथाओं और पूर्वग्रहों को अस्वीकारना नवपूंजीपतियों के सक्रिय और समृद्धिशील उच्च संस्तर का अकसर चारित्रिक लक्षण होता है। अपने आचरण और संबंधों में पश्चिम का अनुकरण करने की उनकी प्रवृत्ति स्वयं अपनी सांस्कृतिक थाती के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण को जन्म देती है – वे उसे अतीत का ऐसा भार समझते हैं, जिससे पीछा छुड़ाया जाना चाहिए। इस हलक़े के लोग अंग्रेज़ी का उपयोग करना पसंद करते हैं, चाहे इस भाषा की उनकी जानकारी कमज़ोर भी क्यों न हो। उद्यमकर्ताओं, व्यापारियों, वकीलों और नौकरशाहों की अपने व्यावसायिक क्लबों और संघों में अनौपचारिक वातावरण में भेंटों-मुलाक़ातों का वर्णन करते हुए समाजशास्त्रीय शोधकृतियों के लेखक अनिवार्यतः इंगित करते हैं कि उनमें बातचीत का माध्यम अंग्रेज़ी ही होती है, जिसमें प्रादेशिक भाषा के शब्दों और मुहावरों का अच्छा-ख़ासा पुट रहता है। इस हलक़े

के लोग अपने बच्चों को महंगे निजी (प्राइवेट पब्लिक) स्कूलों में पढ़ने के लिए भेजते हैं, जहां पहली कक्षाओं से ही अंग्रेज़ी माध्यम से शिक्षा दी जाती है। छोटे पैमाने के व्यवसाइयों द्वारा पोषित कॉलेजों में "अध्यापकों में सबसे सम्मान्य अंग्रेज़ी का व्याख्याता होता है और सामाजिक सोपान में सबसे नीचे पंजाबी अथवा हिंदी का व्याख्याता होता है" ('हिंदुस्तान टाइम्स', ४ फ़रवरी, १९७३)।

इसके बावजूद निम्न-बुर्जुआ वर्ग के ऊपरी संस्तर को जातपांतीय और सांप्रदायिक संभ्रांतों के प्रभाव को ध्यान में रखना होता है और सामाजिक सोपान पर अपनी उन्नति के लिए उन्हें उपयोग में लाने के ख़याल से अपने मुनाफ़ों का कुछ हिस्सा उन्हें खिलाना होता है। वस्तुपरक रूप से जातीय समेकन में बाधक जात-बिरादराना और सांप्रदायिक विचारों के पक्षधरों के साथ संबंध और इसी प्रकार जातीय नास्तिवाद जातीयता और भाषा के मामलों में निम्न-बुर्जुआ वर्ग के ऊपरी संस्तर के ढुलमुल रवैये – मातृ-भाषा की अवहेलना और जातीय संस्कृति के प्रति तिरस्कारपूर्ण रवैये से लेकर राष्ट्रवादी और खुले तौर पर अंधराष्ट्रवादी आंदोलनों के समर्थन तक – के कारणों को बहुत सी सूरतों में स्पष्ट कर देते हैं।

छोटे उद्यमकर्ताओं का निचला संस्तर, "जो पिछले वर्षों में मुख्यतः दस्तकारों और कुशल मज़दूरों से उत्पन्न हुआ है, संपत्तिधारी आदमी और मेहनतकश के लक्षणों का संयोग करता है। छोटे व्यापारी या पूंजीपति की श्रेणी में संक्रमण ने उनकी माली हालत और सामाजिक हैसियत को कुछ ऊंचा कर दिया। लेकिन अधिकांश के लिए व्यवस्थाहीन मंडी के उतार-चढ़ावों के अधीन और अधिक रहने का मतलब बरबादी का डर, वाणिज्यिक पूंजी पर निर्भरता, आदि था। उल्लेखनीय है कि कई शोधकर्ताओं ने पाया है कि भारत में छोटे उद्योगपति की लाक्षणिकता नियतिवाद, भाग्य की लीलाओं को चुपचाप सह लेना है, जो 'समृद्ध बुर्जुआ' का कदाचित ही लक्षण है" ('स्वतंत्र भारत के आर्थिक तथा सामाजिक विकास की समस्याएं' [रूसी में], मास्को, १९६७, पृ० २४१)। इसके अलावा, इस तरह के उद्यमकर्ता रूढ़ीवादी और संकीर्ण दृष्टिकोणवाले होते हैं, उनके बीच "बड़े बुर्जुआ वर्ग की आलोचना अकसर पिछड़े हुए संबंधों को बनाये रखने के लक्ष्य से की जाती है और आधुनिक मशीनी उत्पादन के ख़िलाफ़ उनका विरोध कभी-कभी औद्योगीकरण के अस्वीकरण की हद तक चला जाता है" (ल० इ० रेइस्नेर, ग० क० शिरोकोव, पूर्वो०,

पृ० १८२)। इस तरह की भावनाओं और अतीत की ओर प्रत्यावर्तन, अतीतकालीन पितृसत्तात्मक संबंधों और स्वर्णयुग के गुणगान के नारों के बीच, जो भाषाई राज्यों में बुर्जुआ राष्ट्रवाद के प्रिय विषय हैं, क़दम भर का ही फ़ासला है। "अधसाक्षर पटनवी भी यह घोषित करने को सदा तैयार रहता है कि उसका शहर बिंबिसार और अजातशत्रु का, चंद्रगुप्त और अशोक का, समुद्रगुप्त और शेरशाह का और हमारे गणराज्य के पहले राष्ट्रपति, डॉक्टर राजेंद्रप्रसाद का शहर है। वर्तमान को बदलना चूंकि संभव नहीं है, इसलिए वह अतीत से ही सांत्वना प्राप्त करता है" ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', ६ जनवरी, १९७४)। जहां तक भाषा की बात है, तो निम्न-बुर्जुआ वर्ग के निम्न अंशकों के अधिकांश के लिए अंग्रेज़ी शिक्षा प्राप्त करना आर्थिक कारणों से शक्य नहीं है। इसलिए अपनी सामाजिक हैसियत को उठाने का एक तरीक़ा अपनी साहित्यिक मातृभाषा में पारंगति प्राप्त करना है। यह पाया गया है कि इस अंशक के प्रतिनिधि बचपन में सीखी बोली और स्कूल में पढ़ायी जानेवाली भाषा के बीच अधिकतम अंतर करने की कोशिश करते हैं।

भारत में शहरी मध्यम संस्तरों की विरचना प्रक्रियाओं और जातीय समस्याओं के प्रति उनके दृष्टिकोण के अन्वेषण में भारत की आबादी की आयु-संरचना में परिवर्तन जैसे जनसांख्यिकीय कारक की तरफ़ भी ध्यान दिया जाना चाहिए। साठ के दशक की घटनाओं की समीक्षा करते हुए रजनी कोठारी लिखते हैं: "इस दशक के दौरान आबादी की संरचना में सुस्पष्ट परिवर्तन आ गया था (आबादी में तीव्र वृद्धि के परिणामस्वरूप) और युवा पीढ़ी की निर्णायक बहुसंख्या हो गयी थी... समग्र जनसांख्यिकीय चित्र में इस तरह के परिवर्तन के परिणामस्वरूप निर्वाचक-मंडल की संरचना में पीढ़ीगत परिवर्तन भी आया, जिससे 'युवा मतदाताओं' की प्रतिशत संख्या बढ़ती गयी, जिनकी राजनीतिक विशिष्टताएं अधिकांशतः अननुमेय थीं और पुराने चिह्नों के प्रति जिनकी वफ़ादारी को मानकर नहीं चला जा सकता था" ('हिंदुस्तान टाइम्स', ११ जनवरी, १९७०)।

भारतीय समाजशास्त्रियों के प्रेक्षणों के अनुसार समाज का "कायाकल्प" बजाते ख़ुद भाषा-अंतरणों की तरफ़ ले जाता है या उनकी पूर्वकल्पना करता है। केरल राज्य में स्वातंत्र्योत्तर वर्षों में आये सामाजिक परिवर्तनों के विश्लेषण से संबद्ध अपनी कृति में ए० ऐयप्पन इंगित करते

हैं कि समाज के अत्यंत भिन्न-भिन्न अंशकों के, देहातों में रहनेवाले तक, आज के कैरली युवजन भाषा में राज्यव्यापी साहित्यिक मानक का प्रयोग करने और जातपांतगत रूपों और जातपांतगत वैलक्षण्य को अस्वीकर करने की सुस्पष्ट प्रवृत्ति दिखलाते हैं (ए० ऐयप्पन, 'एक कैरली गांव में सामाजिक क्रांति' [अंग्रेजी में], बंबई, १९६५, पृ० ८६)। उत्तरी भारत के मुसलमान छात्रों में साहित्यिक उर्दू में दिलचस्पी में उल्लेखनीय कमी का आना एक और उदाहरण का काम दे सकता है। प्रोफ़ेसर के० अभिशंकर इस तथ्य का उल्लेख करते हैं: पंजाब में १९६३ की माध्यमिक परीक्षाओं में ७५,००० विद्यार्थियों ने हिंदी, ७५,००० ने पंजाबी और सिर्फ़ ४४० ने ही उर्दू को अपना विषय बनाया, यद्यपि यह बात भली भांति ज्ञात है कि पंजाब, उत्तरप्रदेश और दिल्ली में उर्दू रोज़मर्रा के व्यवहार में हिंदी की अपेक्षा कहीं अधिक लोक-प्रचलित है, लेकिन सिर्फ़ पुरानी पीढ़ी में ही, जिसकी संख्या धीरे-धीरे घटती जा रही है। प्रो० अभिशंकर अंत में कहते हैं कि भारत में हम लोग एक भाषा-अंतरण के दौर में जी रहे हैं।

नगरवासी मध्यम संस्तरों के भारतीय युवजन की मानसिकता का उच्च शैक्षिक प्रतिष्ठानों के छात्रों और माध्यमिक विद्यालयों की उच्च कक्षाओं के छात्रों के आधार पर न्यूनाधिक सम्यक रूप से अन्वेषण किया जा चुका है। स्वातंत्र्योत्तर वर्षों में इस संवर्ग में आनेवाले भारतीय युवजन की संख्या में उल्लेखनीय वृद्धि आयी है (सारणी २५) ('शिक्षा नीति के बारे में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का वक्तव्य' [अंग्रेजी में], नयी दिल्ली, १९७४, पृ० ४)।

शिक्षा प्राप्त कर रहे युवजन की कुल संख्या में पांच गुने से अधिक की वृद्धि शिक्षार्थी समुदाय के सामाजिक आधार के और अधिक व्यापक होने को सुनिश्चित किये बिना नहीं रह सकती थी। औपनिवेशिक भारत में छात्रों की अत्यधिक भारी बहुसंख्या "ऊंची" जातियों (वर्णों) और समाज के सर्वाधिक सुविधाभोगी अंशकों से आनेवाले छात्रों की ही होती थी। इस समय छात्र मुख्यतः शहरी और अंशतः ग्रामीण निम्न-बुर्जुआ संस्तरों से आते हैं। भारतीय छात्र न सिर्फ़ शहरी मध्यम अंशकों का आपूरण ही करते हैं, बल्कि वे नये, परंपरा के विरुद्ध जानेवाले विचारों और संबंधों के भी वाहक हैं। एम० एन० श्रीनिवास कहते हैं: "छात्र समुदाय की सामाजिक संरचना में आमूल परिवर्तन आ गया है... तीव्र और मूलगामी सांस्कृतिक तथा सामाजिक परिवर्तन ने ऐसी स्थिति पैदा कर दी है,

सारणी २५

भारत में शिक्षार्थियों की संख्या में वृद्धि

शिक्षा का चरण	पढ़नेवालों की संख्या		वृद्धि-दर %
	१९४६–१९४७	१९७३–१९७४	
प्राथमिक शिक्षा १–५ कक्षा (आयु ६–११)	१,४१,१०,०००	६,३७,५४,०००	+४५७
निम्न माध्यमिक शिक्षा ६–८ कक्षा (आयु ११–१४)	२०,४०,०००	१,५०,२९,०००	+७५०
उच्च माध्यमिक शिक्षा ९–१० कक्षा (आयु १४–१७)	१०,८३,०००	८५,००,०००	+८५०
उच्च शिक्षा . . .	२,५६,०००	३०,००,०००	+१,२००
योग	१,७४,८९,०००	९,०२,८३,०००	+५१४

जिसमें एक पीढ़ी का अनुभव अगली पीढ़ियों के लिए सार्थक अथवा प्रासंगिक नहीं प्रतीत होता... ग्रामीण भारत के कितने ही भागों में शिक्षा-प्राप्त बच्चे पाते हैं कि वे जिस संस्कृति के आदी हैं, वह उनके निरक्षर माता-पिता की संस्कृति से सर्वथा भिन्न है। शिक्षा अच्छे वेतनवाले काम पाने और राजनीतिक सत्ता का प्रयोग करने के लिए आवश्यक है। शिक्षा अधिक प्रबुद्ध जीवन संभव बनाती है और, अंतिम बात, वह प्रतिष्ठा की प्रतीक भी है... बी० ए० पास हरिजन या कुम्हार या नाई के साथ वैसा ही बरताव नहीं किया जा सकता कि जैसा उसके अनपढ़ जाति-बंधुओं के साथ" ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', २२ नवंबर, १९६८)।

ठोस समाजशास्त्रीय सर्वेक्षणों के परिणाम दिखलाते हैं कि एम० एन० श्रीनिवास छात्र समुदाय के मूल्य-अभिविन्यास में परिवर्तनों की मूलगामी प्रकृति को कुछ अतिरंजित करते हैं। दिल्ली विश्वविद्यालय के छात्रों और

उनके माता-पिता में १९६७/१९६८ के शिक्षा वर्ष में किये गये एक सर्वेक्षण का उल्लेख किया जा सकता है, जिससे पत्नी के चयन के मानदंड के बारे में पुरानी और नयी पीढ़ियों के बीच यह सहसंबंध प्रकट हुआ :

	विद्यार्थी (%)	माता-पिता (%)
अपनी ही जाति की	३०	६२
अपने ही धर्म की	५५	८८
अपनी ही भाषा-भाषी	४७	७८

इन आंकड़ों से पता चलता है कि इस महत्वपूर्ण समस्या के प्रति अपने उपागम में युवजन पुरानी पीढ़ी से अधिक मुक्त हैं। साथ ही यह भी प्रत्यक्ष है कि जातपांतगत और धार्मिक विचार छात्रों की काफ़ी बड़ी संख्या में बने हुए हैं। अंग्रेज़ी के भारत में विशेष दरजे के प्रति उनके रवैये में अंतर और भी कम है। दोनों ही पीढ़ियों के अधिकांश प्रतिनिधि (७४.२१% छात्र और ८३.६८% माता-पिता) उसे अनुचित समझते थे। मातृभाषा के लिए पसंद दोनों ही पीढ़ियों में लगभग बराबर है। जिन छात्रों से प्रश्न पूछे गये थे, उनकी जातपांतगत तथा सामाजिक संरचना भी दिलचस्प है : खत्री – ४०%, ब्राह्मण – २२%, वैश्य – १५%, सिख और दूसरे संप्रदाय – १२%, और "नीची" जातियां – ११%।

विचाराधीन सर्वेक्षण ने छात्रों के **विभिन्न** सामाजिक समूहों में विद्यमान अंतरों को नहीं प्रकट किया, जो इस समस्या के अधिक ठोस अध्ययन के लिए बहुत महत्वपूर्ण रहा होता। १९६९–१९७० में वाई० पी० छिब्बर ने दक्षिण दिल्ली के एक कॉलेज के छात्रों में इसका निर्धारण करने के लिए सर्वेक्षण किया कि उनके द्वारा अंग्रेज़ी या हिंदी का चयन किस हद तक उनकी माली और सामाजिक स्थिति पर निर्भर करता है। क़ायलकारी आंकड़ों के आधार पर वह इस निष्कर्ष पर पहुंचे : "यह सामान्य धारणा कोई निरी पिष्टोक्ति नहीं, वरन नितांत सत्य है कि मौजूदा सामाजिक ढांचे में हिंदी, अथवा जहां तक बात का संबंध है, कोई भी प्रादेशिक भाषा ग़रीबों की भाषा और अंग्रेज़ी समाज के ख़ुशहाल हिस्सों की भाषा है... सर्वेक्षण दिखलाता है कि शिक्षा के उच्चतर स्तरों पर अनिवार्य

अंग्रेज़ी माध्यम शैक्षिक असंगतियों को प्रखर कर रहा है और जहां तक निम्न मध्यवर्गीय और निम्नवर्गीय परिवारों के बच्चों का संबंध है, अवसरों की असमानताएं उत्पन्न कर रहा है, क्योंकि न तो उनकी परिस्थितियां और न उनका पर्यावरण ही इस भाषा में धाराप्रवाहिता प्राप्त करने में सहायक है। अंग्रेज़ी माध्यम की भारी क़ीमत इन परिवारों में से बहुत कम के ही बूते की बात है" ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', १५ नवंबर, १९७०)।

अंग्रेज़ी को तरजीह सबसे धनी परिवारों के बचपन से ही अंग्रेज़ी का अध्ययन करने और उसके माध्यम से ही शिक्षा पानेवाले सदस्यों द्वारा प्रतिनिधित आबादी का एक छोटा सा हिस्सा ही देता है। ये लोग भारतीय समाज के उच्चतम संस्तर के मुख्य आधार हैं और अलग-अलग राज्यों में जातीय आंदोलनों के साथ कम ही सूत्र होने के कारण अपने को, सामान्यतया, "अखिल भारतीय" पेशों के लिए तैयार करते हैं। साथ ही निम्न-बुर्जुआ परिवारों के अधिकांश छात्र अपने-अपने जातीय राज्यों में मुख्य स्थितियों पर पहुंचने की तुलना में देश भर में सचलता में कहीं कम दिलचस्पी रखते हैं। यह अंशक, पहले, अपनी मातृभाषा का अध्ययन करने में भी बहुत अधिक दिलचस्पी रखता है, क्योंकि वह अंग्रेज़ी में वांछित सीमा तक पारंगति नहीं प्राप्त कर सकता और, दूसरे, संसर्ग का बुनियादी साधन बन जाने के साथ मातृभाषा "बाहरवालों" के अंतर्वाह के ख़िलाफ़ एक तरह की बाधा बन जाती है। यही कारण है कि समाज के निम्न-बुर्जुआ सदस्य ही अपने राज्यों में जातीय आंदोलनों का केंद्रक होते हैं। उच्च शिक्षा प्रणाली को छात्र समुदाय की सामाजिक संरचना के अनुरूप ढालने के प्रयत्न किये जा रहे हैं। मिसाल के लिए, दक्षिण गुजरात विश्वविद्यालय ने सभी विषयों में शिक्षण का विभाजन करने का निश्चय किया है–एक समूह में शिक्षण अंग्रेज़ी माध्यम से, तो दूसरे में गुजराती माध्यम से होता है। सिर्फ़ आयुर्वैज्ञानिक और इंजीनियरी कॉलेज ही इसके अपवाद हैं, जिनमें अंग्रेज़ी ही शिक्षण का एकमात्र माध्यम है।

छात्रों का भाषा के प्रति रवैया और उनके द्वारा किसी भाषा का शिक्षण माध्यम के रूप में चयन केवल सामाजिक और सांपत्तिक हैसियत पर ही नहीं निर्भर करते। इस चयन को शिक्षा नीति भी प्रभावित करती है। सारणी २५ एक अनोखे तथ्य को प्रकट करती है–शिक्षा का चरण जितना ऊंचा है, उस चरण में पहुंचनेवालों की संख्या में सापेक्ष वृद्धि उतना ही अधिक है। अतः, अगर प्राथमिक विद्यालयों में विद्यार्थियों की संख्या में

लगभग ४.६ गुना वृद्धि आयी है, तो उच्च शैक्षिक प्रतिष्ठानों में छात्रों की संख्या १२ गुना से अधिक बढ़ी है। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की राष्ट्रीय परिषद की उपरोद्धृत दस्तावेज़ में, जिसके आधार पर सारणी २५ तैयार की गयी है, दूसरे आंकड़े भी दिये गये हैं, जो यह दर्शाते हैं कि निरपेक्ष अर्थों में शिक्षा का चरण जितना ऊंचा होता जाता है, उसे प्राप्त करनेवाले अनुरूप आयु-वर्ग के युवजन का प्रतिशत उतना ही कम होता जाता है। अगर भारतीय शिक्षा-प्रणाली की एक त्रिभुज के रूप में कल्पना की जाये, तो त्रिभुज के आधार पर प्राथमिक कक्षाओं में पढ़नेवाले ६४० लाख विद्यार्थी होंगे और उसके शिखर पर ३० लाख कॉलेज छात्र। दूसरी ओर, अगर शिक्षा न प्राप्त करनेवाले युवजन को लेकर ऐसे ही त्रिभुज की कल्पना की जाये, तो त्रिभुज उलटा हो जायेगा। इसका मतलब यह है कि भारत में उच्च शिक्षा ने अपने संभ्रांत स्वरूप को बनाये रखा है। "यह संभ्रांतीयता प्राथमिक शिक्षा की और जनव्यापी निरक्षरता की शोचनीय उपेक्षा में विशेषकर स्पष्ट रूप से व्यक्त होती है", जो अनिवार्यतः भारत में हर साल निरक्षरों की सापेक्ष संख्या में वृद्धि की तरफ़ ले जाती है ('शिक्षा नीति के बारे में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का वक्तव्य', पृ० ४)।

स्वयं छात्रों में भी भारतीय शिक्षा-प्रणाली के वर्गीय स्वरूप की समझ बढ़ती जा रही है। इस प्रसंग में एक छात्र का 'इंडियन एक्सप्रेस' में, जिसे किसी भी तरह से प्रगतिशील अख़बार नहीं कहा जा सकता, प्रकाशित पत्र उल्लेखनीय है, जिसमें कहा गया है: "हम जानते हैं कि हमारे समाज में हमें जो शिक्षा प्रदान की जाती है, वह न सिर्फ़ ज्ञान, बल्कि हमारे समाज की अभिभावी विचारधारा को भी पुनरुत्पादित करती है। वह यथास्थिति के बने रहने के लिए आवश्यक विचारों को संप्रेषित और पोषित करने का एक साधन मात्र है... हम नौकरशाहों और पूंजीपतियों के अयोग्य, अहंकारी बेटों को (शिक्षा समाप्त करने के बाद – **ले०**) उत्पादन साधनों के स्वामित्व के साथ नाते-रिश्तेदारी की बदौलत मोटी तनख़्वाहें पाते हुए देखते हैं..." ('इंडियन एक्सप्रेस', १५ अगस्त, १९७२)।

भारत में शिक्षा-प्रणाली समाज के उच्चतम संस्तरों की, जिन्हें भारतीय समाजशास्त्रीय साहित्य में "अतिसंभ्रांत" कहा जाता है और जो केवल अंग्रेज़ी की ओर अभिमुख हैं, स्थितियों को बरक़रार रखने के साधन का काम करती है। साथ ही इस प्रणाली ने स्वातंत्र्योत्तर वर्षों में भाषाई

राज्यों के स्तर पर तथाकथित प्रादेशिक अथवा "मध्यम" सभ्रांतवर्ग के बनने को बढ़ावा दिया है, जो अधिकांशतः अपनी जातीय भाषा का ही प्रयोग करता है। इन संभ्रांतवर्गों के संगम पर कष्टदायी परिघटनाएं प्रकट होती हैं, जो कॉलेज में अध्ययन के दौरान और बाद के कार्यकलाप में भी अंग्रेज़ी और मातृभाषाओं के बीच एक तरह के व्यक्तित्व-स्फुटन की तरफ़ ले जाती हैं। भारतीय शिक्षाविदों के अनुसार अंग्रेज़ी परीक्षाएं, जिनमें अनुत्तीर्ण होनेवालों का अनुपात बहुत अधिक होता है, मध्यवर्गीय युवजन के लिए एक तरह के सामाजिक छनित्र का काम करती हैं। अतः, उनमें से बहुत से शिक्षा प्राप्त करने के अधिक विश्वसनीय साधन के रूप में अपनी मातृभाषा का सहारा लेते हैं।

तथापि केवल मातृभाषा में पटुता छात्र की प्रादेशिक और सामाजिक गतिशीलता को सीमित कर देती है। छात्र समुदाय को इस अंतर्विरोध पर पार पाने का रास्ता यह दिखलायी देता है कि अंग्रेज़ी का पाठ्यक्रम के अंग के रूप में अध्ययन किया जाये और साथ ही अंग्रेज़ी में अनिवार्य परीक्षा का अंत किया जाये और उसकी मातृभाषा से प्रतिस्थापना की जाये। वर्तमान सामाजिक अवस्थाओं से जनित यह स्थिति अंग्रेज़ी के भारतीय भाषाओं के साथ-साथ दीर्घकालिक सहअस्तित्व की पूर्वकल्पना करती है। संघ लोक सेवा आयोग द्वारा करवाये गये एक सर्वेक्षण के अनुसार १९७३ तक कुछ विश्वविद्यालयों और कॉलेजों में मानविकी विषयों की संविधान की आठवीं अनुसूची में उल्लिखित १५ में से १० भाषाओं में शिक्षा दी जाने लगी थी। यथार्थ विज्ञानों की शिक्षा सिर्फ़ हिंदी, बंगला और गुजराती में ही दी जा रही थी ('हिंदुस्तान टाइम्स', १७ मई, १९७३)।

शहरी मध्यम संस्तरों को इस समय "जातीयता के संरक्षक" और "जातीय भावना", संस्कृति तथा भाषा के वाहक समझा जाता है। नागपुर में समाजशास्त्री आर० जयरामण द्वारा किये सर्वेक्षण ने प्रकट किया कि शहरी आबादी के उच्चतम तथा निम्नतम अंशकों के विभिन्न जातीय समूह अपने आपको आसानी से अन्य भाषाई पर्यावरण के अनुरूप कर लेते हैं और उसके प्रतिनिधियों के साथ स्थायी संबंध बना लेते हैं। इस प्रसंग में उच्च संस्तर अंग्रेज़ी का और निम्न संस्तर नगर की स्थानिक भाषा, मराठी, का प्रयोग करते हैं। पहले प्रकार के संपर्क को समाजशास्त्री "दौलत की दोस्ती" और दूसरे को "गुरबत की दोस्ती" कहते हैं। अपने

जातीय और पारंपरिक मूल्यों के प्रति सबसे अधिक स्थिरता और संसक्ति शहरी मध्यम संस्तर प्रदर्शित करते हैं ('इकोनॉमिक एंड पोलीटिकल वीकली', २४ अक्तूबर, १९६४)। नागपुर का एक और समाजशास्त्रीय विवरण भी शहरी मध्यम संस्तरों की भूमिका पर ज़ोर देता है: "दीर्घ काल से दबाये हुए महाराष्ट्रीय मानस ने (भाषावार राज्यों की स्थापना के पहले नागपुर हिंदीभाषी मध्यप्रांत की राजधानी था—**ले०**) अपनी संभाव्यताओं को प्राप्त कर लिया और सांस्कृतिक कार्यकलाप को नया संवेग मिला" ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', २ दिसंबर, १९७३)।

जातीय भाषा के विकास में शहरी मध्यम संस्तरों की नेतृत्वकारी भूमिका की मान्यता अनिवार्यतः इस प्रश्न पर ले जाती है कि साहित्यिक भाषा के विकास और मानकीकरण के प्रति उनका क्या रवैया होता है। इस प्रश्न का सीधा-सादा उत्तर न है और न शायद हो ही सकता है। जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है: "...संस्कृत व फ़ारसी के शब्दों को ज्यादा काम में लेने की जो बेजा प्रवृत्ति चल पड़ी है, उसे रोकने के लिए पूरी कोशिश करनी चाहिए, और सामान्य व्यवहार में बोली जानेवाली सरल भाषा के ढंग पर एक साहित्यिक भाषा बना लेनी चाहिए। जनता में जैसे-जैसे शिक्षा बढ़ती जायेगी, वैसे-वैसे अपने आप ऐसा होता जायेगा। इस समय मध्यम श्रेणी के छोटे-छोटे समूह साहित्यिक रुचि और शैली के निर्णायक बने हुए हैं और ये लोग अपने-अपने ढंग से बहुत ही संकुचित हृदय के अनुदार और अपरिवर्तनवादी हैं। ये अपनी भाषाओं के पुराने निर्जीव रूप से चिपटे रहना चाहते हैं और अपने देश की साधारण जनता और संसार के साहित्य से इनका बहुत ही कम संपर्क है" (जवाहरलाल नेहरू, 'मेरी कहानी', ग्यारहवां संस्करण, नयी दिल्ली, १९७१, पृ० ६३३)।

इस प्रश्न के बारे में प्रसिद्ध लेखक स० ही० वात्सायन 'अज्ञेय' ने और भी तीखे शब्दों में विचार व्यक्त किये थे: "इस वर्ग की (शहरी मध्यम संस्तर—**ले०**) कोई भी भाषा नहीं है—जिस अकेले माध्यम का वह आसानी और कुछ दक्षता के साथ इस्तेमाल कर सकता है, वह स्थानीय बोलियों के पुट के साथ अंग्रेज़ी और किसी प्रादेशिक भाषा की खिचड़ी है। यह खिचड़ी भाषा ही वह चीज़ है, जिसे इस वर्ग की स्वाभाविक भाषा कहा जा सकता है। इसके परिणामों को शब्दों में सूत्रित किया जाना और उनकी भयानकता को समझना ज़रूरी है। इसलिए एक मानक लिखित रूप में स्वीकार्य कोई भी भाषा इस वर्ग का प्रतिनिधित्व नहीं कर

सकती..." ('अनुवाद की कला', एक परिचर्चा [अंग्रेज़ी में], नयी दिल्ली, १६६२, पृ० ११–१२)।

भारतीय शहरी मध्यम संस्तरों की भूमिका के इस विरोधात्मक आकलन का कारण सर्वोपरि उनकी विषमरूपता है। अपनी पुस्तक में, जिसमें बिहार के राजनीतिक संभ्रांतवर्ग का समाजशास्त्रीय विश्लेषण किया गया है, एस० झा ने एक सारणी दी है, जिसमें यह दिखलाया गया है कि राज्य विधान-सभा के सदस्य ख़ुद अपने को किस वर्ग का समझते हैं। इस सारणी को हम यहां जिस रूप में दे रहे हैं (सारणी २६), उसमें मूल शब्दावली को रहने दिया गया है; तुलना के लिए दाहिनी तरफ़ अंग्रेज़ी की अपनी योग्यता के बारे में सदस्यों की ख़ुद की राय भी दी गयी है।

सारणी २६

सामाजिक स्तर (अपने अनुसार)			अंग्रेज़ी की जानकारी (अपने अनुसार)		
उच्च वर्ग	२७	१३.५%	अच्छी	७६	३६.५%
उच्च मध्य वर्ग	६४	३२.०%	कामचलाऊ	६४	३२.०%
मध्यम मध्य वर्ग	८२	४१.०%			
निम्न मध्य वर्ग	२१	१०.५%	ख़राब	३६	१६.५%
निम्न वर्ग	४	२.०%	बिलकुल नहीं	१८	६.०%
कोई उत्तर नहीं	२	१.०%	—		
योग	२००	१००%		२००	१००%

ज़ाहिर है कि मध्यम संस्तरों का समूहों में विभाजन वास्तविकता पर आधारित है और सिर्फ़ समाजशास्त्रियों ही नहीं, बल्कि स्वयं इन संस्तरों के लोगों के लिए भी इसकी उपयुक्तता एकदम प्रत्यक्ष है। इसके अलावा, ये समूह विभिन्न सामाजिक प्रभावों के अधीन आते हैं। उच्च मध्य वर्ग का परंपराओं से वियोजन अधिक संभव है और अंग्रेज़ी भाषा अथवा 'अज्ञेय' द्वारा वर्णित खिचड़ी सहित तथाकथित पश्चिमी मूल्यों के प्रति उसका रवैया अधिक सकारात्मक होता है। इसके लिए उसे समस्तर और

विषमस्तर गतिशीलता की आकांक्षा और पूंजीवाद के अधीन जातीय विकास में दूसरी प्रवृत्ति अभिप्रेरित करती हैं। "तीव्र नगरीकरण के परिणामस्वरूप इनमें से बहुत से (एशियाई – ले०) देशों की राजधानियों की आबादी की जीवन-प्रणाली और आर्थिक सक्रियता स्वयं अपने परिधीय नगरों की अपेक्षा विकसित पूंजीवादी देशों के नगरों के अधिक निकट आती जा रही है" ('नगरीकरण, वैज्ञानिक-प्रौद्योगिक क्रांति और मज़दूर वर्ग' [रूसी में], मास्को, १९७२, पृ० ३५)। अपने सामाजिक स्तर को उन्नत करने की आकांक्षा से निम्न मध्यम संस्तर जान-बूझकर पारंपरिक संभ्रांतवर्ग के तौर-तरीक़ों का अनुकरण करते हैं, चाहे वे अब समाज के विकास के उच्चतर स्तर के अनुरूप नहीं रहते हैं। भारतीय समाजशास्त्री इस प्रक्रिया को उच्चतर समूहों के "पश्चिमीकरण" से भिन्न "संस्कृतीकरण" की प्रक्रिया कहते हैं।

क़ुदरती तौर पर, वास्तविक जीवन में शहरी मध्यम संस्तरों का सारणी २६ की तरह से "उच्च" और "निम्न" समूहों में सुस्पष्ट विभाजन करना कठिन है। उनके भीतर सतत गति होती रहती है। मध्यम संस्तरों के बहुत से सदस्य सर्वहारा के स्तर पर आ जाते हैं या और भी अधिक गिरकर च्युत सर्वहारा – लुंपेन प्रोलीटेरियेट – के स्तर पर पहुंच जाते हैं। इसके विपरीत, दूसरे संस्तर अधिक सफल रहते हैं और उच्च संस्तर की क़तारों में शामिल हो जाते हैं। इसके अलावा, निम्न-बुर्जुआ विचारधारा की अस्थिरता और अस्पष्टता के कारण शहरी मध्यम संस्तर दोनों चरमों के बीच दोलायमान होते रहते हैं और विवादास्पद सामाजिक प्रश्नों के प्रति विरोधात्मक अनुक्रिया करते हैं। शहरी आबादी के इस हिस्से का द्विशाखन भाषा के क्षेत्र में और समूचे तौर पर बौद्धिक तथा भावात्मक मूल्यों की रचना के क्षेत्र में भी लक्षित होता है। ओड़िया साहित्य के अपने विवेचन में एस० महापात्र लिखते हैं कि साहित्य समालोचना के क्षेत्र में "एक छोर पर पश्चिमी संस्कृति के अपने किताबी ज्ञान से विभूषित सिद्धांत-वादी प्रोफ़ेसर-आलोचक हैं, जो संवेदनशीलता के वियोजन, व्यक्तित्व से पलायन, आदि, आदि के बारे में ओड़िया साहित्य के परंपरा-बोध अथवा इतिहास की ज़रा भी जानकारी के बिना प्रभावपूर्ण शब्दों की झड़ी लगा सकते हैं। दूसरे छोर पर ऐसे लोग हैं, जो संस्कृत काव्यशास्त्र को इतनी ही सरलतापूर्वक उद्धृत कर सकते हैं कि जैसे मौसम के बारे में बातें कर सकते हैं, पर जो कला और साहित्य के विकास के बारे में लगभग कुछ

भी नहीं जानते और अन्यत्र साहित्यिक आंदोलनों से अनभिज्ञ हैं" ('पैट्रियट', ६ सितंबर, १९७३)।

मध्यवर्गीय लेखकों के व्यक्तित्व-स्फुटन के कारणों पर विचार करते हुए एम० के० टिक्कू 'तीसरी दुनिया में लेखकों का भाषाई वियोजन' शीर्षक लेख में एक गहन विचार व्यक्त करते हैं—आधुनिक भारत में लेखक "आमूलतः बदलती परिस्थिति की स्फीत चेतना और एक ऐसी सामाजिक संघटना में, जो पीढ़ियों से चली आती निश्चलता में टिकी हुई है, असंगति" देखता है। "भाषा के क्षेत्र में समस्या इस स्फीत चेतना को परिपाटिबद्ध भाषा-विधा के साथ संबद्ध करने की है। अधिक महत्वपूर्ण बाधा प्राविधिक शब्दावली के अभाव के कारण नहीं है, जैसा कि प्रायः विश्वास किया जाता है, बल्कि विचारणा को ऐसे अनुचारों के साथ जोड़ने में है, जो यथेष्टतः नहीं बदले हैं। आम तौर पर कही जानेवाली यह बात कि मध्यवर्गीय भारतीय अपने क्रोध के उद्गारों को किसी भी स्थानीय ज़बान की अपेक्षा अंग्रेज़ी में अधिक व्यक्त करते हैं, इस परिस्थिति का लाक्षणिक वाचाघात है" ('हिंदुस्तान टाइम्स', ९ जुलाई, १९७२)।

शहरी मध्यम संस्तरों के इस वाचाघात अथवा भाषा-द्विशाखन की प्रकृति को समझने के लिए हमें समाचारपत्रों में प्रकाशित लेखों के व्यापक उद्धरण देने होंगे, क्योंकि उनमें ही भारत के जातीय तथा सांस्कृतिक विकास से संबद्ध सबसे तात्कालिक समस्याओं की चर्चा की जाती है। प्रसिद्ध नाट्यकार बलवंत गार्गी ने एक भेंटवार्ता में कहा था: "मेरी भाषा (पंजाबी—ले०) इतनी विकसित नहीं है कि जितनी अंग्रेज़ी या उर्दू या बंगला। कभी-कभी मैं अपने को व्यक्त नहीं कर पाता—लेकिन यह तो मेरी अपनी या शायद तीन भाषाओं में पोषित मेरी पीढ़ी की सीमाबद्धता है" ('पैट्रियट', ५ मई, १९७४)।

उच्च शिक्षा-प्रणाली में अंग्रेज़ी की हिंदी द्वारा संभाव्य प्रतिस्थापना पर विचार करते हुए ए० बी० शाह अनुभव करते हैं कि सफलता महज़ पाठ्यपुस्तकों और दूसरी किताबों का हिंदी में अनुवाद करने और नयी शब्दावली का निर्माण करने से ही नहीं प्राप्त की जा सकती, क्योंकि बहुत सी वैज्ञानिक, राजनीतिक और सामाजिक संकल्पनाओं का अंतर्य ही जनसाधारण के लिए अब भी अगम्य और परकीय है, जो पारंपरिक विचारणा के बंधन में ग्रस्त हैं और इन विषयों पर कृतियों की भाषा को "अजीब और अस्वाभाविक" समझते हैं। वह अपनी बात ख़त्म करते हुए

कहते हैं कि यह समझना ज़रूरी है कि भारतीय भाषाओं के विकास का रास्ता सक्रियतापूर्ण और नानाविध सांस्कृतिक जीवन का है, न कि उन्हें कृत्रिम शब्दावली के संकीर्ण चौखटे में ज़बरदस्ती ठूंसने के यांत्रिक प्रयासों का ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', २९ मार्च, १९७०)। इसी विषय में एक और टीकाकार का कहना है कि "इसके लिए कि भाषा वस्तुतः पूरी जाति की वाणी बन सके, यह ज़रूरी है कि वह दैनंदिन कामकाज में लगे आम आदमी की आवाज़ ही न रहे, बल्कि चिंतकों और बुद्धिजीवियों, विद्वानों और राजनेताओं की भी वाणी बन जाये। मगर हिंदी की नयी शब्दावली न तो आम आदमी के लिए, जो संकल्पनाओं के अंतर्य को नहीं जानता, और न सुशिक्षित बुद्धिजीवी के लिए ही बोधगम्य है, जो स्वयं अपनी भाषा अच्छी तरह से नहीं जानता" ('स्टेट्समैन', २४ जून, १९६२)।

ललित साहित्य, सुलभ विज्ञान और प्रेस संबद्ध जातीय प्रदेशों के अशिक्षित जनसाधारण की पहुंच के बाहर ही बने हुए हैं। साहित्यिक भाषा की कार्यात्मक शैलियां मुख्यतः शहरी मध्यम संस्तरों द्वारा, जो चाहे संख्यात्मक दृष्टि से बढ़ रहे हैं, पर जिनका सामाजिक आधार अब भी अपेक्षाकृत संकीर्ण ही है, और प्रादेशिक नवसंभ्रांतों द्वारा इस्तेमाल की जाती हैं। इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि साहित्यिक भाषा ऐसे अंशकों की अभिरुचियों की ओर अभिमुख है, जो शुद्धतावादियों के दबाव और भाषा-द्विशाखन के शिकार हो सकते हैं। समकालीन भारतीय साहित्यिक भाषाओं का संकीर्ण सामाजिक आधार उन मुख्य कारकों में एक है, जो मौजूदा मंज़िल में उनके विकास के रास्ते को निर्धारित करते हैं।* हर पीढ़ी अपने

---

*साहित्यिक भाषाओं के सामाजिक आधार की सीमाबद्धता निस्संदेह भारतीय संस्कृतिकर्मियों को चिंतित करती है। समकालीन मराठी साहित्य के एक विवेचन के अनुसार "अधिकांश मराठी लेखक शहरी सफ़ेदपोश मध्य वर्ग के हैं। कोई भी बढ़ई या राज या जहाज़ी आज तक मराठी में लेखक नहीं बन पाया है और नतीजे के तौर पर अनुभव के पूरे क्षेत्र अनान्वेषित ही रहे हैं। विशेष सामाजिक समूहों द्वारा प्रयोग में लाये जानेवाले बहुत से शब्द और मुहावरे साहित्य में प्रचलित भाषा का अंग नहीं बन पाये हैं" ('स्टेट्समैन', १२ नवंबर, १९६४)।

कुछ लेखक अपनी कृतियों में श्रेणीगत सीमाबद्धता पर पार पाने की कोशिश करते हैं। प्रसिद्ध तेलुगू लेखक आर० भारद्वाज, जो एक निर्धन परिवार में पैदा हुए थे और कपड़ा मिलों में और एक प्रेस में मज़दूर का

पूर्ववर्तियों की भाषा सीखती है। भाषा सीखने, पीढ़ियों के बीच "सेतु-निर्माण" की प्रक्रिया अनिवार्यतः भाषा के वर्तमान की अपेक्षाओं से कुछ पिछड़े रहने की पूर्वकल्पना करती है और नयी पीढ़ी के सामने अपने द्वारा आत्मसात भाषाई थाती, अपनी मातृभाषा को और अधिक विकसित करने का कार्यभार प्रस्तुत करती है।

भारतीय साहित्यिक भाषाओं में यह विलंब सिर्फ़ पीढ़ियों के नैसर्गिक अंतरण ही नहीं, बल्कि इस तथ्य के कारण भी है कि उन्हें अंग्रेज़ी ने बहुत समय तक संसर्ग के मुख्य क्षेत्रों के बाहर धकेले रखा था। पीढ़ी-दर-पीढ़ी भारतीय लिखित भाषा के कालातीत रूपों को आत्मसात करते रहे, जो स्वतः विकसित होती बोलचाल की ज़बान से अधिकाधिक वियुक्त होती गयी। इन रूपों के लिखित भाषा में दृढ़ीकरण में औपनिवेशिक सत्ता की नीति, परंपरा और श्रेणी तथा जाति-व्यवस्था ने सहायता की। पारंपरिक संभ्रांतवर्ग अपने को "नीचे" अंशकों से अलग रखनेवाले क्लासिकी भाषाओं के ज्ञान को अपना विशेषाधिकार मानते थे। भाषा संसाधनों की अवस्था और विभिन्न स्तरों के ससंर्ग की आवश्यकताओं के बीच एक खाई पैदा हो गयी।

स्वातंत्र्योत्तर वर्षों में भारतीय भाषाओं का तीव्र विकास इस खाई को पाटने की ओर ही निदेशित है। इस प्रक्रिया में, जो आवश्यकतावशात काल में संकेंद्रित हो गयी है, मुख्य भूमिका निश्चित भाषा-नीति, भाषा-निर्माण के प्रति सोद्देश्य उपागम और लेखकों तथा सृजनशील बुद्धिजीवियों के कार्य की है। इसमें साहित्यिक मानक के ढांचे के भीतर "निर्जीव, शब्दाडंबरपूर्ण और कृत्रिम" शैली से लेकर शहरी स्थानिक भाषा के निम्नतम स्तरों तक के विचलन देखने में आते हैं, जो सर्वोपरि साहित्यिक भाषा के संकीर्ण सामाजिक आधार के कारण है। सोवियत संघ में जातीय साहित्यिक भाषाओं के विकास का अनुभव दिखलाता है कि एकमात्र समाधान यही हो सकता है कि आम आबादी को, पूरे जातीय समुदाय को साहित्यिक

और अख़बार के संवाददाता का भी काम कर चुके हैं, कहते हैं: "अगर मैं मिल मज़दूरों के बारे में लिखना चाहता हूं, तो मैं जाकर उनके झोंपड़ों में रहता हूं, उनकी ज़िंदगी के ढर्रे, उनके लड़ाई-झगड़ों और उनकी दोस्तियों, उनकी बोलचाल और उनके पहरावे का अध्ययन करता हूं" ('स्टेट्समैन', १० दिसंबर, १९७०)।

भाषा के माध्यम से संसर्ग-संचार करने और सांस्कृतिक तथा भाषा-निर्माण में भाग लेने के लिए प्रोत्साहित किया जाये।

जातीय प्रक्रियाओं के प्रति भारतीय ग्राम्यांचल का रवैया

स्वातंत्र्योत्तर वर्षों के विकास का एक महत्वपूर्ण परिणाम भारतीय ग्राम्यांचल में पूंजीदार फ़ार्मरों के संस्तर का उदय है, जो एक नये, राजनीतिक दृष्टि से सक्रिय और सामाजिक दृष्टि से महत्वाकांक्षी ग्रामीण संभ्रांतवर्ग के केंद्रक का निर्माण करते हैं। यह ग्रामीण संभ्रांतवर्ग न सिर्फ़ देहात में प्रभुत्व के लिए ही, बल्कि शहर में प्रभाव के लिए भी संघर्ष कर रहा है और इसमें उसने ख़ासी सफलता प्राप्त की है। प्रसिद्ध पत्रकार दिलीप मुकर्जी के अनुसार "लोकसभा में १९६७ के चुनावों के बाद ग्रामीण संभ्रांतवर्ग ने शहरी वकीलों को धकेल बाहर कर दिया, जिनका अपने समय में सबसे प्रमुख स्थान था" ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', २१ जनवरी, १९७१)। एक अन्य विवेचन के अनुसार "राज्य विधानमंडलों के दो-तिहाई सदस्यों में से अधिकांश ज़मीन से जुड़े हुए हैं। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी और मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के सिवा सभी मुख्य राजनीतिक दलों के नेतृत्वकारी निकायों में भी कृषिजीवियों का ऐसा ही प्राधान्य है" ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', १ अक्तूबर, १९७०)।

पिछड़े हुए कृषिप्रधान राज्यों में सार्वजनिक जीवन पर ग्रामीण उच्च संस्तर का प्रभाव विशेषकर बहुत अधिक है। १९६२ के चुनावों के बाद बिहार विधानसभा के ८९% सदस्य देहाती इलाक़ों के, १०.५% छोटे क़सबों के और सिर्फ़ ०.५% बड़े शहरों के रहनेवाले थे। "इसका यह मतलब है कि ३१९ विधानसभा सदस्यों में से २३६ ने गांव का पता स्थायी पते के रूप में दिया। यह इस बात का परिचायक है कि ७४% विधायकों का देहात के साथ मज़बूत संबंध है" (एस० झा, पूर्वो०, पृ० १४४)। अपने सदस्यों के शहरों में आकर बस जाने (गांव से अपने संबंधों को क़ायम रखते हुए) और गांवों से युवजनों के कॉलेजों में दाख़िल होने के लिए शहर आने के साथ ग्रामीण संभ्रांतवर्ग शहरी मध्यम संस्तरों को प्रबलित करने का स्रोत बन जाता है। देहात में नवसंभ्रांतवर्ग अपनी स्थिति

की बदौलत और अकसर अपनी जीवन-प्रणाली से शहरी मध्यम संस्तरों के सिलसिले का काम करता है – शहर का असर इस संभ्रांत संस्तर के ज़रिये ही देहाती इलाक़ों में फैलता है।

शहरी ज़िंदगी के अनुकूलित होने की आरंभिक मंज़िल में होने के कारण ग्रामीण संभ्रांतवर्ग का "शहरी ज़बान" के शुद्धतावादी रूपों को आत्मसात करने का झुकाव रहता है, जो बोलचाल के उसके अपने रूप, गांव की बोली से पूर्णतः भिन्न होते हैं और जिसे, सामाजिक मूल्यों के पैमाने के अनुसार, अब "गंवार" और "घटिया" समझा जाता है। जैसे कि कितने ही विद्वानों ने लक्षित किया है, पढ़े-लिखे वयस्क किसान का झुकाव दैनंदिन संसर्ग-संचार के क्षेत्र के बाहर बोलचाल की भाषा तक में साहित्यिक भाषा के आम शब्दों और मुहावरों को किताबी और आडंबरपूर्ण शब्दों और मुहावरों से प्रतिस्थापित कर देने का ही रहता है। अलावा इसके, अपनी क्षेत्रीय और सामाजिक परिसीमाओं से युक्त बोली के विपरीत पहली पीढ़ी के नगरवासी के लिए "शहरी ज़बान" अधिक व्यापक – जातीय – समुदाय का अंग होने का प्रतीक बन जाती है, चाहे इसकी चेतना उसे जातीय आंदोलनों अथवा राष्ट्रवादी अभियानों में खिंचते जाने के साथ-साथ ही आती है। कुछ राज्यों में ग्रामीण संभ्रांतवर्ग देहात में जातीय भावनाओं और राष्ट्रवादी संवेदनाओं का अपने हितों में उपयोग करने की कोशिश कर भी चुका है। उदाहरण के लिए, अकाली दल के कार्यकलाप में धनी सिख फ़ार्मरों के बढ़ते हुए प्रभाव की हम पहले ही बात कर चुके हैं।

देहात में पूंजीवादी संबंधों का विकास आबादी के निम्नतर संस्तरों से भी सरोकार रखता है। ज़मीन की बढ़ती दुर्लभता, काश्तकारों की ज़मीन से बेदख़ली और अमीर ज़मींदारों द्वारा खेत मज़दूरों का उत्पीड़न – ये सभी कारक कुछ ग्रामीण ग़रीबों को शहर धकेलने में सहायक होते हैं, जहां वे काम की तलाश में जाते हैं। शहरी ज़िंदगी धीरे-धीरे ग्रामीणों के मूल्यों को उनके पूंजीवादी विनिमय की परिधि में खिंचते जाने के साथ-साथ, जो उन्हें क्षेत्रीय और सामाजिक दृष्टि से अधिक गतिशील बना देता है, बदलती जाती है। बंबई की उपनगरीय बस्तियों के एक सर्वेक्षण ने दिखलाया कि उनकी आबादी मुख्यतः निकटवर्ती ग्रामीण क्षेत्रों से आनेवाले महाराष्ट्रियों की है। उत्तरदाताओं में से ४२% ने कहा कि उनके गांववाले उन्हें सभी बातों – ज़िंदगी के ढर्रे, पहरावे और भाषा – में "उन्नत" या "सुधरे हुए"

समझते हैं। दूसरे १५% का ख़याल था कि उनके शहर में आ बसने के बाद उनके गांववाले उनकी भाषा में "सुधार" को लक्षित करते हैं (ए० ऐयप्पन, एल० के० बी० रत्नम [संपा०], 'भारत में समाज' [अंग्रेज़ी में], बंबई, १९५६, पृ० १५५)। अभाग्यवश, लेखक यह नहीं इंगित करते कि "भाषा में सुधार" का उल्लेख करते समय उत्तरदाताओं के दिमाग़ में क्या बात थी। बहुत करके आशय यही था कि आप्रवासी बंबई नगर की स्थानीय भाषा बोलने लगे हैं और पढ़ना-लिखना सीख गये हैं। यद्यपि यह सब साहित्यिक मानक के सामाजिक आधार के किसी उल्लेखनीय प्रसार की तरफ़ नहीं ले जाता, फिर भी संबद्ध जातीय भाषा-व्यवस्था के भीतर वह परिवर्तन अवश्य उत्पन्न करता है। ग्रामीण संभ्रांतवर्ग की साहित्यिक भाषा में पारंगति प्राप्त करने की इच्छा और भूतपूर्व ग्रामवासियों द्वारा शहरी स्थानीय भाषा का सीखा जाना ग्रामीण बोली के क्षरण को त्वरित करते हैं।

शहरी संबंध धीरे-धीरे भारतीय गांव में प्रवेश करते और उसे रूपांतरित करते जा रहे हैं। लेनिन ने लिखा है कि "अगर शहर देहात को अधीनस्थ, अविकसित, असहाय और दलितावस्था में रहने देकर अपने लिए अनिवार्यतः विशेषाधिकार-प्राप्त स्थिति ग्रहण कर लेता है, तो सिर्फ़ ग्रामीण आबादी का शहरों में अंतर्वाह, सिर्फ़ कृषिजीवी आबादी का अकृषिजीवी आबादी के साथ अंतःमिश्रण और विलयन ही ग्रामीण आबादी को अपनी असहायता से उबार सकता है" (व्ला० इ० लेनिन, 'आर्थिक स्वच्छंदतावाद का चरित्र-चित्रण', १८९७)। लेकिन समकालीन भारत में यह धीरे-धीरे ही हो रहा है। पूर्ववर्ती युग के संसर्ग-संचार के रूप और संबंध, रूढ़िवादिता और निश्चलता देहात में अंतर्निहित हैं। बिना किसी संदेह के कहा जा सकता है कि बहुसंख्य ग्रामीण जनसाधारण का अभी तक बाहरी दुनिया के घटनाक्रम में सक्रियतापूर्ण समावेशन नहीं हो पाया है। भारत के विभिन्न भागों में किये नानासंख्य सर्वेक्षण इसे प्रमाणित करते हैं। उदाहरण के लिए, यह प्रमाणित हुआ था कि भारतीय समाचारपत्रों की सिर्फ़ २% प्रतियां ही देहात में पहुंचती हैं ('हिंदुस्तान टाइम्स', ३ मार्च, १९६६)। इलाहाबाद से सिर्फ़ ३० किलोमीटर की दूरी पर स्थित और उससे अच्छी सड़कों से जुड़े ढहरपुर गांव के सर्वेक्षण में इलाहाबाद विश्वविद्यालय के समाजशास्त्रियों ने पाया कि गांव की एक-तिहाई से भी कम आबादी ने पंचवर्षीय योजनाओं के बारे में सुना है। पाया गया कि

देहाती मज़दूर, दस्तकार और स्त्रियां सबसे ज्यादा अजानकार हैं ('पैट्रियट', ९ दिसंबर, १९६६)। यह भी उल्लेखनीय है कि भाषाई विवाद, राष्ट्रवादी आंदोलन और राज्यों के बीच झगड़े सिर्फ़ शहरी आबादी को ही प्रभावित करते हैं और देहात को अधिकांशतः अछूता ही रहने देते हैं। ग्रामीण जनसाधारण सार्वजनिक जीवन के भंवर में अभी तक नहीं खिंचकर आये हैं और जातीय जीवन की समस्याओं से वे दूर ही रहते हैं। भारतीय देहात अब भी जनतांत्रिक जातीय आंदोलनों का अप्रयुक्त रिज़र्व ही है।

जातीय जीवन के विकास में मज़दूर वर्ग की सहभागिता

हाल के समय में भारतीय मज़दूर वर्ग, जो संख्या में बढ़ रहा है और राजनीतिक तथा सामाजिक जीवन में अधिकाधिक सक्रिय भाग लेता जा रहा है, समाजशास्त्रियों के ध्यान को आकर्षित करता रहा है। जातीय विकास में भी मज़दूर वर्ग का कार्य निर्विवाद्य दिलचस्पी का है। हम इस बात का उल्लेख कर ही चुके हैं कि भारतीय सर्वहारा के कुछ दस्तों ने एकभाषी महाराष्ट्र और गुजरात राज्यों के निर्माण के लिए आंदोलनों में सक्रिय भाग लिया था। मज़दूर वर्ग और उसके ट्रेड यूनियन संगठनों ने आंध्रप्रदेश में तैलंग अलगाववादियों के तेलुगू जनता को विच्छिन्न करने के प्रयासों के विरुद्ध संघर्ष में उल्लेखनीय भूमिका निबाही थी। मज़दूरों में राष्ट्रवादी और अंधराष्ट्रवादी भावनाएं फैलाने के शिवसेना जैसे संगठनों के प्रयास इस तथ्य के परिचायक हैं कि मज़दूर वर्ग के प्रभाव को स्वीकार किया जाता है।

सोवियत विद्वानों की कृतियों में भारत में उजरती मज़दूरों की सामाजिक असमांगता को लक्षित किया जाता है ('स्वतंत्र भारत के आर्थिक तथा सामाजिक विकास की समस्याएं', मास्को, १९६७; 'विकासमान देश: नियमसंगतियां, प्रवृत्तियां, संभाव्यताएं', मास्को, १९७४ [दोनों रूसी में])। ल० अ० गोर्दोन के अनुसार मज़दूर वर्ग के नाभिक – आधुनिक औद्योगिक सर्वहारा – की संख्या ३५–४० लाख अथवा बरोज़गार नगरवासियों की १०–१५% है ('स्वतंत्र भारत के आर्थिक तथा सामाजिक विकास की समस्याएं', पृ० १९३)। मज़दूर वर्ग में छोटे कल-कारख़ानों और उद्योगशालाओं, मौसमी धंधों, निर्माण परियोजनाओं और दस्तकारी

कार्यशालाओं में काम करनेवाले नानासंख्य उजरती मज़दूरों का संस्तर भी आता है। अपने सामाजिक व्यवहार में उनका ख़ासा बड़ा हिस्सा ग़ैर-सर्वहारा निम्न-मज़दूरवर्गीय स्थितियां अपनाता है। साथ ही अति-कुशल मज़दूरों का एक विशिष्ट उच्च संस्तर भी बन गया है, जो अपने नियमित रोज़गार के साथ-साथ छोटे पैमाने पर निजी धंधा भी करते हैं।

मज़दूर वर्ग की असमांगता न केवल उसकी उत्पादन के भिन्न-भिन्न रूपों में सहभागिता से ही, बल्कि उसके आपूरण के भिन्न-भिन्न साधनों से भी निर्धारित होती है। उसके आपूरण का पारंपरिक स्रोत देहात से आप्रवासी हैं, जो देहात के साथ अपने सूत्र बनाये रखते हैं। आप्रवासन ग्रामीण बोलियों के अंतःमिश्रण और समतलन को सुकर बनता है, जो शहरी निम्न संस्तरों और ग्रामीण ग़रीबों के बीच एक तरह का सेतु बनाता है और इस तरह से ग्रामीण ग़रीबों को जातीय आंदोलनों में सक्रिय सहभागिता के लिए तैयार करता है। साथ ही ग्रामीण आबादी का शहरों में निरंतर अंतर्वाह शहरी मज़दूरों के निम्न संस्तरों को प्रभावित करता है – वह उनकी वर्ग-चेतना के विकास को मंथर करता है और उन्हें राष्ट्र-वादी और सांप्रदायिक फ़िक़रेबाज़ी के लिए अधिक ग्रहणशील बनाता है। पुणे के एक समाजशास्त्रीय अध्ययन के लेखक का कहना है कि नगर में औद्योगिक प्रतिष्ठानों के निर्माण के परिणामस्वरूप मज़दूरों की संख्या बढ़ी, जिनमें से कुछ "या तो कम ज़मीनवाले किसान या कृषि मज़दूर हैं।" शहर में काम करनेवाले, मगर निकटवर्ती गांवों में रहनेवाले ये लोग अपने साथ "किसान संस्कृति, बोलचाल और रवैयों को लेकर आते हैं" ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', ३ मार्च, १९७४)। जटिल मशीनों से सज्जित आधु-निक प्रतिष्ठानों का निर्माण होने के साथ-साथ श्रम-शक्ति को साक्षरता और सामान्यरूपेण संस्कृति की बढ़ती हुई अपेक्षाओं का सामना करना पड़ रहा है। इसलिए शहरी मध्यम संस्तरों के निम्न समूहों की क़ीमत पर औद्योगिक सर्वहारा का आपूरण अधिकाधिक महत्व प्राप्त करता जा रहा है। इस श्रेणी के मज़दूरों में देहात से आप्रवासियों का अनुपात तेज़ी के साथ घट रहा है। देहातियों को अकुशल कामों पर लगाया जाता है और शहरी आबादी के ग़ैर-सर्वहारा अंशकों के बीच रहते हुए वे शहरी ज़िंदगी का आदी होने में एक तरह के प्रशिक्षण से गुज़रते हैं।

भारत के योजना आयोग की एक अनुसंधान टोली द्वारा औद्योगिक

मज़दूरों के सर्वेक्षण से संकलित ग्रांकड़े इस लिहाज़ से लाक्षणिक हैं कि वे ग्रौद्योगिक सर्वहारा के नाभिक का एक चित्र प्रस्तुत करते हैं। २८% की ग्रौसत साक्षरता दर के साथ मज़दूरों की विभिन्न श्रेणियों में काफ़ी सुस्पष्ट ग्रंतर हैं – धातुकर्मियों में साक्षरता दर ४८.७२% है, पटसन उद्योग के मज़दूरों में वह १६.२१%, चाय बाग़ानों के मज़दूरों में १८.७६% ग्रौर खनिकों में मात्र १०.१४% है ('ग्रमृत बाज़ार पत्रिका', कलकत्ता, ३ जनवरी, १९६५)। बंबई के बड़े ग्रौद्योगिक प्रतिष्ठानों के मज़दूरों में किये गये सर्वेक्षण के परिणाम भी दिलचस्प हैं – उत्तरदाताग्रों में से ७३% नियतकालिक पत्र-पत्रिकाएं नियमित रूप से पढ़ते हैं, उनमें से ६०% ग्रख़बार ख़रीदते हैं ग्रौर शेष ग्रपने पड़ोसियों या मित्रों से लेकर पढ़ते हैं। मराठी में ग्रख़बार पढ़नेवाले ७६% हैं, हिंदी में १४% ग्रौर ग्रंग्रेज़ी में ४% हैं ('फ़ाइनेंशियल एक्सप्रेस', बंबई, ५ ग्रक्तूबर, १९६४)। ये ग्रांकड़े साठ के दशक के मध्य के हैं। १९६१ की जनगणना के ग्रनुसार भारत में ग्रौसत साक्षरता दर २४% थी, १९७१ की जनगणना तक वह २९.३% हो चुकी थी। ग्राधुनिक उद्योग में प्रशिक्षित मज़दूरों में साक्षरता सुस्पष्ट रूप में ग्रौसत स्तर से ऊपर थी ग्रौर ग्रधिक तेज़ गति से बढ़ रही थी।

भारतीय समाजशास्त्रियों ग्रौर ग्रर्थशास्त्रियों के प्रेक्षणों के ग्रनुसार बड़े ग्रौद्योगिक नगरों – बंबई, कलकत्ता, ग्रादि – में स्थानीय ग्राबादी के मज़दूरों का ग्रनुपात बढ़ रहा है, जब कि दूसरे जातीय क्षेत्रों से ग्राप्रवासियों की संख्या घट रही है। इसमें मज़दूर वर्ग का देश के समस्त विस्तार में ग्रौपनिवेशिक काल की ग्रपेक्षा ग्रधिक सम वितरण ग्रौर भाषाई राज्यों में राष्ट्रवादी ग्रांदोलन सहायता देते हैं। जहां वृहत्तर बंबई में मराठी को ग्रपनी मातृभाषा बतानेवालों का ग्रनुपात लगातार घट रहा था (१९३१ में वह ५१%, १९५१ में ४४% ग्रौर १९६१ में ४३% था), वहां नगर के ग्रौद्योगिक भागों में वह बढ़ रहा था ग्रौर ८८ से बढ़कर ९४% हो गया था (*Census of India, 1961.* Vol. 1, India. Pt II—C[ii]. Language Tables, Delhi, 1964, p. LXXXVIII)। कलकत्ता में बंगालियों के ग्रनुपात में निरपेक्ष वृद्धि देखने में ग्रायी – १९३१ में वह ५५%, १९५१ में ६६% ग्रौर १९६१ में ६४% था (पूर्वो०, पृ० १४५)। १९३१ ग्रौर १९५१ के बीच तीव्र वृद्धि १९४७ में विभाजन के बाद पूर्वी बंगाल से बंगाली शरणार्थियों के भारी ग्रंतर्वाह

के कारण थी। छोटे औद्योगिक नगरों में स्थानीय आबादी का अनुपात ७५ से ९५% तक है।

स्वतंत्रता के बाद पहले के पिछड़े हुए इलाक़ों में पैदा होनेवाले नये औद्योगिक केंद्रों में दूसरा ही चित्र देखने में आता है। यहां मज़दूर वर्ग और प्राविधिक कर्मियों का चारित्रिक लक्षण उनकी बहुभाषिता है। इन इलाक़ों में स्थानीय कुशल कर्मी थे ही नहीं और देहात में पूंजीवादी संबंधों का विकास धीरे-धीरे ही हो रहा है, जो गांववालों का शहरों को कोई भारी बहिर्वाह नहीं पैदा कर रहा है। "भिलाई इस्पात कारख़ाने में देश के सभी भागों के लोग काम कर रहे हैं," कारख़ाने के सामाजिक जीवन के एक विवेचन में कहा गया है। "राष्ट्रवादी झगड़ों से बचने के लिए यहां नेहरू संस्कृति सदन की स्थापना की गयी, जो अलग-अलग इलाक़ों के लोगों की स्वयं अपने सांस्कृतिक जीवन का रसास्वादन और उपभोग करने के साथ-साथ दूसरे इलाक़ों की संस्कृतियों को जानने और आत्मसात करने की इच्छा पोषित करने में सहायता देने के एक असाधारण प्रयास का परिचायक था। इन समूहों के बीच संसर्ग-संचार की भाषा हिंदी है" ('हिंदू', मद्रास, १३ नवंबर, १९६६)।

औपनिवेशिक भारत के औद्योगिक केंद्रों में बहुभाषाभाषी आबादी के अंतःमिश्रण के परिणामस्वरूप खड़ी बोली के सरलीकृत रूपों का उदय हुआ, जिन्हें बाज़ारी हिंदुस्तानी कहा जाता है। तीस के दशक में लिखित कलकतिया हिंदुस्तानी के अपने सामाजिक-भाषावैज्ञानिक विवेचन में डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी ने लक्षित किया था कि संसर्ग-संचार के अधिकांश क्षेत्रों में बंगाली लोग तक बोलचाल के इस रूप का प्रयोग करते हैं। लेकिन १९७२ में पुनःप्रकाशित अपने लेख 'कलकतिया हिंदुस्तानी' में जोड़ी एक टिप्पणी में वह इस तथ्य को रेखांकित करते हैं कि बंगालियों द्वारा आम हिंदुस्तानी के अस्वीकरण की तो बात ही क्या, अब इस शहर में रहनेवाले अन्य भाषाभाषी समूह बंगला की जानकारी पाने की कोशिश करते हैं (डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी, 'संकलित लेख' [अंग्रेज़ी में], खंड १, नयी दिल्ली, १९७२, पृ० २१४)। बंबई, अहमदाबाद, मद्रास और दूसरे पुराने औद्योगिक केंद्रों में भी बिलकुल ऐसी ही प्रक्रिया देखने में आयी है। मज़दूर वर्ग की और समूचे तौर पर शहरी आबादी की "जड़ें जमना" और इसी प्रकार जनसंचार साधनों के ज़रिये उन पर साहित्यिक भाषा का बढ़ता हुआ प्रभाव दस्तकारों में लंबे समय से अस्तित्वमान व्यावसायिक-सामाजिक

विशिष्ट बोलियों के अपरदन में सहायता देते हैं। इस प्रसंग में लेनिन की अपनी कृति 'रूस में पूंजीवाद का विकास' में एक उक्ति बहुत महत्वपूर्ण है। दस्तकारों द्वारा प्रयुक्त रूसी भाषा की विशिष्ट बोलियों पर, जो उनके क्षेत्रीय अलगाव के कारण पैदा हुई थीं, दृष्टिपात करते हुए लेनिन कहते हैं कि "सिर्फ़ बड़े पैमाने का उद्योग ही सामाजिक संबंधों के स्थानीय स्वरूपों को पूरी तरह से नष्ट करता है और उनकी जगह जातीय (और अंतर्जातीय) संबंधों की स्थापना करता है" (व्ला० इ० लेनिन, 'रूस में पूंजीवाद का विकास', १८९९)।

भारत में इस तरह की विशिष्ट बोली की मिसाल करख़नदारी उर्दू को माना जा सकता है, जो पुरानी दिल्ली में कोई पचास हज़ार परिवारों द्वारा बोली जाती है। ये लोग मुख्यतः दिल्ली के असली बाशिंदे – दस्तकार, फेरीवाले और छोटे दूकानदार – हैं। करख़नदारी उर्दू में पुरानी खड़ी बोली के बहुत से अप्रचलित रूप बरक़रार हैं। करख़नदारी की स्वानिकी, वैयाकरणिक विशेषताएं और शब्दावली उसे साहित्यिक हिंदी अथवा उर्दू से काफ़ी भिन्न बना देती हैं (डॉ० गोकुलचंद्र नारंग, 'देहलवी उर्दू की करख़नदारी बोली' [अंग्रेज़ी में], नयी दिल्ली, १९६१; डॉ० भोलानाथ तिवारी, 'हिंदी भाषा', इलाहाबाद, १९६६, पृ० २४३)। इस लिहाज़ से और अपनी अभिव्यंजनात्मकता तथा सजीवता की दृष्टि से भी करख़नदारी की लंदन की कॉक्नी (लंदन और विशेषकर पूर्वी लंदन की बोली, जो उच्चारण, मुहावरे और अभिव्यंजना में सामान्य अंग्रेज़ी से बहुत भिन्न है – अनु०) से तुलना की जा सकती है और उसे एक विशिष्ट सामाजिक वर्ग की बोलचाल के मध्य युग से चले आ रहे रूप के नाते दिल्ली की कार्यतः अवनत शहरी कोइने* माना जाना ठीक ही होगा। अनेक बोलियां बोलनेवाली आबादी का अंतर्वाह, साक्षरता का प्रसार, साहित्यिक हिंदी का प्रचार और करख़नदारों की पहले की अनन्यता का नष्ट हो जाना – ये सभी कारक इस बोली के धीरे-धीरे विलुप्त हो जाने में योग दे रहे हैं।

'पार्टी की भाषा जनता की भाषा है' शीर्षक परिचर्चा में भाग लेनेवालों में से एक के अनुसार "भाषा एक जातीय परिघटना है। भाषा के

---

* किसी अंचल की भाषा अथवा बोली, जो किसी बड़े इलाक़े की आम अथवा मानक भाषा का रूप ले लेती है। यह शब्द प्राचीन यूनानी के कोईनी शब्द से बना है, जिसका अर्थ है आम अथवा सामान्य।

ढांचे के भीतर प्रत्येक वर्ग अपनी संकल्पनाओं और, फलतः, अपनी शब्दावली को प्रचलन में लाता है। मज़दूर वर्ग की जातीय भूमिका भाषा में भी प्रतिबिंबित होती है। मज़दूर वर्ग को जातीय भाषा के समस्त वैभव, अभिव्यंजना के साधनों और विशेषताओं को सुरक्षित रखना चाहिए और साथ ही उसे समृद्ध और परिष्कृत भी करना चाहिए। यहां असली बात यह है कि अग्रदर्शी लोगों द्वारा पहले ही आत्मसात की जा चुकी और विकसित की जा रही संस्कृत भाषा को बहुसंख्या की भाषा बना देना और साथ ही उसके समस्त वैभव को भी बनाये रखना चाहिए" ('वर्ल्ड मार्क्सिस्ट रिव्यू', अंक १२, १९६०, पृ० ५३)। भारत की अवस्थाओं में इसका आशय यह है कि विभिन्न जातीय प्रदेशों के मज़दूर वर्ग से न केवल सांस्कृतिक क्रांति में सक्रिय रूप से भाग लेने का ही, बल्कि भारतीय साहित्यिक भाषाओं के लौकिकीकरण, उनके सामाजिक आधार के प्रसार और उन्हें वस्तुतः जातिव्यापी स्वरूप प्रदान करने के मामलों में भी वर्गीय नज़रिये से पेश आने का तक़ाज़ा किया जाता है।

इन समस्याओं के समाधान का वस्तुपरक आधार, लेनिन के शब्दों में, इस बात में निहित है कि मज़दूर जातीय लिहाज़ से एक वर्ग के रूप में गठित होते हैं और जातीय समेकन की प्रक्रिया सर्वहारा को उठाकर एक जातीय वर्ग के स्तर पर पहुंचा देती है। साथ ही सर्वहारा की विचारधारा और संघर्ष अंतर्राष्ट्रीय हैं। यह तथ्य भारत के मज़दूर वर्ग के लिए विशेषकर महत्व रखता है, जो बुर्जुआ राष्ट्रवाद तथा जातीय अनन्यता और दूसरी भाषाएं बोलनेवालों के प्रति वैरभाव के विचारों के प्रचार के प्रबल प्रभाव में है। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की दस्तावेज़ों में और उसके नेताओं के वक्तव्यों में बुर्जुआ राष्ट्रवाद के ख़तरे को क़ायलकारी ढंग से प्रकाश में लाया जाता है। भारतीय सर्वहारा का राष्ट्रवादी भावनाओं से छुटकारा पाना अत्यावश्यक है, क्योंकि मज़दूर वर्ग और उसकी पार्टी को ही आगे चलकर जातीय समस्याओं को सुसंगत जनतांत्रिकता और सर्वहारा की अंतर्राष्ट्रीय एकजुटता के आधार पर हल करने के कार्यभार को ग्रहण करना होगा।

कुछ निष्कर्ष

किसी निर्माणाधीन जाति में सामान्य आर्थिक जीवन और भाषाई एकता की बंधुता भारत में जातीय संबंधों के उद्विकास के बारे में महत्वपूर्ण

नियमसंगतियों को उद्घाटित करती है। समकालीन भारत में पूंजीवाद के तहत जातीय विकास में दो प्रवृत्तियों के साथ-साथ पाये जाने के ऐतिहासिक कारण हैं। जातीय प्रदेशों में से प्रत्येक में आर्थिक सूत्रों की स्थापना जातीय जीवन के औौर्जस्वीकरण और जातीय समेकन-प्रक्रिया के त्वरण की तरफ़ ले जाती है। इसी के साथ-साथ देशव्यापी पैमाने पर सामाजिक-आर्थिक स्वरूप की एकीकारी प्रक्रियाएं जातीय सीमाओं के विघटन तथा जातीय अलगाव के अंत और भारतीय जातियों में से प्रत्येक में अखिल भारतीय तथा अंतर्राष्ट्रीय लक्षणों के अभिपोषण के लिए पूर्वापेक्षाओं का निर्माण करती हैं। जातीय विकास में दो प्रवृत्तियों की समकालिकता दोनों के बीच सामंजस्यपूर्ण अंत:क्रिया की द्योतक नहीं है। सामाजिक-आर्थिक विकास में असमताओं और इस विकास के निर्देशन के बुर्जुआ वर्ग के हाथों में रहने के परिणामस्वरूप राज्यों में राष्ट्रवादी भावनाओं और जातीय-भाषाई विवादों में काफ़ी वृद्धि आयी है। भारत में दूसरी जातियों को अपने प्रभुत्व के अधीन रखने में समर्थ कोई जाति नहीं है, इसलिए देश में जातीय विवाद बहुध्रुवीय होते हैं और राज्यों के बीच टकरावों और एक-दूसरे के ख़िलाफ़ दावों का रूप लेते हैं। कुछ राज्यों के भीतर देशज आबादी के राजनीतिक दृष्टि से सक्रिय समूहों और जातीय अल्पसंख्यकों के बीच तनावपूर्ण संबंध पैदा हो गये हैं। भारतीय राजनेताओं और राजनीतिक कार्यकर्ताओं की मान्यता है कि राज्यों में बुर्जुआ तथा शहरी मध्यम संस्तरों में राष्ट्रवादी और अंधराष्ट्रवादी भावनाएं देश की एकता के लिए ख़तरनाक हैं।

कितने ही राज्यों के विभिन्न अंचलों का विकास असमान गति से हुआ है। विकास में इन असमताओं का और इसी प्रकार इस तरह के अंचलों का पहले भिन्न प्रशासनिक तथा राजनीतिक इकाइयों (प्रांतों और देशी रियासतों) में होना और अभी तक उनके बीच स्थिर आर्थिक संबंधों का अभाव छद्म-जातीय नारों के नीचे आंचलिक भावनाओं और आंदोलनों को जन्म देते हैं। सामान्य आर्थिक जीवन का गठन न सिर्फ़ सारी आबादी को विनिमय और संसर्ग में खींचकर संजातीय प्रदेश के एकीकरण को सुदृढ़ और गहनतर ही करता है, बल्कि साहित्यिक भाषा का संवर्धन करके और बोलियों को बाहर धकेलकर और अपरदित करके जातीय भाषा-व्यवस्था पर प्रत्यक्ष प्रभाव भी डालता है।

आर्थिक संबंधों का विकास नगरों के त्वरित वर्धन और देहात की ज़िंदगी को शासित करनेवाले आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक

केंद्रों के निर्माण की तरफ़ ले जाता है। इस तरह के नगरों की बोलियों-परि ज़बान, जो नियमत: कुछ "परिष्करण" से होकर गुज़रती है, साहित्यिक भाषा का एक क्षेत्रीय मानक बन जाती है। भारत के कुछ राज्यों – तमिलनाडू, केरल, महाराष्ट्र, गुजरात, ओड़िसा और पश्चिम बंगाल – में उनकी राजधानियां स्थापित और स्वीकृत जातीय केंद्र हैं। दूसरे राज्यों – असम, आंध्र, पंजाब, राजस्थान और हिंदीभाषी राज्यों – में बहु-केंद्रता, अर्थात अनेक सुस्पष्ट प्रशासनिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा संजातीय-सांस्कृतिक केंद्रों की मौजूदगी देखने में आती है। और आख़िरी बात यह कि सामाजिक तथा आर्थिक दृष्टि से पिछड़ी हुई जातियों के संजातीय प्रदेशों में अल्पविकसित आर्थिक संबंधों ने संजातीय केंद्रों की स्थापना के लिए अवस्थाओं का अभी तक निर्माण नहीं किया है। इसके अनुरूप उनकी भाषाएं अभी जाति-पूर्व स्तर पर ही बनी हुई हैं।

स्वातंत्र्योत्तर वर्षों में भारतीय समाज के रूपांतरण, श्रेणियों और जात-पांत पर आधारित समाज से वर्गों पर आधारित समाज में संक्रमण की गति में तेज़ी आयी है, मगर यह प्रक्रिया अभी पूरी होने से बहुत दूर है। यह प्रक्रिया मुख्यत: भाषाई राज्यों के स्तर पर समाज के शोषक अंशकों के शासक संभ्रांतवर्गों के निर्माण के रूप में विकसित हो रही है। भारत में इन संभ्रांतवर्गों को ब्रिटिश काल में निर्मित अधिसंभ्रांतवर्ग से विभेदित करने के लिए आम तौर पर प्रादेशिक संभ्रांतवर्ग कहा जाता है। भारत की जातीय भाषाओं के विकास और उनके सामाजिक कृत्यों के प्रसार को मौजूदा मंज़िल में शहरी मध्यम संस्तरों के समर्थन से, जिनके पीछे-पीछे ग्रामीण उच्च संस्तर चलते हैं, मुख्यत: प्रादेशिक संभ्रांतवर्ग सुकर बना रहे हैं। ग्रामीण आबादी का अधिकांश इसमें निष्क्रिय ही है। जातीय नेतृत्व और भारतीय शिक्षा-प्रणाली का संभ्रांतवर्गीय स्वरूप इस तथ्य को पूर्व-निर्धारित करता है कि इस समय भारतीय साहित्यिक भाषाओं का सामाजिक आधार अपेक्षाकृत संकीर्ण है और शहरी मध्यम संस्तरों की ओर अभिमुख है, जिनके लिए भाषा-विभाजन लाक्षणिक है। ये परिस्थितियां, जिन्हें राष्ट्र-वादी भावनाओं और पारंपरिक जातपांतीय तथा सांप्रदायिक संभ्रांतों की सरगरमी ने और उलझा दिया है, उन शुद्धतावादी प्रवृत्तियों का कारण हैं, जो हाल के समय में अनेक भारतीय भाषाओं के विकास को शासित करती रही हैं।

भारतीय साहित्यिक भाषाओं के लौकिकीकरण की तात्कालिक आव-

श्यकता, उनका बोलचाल की भाषा के निकट ग्राना ग्रौर उनके सामाजिक ग्राधार का प्रसार – ये सभी कार्य भारतीय ग्रौद्योगिक सर्वहारा की संख्या-वृद्धि के साथ, जातीय समूहों ग्रौर भाषाग्रों के बीच संबंधों में उसकी सक्रिय भूमिका, राष्ट्रवाद ग्रौर ग्रंधराष्ट्रवाद के विरुद्ध संघर्ष, सर्वहारा की ग्रंतर्राष्ट्रीय एकजुटता के साथ, ग्रौर जातीय समस्याग्रों के सुसंगत जनतांत्रिक समाधान के लिए उसकी कार्रवाइयों के साथ जुड़े हुए हैं।

एक संजातीय प्रदेश के भीतर भाषाई बंधुता की सामान्य ग्रार्थिक जीवन के साथ ग्रंत:क्रिया जातीय समेकन के लिए बहुत महत्व रखती है, तथापि वह इस प्रक्रिया का संपूर्ण ग्रंतर्य नहीं है। लेनिन ने कहा है: "ग्रार्थिक विकास का ग्रनियमित स्वरूप, उत्पादन विधियों का तीव्र रूपांतरण ग्रौर उत्पादन का ज़बरदस्त संकेंद्रण, संबंधों में व्यक्तिगत निर्भरता ग्रौर पितृसत्ता के सभी रूपों का विलोपन, ग्राबादी की गतिशीलता, बड़े ग्रौद्योगिक केंद्रों का प्रभाव, ग्रादि – यह सब उत्पादकों के स्वरूप में ही गहन परिवर्तन की तरफ़ ले जाये बिना नहीं रह सकता" (व्ला० इ० लेनिन, 'रूस में पूंजीवाद का विकास', १८९९)।

जातियों का निर्माण ग्रौर समेकन निस्संदेह सामाजिक-ग्रार्थिक ग्रवस्थाग्रों पर निर्भर एक वस्तुपरक प्रक्रिया है। ग्रलबत्ता वह व्यक्तियों ग्रौर सामाजिक समूहों के कार्यकलाप के ज़रिये ही फलीभूत होती है। जातीय समूहों ग्रौर भाषाग्रों के बीच संबंधों पर इस कार्यकलाप के प्रभाव के स्वरूप को समझने के लिए ग्राबादी के ग्रात्मिक स्वरूप, उसकी जातीय ग्रात्मचेतना के निर्माण में विभिन्न कारकों की भूमिका का निर्धारण करना ग्रावश्यक है।

अध्याय ४

जाति का आत्मिक स्वरूप और सामान्य भाषा

> व्याकरण और भाषाशास्त्र के मुक़ाबले में भाषा ख़ुद कहीं बड़ी चीज़ है। यह एक जाति और संस्कृति की प्रतिभा की कवित्वमय विरासत है और जिन विचारों और कल्पनाओं ने उन्हें ढाला है, उनका जीता-जागता रूप है।
>
> **जवाहरलाल नेहरू**

"जाति के आत्मिक स्वरूप" की संकल्पना

हमारे विचार में जाति के आत्मिक स्वरूप, जातीय चरित्र और जातीय आत्मचेतना के विवेचन में प्रारंभ-बिंदु इन परिघटनाओं की वस्तुपरक वास्तविकता को स्वीकार करना है। मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन ने इन समस्याओं की तरफ़ बहुत ध्यान दिया है और उनके इतिहासिकतः प्रति-बंधित स्वरूप को बारंबार रेखांकित किया है। जाति के आत्मिक स्वरूप की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को समझने का मतलब यह है कि इस परिघटना को कोई जड़ीभूत और अपरिवर्तनीय चीज़ नहीं माना जा सकता। अपने अस्तित्व के किसी नियत चरण में जाति का आत्मिक स्वरूप उसके ऐति-हासिक विकास का परिणाम होता है। जातियां पहले अस्तित्वमान बंधु-ताओं – क़बीलों अथवा जनों और जातीय सभूहों – के आधार पर उदित होती हैं और जाति, क़ुदरती तौर पर, पूर्ववर्ती बंधुताओं के काफ़ी-कुछ को, बदली हुई शक्ल में और नयी गुणात्मकता में, ग्रहण करती है। यह बात प्रदेश पर लागू होती है, मगर सामंती सीमांतों से विखंडित प्रदेश पर नहीं, वरन राज्य अथवा प्रशासनिक तथा राजनीतिक इकाई के ढांचे के भीतर एकीकृत प्रदेश पर, जिसके सभी अंचल आर्थिक संबंधों की एक ही प्रणाली के अधीन होते हैं। इसी प्रकार यह बात भाषा-व्यवस्था पर

भी लागू होती है, जिसमें मुख्य भूमिका जातीय साहित्यिक भाषा की होती है।

अगर शुरुआत जाति के जीवन के सामाजिक-मनोवैज्ञानिक पहलुओं के वस्तुपरक स्वरूप की मान्यता, उनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और विकास करने की क्षमता से की जाये, तो अनिवार्यतः यह निष्कर्ष निकालना होगा कि उनके आंतरिक अंतर्विरोध, प्रत्यक्षतः, उनके आत्मविकास का स्रोत हैं। उदाहरण के लिए, यह सिद्ध हो चुका है कि जातीय चरित्र के कुछ लक्षण दो भिन्न घटक समूहों के प्रभाव के अधीन उत्पन्न होते हैं, जिनमें से पहला "कितने ही नैसर्गिक तथा जैविक कारकों के समुच्चय से निर्मित होता है और दूसरा संबद्ध प्रदेश के भीतर सामाजिक विकास (सभी क्षेत्रों में) की एक लंबी ऐतिहासिक अवधि के दौरान संचित और सांतत्य में अंतरित कारकों के साकल्य द्वारा प्रतिनिधित होता है" (स० इ० कोरोल्योव, 'विदेशी लेखकों की कृतियों में संजातिमनोविज्ञान के प्रश्न [एशियाई देशों की सामग्री के आधार पर]' [रूसी में], मास्को, १६७०, पृ० ८)। पारिस्थितिक कारकों का सामाजिक-संजातीय तथा ऐतिहासिक कारकों की अपेक्षा अधिक सीमा तक प्रेक्षण किया जा सकता है। लेकिन सिर्फ़ पारिस्थितिक कारकों की ओर ही अनन्य ध्यान दिये जाने का परिणाम एकाधिक बार नसलवादी "सिद्धांतों" का उदय और किसी संजातीय समुदाय के विकसित होने और उसके जाति में परिणत होने में दूसरे कारकों के बढ़ते महत्व को स्पष्टतः न देख पाना रहा है। वस्तुतः, जब मनुष्य ने आद्य यूथ के स्तर पर सामाजिक संबंधों में प्रवेश किया था, तब उसकी मानसिकता के विकास में निर्णायक भूमिका पारिस्थितिक कारक ही अदा करता था। मनुष्य के विकसित होते जाने के साथ-साथ यह कारक अपनी स्थिरता और अपने प्रभावों की दीर्घकालिकता के बावजूद धीरे-धीरे पृष्ठभूमि में जाता गया और उसका स्थान सामाजिक-ऐतिहासिक कारक लेते गये।

ज्ञात है कि मानवजाति का विकास एक ही प्रक्रिया के ढांचे के भीतर होता है। मानवजाति के संरचक विभिन्न सामाजिक-संजातीय समुदाय विकास की समान अवस्थाओं से होकर गुज़रते हैं और समान सामाजिक-आर्थिक विरचनाओं में परिवर्तनों को अनुभव करते हैं। मानवजाति के विकास की एकल प्रक्रिया में प्रत्येक सामाजिक-संजातीय समूह के आत्मिक स्वरूप में सामान्य मानव लक्षणों का उदय हुए बिना नहीं रह सकता था। पूंजीवाद के अंतर्गत जातीय विकास की पहली प्रवृत्ति (जातीय जीवन का जागरण

और जातीय आंदोलन) की क्रियाशीलता की अवधि में निर्माणाधीन जाति के अंतरजातीय लक्षणों पर अकसर जातीय वैशिष्ट्य अभिभावी रहता है, जिसे बुर्जुआ विचारधारानिरूपक विशेषकर बहुत महत्व दिया करते हैं। जाति में सर्वमानवीय तत्व, अंतर्राष्ट्रीयत्व दूसरी प्रवृत्ति के विकसित होते जाने के साथ-साथ अपने आपको अधिकाधिक अनुभूत करता जाता है, जब "पुराने स्थानीय और जातीय अलगाव और स्वावलंबन का स्थान सर्वतोमुखी संसर्ग और जातियों की सर्वतोमुखी अन्योन्याश्रितता ले लेते हैं। यह बात जैसे भौतिक, वैसे ही बौद्धिक उत्पादन पर समान रूप से लागू होती है" (का० मार्क्स, फ़े० एंगेल्स, 'कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र', १८४८)।

यह प्रक्रिया सबसे सुसंगत रूप से समाजवाद के तहत विकसित होती है। लेनिन ने लिखा है: "राष्ट्रीय सीमाओं को तोड़े बिना पूंजीवाद से समाजवाद में नहीं संक्रमण किया जा सकता, जिस तरह राष्ट्रीय विचारों के बिना सामंतवाद से पूंजीवाद में भी नहीं संक्रमण किया जा सकता था" (व्ला० इ० लेनिन, ''सर्वहारा और युद्ध' विषयक निबंध', १९१४)। लेनिन ने इस विचार को बारंबार व्यक्त किया है। उदाहरण के लिए, 'जातीय प्रश्न के बारे में स्थापनाएं' में वह लिखते हैं: "मानवजाति का सारा आर्थिक, राजनीतिक और आत्मिक जीवन पूंजीवाद के अंतर्गत ही अधिकाधिक अंतर्राष्ट्रीय होता जा रहा है। समाजवाद उसे पूर्णतः अंतर्राष्ट्रीय बना देगा" (व्ला० इ० लेनिन, 'जातीय प्रश्न के बारे में स्थापनाएं', १९१३)।

जहां समूचे तौर पर मानवजाति एक ही दिशा में अपना विकास करती है, वहां प्रत्येक संजातीय समुदाय भिन्न-भिन्न ऐतिहासिक अवस्थाओं में, भिन्न-भिन्न समय में अपनी ही गति से अपना विकास करता है, अपने इतिहास का निर्माण करता है और उसके दौरान अपने विशिष्ट जातीय स्वरूप को विकसित करता है, जिसे पारिस्थितिक, सामाजिक-ऐतिहासिक कारकों और इसी प्रकार सर्वमानवीय, अंतर्राष्ट्रीय और विशिष्टतः जातीय लक्षणों का समुच्चय माना जा सकता है। "मानव विचारणा की एकात्मता और उसकी सामाजिक-ऐतिहासिक (किंतु संजातीय नहीं) निर्भरता के बारे में प्रस्थापना विज्ञानतः प्रमाणित हो चुकी है और यह सिद्ध किया जा चुका है कि वास्तविकता के अवबोधन में जातीय विशिष्टता अपने आपको इतना प्रतिबिंब (अर्थात अंतर्य) में नहीं, जितना अभिव्यक्ति में

प्रकट करती है। अंतोक्त फिर प्रत्येक जाति के निर्माण के ऐतिहासिक, भौगोलिक, संजातीय और राजनीतिक कारकों सहित विशिष्ट ऐतिहासिक कारकों से जुड़ी हुई है" ('पूर्व के साहित्यों में अंतर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय' [रूसी में], मास्को, १९७२, पृ० २४)। दूसरे शब्दों में, मानव-विचारणा के विकास की एक ही दिशा प्रत्येक संजाति-समूह (एथनोस) के आत्मिक स्वरूप में वस्तुपरक रूप से सर्वमानवीय तथा अंतर्राष्ट्रीय लक्षणों को समाविष्ट करती है। संबद्ध लोगों के अस्तित्व की बाह्य अवस्थाओं और उनके जाति के रूप में गठित होने के समय तक के इतिहास का अनूठापन भी इतने ही वस्तुपरक रूप से उनके आत्मिक स्वरूप में विशिष्ट लक्षण जोड़ देता है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, वह विचाराधीन परिघटना के द्वंद्वात्मक अंतर्विरोधों के विवेचन को समाप्त नहीं कर देता। सामंतवाद से पूंजीवाद में संक्रमणकाल में निर्मित जाति न केवल संजातीय, वरन सामाजिक संघटना भी होती है। फलतः, उसके आत्मिक स्वरूप में सामाजिक प्रश्न सबसे महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। जर्मन कूपमंडूकता की बात करते हुए एंगेल्स ने लक्षित किया था कि उसकी मानसिकता "इतनी सशक्त थी कि उसने तब तक जर्मन समाज के अन्य सभी वर्गों पर न्यूनाधिक सामान्य जर्मन प्ररूप होने की अपनी छाप लगा रखी थी, जब तक अंत में हमारा मज़दूर वर्ग इन संकीर्ण सीमाओं को तोड़कर निकल नहीं आया" (फ़्रे० एंगेल्स का पॉल एर्न्स्ट को पत्र, १८९०)। ब्रिटिश जातीय चरित्र के गठन में मज़दूर वर्ग की भूमिका के बारे में लिखते हुए एंगेल्स लक्षित करते हैं कि सिर्फ़ मज़दूर और मालिक के विसंबंधन के बाद जाकर ही ब्रिटिश मज़दूर "अपने हितों को समझने और स्वतंत्र रूप से विकसित होने लगा; सिर्फ़ तब जाकर ही अपने विचारों, भावनाओं और अपनी इच्छा की अभिव्यक्ति में उसने बुर्जुआ वर्ग का दास बने रहना बंद किया" (फ़्रे० एंगेल्स, 'इंगलैंड में मज़दूर वर्ग की दशा', १८४४–१८४५)।

किसी जाति के बनने के दौर में इस प्रक्रिया की अगुआ शक्ति और प्रधान वर्ग के नाते बुर्जुआ वर्ग (बिलकुल आरंभ से ही सिर्फ़ स्वयं अपने हितों की ख़ातिर) एक जातीय विचार प्रस्तुत करता है और "जातीय आचरण" का अपना रूढ़प्ररूप स्थापित करता है। वह जातीय मूल्यों और लक्ष्यों को निर्धारित करता है, उन्हें सारे समाज पर थोपता है और इसमें तब तक सफल रहता है कि जब तक मज़दूर वर्ग "अपने तईं" वर्ग नहीं

बन जाता। प्रधान वर्ग अथवा समाज का अभिभावी विशेषाधिकारभोगी अंशक लंबे समय तक वह मिसाल पेश करता है, जिसका निर्माणाधीन जाति के अन्य वर्ग अनुकरण करने का प्रयास करते हैं। इसी के आधार पर पड़ोसी लोग सारी ही जाति को आंकते हैं और इस तरह से तथाकथित जातीय रूढ़प्ररूपों को पैदा करते हैं, जो सामान्यतया मिथ्या होते हैं, क्योंकि वे समस्त समाज नहीं, बल्कि उसके एक ही, अधिकांशतः उच्च संस्तर के बिंब को ही प्रतिबिंबित करते हैं।

भारत में, प्रकटतः अधिकांश अन्य बहुजातीय देशों की ही भांति, विभिन्न जातीय समुदायों के रूढ़प्ररूप ख़ासे व्यापक रूप में पाये जाते हैं, जो प्रत्येक समूह के लिए लाक्षणिक प्रतीत होनेवाले अनेक गुणों में से एक को एक तरह से अतिरंजित करके प्रस्तुत करते हैं। "बनिये (अर्थात गुजराती – ले०) जन्मजात व्यापारियों के नाते प्रसिद्ध हैं, गोवाई पैदाइशी रसोइये, तो मारवाड़ी बेरहम सूदख़ोर होते हैं" ('इंडियन एक्सप्रेस', १२ अप्रैल, १९७०)। गोवावालों के बारे में यह भी कहा जाता है कि वे अच्छे संगीतज्ञ होते हैं। बंबई के एक पत्रकार के अनुसार तेलुगू और मलयाली लोगों की विशेषता उनका व्यक्तिवाद है, अलबत्ता मलयाली बहुत गतिशील और उद्यमी भी होते हैं। इसके विपरीत, उत्तर भारतवाले समूहवादी होते हैं और अपने समुदाय के भीतर ही रहना और अपनी समस्याओं को हल करना चाहते हैं ('फ़्री प्रेस जरनल', बंबई, १६ नवंबर और १३ दिसंबर, १९६६)। मराठों को लड़ाकू और आक्रामक माना जाता है, डोगरों को भारतीय सेना की शान, तो बंगलियों को बुद्धिविलास और व्यक्तिवाद की ओर प्रवृत्त, किंतु व्यवसाय चातुर्य से रहित समझा जाता है, आदि-आदि। कहना अनावश्यक है कि रूढ़प्ररूपों के उपरोक्त उदाहरण सिर्फ़ कुछेक जात-बिरादरियों अथवा कुछ ख़ास सामाजिक संस्तरों को ही, न कि किसी पूरी जाति को इंगित करते हैं और किसी विचाराधीन भारतीय जाति की वास्तविक छवि को किसी भी सूरत में पर्याप्ततः प्रतिबिंबित नहीं करते।

जाति के विकसित होते जाने और उसके भीतर पूंजीवादी संबंधों के परिपक्व होते जाने के साथ-साथ, श्रम और पूंजी के बीच अंतर्विरोधों के बढ़ने के साथ-साथ सर्वहारा एक स्वतंत्र वर्गीय शक्ति, एक राजनीतिक, सामाजिक और उसके अनुरूप जातीय शक्ति, जातीय चरित्र के प्रगतिशील लक्षणों का वाहक, अतीत से प्राप्त सबसे अच्छी और सबसे मूल्यवान सभी

बातों को आत्मसात करते हुए स्वयं अपने आत्मिक स्वरूप और संस्कृति का सर्जक बनता जाता है। लेनिन ने पूंजीवाद की अवस्थाओं के अंतर्गत एक ही जाति के भीतर दो संस्कृतियों के होने की बात करते हुए स्वयं "जाति के आत्मिक स्वरूप" के संवर्ग की अंतर्विरोधी प्रकृति, उसके भीतर नूतन तथा पुरातन, प्रगतिशील तथा प्रतिगामी के सतत संघर्ष और सहअस्तित्व पर ज़ोर देते हुए कहा था कि इस संघर्ष के ध्रुवों पर एकदम निश्चित शक्तियां स्थित होती हैं, जो एक-दूसरी की कट्टर विरोधी होती हैं, मगर साथ ही एक ही जाति के ढांचे के भीतर ऐक्यबद्ध होती हैं। यू० इ० सूरोवत्सेव लिखते हैं: "जातीय चरित्र का स्वरूप (वर्ग-समाज में) इस तथ्य से निर्धारित होता है कि विरोधी सामाजिक शक्तियां अपने नैतिक तथा मनोवैज्ञानिक लक्षणों का जातिव्यापी सीमाओं तक 'प्रसार' करने का प्रयास करती हैं... 'सामाजिक समूह' मानसिकता का जातिव्यापी सीमाओं तक प्रसार तब होता है, जब कोई नियत 'समूह' (वास्तव में, न कि सिर्फ़ अपनी कल्पना में ही) सर्वजातीय शक्ति के रूप में क्रियाशील होता है" ('पूर्व के साहित्यों में अंतर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय', पृ० ३८–३९)।

जातीय मनोवृत्ति सामाजिक मनोवृत्ति का अंग होती है, यद्यपि पूर्वोक्त विचारणा, सृजनात्मक कार्य, सामाजिक अनुक्रिया और आत्मिक मूल्यों की संजाति-समूह द्वारा अनुबद्ध और जाति के सभी वर्गों तथा सामाजिक संस्तरों के लिए **सामान्य** कुछ विशेषताओं को प्रतिबिंबित करती है, जब कि अंतोक्त में संबद्ध जाति के **अलग-अलग** वर्गों और सामाजिक समूहों के आचरण के रूढ़प्ररूपों की अन्योन्यक्रिया समाविष्ट होती है। यहां विरोधाभास शुद्धतः बाह्य है, क्योंकि सामाजिक मनोवृत्ति समस्त सामाजिक चेतना से संबद्ध होती है, जब कि जातीय मनोवृत्ति सिर्फ़ उसके संजातीय अथवा संजाति-रंजित हिस्से से ही संबंध रखती है।

अंत में जाति के आत्मिक स्वरूप में अंतर्विरोध के एक और स्रोत की तरफ़ भी ध्यान दिया जाना चाहिए। लगभग हर ही जाति के निर्माण के दौरान इतना मूलतः संजातीय अभिलक्षणों का विकास नहीं होता है कि जितना विभिन्न संजातीय शाखाओं का अंतःमिश्रण, अन्योन्यक्रिया तथा संकरण होता है, जिसकी स्मृति दीर्घकाल तक बनी रह सकती है, विशेषकर ऐसे समूहों में, जिनका मूल तो भिन्न है, किंतु जो किसी विक-सित जाति में लंबे समय से आत्मसात हो चुके हैं। इस स्मृति में बोलीगत

रूपभेदों का होना, मसलन बोलियों में सामान्य संबंधों के प्राचीन रूपों और सामान्य उद्गम के – चाहे वह कितना भी कल्पित अथवा पौराणिक क्यों न हो – लक्षणों का बने रहना सहायक हो सकता है। सामान्य भाषा, प्रदेश और आर्थिक जीवन के अंतर्गत ये अंतर उपजातीय समूहों की चेतना और मानसिकता में ही रहते हैं और इस प्रकार इन परिघटनाओं की स्थिरता और सापेक्ष स्वतंत्रता को रेखांकित करते हैं।

इस प्रकार, जाति का आत्मिक स्वरूप एक वस्तुपरक, इतिहासतः परिवर्तनशील, आंतरिक रूप से परस्परविरोधी और सापेक्षतया स्वतंत्र परिघटना है। इन अभिलक्षणों को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि जाति का आत्मिक स्वरूप किसी क़ौम के परंपराओं, रीति-रिवाजों, आदतों, रुचियों, यथार्थ के अवबोधन तथा अभिव्यंजना के रूपों में, उसकी भावात्मक अनुक्रियाओं और मूल्याभिमुखताओं की विशिष्टता में उसके संज्ञानात्मक और ऐतिहासिक अनुभव का काम और विनिमय की और इसी प्रकार संसर्ग और पर्यावरण के प्रभाव की प्रक्रिया में प्राप्त घनीभूत रूप है।

संस्कृति की जातीय विनिर्दिष्टता और भाषा

किसी जाति के आत्मिक स्वरूप को उसकी अभिव्यक्तियों की बहुलता विभेदित करती है। प्रकटतः, श्रमसाध्य विश्लेषण किसी जाति के जीवन के शब्दशः सभी पहलुओं में इन अभिव्यक्तियों को उद्घाटित कर सकता है, लेकिन हमारे इस विवेचन के प्रयोजनों के लिए संस्कृति की संजातीय तथा जातीय विनिर्दिष्टता तथा जातीय आत्मचेतना का विशेष महत्व है। स्वयं संस्कृति में दो घटकों को अलग किया जा सकता है – उत्पादन-विधि के साथ सबसे घनिष्ठतः जुड़ी हुई भौतिक संस्कृति और आत्मिक संस्कृति। भौतिक संस्कृति के विशिष्ट लक्षणों की परीक्षा इस विवेचन की परिधि के बाहर है। अलावा इसके, "इस समय, वैज्ञानिक-प्रौद्योगिक क्रांति की अवस्थाओं में, बड़े पैमाने के औद्योगिक उत्पादन के प्रसार के परिणामस्वरूप, इन राष्ट्रों (अर्थात औद्योगिक दृष्टि से विकसित देशों – ले०) की संजातीय विनिर्दिष्टता भौतिक संस्कृति के क्षेत्र से आत्मिक जीवन के क्षेत्र की ओर अधिकाधिक जाती जा रही है" (यू० ब्रोमलेय, 'समकालीन चरण में संजातिवृत्त' शीर्षक लेख [रूसी में], 'कम्मुनीस्त', १९७४, अंक १६)। भारत में भी ऐसी ही प्रक्रिया देखी जा सकती है।

पुराने ज़माने में भारतीय उपभोक्ता बाज़ार की लाक्षणिकता मांग की अत्यधिक नानारूपता थी। पृथक स्थानीय संवृत बाज़ारों के दीर्घकालिक अस्तित्व और वेशभूषा, बरतन-भांडों और ज़ेवरों के बारे में प्राचीन जात-पांतीय, सांप्रदायिक और स्थानीय रूढ़ियों ने इन चीज़ों के रूपों में असीम विविधता पैदा कर दी थी, जिसे पारंपरिक लघु-पण्य अर्थव्यवस्था और धार्मिक रीति-रिवाज, दोनों ही पुष्ट करते थे। लेकिन आधुनिक भारतीय यंत्रीकृत उद्योग उपभोक्ता मांगों का अधिकाधिक मानकीकरण करता जा रहा है। भारत के बारे में अनेक पुस्तकों की लेखिका ताया ज़िनकिन ने लंबे अंतराल के बाद १९६९ में दिल्ली फिर जाने के बाद स्त्री-सुलभ सूक्ष्मदृष्टि से लक्षित किया: "गांवों में साड़ी ही अब भी मुख्य पहनावा है, मगर पारंपरिक प्रादेशिक ढंग की होने के बजाय साड़ियां अब एक-से भयानक रंगों के नाइलान की ही अधिकाधिक बनायी जा रही हैं और चोलियां भी एक ही कारख़ाने की नाइलान-ज़री की बनी लगती हैं, चाहे यह कारख़ाना केरल में हो अथवा बड़ौदा में" ('स्टेट्समैन', २९ जनवरी, १९७०)। एक और प्रेक्षक का कहना है: "अपनी रुचियों और आदतों में बंगाली लोग आम तौर पर अपनी संकीर्ण प्रादेशिक सीमाओं के भीतर ही रहते हैं। फिर भी अपनी स्त्रियों के रेशमी कांजीवरम साड़ियों के पहनने को बंगाली पुरुष अब अनदेखा कर देखता है। सच तो यह है कि इन साड़ियों का फ़ैशन इतना व्यापक हो गया है कि अब उत्तर की स्त्रियों का दक्षिण की स्त्रियों से विभेद नहीं किया जा सकता" ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', १२ जुलाई, १९७०)।

यंत्रीकृत उद्योग और अखिल भारतीय बाज़ार की बदौलत भौतिक उत्पादन अधिकाधिक मानकीकृत होता जा रहा है, जो एकीकारी प्रक्रियाओं को सुकर बनाता है। किंतु आत्मिक मूल्यों, आत्मिक संस्कृति के सर्जन में स्वतंत्र भारत के विभिन्न क्षेत्रों में – बढ़ते पारस्परिक प्रभाव को ध्यान में रखते हुए भी – अपने अनूठेपन, अपनी विलक्षणता और अकसर अपनी "अनन्यता" की प्रवृत्ति देखने में आती है, जो भाषाई राज्यों में बुर्जुआ राष्ट्रवाद को पोषित करती है। "आत्मिक संस्कृति अपने में किसी भी मानव समष्टि की सामूहिक स्मृति में अस्तित्वमान उस सूचना को द्योतित करती है, जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी वर्णन और प्रदर्शन द्वारा प्रेषित होती है और आचरण के कुछ रूपों में निर्धारित होती है। आत्मिक संस्कृति में मस्तिष्क-

कोशिकाओं में अंकित सभी चीज़ें आती हैं–कार्य-कौशल, सकारात्मक ज्ञान, आर्थिक तथा सामाजिक जीवन से संबद्ध नित्यचर्या और रीति-रिवाज, विधिक मानदंड, कला तथा लोक सृजनशीलता के विभिन्न रूप, धार्मिक विश्वास और उपासना-पद्धति" (न० न० चेबोक्सारोव, इ० अ० चेबोक्सारोवा, 'जातियां, नसलें, संस्कृतियां' [रूसी में], मास्को, १९७१, पृ० १६५)।

आत्मिक संस्कृति की इस तरह की, मुख्यतः संजातीय, अवधारणा से उसका भाषा के साथ संबंध विशेषकर स्पष्टतापूर्वक प्रकट होता है। 'जर्मन विचारधारा' में इंगित किया गया है कि "भाषा उतनी ही पुरानी है कि जितनी चेतना; भाषा व्यावहारिक, वास्तविक चेतना है, जिसका अस्तित्व औरों के लिए भी है और सिर्फ़ इसलिए ही मेरे लिए भी है; चेतना की ही तरह भाषा भी सिर्फ़ दूसरे लोगों के साथ संसर्ग की आवश्यकता, अनिवार्यता से ही उत्पन्न होती है" (का० मार्क्स, फ़े० एंगेल्स, 'जर्मन विचारधारा', १८४५–१८४६)। भाषा, जो संसर्ग करने की प्रबल आवश्यकता से उदित हुई और सिर्फ़ भौतिक उत्पादन ही नहीं, आत्मिक मूल्यों के सर्जन में भी इस आवश्यकता का साधन करती है, अपने कार्यात्मक महत्व के कारण संसर्ग-माध्यम से कुछ अधिक है। जाति की मूर्त और व्यवहारतः अस्तित्वमान चतना होने के नाते भाषा ज्ञान को संचित करने के साधन और जातितः रंजित एक ऐसे कूट (कोड) के रूप में संज्ञानात्मक कार्य भी करती है, जिसके ज़रिये समाजतः सार्थक सूचना का पीढ़ी-दर-पीढ़ी संप्रेषण किया जाता है। रूसी शिक्षाशास्त्री क० द० उशीन्स्की ने लिखा है: "भाषा वह सजीवतम, प्रचुरतम और प्रबलतम कड़ी है, जो जाति की विगत, वर्तमान और आगामी पीढ़ियों को एक विराट, इतिहासतः सजीव समष्टि में एकीभूत करती है" (अ० ग० अगायेव, 'समाजवादी जातीय संस्कृति' [रूसी में], मास्को, १९७४, पृ० १०६)। एक सार्विक संसर्ग-माध्यम के नाते भाषा न सिर्फ़ किसी जाति की आत्मिक संस्कृति की विलक्षणता को ही प्रतिबिंबित करती है, बल्कि एक ऐसी स्वतंत्र सामाजिक परिघटना का प्रतिनिधित्व भी करती है, जो इस विलक्षणता के उत्पन्न होने में योग देती है। इसलिए ऐसा लगता है कि सूचना के संचय और संप्रेषण की ठोस क्रियाविधि में न केवल भाषा तथा आत्मिक संस्कृति के बीच अन्योन्यसंबंध का ही, बल्कि भाषा के संजातीय कार्य के स्वरूप का भी उद्घाटन होता है। अ० ग० अगायेव लिखते हैं: "जनता की

सृष्टि होने के नाते, जिसका उसके द्वारा संसर्ग और संज्ञान के माध्यम के रूप में दिन-दिन और घड़ी-घड़ी प्रयोग किया जाता है, भाषा जातीय संस्कृति के महानतम स्मारक का काम करती है। यह किसी भी अन्य सांस्कृतिक रूप के बराबर है, क्योंकि यह जनता की विशिष्ट सृजनात्मक क्रियाशीलता को प्रदर्शित करती है। अलावा इसके, भाषा अगर किसी जन-संस्कृति का सर्वाधिक जातीय तत्व नहीं, तो भी उसके सबसे अधिक जातीय तत्वों में से एक अवश्य है। चाहे वह गृहीत शब्दों की बदौलत समृद्ध होती है, फिर भी जातीय संस्कृति के किसी भी और तत्व का संबद्ध जाति के संरचक सभी वर्गों और सामाजिक समूहों द्वारा इतने व्यापक रूप में उपयोग नहीं किया जाता कि जितना मातृभाषा का किया जाता है" (पूर्वो०, पृ० १०२)। यही कारण है कि जातियों के समेकन के दौर में, जब जातीय जीवन जाग्रत होता है, भाषा इस प्रक्रिया की अगुआई करनेवाली शक्तियों के लिए एकता का परचम और प्रतीक बन जाती है। भारतीय जातियों के प्रादेशिक तथा प्रशासनिक सीमांकन में और भाषाई राज्यों के रूप में उनके जातीय राज्यत्व के निर्माण में भाषा विशेषकर मुख्य लक्षणों में एक है।

आत्मिक संस्कृति और जातीय भाषा के बीच अंतःसंबंध का यह पहलू स्पष्ट है। रेखांकित सिर्फ़ यही करने की ज़रूरत है कि इस अंतःसंबंध में भाषा को संस्कृति के एक रूप में ही नहीं परिणत किया जा सकता। अपने वस्तुपरक अंतःसंबंध और अंतर्व्यापन से वे स्वतंत्र परिघटनाएं बनी रहती हैं, जो अपने ही नियमों के अनुसार विकसित होती हैं। इस लिहाज़ से भाषा जनता की मूर्त चेतना के रूप में काम करती है।

किसी क़ौम की आत्मिक संस्कृति और उसकी भाषा में संचित ऐतिहासिक अनुभव के, जो उन्हें जातीय विनिर्दिष्टता प्रदान करता है, सारे महत्व के बावजूद यह नहीं भूलना चाहिए कि अत्यंत विरल अपवादों को छोड़कर कोई भी संस्कृति और कोई भी भाषा अलगाव में नहीं विकसित होती। उनमें सर्वमानवीय, अंतर्राष्ट्रीय अनिवार्यतः विद्यमान रहता है। पहले को मानवजाति के विकास की एक ही दिशा, तो दूसरे को पारस्परिक विनिमय और प्रभाव अनुबंधित करते हैं। अंतोक्त कारकों की क्रिया जातीय युग में, जातीय समस्या की दूसरी, अंतर्राष्ट्रीयकरण और जातीय सीमांतों के ध्वंस में व्यक्त होनेवाली प्रवृत्ति के विकास के काल में विशेषकर व्यापक होती है। यह प्रक्रिया पारस्परिक समृद्धीकरण के आधार पर जातीय संस्कृ-

तियों के विकास के त्वरण में सहायता देती है। भ्रांत "अपूर्वता" के नाम पर बाहरी प्रभावों से अलग रहने की कोशिशें सामान्यतया राष्ट्रवाद के प्रसार की तरफ़ ले जाती हैं और जैसे समूचे तौर पर आत्मिक संस्कृति, वैसे ही भाषा के भी विकास पर प्रतिकूल प्रभाव डालती हैं।

समकालीन भारत की जातियां अपनी ऐतिहासिक विरासत से जो कुछ भी प्राप्त करती हैं, उसमें वे जो कुछ भी जोड़ती हैं और दूसरी क़ौमों से परिष्कृत और स्वांगीकृत रूप में जो कुछ भी ग्रहण करती हैं, वह आत्मिक मूल्यों तथा ऐतिहासिक अनुभव का यांत्रिक अथवा "जननिक" प्रेषण नहीं, वरन ठोस सामाजिक-आर्थिक अवस्थाओं में निष्पादित उनका सामाजिक उत्तराधिकार है, जिसकी प्रक्रिया में समाविष्ट विभिन्न सामाजिक तथा वर्गीय शक्तियों की एक निश्चित भूमिका है। कहना अनावश्यक है कि इस मामले के विवेचन में आत्मिक संस्कृति और ऐतिहासिक अनुभव के द्वितीयक स्वरूप को हमेशा ध्यान में रखा जाता है। मार्क्स के अनुसार इन परिघटनाओं के विकास का आधार जीवन की उत्पादन-विधि और उससे जुड़ा हुआ संसर्ग का रूप है। ठोस सामाजिक-आर्थिक अवस्थाएं, जिनके अंतर्गत जातियों का समेकन होता है, निस्संदेह बहुत भारी महत्व की होती हैं, क्योंकि जाति के आत्मिक स्वरूप का अंततोगत्वा ये अवस्थाएं ही निर्धारण करती हैं। तेज़ ऐतिहासिक मोड़ों के युग की, जिसमें गहन और मूलगामी रूपांतरण होते हैं और कालातीत सामाजिक संबंधों का सुसंगत और सुस्पष्ट विखंडन होता है, लाक्षणिकता सांस्कृतिक थाती के जनतांत्रिक अंतर्य के प्रकटन और जो कुछ भी कालातीत हो चुका है और सामाजिक विकास के प्राप्त स्तर के अनुरूप नहीं है, उसके विलोपन की ओर लक्षित अभिभावी प्रवृत्ति है।

जैसे कि ज्ञात है, भारत के विभिन्न क्षेत्रों के सामाजिक-आर्थिक और उसके अनुरूप सांस्कृतिक तथा संजातीय विकास में असमताओं के रहते हुए स्वतंत्रता के बाद के वर्षों में समूचे तौर पर देश की लाक्षणिकता नूतन के पुरातन के विरुद्ध सतत संघर्ष की अवस्थाओं में क्रमिक और अपेक्षाकृत मंथर प्रगति रही है। यही नहीं, समकालीन भारत में नूतन का उदय अकसर पुरातन के ही साथ-साथ, उसे धकेल बाहर किये बिना, बल्कि उसके सहअस्तित्व में और उससे अंतःक्रिया करते हुए होता रहता है। प्रो० योगेंद्रसिंह आग्रह से कहते हैं कि भारत में आधुनिकीकरण "मुख्यतः संरचनात्मक वियोजन अथवा विघटन के ज़रिये नहीं, बल्कि पारंपरिक संरचनाओं में

अनुकूल परिवर्तनों के ज़रिये" हो रहा है। यह स्थापना तक प्रस्तुत की जाती है कि "विकासमान समाजों में आधुनिकीकरण का विशिष्ट लक्षण यह है कि आधुनिकीकरण प्रक्रिया के आधारभूत मूल्य ऐतिहासिक और सांस्कृतिक दृष्टि से अपनी पारंपरिक संरचनाओं के साथ असंगत हैं" ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', २६ दिसंबर, १६७४)। इन परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए यह याद रखना महत्वपूर्ण है कि एक बार शुरू हो जाने के बाद सामाजिक विकास और नये संबंधों के समेकन की प्रक्रिया को न अधिक समय के लिए रोका जा सकता है और न उलटा ही जा सकता है। हर भारतीय जाति में इस समय सांस्कृतिक थाती के मूल्यांकन के प्रश्नों, संस्कृति और जातीय साहित्यिक भाषा के विकास की समस्याओं के बारे में जनतांत्रिक शक्तियों और परंपरावाद तथा प्रतिक्रिया की शक्तियों के बीच प्रखर संघर्ष चल रहा है। भारतीय राज्य के नेताओं ने इन समस्याओं के प्रति सिद्धांतनिष्ठ उपागम निरूपित किये। जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है: "गुज़रे हुए वक़्त में एक शांति और सदा क़ायम रहनेवाली वस्तु की भावना है... फिर भी, गुज़रा हुआ ज़माना तो हमारे साथ ही रहता है – हम जो कुछ हैं, हमारे पास जो कुछ है, वह गुज़रे हुए ज़माने से ही हासिल हुआ है। हम उसके बनाये हुए हैं और उसी में ग़र्क़ होकर जीते हैं। इस बात को न समझना और यह ख़याल करना कि यह कोई ऐसी चीज़ है, जो हमारे भीतर रहती है, मौजूदा ज़माने को न समझना है। उसे मौजूदा ज़माने से जोड़ना और आनेवाले ज़माने तक खींच ले आना, जहां वह इस तरह जुट न सके, वहां से अपने को अलग कर लेना और इस सबको विचार और अमली दुनिया की धड़कती हुई, थरथराती हुई सामग्री बना लेना – यही ज़िंदगी है" (जवाहरलाल नेहरू, 'हिंदुस्तान की कहानी', पृ० २४–२५)।

भारतीय प्रबोधकों और समाज-सुधारकों ने अपनी आत्मिक थाती में गहरी दिलचस्पी प्रदर्शित की है। यह दिलचस्पी ब्रिटिश उपनिवेशवादियों के विरुद्ध राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष के ज़ोर पकड़ते जाने के साथ-साथ बढ़ती गयी। इस संघर्ष में भाग लेनेवालों और उसके विचारधारानिरूपकों ने भारत के प्राचीन और मध्ययुगीन विचारकों और दार्शनिकों, सैन्यनायकों और राजाओं, राजनीतिज्ञों और राजमर्मज्ञों का गुणगान करते हुए, अर्थात उस सबका उपयोग करते हुए कि जो उपनिवेशवादियों की आत्मिक संस्कृति पर भारतीय आत्मिक संस्कृति की श्रेष्ठता के प्रमाण का काम दे सकता

था, भारतीय जनगण के गौरवशाली अतीत के प्रचार की तरफ़ बहुत ध्यान दिया। अपनी अपूर्वता पर ज़ोर और प्राचीन, विशेषकर धार्मिक, परंपराओं की अंधस्वीकृति का प्रतिकरण उपनिवेशवाद विरोधी प्रवृत्तियों से हो जाता था और उसका कारण भारतीय समाज की तत्कालीन अवस्था था। इसी के साथ-साथ उपनिवेशवादविरोधी संघर्ष में भाग लेनेवाले और ख़ासकर उनमें से वे, जो वैज्ञानिक समाजवाद के विचारों के प्रभाव में थे, कालातीत परंपराओं और रीति-रिवाजों को अस्वीकार करने का तक़ाज़ा करते थे और जातिप्रथा और सामाजिक असमानता के विरुद्ध, भारतीय समाज के सुसंगत जनतांत्रिक आधार पर पुनर्गठन के लिए और संस्कृति तथा विज्ञान के क्षेत्र में अन्य जनगण की उपलब्धियों के स्वीकरण के लिए संघर्ष चलाते थे। भारत की जातीय संस्कृतियों और साहित्यिक भाषाओं के विकास और लौकिकीकरण में प्रगतिशील लेखक आंदोलन में भाग लेनेवालों ने बहुत बड़ा योगदान किया।

स्वतंत्रता के बाद भारत में सांस्कृतिक जीवन का विश्लेषण करते हुए बहुत से शोधकर्ता – भारतीय और विदेशी – लक्षित करते हैं कि विदेशी प्रभुत्व से देश की मुक्ति ने संस्कृतिकर्मियों और शहरी मध्यम संस्तरों में जिस उल्लास और उत्साह को जाग्रत किया था, बहुत जल्दी ही उसका स्थान ऐसी जटिल और संगीन सामाजिक-आर्थिक समस्याओं से जनित निराशा और संभ्रांति, हताशा और मोहभंग की भावनाओं ने ले लिया, जिनका समाधान राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए संघर्ष से कम कठिन संघर्ष की अपेक्षा नहीं करता है। इस आशय के दावे कितनी ही कृतियों का मुख्य स्वर अथवा आधारभूत विचार बन गये कि स्वतंत्रता ने अपेक्षित परिणाम नहीं उत्पन्न किये हैं। यही नहीं, पारंपरिक विषय, प्राचीन प्रथाओं से लगाव और अपने क्षेत्र के अतीत का गुणगान, जो उपनिवेशवादियों के विरुद्ध लक्षित किये जाने पर देशभक्ति से इतने परिपूर्ण प्रतीत होते थे, बदली हुई परिस्थितियों में बिलकुल भिन्न ही रोशनी में देखे जाने लगे। उन्होंने सांप्रदायिक और जातपांतीय विग्रहों को बढ़ाया और स्थानीय राष्ट्रवाद की वृद्धि को पोषित किया। दूसरे शब्दों में, उन्होंने भारतीय समाज के अनैक्य को बढ़ावा दिया, यद्यपि एकीकारी प्रवृत्तियां भी विकसित होती रहीं। इन अवस्थाओं में भारत की प्रत्येक जाति की सांस्कृतिक थाती और उसके आगामी समृद्धिकरण तथा विकास के लिए संघर्ष, "नवाचारकों" और "परंपरावादियों" के बीच, प्रगति और प्रतिक्रिया के बीच संघर्ष

अनिवार्यतः अधिक संगीन हो गया। भारतीय साहित्यिक भाषाओं के विकास की समस्या ने सर्वप्रमुख स्थान ग्रहण कर लिया, जिन्हें न केवल प्रत्येक जातीय समाज की बढ़ती हुई आवश्यकताओं का ही साधन करना था, बल्कि जातीय समेकन की प्रक्रिया का ऐसे आधार पर संवर्धन भी करना था कि जो राज्य के रूप में भारत की एकता में बाधक भी न हो। इसमें सांस्कृतिक तथा भाषाई विकास की प्रवृत्तियों की प्रगतिशील सामाजिक-आर्थिक रूपांतरणों की गति तथा गहनता पर प्रत्यक्ष और घनिष्ठ निर्भरता एक बार फिर प्रकट हुई। दक्षिण भारतीय केरल तथा तमिलनाडू राज्यों के उदाहरण से इस निर्भरता को स्पष्टतः देखा जा सकता है।

केरल और तमिलनाडू के सांस्कृतिक तथा भाषाई विकास में परंपराएं और नवाचार

सारे भारत के लिए सामान्य कितनी ही सामाजिक-आर्थिक समस्याएं **केरल** के लिए भी लाक्षणिक हैं – ग़रीबी, बेरोज़गारी, खाद्याभाव, जात-पांतवाद, आदि। साथ ही यह कहना भी अतिशयोक्ति न होगा कि कुछ महत्वपूर्ण बातों के लिहाज़ से केरल अन्य राज्यों से आगे है। यहां प्रगतिशील कृषि क़ानूनों को सुसंगत रूप से लागू किया जा रहा है और विशेषकर काश्तकारों और भूमिहीन खेतिहर मज़दूरों की स्थिति को सुधारने और उनके अधिकारों की रक्षा के लिए क़दम उठाये जा रहे हैं। ग्रामीणों के निर्धनतम हिस्से को सहकारी उत्पादन इकाइयों में लाने के उपायों की सक्रियतापूर्वक खोज की जा रही है। ग्रामीण विद्युतीकरण में केरल ने भारत में पहला स्थान प्राप्त कर लिया है – उसके ७१% गांवों में विद्युत शक्ति पहुंच चुकी है ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', ३१ दिसंबर, १९६९)। शहरी अर्थव्यवस्था के विकास और औद्योगिक सर्वहारा तथा नानासंख्य दस्तकारों के अधिकारों और हितों की रक्षा के लिए काफ़ी-कुछ किया जा चुका है।

केरल में आबादी की राजनीतिक सक्रियता और राजनीतिक संघर्ष में सचेतन सहभागिता शहरी मध्यम संस्तरों और ग्रामीण उच्च संस्तर तक ही सीमित नहीं हैं, बल्कि शहरी और देहाती निम्न संस्तरों में भी व्याप्त हैं। केरल में ही स्वतंत्रता के बाद पहली बार एक कम्युनिस्ट सरकार

क़ायम हुई थी और कम्युनिस्टों के नेतृत्व में मिली-जुली सरकार काफ़ी लंबे समय तक सफलतापूर्वक काम करती रही थी। सामाजिक शक्तियों का ध्रुवीकरण और राजनीति तथा सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में जनतांत्रिक प्रवृत्तियों का प्राधान्य केरल में भारत के अन्य जातीय प्रदेशों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट हैं। इसमें यह भी जोड़ा जाना चाहिए कि केरल में साक्षरता दर उच्चतम है–१९७१ में भारत की २९.३५% औसत दर की तुलना में ६०.१६% ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', १४ अप्रैल, १९७४)। इतना ऊंचा साक्षरता स्तर यही दिखलाता है कि अपनी जातीय भाषा और साहित्य की पारंगति प्राप्त करने में मलयाली लोग भारत की दूसरी जातियों से कहीं आगे निकल गये हैं।

वर्तमान काल को अकसर "मलयालम भाषा तथा साहित्य का महान पुनरुज्जीवन काल" कहा जाता है। ऐसा कहने के कुछ कारण हैं। प्रसिद्ध मलयाली कवि ग० शंकर कुरूप को ही भारत में सर्वप्रथम १९६१ में भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार प्रदान किया गया था, जो देश का एक उच्चतम साहित्यिक पुरस्कार है। वल्लातोल, तकड़ी शिवशंकर पिल्लइ जैसे मलयाली लेखकों की कृतियां अन्य भारतीय तथा कितनी ही विदेशी भाषाओं में अनूदित हो चुकी हैं। मलयाली फ़िल्मों को आये दिन फ़िल्मोत्सवों और प्रतियोगिताओं में पुरस्कार प्राप्त होते रहते हैं। केरल का सांस्कृतिक जीवन अपनी सक्रियता और राज्य की आबादी के विभिन्न अंशकों की व्यापक सहभागिता के लिए उल्लेखनीय है। लोक कला के कथाकली जैसे कुछ ऐसे रूप, जो पहले ह्रासोन्मुख थे, पुनरुज्जीवित हो गये हैं।

दशकों से केरल में भारत में अपने ढंग का एकमात्र साहित्य प्रवर्तक सहकार संघ है, जिसकी सदस्य-संख्या ५०० से अधिक है और जिसका अपना प्रकाशनगृह है। संघ मलयालम में ३५०० से अधिक पुस्तकें प्रकाशित कर चुका है, जिनमें दस खंडों में प्रकाशित मलयालम ज्ञानकोश भी है, जो राज्य में बहुत लोकप्रिय है। संघ अपने लेखकों को अपेक्षाकृत ऊंचा पारिश्रमिक प्रदान करता है। मलयालम में सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक कृति के लिए दस हज़ार रुपये के वार्षिक पुरस्कार की स्थापना की गयी है। संघ की गतिविधियों का एक महत्वपूर्ण पहलू मलयालम साहित्य का प्रचार और उसकी पाठक-संख्या का प्रसार करने के लिए क़दम उठाना है। एक समीक्षक के अनुसार "ज़िंदगी के कई और–सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक–पहलुओं की ही तरह केरल की जनता के जीवन पर समकालीन अवस्थाओं

का गहरा प्रभाव है। मलयाली उपन्यासकार और लेखक अपने आसपास की ज़िंदगी के साथ कई अन्य भाषाओं में अपने सहकर्मियों की अपेक्षा संभवतः कहीं अधिक घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए हैं" ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', २२ मई, १९६६)। विभिन्न राजनीतिक विचारों के समीक्षक भी अनिवार्यतः इस बात पर बल देते हैं कि आधुनिक मलयालम साहित्य के नायक "किसान, रिक्शावाले, अल्प वेतनभोगी प्राथमिक विद्यालयों के शिक्षक, मछुए, क्लर्क, बढ़ई और अन्य प्रकार के साधारण लोग हैं, न कि राजा, देवता अथवा नेकदिल डकैत। दूसरी ओर, आम लोगों की ज्वलंत समस्याओं से संबद्ध फ़िल्मों का अनुपात केरल में भारत के और भागों की तुलना में कहीं अधिक है" (वहीं)।

वस्तुतः जातीय स्वरूप, गहन सामाजिक अंतर्य और मेहनतकश जनसाधारण के हितों में और अधिक सामाजिक-आर्थिक रूपांतरणों के लिए संघर्ष के सशक्त आह्वान से ओतप्रोत होने के अलावा मलयालम साहित्य की सफलता का एक और कारण उसका आम बोलचाल की भाषा से सामीप्य भी है। बीसवीं सदी के आरंभिक दशकों में ही मलयाली संस्कृतिकर्मियों ने केवल संभ्रांतों द्वारा प्रयुक्त पारंपरिक अतिसंस्कृतनिष्ठ और तमिलनिष्ठ साहित्यिक शैलियों का परित्याग कर दिया था और साहित्यिक भाषा को बोलचाल की भाषा के निकट लानेवाले रास्ते को अपना लिया था। "आधुनिक मलयालम साहित्य समाज के निम्नतर संस्तरों के निकट आ गया और अधिकाधिक लोग उसे पढ़ने और उसका रस लेने लगे। उन्हें ऐसा करने में समर्थ बनाने के लिए लेखक अधिक सीधी और सरल शैली का प्रयोग करने लगे। गद्य, जिसकी भाषा बोलचाल की ज़बान के सबसे निकट थी, ललित साहित्य के पद पर आसीन हो गया। कविता अपनी प्रकृति से ही काफ़ी हद तक अप्रत्यक्ष और कृत्रिम होती है। लेकिन फिर भी वह अधिक लोकप्रिय थी और इसी प्रकार बोलचाल के रूपों और कम कठोर लोकप्रचलित छंदों का प्रयोग भी अधिक लोकप्रिय था" ('वीकएंड रिव्यू', दिल्ली, १५ अप्रैल, १९६७)।

केरल का उदाहरण सांस्कृतिक तथा भाषाई विकास की प्रगतिशील सामाजिक-आर्थिक रूपांतरणों की व्याप्ति पर और अवशिष्ट सामाजिक संबंधों के विरुद्ध जनतांत्रिक शक्तियों के संघर्ष की सफलता पर निर्भरता को विशेषकर स्पष्टतापूर्वक प्रकट करता है। यह निर्भरता इतनी प्रत्यक्ष है कि उसे ऐसे विद्वानों द्वारा भी स्वीकार किया जाता है, जो वैज्ञानिक

समाजवाद के विचारों से बहुत दूर हैं। 'केरल में कला तथा सामाजिक रूपांतरण' के प्रतीकात्मक शीर्षक से लिखित एक लेख में कहा गया है कि "समय के साथ (कैरली समाज में – ले०) जातपांतगत पूर्वग्रहों को मुख्यतः साक्षरता के प्रसार के कारण और, हाल के समय में, इस इलाक़े में परोक्ष रूप में कम्युनिज़्म के उदय के ज़रिये उत्पन्न उदार चिंतन ने कम कर दिया" ('हिंदुस्तान टाइम्स', २४ मार्च, १६७३)।

इस कथन में दिये गये बल पर आपत्ति की जा सकती है, किंतु उसमें परिघटना का सारतत्व सही ढंग से प्रस्तुत किया गया है। जातपांतगत पूर्वग्रहों और संबंधों के शमन ने, अपनी बारी में, उन साहित्यिक शैलियों और विधाओं के उन्मूलन का पथ प्रशस्त किया, जिनका अस्तित्व अनन्यरूपेण किसी ख़ास जात-बिरादरी पर टिका हुआ था। विकसित होने के साथ-साथ मलयाली संस्कृति अधिकाधिक जातीय स्वरूप ग्रहण करती जा रही है और जातपांतगत सीमाओं को तोड़ते हुए सर्वजातीय और सर्वजनीन संस्कृति बनती जा रही है। यह मलयाली लोगों के जनतांत्रिक आधार पर सफल जातीय समेकन के सबसे प्रत्यक्ष सूचकों में एक है। "केरल की एक सुविकसित भाषा का निर्माण करने के प्रयास में लोगों ने अपने वर्गगत और जातपांतगत पूर्वग्रहों और अपने क्षेत्रीय अंधानुराग को भुलाकर अपनी सारी शक्ति को भाषा के समृद्धीकरण में लगा दिया। इसने बड़ी मात्रा में लौकिक साहित्य के लिए पथ प्रशस्त किया और इस तरह से भाषा की संवृद्धि में ज़बरदस्त सहायता दी" (वहीं)।

साहित्यिक मलयालम के सर्वजनीकरण का सिर्फ़ साहित्य द्वारा ही नहीं, बल्कि पत्रकारिता, सार्वजनिक जीवन के लगभग सभी क्षेत्रों, सरकारी कामकाज और प्रशासनतंत्र और, अंततः, शिक्षा-व्यवस्था में उसके प्रयोग द्वारा भी संवर्धन हो रहा है। १६७१ की पतझड़ से केरल विश्वविद्यालय में अंग्रेज़ी के साथ-साथ मलयालम का भी शिक्षण और परीक्षा की भाषा के रूप में प्रयोग किया जा रहा है।

समकालीन केरल के सांस्कृतिक जीवन में जनतांत्रिक प्रवृत्तियों के प्राबल्य और साहित्यिक मलयालम के जनव्यापी आधार पर सफल विकास में यह तथ्य कोई कम हद तक सहायक नहीं है कि यहां "क्षेत्रीय अंधानुराग को विस्मृत कर दिया गया है।" सारे दक्षिणी राज्यों में अकेला केरल ही ऐसा है कि जहां हिंदी का संपर्क भाषा के नाते अध्ययन किया जाता है और

उसे इस रूप में न्यूनतम राष्ट्रवादी पेचीदगियों के साथ सफलतापूर्वक अंगीकार कर लिया गया है।

पचास के दशक के आरंभ से **तमिलनाडू** में सांस्कृतिक और भाषाई स्थिति का निर्धारण बहुत सीमा तक द्रविड़ मुनेत्र कड़गम (द्रमुक अथवा डी-एम-के) की गतिविधियों द्वारा होता आया है।* राजनीति में द्रमुक की सफलताओं का श्रेय बहुधा उसके नेताओं द्वारा एकमात्र कारक – जातीय-भाषाई कारक – के कुशल उपयोग को दिया जाता है। "तमिल लोग उस समय अपने अतीत गौरव की फिर से खोज कर रहे थे, विशेषकर अपने साहित्य और अपनी संस्कृति में, और तत्कालीन ब्राह्मण और ऐसे ही अब्राह्मण बुद्धिजीवियों ने भी उद्धत राष्ट्रवादी, जातीयतावादी विचारधाराओं को पोषित करने के संभाव्य स्रोत के रूप में एक अनार्य भाषा और आर्य-अप्रभावित जीवन-प्रणाली की इस संकल्पना को जकड़ लिया" ('स्टेट्समैन', २ मार्च, १९६७)। "आर्थिक तर्कों, ब्राह्मणविरोधी और हिंदूविरोधी भावना – सभी ने अपनी-अपनी भूमिका अदा की। लेकिन अब यह देखा जा सकता है कि द्रमुक की सफलता में मातृभाषा से प्रेम और उसकी लंबी अखंडित साहित्यिक परंपरा पर अभिमान सबसे महत्वपूर्ण तत्व थे" (आर० ई० आशर, 'द्रविड़ अलगाव – आविष्कार या यथार्थ ?' शीर्षक लेख, 'साउथ एशिया रिव्यू', १९७२, अंक १, अक्तूबर, पृ० ३८)। उपरोक्त दोनों उद्धरण द्रमुक के कार्यकलाप के लाक्षणिक आकलनों के उदाहरण हैं।

द्रमुक नेताओं ने राज्य की शहरी आबादी और ख़ासकर छात्रों में व्याप्त राष्ट्रवादी भावनाओं का राजनीतिक संघर्ष में व्यापक उपयोग किया। सामाजिक-आर्थिक परिवर्तनों के दौरान, अर्थात तमिल बुर्जुआज़ी और तमिल समाज में बुर्जुआ संबंधों के विकास की प्रक्रिया में इस तरह की भावनाएं मज़बूत हुईं। "तमिलनाडू में प्रादेशिक उद्यमकर्ता वर्ग अंततः अपनी वास्तविक क्षमताओं को समझने लगा है। यह बात काफ़ी हद तक अन्य प्रदेशों

---

*१९७२ में नेताओं के बीच व्यक्तिगत मतभेदों के कारण द्रमुक का दो अलग दलों में विभाजन हो गया। उससे अलग हुए अन्ना द्रविड़ मुनेत्र कड़गम (अद्रमुक) की नीतियों में कोई बुनियादी अंतर नहीं है और ये बातें उस पर भी लागू होती हैं।

के बारे में भी सही है। इस प्रक्रिया में वह अच्छी तरह से जड़ें जमाये हुए पारंपरिक उद्यमकर्ता वर्गों के साथ प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष टकराव में आ रहा है, जिनके अखिल भारतीय हित हैं। भाषाई आंदोलनों और प्रादेशिकतावादी रुझानों को प्रेरित करने में प्रधान कारक यह टकराव ही बताया जाता है" ('मेनस्ट्रीम', २८ मई, १९६६)। इस निष्कर्ष की तमिलनाडू में औद्योगिक उत्पादन सूचकांक की अधिकांशतः स्थानीय, तमिल उद्यमकर्ताओं की बदौलत तीव्र वृद्धि—१९५१ में ५४.१ अंक से १९७१ में १८९ अंक—से पुष्टि होती है ('स्टेट्समैन', १५ अप्रैल, १९७२)। यह भी उल्लेखनीय है कि अन्य दक्षिणी राज्यों के विपरीत तमिलनाडू सरकार दूसरे राज्यों के रहनेवाले उद्यमकर्ताओं को अपने यहां कोई विशेष सुविधाएं नहीं प्रदान करती, बल्कि उलटे उन पर अंकुश ही लगाती है।

बहुजातीय राज्य में बुर्जुआ संबंधों और उनके अनुरूप नज़रियों, मूल्याभिमुखताओं, सामाजिक जीवन को संगठित करने और आत्मिक मूल्यों का सर्जन करने के साधनों की प्रतिष्ठापना राष्ट्रवादी संकीर्णता की भावनाओं की वृद्धि के लिए, एक जाति को दूसरी जाति के—चाहे सामाजिक-आर्थिक प्रगति के दृष्टिकोण से इन जातियों के हित सामान्य हों—मुक़ाबले पर रखने के लिए पोषक माध्यम उत्पन्न करती है। राज्य में सत्ता-संघर्ष में अपने हितों को समस्त तमिल जाति के हितों के रूप में प्रस्तुत करते हुए और तमिलों को "आर्य उत्तर" के मुक़ाबले पर रखते हुए द्रमुक नेताओं ने ठीक इसी पोषक माध्यम का उपयोग किया। द्रमुक विचारधारानिरूपक दावा करते हैं कि "उत्तर दक्षिण का शोषण करता है" और तमिल समाज की सभी विपत्तियां—ग़रीबी, बेरोज़गारी, मूल्यवृद्धि—उत्तर भारत के "आर्य" राज्यों के रहनेवाले ब्राह्मणों के सरकारी सेवाओं में और द्रविड़ समाज के राजनीतिक तथा सांस्कृतिक जीवन में प्रभुत्व के कारण हैं और उस समाज पर इन्हीं ब्राह्मणों द्वारा आरोपित विचारों, परंपराओं तथा आत्मिक मूल्यों के परिणाम हैं। ब्राह्मणों को तमिलों के लिए संजातीय और सामाजिक दृष्टि से परकीय, "आर्य जीवन-प्रणाली" के वाहक माना जाता है। यह देखना कठिन नहीं है कि इस तरह के विरोध में नसलवादी तत्व भी मौजूद है।

"द्रविड़ दक्षिण" को "आर्य उत्तर" के मुक़ाबले पर रखते हुए द्रमुक साथ ही सिर्फ़ तमिलों ही नहीं, बल्कि सभी द्रविड़ जातियों—आंध्रों, कन्नड़ों और मलयालियों—का प्रतिनिधित्व करने का भी दावा करता था।

ग्रारंभ में द्रमुक नेताग्रों की मांग पृथक द्रविड़स्तान की स्थापना थी, जिसमें ग्रगुग्रा भूमिका क़ुदरती तौर पर द्रमुक की ही होनी थी। भाषाई राज्यों का निर्माण हो जाने ग्रौर दक्षिण में जातीय समेकन प्रक्रियाग्रों के त्वरित हो जाने के बाद यह स्पष्ट हो गया कि दूसरे दक्षिणी राज्य द्रमुक प्राधान्य को स्वीकार नहीं करेंगे। "पृथक द्रविड़स्तान" के नारे को तज दिया गया, क्योंकि "उत्तरविरोधी मनोवृत्ति" ग्रौर द्रविड़ एकजुटता के नारे को केरल, ग्रांध्र ग्रौर कर्णाटक में कोई व्यापक समर्थन नहीं प्राप्त हुग्रा। इन राज्यों में ग्रपनी संस्कृति का जो ग्रात्ममूल्यांकन ग्रभिभावी है, वह उसे ग्रार्य ग्रौर द्रविड़ संस्कृतियों का संश्लेषण मानता है ग्रौर साथ ही संस्कृत तथा ग्रखिल भारतीय क्लासिकी साहित्यिक थाती के सकारात्मक प्रभाव को भी स्वीकार किया जाता है। कुछ विद्वानों के ग्रनुसार ग्रांध्र के शहरी मध्यम संस्तरों में "तेलुगू ग्रौर संस्कृत में प्राचीन क्लासिकी कृतियों में दिलचस्पी का पुनर्जागरण" देखने में ग्राता है। दुख की बात यह है कि इस तरह का नज़रिया संपूर्ण प्राचीन विरासत के ग्रालोचनाहीन ग्राकलन की तरफ़ ले जाता है। पूर्वग्रहों ग्रौर धार्मिक मताग्रहिता में चढ़ाव ग्रा रहा है (भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की दसवीं कांग्रेस। स्मारिका [ग्रंग्रेज़ी में], विजयवाड़ा, १९७५)। सत्तर के दशक के ग्रारंभ में तमिल राष्ट्रवादियों की कार्रवाइयों के परिणामस्वरूप द्रमुक के कार्यकर्ताग्रों ग्रौर कन्नड़ राष्ट्रवादियों ग्रौर इसी प्रकार द्रमुक समर्थकों ग्रौर मलयालियों के बीच भी दंगे हुए।

जब-जब संभव हुग्रा, द्रमुक ने हिंदी के पक्षधरों के हिंदी को सारे भारत की राजभाषा की हैसियत से लागू करवाने के प्रयासों का उत्तर के विरुद्ध शत्रुभाव भड़काने के लिए, तमिलनाडू की शहरी ग्राबादी में—ग्रौर ख़ासी सफलता के साथ—इस नारे का प्रचार करने के लिए कि तमिल भाषा ख़तरे में है, जो कुछ ग्रवधियों में ग्राम लोगों पर छायी हुई भावना थी, व्यापक पैमाने पर उपयोग किया। सारतः, "उत्तरविरोधी मनोवृत्ति", हिंदी के प्रति शत्रुता की भावना ग्रौर ग्रपनी भाषा तथा संस्कृति से ग्रंधानुराग बुर्जुग्रा राष्ट्रवाद की भिन्न-भिन्न ग्रभिव्यक्तियां ही हैं। संस्कृति के क्षेत्र में द्रमुक की विचारधारा बहुत से तमिल लेखकों ग्रौर राजनीतिज्ञों को पारंपरिक हिंदू धार्मिक साहित्य, 'रामायण' ग्रौर 'महाभारत' जैसे महाकाव्यों के ज़रिये जनमानस पर ग्रंकित कितने ही विचारों, सिद्धांतों ग्रौर मानदंडों की ग्रालोचना करने ग्रौर खिल्ली उड़ाने के लिए प्रोत्साहित करती है। उदाहरण के लिए, तमिलनाडू के भूतपूर्व मुख्यमंत्री (श्री करुणा-

निधि) द्वारा लिखित नाटक ब्राह्मणों के धार्मिक पूर्वग्रहों और कुछेक कृत्यों और संस्कारों के लिए ज्योतिषियों से शुभ तिथि और घड़ी निकलवाने के रिवाज की खिल्ली उड़ाते हैं ('हिंदुस्तान टाइम्स', ५ सितंबर, १९७०)। इस तरह की रचनाएं पारंपरिक रूढ़िवादी विचारों की भ्रांति और जीवन की बदली हुई अवस्थाओं से उनकी असंगति को क़ायलकारी ढंग से दिखलाती हैं। यह विशेषकर महत्वपूर्ण है कि धार्मिक रूढ़िवादिता का विरोध किया जाता है, अलबत्ता बेढंगे तरीक़े से, तर्कसंगत दृष्टिकोण और सांस्कृतिक जीवन के लौकिक विचारों और रूपों की सहायता से। "तमिलनाडू में धर्मनिरपेक्ष पुनर्जागरण" और "अतीत की परंपराओं से मुक्ति का प्रभाव" जैसे लाक्षणिक शीर्षकों से पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित लेख निरंतर इसी विचार को प्रस्तुत करते थे कि द्रमुक के कार्यकलाप से जनित सांस्कृतिक जागरण की लहर रूढ़िवादिता को ध्वस्त करती है और तमिलों के जीवन को गतिशीलता और धर्मनिरपेक्ष अंतर्य से परिपूर्ण करती है। एक पत्र ने लिखा कि द्रमुक "कल के और आज के युवजन द्वारा वर्तमान पर अतीत की घातक जकड़ को ढीला करने और सांस्कृतिक प्रगति को संभव बनाने के लिए चलाये जानेवाले संघर्ष के हरावल में" रहा है ('स्टेट्समैन', २ मई, १९६७)। इससे यह निष्कर्ष निकाला गया कि "तमिल नवजागरण आनेवाले वर्षों में स्पष्टतः धर्मनिरपेक्ष मोड़ लेगा" ('इंडियन एक्सप्रेस', ६ फ़रवरी, १९६८)। आशाएं और अपेक्षाएं इसी तरह की थीं।

लेकिन तमिलों का उत्तर से राष्ट्रवादी टकराव कभी-कभी बहुत ही अप्रत्याशित रूप ग्रहण कर सकता है। उदाहरण के लिए, 'रामायण' को पुराने ज़माने से सारे ही भारत और विशेषकर उत्तर में अत्यधिक लोकप्रियता प्राप्त है। राम, सीता, लक्ष्मण और हनुमान को सभी आदर्श गुणों के मूर्तिमान स्वरूप माना जाता है। राम की हिंदू लोग उपासना करते हैं। राम के शत्रुओं – राक्षसराज रावण और मेघनाथ तथा कुंभकर्ण – को बुराई, निर्दयता और अनिष्ट के प्रतीक समझा जाता है। हर साल रामलीला उत्सव के समय भारत में सर्वत्र राम के मुख्य शत्रुओं के ज्वलनशील सामग्री से बने बड़े-बड़े बुत खड़े किये जाते हैं। रामलीला के अंत में नेकी की बदी पर विजय के प्रतीकस्वरूप रावण और दूसरे राक्षसों के बुतों को जला दिया जाता है। २५ दिसंबर, १९७४ को रामलीला के अवसर पर उत्तर से संबद्ध हर चीज़ के प्रति अपने विरोधी रवैये के लिए मशहूर तमिल राष्ट्रवादी संगठन द्रविड़ कड़गम (द्रक) के नेताओं ने मद्रास में

"रावणलीला" का आयोजन किया। उन्होंने घोषित किया कि रावण एक वीर और सदाचारी तमिल राजा था, जिसे "उत्तरी आर्य" नीचा दिखाना चाहते थे, क्योंकि रावण द्रविड़ था। भारतीय समाचारपत्रों के अनुसार कोई ५ हज़ार द्रक सदस्यों ने कुछ द्रमुक सदस्यों की उपस्थिति में राम, सीता और लक्ष्मण के बुतों को जलाया ('इंडियन एक्सप्रेस', २६ दिसंबर, १९७४)। इसने सिर्फ़ उत्तर ही नहीं, बल्कि दक्षिणी राज्यों में भी सख़्त नाराज़गी पैदा की। द्रविड़ कड़गम के इन कार्यों की भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने भी उन्हें भड़कानेवाले और भारत के निवासियों में शत्रुता पैदा करनेवाले कहकर निंदा की ('पैट्रियट', २९ दिसंबर, १९७४)। यह उल्लेखनीय है कि रावणलीला के आयोजकों ने इस तमाशे का आयोजन ठीक उस समय किया था कि जब तमिलनाडू के लोग और अधिकारी राज्य में पड़े सख़्त सूखे के पश्चपरिणामों पर क़ाबू पाने के लिए क़दम उठा रहे थे और आबादी को खाद्यान्न मुहैया करने में लगे हुए थे।

सांस्कृतिक थाती का "पुनर्मूल्यांकन" करने का ऐसा प्रयास, जिसका आधार अंधराष्ट्रवाद है और जो भारत के अन्य जातीय प्रदेशों की आबादी की भावनाओं को ठेस पहुंचाता है, वास्तव में स्वयं "अपने" रूढ़िवादियों और कट्टरपंथियों की स्थिति को ही मजबूत करता है, क्योंकि इस तरह के उपागम से होता यही है कि एक तरह के पूर्वग्रहों का स्थान दूसरी तरह के पूर्वग्रह ले लेते हैं। राष्ट्रवादी उन्माद की पृष्ठभूमि में ऐसे किसी भी व्यक्ति पर, जो अपनी सांस्कृतिक विरासत के प्रति आलोचनात्मक नज़रिया रखता है, संस्कृति को नष्ट करने का आरोप लगाना और सारी समस्या को इस विवाद में परिणत कर देना आसान है कि मंदिरों में उपासना के लिए किस भाषा का प्रयोग किया जाये—संस्कृत का अथवा तमिल का।

सांस्कृतिक थाती का पुनर्मूल्यांकन उत्तर के हिंदीभाषी प्रदेशों में भी हो रहा है। इसकी एक मिसाल यह बहस हो सकती है कि 'रामचरित-मानस' के प्रणेता महाकवि तुलसीदास को जनकवि माना जा सकता है कि नहीं। महाकवि की चार सौवीं जयंती की पूर्ववेला में १९७० की शरद में यह बहस कुछ भारतीय पत्र-पत्रिकाओं में चली थी। बहस में भाग लेनेवालों में से कुछ का कहना था कि समाज की सामाजिक संरचना के बारे में तुलसीदास के विचार हमारे समय में प्रतिक्रियावादी हैं, क्योंकि उनके द्वारा जातिप्रथा का समर्थन और स्त्रियों तथा निम्न वर्णों को नीचा समझना उनके प्रगतिशील समकालीनों के विचारों के

सख़्त विरोधाभास में है, जो इस आधार पर सभी लोगों की समानता का समर्थन करते थे कि ईश्वर के सामने सभी बराबर हैं। दूसरे लोगों का कहना था कि तुलसीदास सचमुच जनकवि थे, क्योंकि उनकी कृति आज भी लोकप्रिय है और लोगों द्वारा पूजित मानी जाती है और इसलिए भी कि वह बदी पर नेकी की विजय की अभिपुष्टि करती है। स्वयं यह तथ्य ही उल्लेखनीय है कि इस विषय पर बहस चली और इस तरह उसने सिद्ध किया कि लोगों की अपनी सांस्कृतिक थाती में गहरी दिलचस्पी है और उसमें जो कुछ भी सबसे मूल्यवान और महत्वपूर्ण है, उसे वे आज भी बनाये रखना चाहते हैं।

इसके साथ-साथ धर्म से जुड़ी पारंपरिक संकल्पनाओं का भी पुनर्मूल्यांकन किया जा रहा है। सबसे प्रसिद्ध विवाद "कर्म" शब्द के तुलसीदास की कृति में और उसके समकालीन अर्थ के निर्वचन के बारे में है। रूढ़िवादी हिंदू इस शब्द की पारंपरिक समझ पर ज़ोर देते हैं, जिसका अर्थ उनके अनुसार "जन्मत: निर्दिष्ट कर्तव्य", "परंपरानिष्ठ हिंदू का अपने जन्म द्वारा विहित कर्तव्य", अर्थात अंततोगत्वा जिस बिरादरी में वह पैदा हुआ है, उसके द्वारा निर्धारित कर्तव्य है। तुलसीदास की रामायण के प्रसंग में इस निर्वचन से उन पर जातिप्रथा का समर्थन करने और इस प्रथा द्वारा व्यक्ति पर ऐसे दायित्वों के थोपे जाने की, जिनका उसके निजी गुणों से कोई संबंध नहीं है, पैरोकारी करने का आरोप लगाया जा सकता है। तुलसीदास की कृति का लौकिक दृष्टि से निर्वचन करनेवालों का कहना है कि स्वयं कृति के संदर्भ में और लेखक के ज्ञात विचारों के दृष्टिगत इस महाकाव्य में "कर्म" का अर्थ "श्रम", "काम" अथवा "हेतु" है। जब कवि नाराज़ी के साथ कर्मविरत लोगों की बात करते हैं, तो उनका आशय बेकार और निठल्ले लोगों से है, न कि जातपांतगत मर्यादाओं का उल्लंघन करनेवालों से ('हिंदुस्तान टाइम्स', १६ सितंबर, १९७०)।

"उत्तरी", "ब्राह्मण" संस्कृति को उसका विश्लेषण करने और उससे जनतांत्रिक तत्वों का चयन करने का प्रयास किये बिना अस्वीकार करते हुए तमिल राष्ट्रवादी तमिलनाडू की आदर्शीकृत "आर्येतर" अथवा "आर्य-पूर्व" संस्कृति के तमिलों की "जातीय भावना" और जीवन-प्रणाली से पूरी तरह से मेल खानेवाली संस्कृति के रूप में इतने ही आलोचनारहित स्वीकरण पर ज़ोर देते हैं। संगम काल (पहली सहस्राब्दी ई० पू० के

ग्रंत) के साहित्यिक स्मारकों को प्रचारित किया जाता है।* 'तिरुकुरल' को ग्रादर्श साहित्यिक कृति ग्रौर उसके रचनाकार तिरुवल्लुवर को महानतम कवि माना जाता है।

द्रमुक के कार्यकलाप के सांस्कृतिक तथा भाषाई पहलू के एक ग्रालोचक ने राष्ट्रवादी हलक़ों में व्याप्त भावनाग्रों का इस प्रकार वर्णन किया है: "यह विश्वास करना कि तमिल भाषा ग्रपने सातत्य में ग्रार्य संस्कृत भाषा से किसी भी समय प्रभावित नहीं हुई है, यह विश्वास करना कि तमिलों की जीवन-प्रणाली ग्रौसत भारतीयों की ज़िंदगी से भिन्न है, यह विश्वास करना कि कुरल तमिल जीवन-प्रणाली की झांकी है, यह विश्वास करना कि धर्म ने तमिल साहित्यिक संस्कृति को इस तरह से नहीं गढ़ा है, जिस तरह उसने उस समय के सभी दूसरे साहित्यों ग्रौर भाषाग्रों को गढ़ा है..." ('इंडियन एक्सप्रेस', १९ मई, १९६८)।

समाज के कायाकल्प, धार्मिक परंपरानिष्ठता के ग्रस्वीकरण ग्रौर नयी लौकिक संस्कृति की सर्जना का उद्घोषक बुर्जुग्रा राष्ट्रवाद वास्तविकता में बीते हुए ज़माने के ग्रात्मिक मूल्यों के एक तरह के "समुच्चय" के ग्रौर उसके साथ-साथ ग्रतीत में इन मूल्यों के प्रति विकसित किये गये नज़रियों के ग्रंधस्वीकरण पर ही वापस पहुंच जाता है। यही कारण है कि तमिलनाडू के सांस्कृतिक तथा भाषाई विकास में राष्ट्रवादी प्रवृत्तियों ने सार्थक ग्रात्मिक मूल्यों के सर्जन में किसी भी तरह से सहायता नहीं दी है। इस बात को द्रमुक गतिविधियों के समर्थकों ग्रौर ग्रालोचकों, दोनों ही द्वारा स्वीकार किया जाता है। द्रमुक के विचारों से सहानुभूति रखनेवाले एक तमिल लेखक ने लिखा है कि "पिछले दो-तीन दशकों में जितना उत्साह पैदा हुग्रा है, उस सबके बावजूद ग्रर्थशास्त्र ग्रथवा राजनीतिशास्त्र, विज्ञान ग्रथवा प्रौद्योगिकी की तो बात ही क्या, गद्य ग्रथवा काव्य में कोई महान कृति नहीं रची गयी है ग्रौर तमिलों को ग्रभी किसी ऐसी प्रतिभामयी कृति की प्रतीक्षा ही करनी होगी, जो समय की कसौटी पर खरी उतर सके" ('इंडियन एक्सप्रेस', ६ फ़रवरी, १९६८)।

---

*कुछ ग्रत्युत्साही तमिल राष्ट्रवादियों का कहना है कि तमिलों की ग्रविराम साहित्यिक तथा सांस्कृतिक परंपरा पांच हज़ार साल पुरानी है ग्रौर इन लोगों के ग्रनुसार मोहन-जो-दाड़ो ग्रौर हड़प्पा की सभ्यता प्राक्-तमिल स्वरूप की है।

एक अन्य टीकाकार के अनुसार तमिलनाडू में समकालीन साहित्यिक उत्पादन का एक ख़ासा बड़ा हिस्सा, जो द्रमुक नेताओं द्वारा आरोपित राष्ट्रवादी रुझान को प्रकट करता है, "आननहीन" भावुकतापूर्ण गल्प साहित्य है। दूसरा हिस्सा "तमिल अतीत के गौरवगान को ही समर्पित है – गीत और शब्द तक सरकारी तौर पर अपेक्षित नमूने, शासक दल – द्रमुक – द्वारा निर्धारित नीति का अनुपालन करने की कोशिश करते हैं... तमिल में अभिभावी लहर अनुपालनवादी लहर है... पाठक समुदाय के आम मिज़ाज को देखते हुए अनानुपालनवादी दृष्टिकोण किताब की बिक्री की संभावनाएं बिगाड़ सकता है" ('स्टेट्समैन', १५ अगस्त, १९७१)।

राष्ट्रवादी उन्माद के कगर पर पहुंची स्थिति में द्रमुक की भाषा-नीतियों में भी लाक्षणिक परिवर्तन आये हैं। सत्ता-संघर्ष के आरंभिक चरणों में द्रमुक नेताओं ने मुख्य ध्यान लिखित तथा मौखिक रूपों में साहित्यिक और पत्रकारिता शैलियों को निरूपित करने और लोकप्रिय बनाने की तरफ़ दिया, जिससे किताबी भाषा बोलचाल की भाषा के निकट आयी और इस तरह साहित्यिक भाषा का प्रयोग करनेवाले लोगों का दायरा बढ़ा। इसके अलावा द्रमुक नेताओं और उनके निकटवर्ती संस्कृतिकर्मियों की टकसाली बोली और वक्तृता शैली अच्छी भाषा का स्वीकृत उदाहरण, सामाजिक मानक बन गयी और, इस प्रकार, उसने राज्य के नगरों में अंग्रेज़ी शब्दों और मुहावरों से लदी खिचड़ी बोली के प्रसार को रोका। "इसमें कोई संदेह नहीं कि द्रमुक ने न सिर्फ़ लिखित और बोलचाल की तमिल के स्तर को ही उठाया, बल्कि उसने मद्रास का उस खिचड़ी तमिल से भी पीछा छुड़वाया, जो चलन में आने लगी थी" ('इंडियन एक्सप्रेस' १ मार्च, १९६७)। अगले चरण में उन्होंने यह कहते हुए तमिल का संस्कृत से आगत शब्दों से "शोधन" करने की नीति अपनायी कि "तमिल सबसे पुरानी ज़बान है और उसे संस्कृत से कुछ भी लेने की ज़रूरत नहीं है।' अत्यंत व्यापक रूप में प्रयुक्त और पूर्णतः स्वांगीकृत आगत शब्दों को भी भाषा से निष्कासित किया जाने लगा। राष्ट्रवादी वातावरण में शासक दल द्वारा प्रोत्साहित अभिभावी शुद्धतावादी रुझान वस्तुपरक रूप में पुरातन शब्दावली के जड़पूजन की तरफ़ ले जाता है। "वास्तव में, तमिल की महानता की पुनःस्थापना करने के नाम पर द्रमुक ने पुरातन अभिव्यक्तियों को पुनरुज्जीवन देकर आम नागरिकों के लिए उसे समझना ज़्यादा कठिन ही कर दिया है" ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', १२ फ़रवरी, १९७०)। भाषा-विकास के प्रति

राष्ट्रवादी उपागम ने साहित्यिक भाषा के सामाजिक आधार के प्रसार को रोक दिया और उसे फिर से संकीर्ण कर दिया।

तमिल भाषाशास्त्रियों के कथनों में इस रुझान के बारे में चिंता का स्वर पाया जाता है। ख़ासकर यह लक्षित किया गया है कि भाषा के उपयोग का क्षेत्र साहित्य और वक्तृता तक ही सीमित नहीं है, जब कि तमिल भाषा का प्रशासन, अदालतों और शैक्षिक तथा वैज्ञानिक प्रतिष्ठानों में प्रचलन करने की आवश्यकता उसका पुरातनीकरण करने की प्रवृत्ति के साथ टकराती है और शुद्धतावादियों की गतिविधियों पर अंकुश लगाने की मांगें पैदा करती है। 'तमिल का आधुनिकीकरण करने की आवश्यकता' के बहुत ही सारगर्भित शीर्षक से प्रकाशित एक लेख में कहा गया है कि "अपने वैयाकरणिक रूपों में रूढ़िवादी होने के बावजूद तमिल अत्यंत अनुकूलनक्षम है। वह अपने को आसानी से आधुनिक युग के अनुरूप कर सकती है। सिर्फ़ उसे इसका मौक़ा दिया जाना चाहिए। तमिल शब्दावली को पुष्ट और समृद्ध किया जाना चाहिए। शुद्धतावादी इस आवश्यक विकास में बाधक रहे हैं" ('इंडियन एक्सप्रेस', २० जनवरी, १९६८)।

साहित्यिक भाषा के विकास और मानकीकरण के प्रति बदला हुआ नज़रिया और पहले तैयारी के बिना संसर्ग-संचार के कुछ क्षेत्रों में उसके प्रचलन को कृत्रिम रूप से त्वरित करने के प्रयास भाषा के प्रति दृष्टिकोण में परिवर्तन की तरफ़ ले जाते हैं। ऊपर कहा गया था कि तमिलनाडू में विद्यार्थियों ने द्रमुक सरकार के राज्य में शिक्षा-प्रणाली के तमिल में अनिवार्य परिवर्तन और "तमिल शिक्षा" प्राप्त करनेवालों को रोज़गार में विशेष सुविधाएं देने के बारे में निर्णय के ख़िलाफ़ सामूहिक विरोध प्रदर्शित किया था। विद्यार्थियों ने अंग्रेज़ी को रखे जाने की मांग की। राष्ट्रवादी जोश न सिर्फ़ जातीय भाषा के सामान्य विकास में ही बाधा डालता है, बल्कि वह "आत्मिक विउपनिवेशीकरण" में भी बाधक बन जाता है, अर्थात वह शिक्षा के क्षेत्र में उपनिवेशवादियों की भाषा के प्रभुत्व के अपरदन को रोकता है।

यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि १९७६ में तमिलनाडू में द्रमुक सरकार के भंग किये जाने के बाद राज्य के माध्यमिक स्कूलों की उच्च कक्षाओं के विद्यार्थियों ने हिंदी का अध्ययन करने की स्पष्ट इच्छा प्रकट की, जिसे १९६८ में द्रमुक मंत्रिमंडल के आदेश से पाठ्यक्रम से निकाल दिया गया था और जिसका अभिभावकों के अनुरोध से गठित विशेष कक्षाओं में ही

अध्ययन किया जाता था। १९७७ के आरंभ में ६० हज़ार से अधिक विद्यार्थी इस तरह की कक्षाओं में हिंदी का अध्ययन कर रहे थे। यह पूछे जाने पर कि वे हिंदी क्यों सीखना चाहते हैं, विद्यार्थियों ने कहा कि इससे उन्हें केंद्रीय सरकार के कार्यालयों और हिंदीभाषी राज्यों में नौकरी पाने में सहायता मिलेगी। मद्रास में १९६५ के विद्यार्थियों के हिंदीविरोधी दंगों की याद की जाये, तो कहा जा सकता है कि दस-बारह साल के भीतर तमिल युवजन का झुकाव राष्ट्रवाद की तरफ़ से काफ़ी पलट गया ('हिंदुस्तान टाइम्स', १० जनवरी, १९७७)।

द्रमुक नेताओं द्वारा भड़कायी राष्ट्रवादी भावनाओं के ज्वार के चरमोत्कर्ष और द्रमुक के सत्ता से हटाये जाने के बीच की अवधि में तमिलनाडू के सांस्कृतिक तथा भाषाई विकास का संक्षिप्त विवेचन स्पष्ट रूप से दिखला देता है कि बुर्जुआ राष्ट्रवादियों के सारी ही जाति की तरफ़ से बोलने और अपने संकीर्ण वर्ग-हितों को सारी ही जाति के हितों के रूप में पेश करने के दावे कितने बेबुनियाद हैं। इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि राज्य में राजनीतिक स्थिति के विकास के दौरान और विशेषकर द्रमुक की क़तारों में फूट पड़ने के बाद से द्रमुक सरकार औद्योगिक और खेतिहर मज़दूरों के प्रति ज़्यादा सख़्त नीति पर चलने लगी थी, जो अपने अधिकारों के लिए संघर्ष में अधिकाधिक सक्रिय होते जा रहे थे और द्रमुक सरकार से चुनावों के समय किये गये वादों को पूरा करने की मांग कर रहे थे। लेकिन द्रमुक ने अपने राष्ट्रवादी प्रचार को जारी रखते हुए सामाजिक-आर्थिक सुधारों के अपने घोषित कार्यक्रम को कार्यान्वित करने से व्यवहारतः इन्कार कर दिया। यही नहीं, प्रद्रमुक सत्ताधिकारी राज्य की १९७४–१९७५ के सूखे से पीड़ित देहाती आबादी की बदहाली की तरफ़ से सर्वथा उदासीन थे और न सिर्फ़ यही कि वे उसे किसी भी तरह की सहायता प्रदान करने में असमर्थ रहे, बल्कि उन्होंने किसान कार्रवाइयों को कुचलने के लिए पुलिस तक को बुलाया। उनका कहना था कि तमिल किसानों की दुर्दशा के लिए केंद्रीय सरकार क़सूरवार है। आभासी "एकता" का राष्ट्रवादी आवरण जातीय समाज के विरोधी वर्गों में विभाजन, उनके बीच संघर्ष और बुर्जुआ वर्ग की और उसके राष्ट्रवाद की वर्गगत संकीर्णता को न छिपा सका।

मार्क्स और एंगेल्स ने इस पर बल दिया था कि "शासक वर्ग के विचार ही हर युग में शासनकारी विचार भी होते हैं, अर्थात जो वर्ग

समाज की शासनकारी **भौतिक** शक्ति होता है, वह साथ ही उसकी शासनकारी **बौद्धिक** शक्ति भी होता है" (का० मार्क्स, फ़े० एंगेल्स, 'जर्मन विचारधारा', १८४५–१८४६)। वर्ग और जातीयता के बीच सहसंबंध की सही समझ के लिए और भारतीय जातियों के समेकन की प्रक्रिया में सांस्कृतिक तथा भाषाई विकास की समस्याओं के चौगिर्द संघर्ष के वर्ग-स्वरूप को समझने के लिए भी यह स्थापना अत्यधिक महत्व की है। यहां भारत के विभिन्न प्रदेशों के सामाजिक-आर्थिक और, फलतः, जातीय विकास में असमताओं का स्मरण करना समीचीन रहेगा। भाषाई राज्यों में शासक संभ्रांत संस्तर की सामाजिक-वर्गीय संरचना में अंतर और उसके अनुरूप जातीय भाषा तथा संस्कृति की समस्याओं के समाधान के प्रति उनके उपागम में अंतर इस असमानता के सबसे महत्वपूर्ण पहलुओं में से एक है।

केरल का उदाहरण दिखलाता है कि जातीय और सांस्कृतिक विकास में ऐसी जनतांत्रिक प्रवृत्तियों का प्रतिष्ठापन संभव है, जो राज्य के मेहनतकश जनसाधारण द्वारा समर्थित और अंततः बुर्जुआ संबंधों की सीमाओं के बाहर जाने की ओर उन्मुख सामाजिक-आर्थिक तथा राजनीतिक विकास की प्रवृत्तियों के अनुरूप होती हैं, फिर चाहे ये संबंध भिन्न-भिन्न सामाजिक-आर्थिक विरचनाओं और सामंती अवशेषों की पृष्ठभूमि में कितने भी नवीन क्यों न लगते हों।

तमिलनाडू और कुछ दूसरे राज्यों की, जहां पूंजीवादी संबंध भारतीय मानकों के हिसाब से बहुत तेज़ी के साथ विकसित हो रहे हैं, मिसाल यह दिखलाती है कि समाज की शासनकारी भौतिक शक्ति के दरजे को लगभग हासिल करने के बाद स्थानीय बुर्जुआ वर्ग समाज पर बुर्जुआ राष्ट्रवाद और अंधराष्ट्रवाद के विचारों को थोपकर और उन्हें "जातीय विचार" के रूप में पेश करके शासनकारी बौद्धिक शक्ति भी बन जाने में जल्दी करता है। भारत की विशिष्ट अवस्थाओं में बुर्जुआ "जातीय विचार" का प्रचार अपने बुर्जुआ अंतर्य को बनाये रखते हुए भी विकासमान पूंजीवाद द्वारा अतीत के, अर्थात सामंतवादी थाती के, अस्वीकरण के सामान्य आह्वानों का नहीं, प्रत्युत आदिकालीन अतीत की ओर, प्राचीन स्वर्ण युग की ओर प्रत्यावर्तन के आह्वानों का रूप ग्रहण कर सकता है। भारतीय बुर्जुआ वर्ग के विचारधारानिरूपक इस बात को समझते हैं कि समकालीन अवस्थाओं के तहत

पुरातन के अस्वीकरण और नूतन के स्वीकरण के आह्वान का अर्थ सारतः वैज्ञानिक समाजवाद की तरफ़ मुड़ना है।

देश के उन इलाक़ों के लिए, जहां सामंती अवशेष अब भी मज़बूत हैं, जहां शासक संभ्रांत संस्तर में प्रबल अथवा प्रधान स्थितियां पारंपरिक सामाजिक संरचनाओं के प्रतिनिधियों को प्राप्त हैं, जहां बुर्जुआ व्यवस्था की स्थापना विलंबित हो रही है और जहां जातीय समेकन प्रक्रियाओं में उसके अनुरूप अवरोध आया हुआ है, संक्रमणकालीन अवस्थाओं के रूपांतर भी भिन्न हैं। यह बात, उदाहरण के लिए, उत्तरी और मध्य भारत के अंतःस्थ अंचलों पर लागू होती है। संख्या की दृष्टि से ख़ासे बड़े शहरी मध्यम संस्तरों की मनोदशा यहां चल रही प्रक्रियाओं के संवेदनशील मापक का काम देती है। भारतीय समाजशास्त्री और पत्रकार इन संस्तरों में, विशेषकर युवजन में, सांस्कृतिक तथा मानसिक द्वैधता के बारे में, और समाज के इस संस्तर में दो अंतःसंबद्ध कारकों के परिणामस्वरूप उत्पन्न "आत्मिक रिक्तता" की मौजूदगी के बारे में काफ़ी लिखा करते हैं। ये संस्तर सर्वोपरि रूप में शासक संभ्रांत संस्तर, जिसके साथ वे जुड़े हुए तो हैं, पर उसके अंग नहीं हैं, और संबद्ध प्रदेश की मेहनतकश आबादी की समष्टि के बीच, जिससे वे अलग तो हो गये हैं, पर सामाजिक सोपान पर उसे उन्होंने बहुत पीछे नहीं छोड़ा है, अंतर्वर्ती स्थिति में स्थित हैं। अलावा इसके, शहरी मध्यम संस्तर अतीत में गहरी जड़ें जमाये परंपराओं और स्थिर सांस्कृतिक तथा मूल्य अभिमुखताओं से सर्वथा रहित वर्तमान की अनिश्चितता के बीच बंटे हुए हैं। बिहार के शहरों में निम्न-बुर्जुआ वर्ग की मनोदशा का वर्णन करते हुए एक टीकाकार ने लिखा है: "लोक (प्रकटतः, पारंपरिक—**ले०**) संस्कृति शहरों में सिकुड़कर अस्तित्व खो बैठी है, यद्यपि गांवों में शायद वह अब भी जीवित है। धर्म ने अपने आकर्षण को गंवा दिया है। पटना या बीसेक दूसरे शहरों में आदमी की जो अकेली संकल्पना सामने आती है, वह आर्थिक आदमी की है—जो पैसा बनाता है और तेज़ी के साथ तरक़्क़ी करता है" ('स्टेट्समैन', २५ नवंबर, १९७४)।

इस तरह का आर्थिक आदमी पारंपरिक मूल्यों और पारंपरिक संस्कृति को त्याग देता है (सबसे अधिक सिर्फ़ सतही तौर पर ही, अर्थात सामाजिक रूप में, पर साथ ही घर में, परिवार में उससे चिपके रहते हुए), लेकिन अपनी द्वैध (अंतर्वर्ती) स्थिति के कारण वह अपने पुराने मूल्यों

का इस प्रयोजन के लिए ग्रामूल पुनर्मूल्यांकन नहीं कर सकता कि उसके ग्राधार पर ख़ुद ग्रपने नये मूल्यों का निर्माण किया जाये, जो उसके पर्यावरण में सार्विक रूप में स्वीकार्य हों ग्रौर दूसरों के लिए ऊंचा प्रतिष्ठा मूल्य रखते हों।

पारंपरिक संस्कृति विश्वसनीय निर्धारक नहीं रह जाती ग्रौर नयी का निर्माण ग्रभी हुग्रा नहीं है। विचाराधीन इलाक़ों में मध्यवर्ग की सामाजिक-मानसिक विशिष्टताएं उसे बुर्जुग्रा मानकों ("पैसा बनाना ग्रौर ऊपर चढ़ना") को ग्रनुकरणीय ग्रौर प्रतिष्ठा-प्रतीक मानकों के रूप में स्पष्टतः नहीं स्वीकार करने देतीं, क्योंकि लुप्त होती, किंतु ग्रब भी विद्यमान ग्रौर ग्रड़ियल परंपरा निरंतर उस पर छायी रहती है, जो दूसरे मानदंडों को प्रेरित करती है, जैसे कर्म-विधान। साथ ही शहरी मध्यम संस्तर का ग्रादमी जनतांत्रिक विचारों, वैज्ञानिक समाजवाद के विचारों के प्रभाव में भी ग्राता है, जो ग्रार्थिक ग्रादमी की संकल्पना के विपरीत हैं, किंतु पारंपरिक विचारों से मेल नहीं खाते। शहरी मध्यम संस्तरों की ग्रंतर्वर्ती स्थिति ग्रौर उनकी सामाजिक-मानसिक द्वैधता का परिणाम यह होता है कि राजनीति में ये ग्रंशक घोर प्रतिक्रिया से लेकर "वामपंथी" चरमपंथिता तक, ग्रौर सांस्कृतिक जीवन में सुदूर ग्रतीत के स्वर्ण युग की खोज ग्रौर प्राचीन ग्रात्मिक मूल्यों के ग्रादर्शीकरण से लेकर समकालीन पश्चिमी पॉप संस्कृति के चरमों की विवेकहीन धुन तक दोलायमान होते रहते हैं।

इस प्रकार, भाषाई, सांस्कृतिक तथा जातीय विकास की दिशा का निर्धारण यदृच्छया नहीं, साहित्यिक तथा ग्रन्य ग्रात्मिक उत्पादन के प्रभाव के यांत्रिक साकल्य द्वारा नहीं – वह चाहे कितना भी महत्वपूर्ण क्यों न हो – ग्रौर ग्रंततः, सांस्कृतिक तथा भाषाई विकास की ग्राग्रहपूर्वक प्रचारित नीति द्वारा नहीं, बल्कि वर्गीय तथा सामाजिक शक्तियों के वास्तविक सहसंबंध द्वारा होता है, जब विशिष्ट विचार ग्रभिभावी सामूहिक मनोदशा में रूपांतरित हो जाते हैं, जो कालांतर में जातीय समुदाय पर विपरीत प्रभाव डालना ग्रौर उसके ग्रात्मिक स्वरूप में तबदीलियां लाना शुरू कर देती है। दूसरे शब्दों में, भाषा ग्रौर संस्कृति में जातीय कारक का सही ग्राकलन सिर्फ़ वर्गीय स्थिति से, सामाजिक प्रगति के लिए संघर्ष की स्थिति से ही संभव है। लेनिन ने इस बात पर बल दिया है कि "जनतांत्रिक ग्रौर समाजवादी संस्कृति के **तत्व**, चाहे ग्रल्पविकसित रूप में ही सही, हर **जातीय** संस्कृति में विद्यमान होते हैं, क्योंकि **हर** जाति में मेहनतकश ग्रौर

शोषित जनसाधारण होते हैं, जिनकी जीवनावस्थाएं अनिवार्यतः जनतांत्रिक और समाजवादी विचारधारा को जन्म देती हैं। लेकिन **हर** जाति में– न केवल मात्र 'तत्वों' के, बल्कि **अभिभावी** संस्कृति के रूप में–बुर्जुआ संस्कृति (और अधिकांश जातियों में साथ ही प्रतिक्रियावादी और पादरी-पुरोहितशाही संस्कृति) भी होती है। इसलिए 'जातीय संस्कृति' सामान्य रूप में भूस्वामियों की, पादरी-पुरोहितों की, बुर्जुआ वर्ग की संस्कृति **होती है**" (व्ला० इ० लेनिन, 'जातियों के प्रश्न पर आलोचनात्मक टीकाएं', १९१३)।

भारतीय जातियों का सुसंगत जनतांत्रिक आधार पर सांस्कृतिक तथा भाषाई विकास न तो अवशिष्ट सामाजिक संबंधों के साथ जुड़े पारंपरिक संभ्रांतवर्ग द्वारा, न राष्ट्रवाद और अंधराष्ट्रवाद की ओर प्रवण बुर्जुआ "बौद्धिक संभ्रांतवर्ग" द्वारा, जो सांस्कृतिक तथा भाषाई विकास में शुद्धतावाद और अतीत के आलोचनारहित स्वीकरण को लाता है, और न शहरी मध्यम संस्तरों द्वारा ही सुनिश्चित किया जा सकता है, जो अस्थिर, ढुलमुल और जातपांतगत, धार्मिक, आंचलिक तथा दूसरे घेरों से आंतरिक रूप में बंटे हुए होते हैं और इसलिए अपनी बढ़ती संख्या और राजनीतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन में सक्रिय शिरकत के बावजूद बहुधा अशक्त होते हैं।

जातीय संस्कृति में जनतांत्रिक और समाजवादी तत्वों का सुसंगत रूप से चयन करने और उन्हें प्रधान तत्व बनाने के लिए शहरी और देहाती मेहनतकश जनसाधारण को सांस्कृतिक तथा भाषाई विकास में सहभागी बनाना और उनमें अपनी जातीय भाषा तथा साहित्य में पारंगत होने की, अर्थात इस प्रकार साहित्यिक भाषा के सामाजिक आधार का आमूलतः प्रसार करने की सचेतन इच्छा का जागरण आवश्यक है।

तथ्य यह प्रमाणित करते हैं कि ऐसा सिर्फ़ जनतांत्रिक शक्तियों और सर्वोपरि भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा प्रतिक्रिया और परंपरानिष्ठता के विरुद्ध सुसंगत तथा सप्रयोजन संघर्ष के रास्ते ही किया जा सकता है। औद्योगिक तथा खेतिहर सर्वहारा का उदय अपने आप में उसके सांस्कृतिक तथा भाषाई विकास की समस्या को लेकर सचेतन संघर्ष में वर्गीय स्थिति से स्वतः खिंच आने का द्योतक नहीं है। इस प्रसंग में उन इलाक़ों में स्थिति का उदाहरण दिया जा सकता है, जहां पूंजीवादी संबंधों की स्थापना और वर्गीय ढांचे के पुनर्गठन में सिर्फ़ भारत के स्वतंत्र होने के बाद ही विशेष

तेज़ी आयी है, अर्थात इन परिघटनाओं का कोई लंबा इतिहास नहीं है। डॉ० एस० के० कुठियाल ने हरियाणा और पंजाब राज्यों में औद्योगिक उद्यमों के प्रेक्षण के आधार पर सिद्ध किया है कि इन उद्यमों में काम करनेवाले मज़दूरों का अधिकांश आसपास के गांवों का रहनेवाला है। इन आप्रवासी मज़दूरों की मनोदशा की संबद्ध गांवों के खेतिहर मज़दूरों की मनोदशा से तुलना करके उन्होंने दर्शाया है कि शहरी मज़दूरों में जातपांत की मानसिकता कमज़ोर हो जाती है और "विभिन्न जात-बिरादरियों के बीच सामाजिक भेद कम हो जाते हैं।" लेकिन पारंपरिक और नवीन सांस्कृतिक मूल्यों के आकलन में औद्योगिक मज़दूर अपने ग्रामीण सहकर्मियों की अपेक्षा अधिक रूढ़िवादी हैं। खेतिहर मज़दूर नवाचारों को औद्योगिक मज़दूरों की तुलना में अधिक तत्परता के साथ अपनाते हैं ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', २६ दिसंबर, १६७४)। पंजाब और हरियाणा में औद्योगीकरण एक सर्वथा नवीन परिघटना है। इन राज्यों के कल-कारख़ानों के मज़दूर सामान्यत: पहली पीढ़ी के आप्रवासी हैं और उनकी ज्ञात और प्रत्यक्षत: अस्थायी रूढ़िवादिता को उनकी अपने लिए असामान्य, बल्कि बेगाने शहरी परिवेश के लिए प्रतिरक्षात्मक अनुक्रिया माना जा सकता है। पुराने औद्योगिक केंद्रों का उदाहरण यह दिखलाता है कि नियमित सर्वहारा में रूपांतरित होते जाने के साथ-साथ भूतपूर्व किसान बढ़ती हुई तत्परता के साथ वैज्ञानिक समाजवाद के विचारों सहित नये विचारों और मूल्यों को ग्रहण करता जाता है। लेकिन यहां भी मज़दूर वर्ग का सांस्कृतिक तथा भाषाई समस्या के सर्वहारा दृष्टिकोण से समाधान के संघर्ष में स्वत: समावेश नहीं हो जाता। इसके लिए समय की और सर्वहारा की चेतना में वैज्ञानिक समाजवाद के विचारों के विधिवत पोषित किये जाने की आवश्यकता होती है कि वह अपनी संस्कृति के लिए और अपनी जातीय भाषा के सुसंगत रूप से जनतंत्रीकरण के लिए संघर्ष में सचेतन भाग लेने लगे।

जहां तक खेतिहर मज़दूरों की बात है, तो यह ध्यान में रखना ज़रूरी है कि वे सामान्यतया तबाह भूस्वामी नहीं, वरन अस्पृश्य जातियों के लोग होते हैं, जिनके पास ज़मीन कभी नहीं रही है, जो हमेशा से कठोर सामाजिक भेदभाव को झेलते आये हैं और ग्रामीण समाज के बाहर रखे गये हैं। देहाती आबादी के इस संस्तर के लिए कोई भी परिवर्तन बेहतरी की तरफ़ तबदीली ही है। यह आशा की जा सकती है कि देहात में वर्ग-संघर्ष में प्रखरता आने के साथ-साथ ग्रामीण सर्वहारा की अपनी (सामा-

जिक स्वरूप में कृषक) आत्मिक थाती के पुनर्मूल्यांकन और समृद्धीकरण में संभाव्यताओं की अधिकाधिक सिद्धि होती जायेगी।

पुस्तक के इस हिस्से में भारत के उन इलाक़ों का कोई उल्लेख नहीं किया गया है, जहां जातीय विकास की प्रक्रिया भ्रूणावस्था में ही है। ये अधिकांशतः तथाकथित अनुसूचित जनजातियों द्वारा आवासित इलाक़े हैं। दक्षिण एशिया में संजातीय प्रक्रियाओं के विश्लेषण के आधार पर न० न० चेबोक्सारोव इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि संसार के इस भाग में विद्यमान विभिन्न सामाजिक-आर्थिक प्रणालियां प्राक्-जातीय आर्थिक तथा सांस्कृतिक बंधुताओं के नाना रूपों को जन्म देती हैं, जो संजातीय विकास का मुख्य तत्व जातीय समेकन होने की सूरत में संक्रामक अवस्थाओं को द्योतित करती हैं।

इस प्रकार की अनेक संक्रामक बंधुताओं – संजाति-भाषाई, संजाति-आर्थिक, संजाति-सांस्कृतिक और संजाति-धार्मिक – को विभेदित किया जाता है, जिन्हें भारत में "जनजाति" के नाम के अंतर्गत एक साथ वर्गीकृत संजातीय समूहों में भी पाया जा सकता है। "नानास्तरीयता और बहुधा अनिश्चित संजातीय चेतना, अल्पविकसित सामाजिक संबंध और सामाजिक-आर्थिक तथा सांस्कृतिक पिछड़ापन इनमें से प्रत्येक की अभिलाक्षणिकता है" ('दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों में संजातीय प्रक्रियाएं' [रूसी में], मास्को, १९७४, पृ० २८६–३१८)। इन समूहों के विकास की समस्याएं विशेष, मुख्यतः संजातिवृत्तीय, अनुसंधान की अपेक्षा करती हैं।

जातीय आत्मचेतना और जाति के जीवन में उसकी भूमिका

यह कहना सर्वथा युक्तिसंगत प्रतीत होता है कि जातीय आत्मचेतना किसी जाति के गठन और जीवन में सबसे महत्वपूर्ण कारकों में से एक है। प्रत्यक्षतः, पूर्णतः गठित जाति की उस सूरत में बात भी नहीं की जा सकती कि उसका निर्माण करनेवाले व्यक्तियों में उसका अंग होने की चेतना न हो। विकसित जातियों का अनुभव दिखलाता है कि जातीय समेकन-प्रक्रिया जातीय साहचर्य के सदस्यों में अनिवार्यतः जातीय आत्मचेतना उत्पन्न करती है। जाति के अस्तित्व की विभिन्न अवस्थाओं में जातीय आत्मचेतना अन्य

सभी भावनाओं को पृष्ठभूमि में धकेलकर अभिभावी जनमत की भूमिका अदा कर सकती है। आत्यंतिक अवस्थाओं – जातीय उत्पीड़न, मुक्ति संग्राम, युद्ध, विदेशी आक्रमण अथवा दैवी आपदाओं के समय – में वह अपने को सबसे स्पष्ट रूप में अभिव्यक्त करती है। ऐसे समय में वह जनव्यापी समूहन का मुख्य साधन बन जाती है। इसके कारण जातीय आत्मचेतना अकसर अनन्य महत्व प्राप्त कर लेती है। इस तरह के सिद्धांत पैदा हो जाते हैं, जो सभी जातीय अभिलक्षणों को सिर्फ़ एक – मनोवैज्ञानिक अभिलक्षण – में परिणत कर देते हैं। इस तरह के सिद्धांतों के अनुसार जाति को "एक ही तरह से सोचने और एक ही तरह से बोलनेवालों का संघ" (आर० श्प्रिंगर), अथवा "अपनी एकता में विश्वास करनेवाले सदस्यों का संघ" (आर० म्यूर), आदि माना जाता है।

अगर सामान्यतः अवैज्ञानिक और प्रचारात्मक स्वरूप के "जातीय भावना" के विचार के बारे में अंधराष्ट्रवादी अटकलों को अलग रहने दिया जाये, तो जातीय आत्मचेतना के अनन्य महत्व प्राप्त करने का कारण इस भ्रांत दावे में प्रकट होता है कि जातीय सूत्र गोत्रीय सूत्रों का सातत्य और विकास हैं। यही नहीं, जातीय और संजातीय आत्मचेतना को तदात्मीकृत दिया जाता है। इस तरह के तदात्मीकरण का ग़लत होना प्रत्यक्ष है। जातीय और संजातीय आत्मचेतना गुणात्मक रूप से भिन्न संवर्ग हैं, यद्यपि जातीय आत्मचेतना में संजातीय आत्मचेतना भी शामिल हो सकती है। संजातीय आत्मचेतना वास्तविक अथवा कल्पित सामान्य उद्गम में विश्वास पर आधारित होती है, जब कि जातीय आत्मचेतना सामान्य भाषा और सामान्य प्रदेश, ख़ासकर जब जातीय राज्यत्व अस्तित्वमान हो, आर्थिक संबंधों की स्थिर एकता और, अंततः, सामाजिक उत्पादन में भूमिकाओं के साम्य जैसे वस्तुपरक कारकों की क्रिया के परिणामस्वरूप उदित होती है। बुर्जुआ समाज में जातीय आत्मचेतना अंतर्विरोधी होती है, जब कि अल्पविकसित वर्ग-संबंधोंवाले प्राक्-जातीय संजाति समुदाय में उसकी आत्मचेतना सामाजिक रूप से अविभेदित रह सकती है। जाति का निर्माण होने की प्रारंभिक अवस्था में उसकी आत्मचेतना मुख्यतः बुर्जुआ होती है, क्योंकि भौतिक उत्पादन तथा आत्मिक जीवन में अग्रणी स्थितियों पर आसीन बुर्जुआ वर्ग अपने हितों को जातीय हितों के रूप में प्रस्तुत करता है। सर्वहारा के "अपने तईं" वर्ग में विकसित होते जाने के साथ-साथ बुर्जुआ राष्ट्रवाद के विरुद्ध और जातीय आत्मचेतना का अन्य जातियों के ख़िलाफ़

द्वेष भड़काने, मेहनतकशों में फूट डालने और उनके बीच जातीय अवरोध खड़े करने के लिए उपयोग करने के विरुद्ध संघर्ष बल पकड़ता जाता है। वैज्ञानिक समाजवाद के विचारों की विजय जातीय आत्मचेतना को मेहनतकश जनता की अंतर्राष्ट्रीय एकता के एक महत्वपूर्ण कारक में परिणत कर देती है।

जातीय और संजातीय आत्मचेतना के बीच एक और महत्वपूर्ण अंतर यह है कि अंतोक्त प्राक्-जातीय संजाति समूहों में पायी जाती है, जो अलगाव में, संवृत्त समूहों में अथवा ऐसे समूहों में रहते हैं, जिनके बाह्य संबंध अल्पविकसित ही होते हैं। जातीय आत्मचेतना एक ही बहुजातीय देश के भीतर अथवा राष्ट्रीय राज्यों के बीच दूसरी जातियों के साथ घनिष्ठ अन्योन्यक्रिया की अवस्थाओं में विकसित होती और अपने आपको अभिव्यक्त करती है। इस अन्योन्यक्रिया के चौखटे के भीतर जातीय आत्मचेतना के राष्ट्रवाद और अंतर्जातीयता तथा अंतर्राष्ट्रीयता, जातीय अनन्यता और दूसरी जातियों के लिए आदर जैसे पहलुओं के बीच संघर्ष चल रहा है।

अंतिम बात यह कि संजातीय आत्मचेतना आम तौर पर सुस्पष्ट सीमांतों और अभिलक्षणों से युक्त अपेक्षाकृत छोटे संजाति समूहों में पायी जाती है। वर्तमान बड़ी जातियां वास्तव में अनेक संजाति समूहों का सम्मिश्रण हैं। संजाति समूहों की चेतना को आत्मसात करते हुए जातीय आत्मचेतना वास्तव में उसे बहिष्कृत करती है, यद्यपि कुछ उपजातीय समूहों (जैसे उक्रइनियों में हुत्सुलों) में संजातीय आत्मचेतना के तत्व परिरक्षित रह सकते हैं।

विकास की सामान्य प्रवृत्ति यह है कि जातीय समेकन के साथ-साथ अपनी विभिन्न अभिव्यक्तियों में जातीय आत्मचेतना संजातीय तथा प्रादेशिक भावनाओं और जातपांतगत तथा सांप्रदायिक मानसिकता का स्थान लेती जाती है। लेकिन भिन्न-भिन्न सामाजिक-आर्थिक विरचनाओंवाले समाज में यह परिवर्तन नूतन के पुरातन के विरुद्ध लंबे और कष्टदायी संघर्ष की अवस्थाओं में होता है, जिसके दौरान नूतन और पुरातन साथ-साथ अस्तित्वमान रहते हैं और लंबे समय तक पुरातन का प्राधान्य बना रहता है।

जाति के निर्माण में जातीय आत्मचेतना की भूमिका का अतिमूल्यांकन सामाजिक चेतना के द्वितीयक स्वरूप की उपेक्षा करने का भी परिणाम होता है। जाति एक सामाजिक-संजातीय समुदाय है, जिसका उदय बुर्जुआ संबंधों और सामंतवाद के स्थान पर आयी बुर्जुआ उत्पादन-विधि के विकास

पर निर्भर है। इसलिए जातीय आत्मचेतना को रूपांतरित अथवा "विस्तारित" संजातीय चेतना नहीं माना जा सकता। सामाजिक चेतना के एक रूप के नाते जातीय आत्मचेतना तब और तहां उदित होती है, जब और जहां जाति के निर्माण के लिए वस्तुपरक अवस्थाएं उत्पन्न होती हैं। इस वस्तुपरक आधार पर ही जातीय समुदाय के सदस्यों को अपनी एकता का अहसास होता है। साथ ही, एक बार उदित होने और विकास के एक ख़ास स्तर पर पहुंच जाने के बाद जातीय आत्मचेतना कुछ मात्रा में स्वतंत्रता प्राप्त कर लेती है और जाति के भावी जीवन में, उसे उत्पन्न करनेवाले कारकों पर विपरीत प्रभाव डालते हुए, महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करती है। इस प्रसंग में यह रेखांकित करना आवश्यक है कि जातीय आत्मचेतना प्रत्येक व्यक्ति में अंतर्निहित एक सजीव और स्वतःस्फूर्त भावना है, जिसमें वह जातीय समाज के भीतर उसकी सामाजिक स्थिति के अनुसार भिन्न-भिन्न अनुक्रियाएं उत्पन्न करती है, और वह जातीय संघटन का किसी क़िस्म का कोई मनोवैज्ञानिक प्रतीक नहीं है। सामाजिक चेतना के एक तत्व के रूप में जातीय आत्मचेतना आम तौर पर कोई सिद्धांततः निरूपित दृष्टिकोण नहीं प्रस्तुत करती और वह संकल्पनाओं में नहीं, भावनाओं में व्यक्त होती है।

एक साथ ही जनव्यापी रुझान, सामाजिक चेतना का अंग तथा व्यक्तिगत भावनात्मक अनुभव भी होने के कारण जातीय आत्मचेतना इतना बौद्धिक नहीं, जितना शासक वर्गों के विचारों का प्रचार करनेवाले भावनात्मक नारों के प्रभाव में आती है। तमिलों में उत्तर के और केंद्रीय सरकार के और उसके बाद अपने पड़ोसियों के ख़िलाफ़ द्वेष भड़काकर तमिलनाडू में द्रमुक नेताओं ने राज्य की आबादी को इसका क़ायल करने की कोशिश की कि सारी ख़ामियों का उत्तरदायित्व द्रमुक सरकार पर नहीं, वरन केंद्रीय सरकार और पड़ोसी राज्यों पर है। महाराष्ट्र की अंधराष्ट्रवादी शिवसेना मराठा राष्ट्रवाद के नारों को पोषित करते हुए और बंबई के मेहनतकशों की अपर्याप्तरूपेण विकसित वर्ग-चेतना का उपयोग करते हुए उन्हें दक्षिण भारतीय राज्यों के रहनेवालों के ख़िलाफ़ उकसाती है और इस तरह जाति के लिहाज़ के बिना वास्तविक शोषकों के विरुद्ध संघर्ष से विरत करती है। जातीय आत्मचेतना का इस प्रकार बुर्जुआ वर्ग के वर्गीय लक्ष्यों के लिए उपयोग किया जाता है, जो मेहनतकशों के प्रतिकूल हैं।

जातीय आत्मचेतना किसी ख़ास सामाजिक-संजातीय समूह का अंग

होने की अनुभूति तक ही सीमित नहीं है। विकसित रूप में यह जातीय अभिमान, देशप्रेम, कुछेक जातीय मूल्य रखने के अहसास, जातीय उत्पीड़न और असमानता का सामना करने की तत्परता और दूसरी जातियों के लिए आदर जैसे भावों और भावनाओं का एक जटिल समुच्चय प्रतीत होती है। साथ ही शोषक वर्ग जातीय आत्मचेतना को जातीय अहंकार, राष्ट्रवाद, अंधराष्ट्रवाद और दूसरी जातियों के प्रति शत्रुता में बदलने और मेहनतकश जनसाधारण पर अपनी जाति तथा अन्य सामाजिक-संजातीय समूहों की विकृत संकल्पना थोपने का यत्न करते हैं।

जैसे कि ऊपर बतलाया जा चुका है, जातीय आत्मचेतना के निर्माण में कई वस्तुपरक कारक भाग लेते हैं, जिनमें सामान्य भाषा सबसे महत्व-पूर्ण है। फिर से याद दिला दें कि एक सामाजिक परिघटना के रूप में भाषा का कार्य समाज में उसकी मुख्य भूमिका – संसर्गात्मक-संप्रेषणात्मक – के साथ ही ख़त्म नहीं हो जाता। भाषा के संज्ञानात्मक और संजातीय कृत्य भी हैं। मातृभाषा के रूप, बोलचाल का स्वनिक स्वरूप, बलाघात और स्वर-शैली, शैशव से ही परिचित और गहन सार्थकता से परिपूर्ण शब्द, वास्तविकता के प्रकट होने और उसके संज्ञान के विशिष्ट रूप और भाषा-कूट में संचित विशाल सकारात्मक अनुभव – ये सब बाह्य आभास और आचरण के अभिलाक्षणिक ढंग के साथ किसी ख़ास समुदाय का अंग होने के प्रकट लक्षण का काम देते हैं। रूपांतरित होने और बदलनेवाले दूसरे बाहरी अभिलक्षणों में यह भाषा ही है कि जो शैशव से ही किसी जाति का अंग होने की इस अनुभूति को सबसे विश्वसनीय ढंग से सुनिश्चित करती है, जिसे वह विदेशी भाषा के पर्यावरण में प्रखर करती है। भाषा का संजातीय कृत्य अपनी मातृभाषा के साथ भावात्मक लगाव को सुनिश्चित करता है, अपनी भाषा के लिए अभिमान की भावना उत्पन्न करता है और उसके बोलनेवालों में मातृभाषा के अधिकारों के किसी भी – वास्तविक अथवा कल्पित – अतिक्रमण के प्रति प्रचंड अनुक्रिया पैदा करता है। अंतिम बात यह कि भौतिक तथा आत्मिक उत्पादन की प्रक्रिया में, सामाजिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक जीवन में, संसर्ग की अपेक्षा करनेवाले मानव-कार्यकलाप के लगभग सभी क्षेत्रों में भाषा एकीकारी कार्य का निष्पादन करती है, पर साथ ही संबद्ध जातीय समूह के सदस्यों को दूसरी जातियों तथा संजाति समूहों से, विशेषकर भाषाई विकास में शुद्धतावादी प्रवृत्तियों के अभिभावी होने की अवस्थाओं में, विलग भी करती है।

जातीय प्रक्रियाओं में भाषा की भूमिका और महत्व की क़द्र करते हुए साथ ही इस पर ज़ोर दिया जाना चाहिए कि सिर्फ़ सामान्य भाषा ही अथवा सिर्फ़ भाषाई एकता की अभिज्ञा ही अपने में जातीय आत्मचेतना के सफलतापूर्वक विकसित होने और जातीय समेकन के लिए आवश्यक तो हैं, पर काफ़ी नहीं हैं। जैसे कि सारणी ४ (पृ० ४०) से पता चलता है, पूर्ववर्ती अध्यायों में विश्लेषित २४ भाषाओं में से, जिनमें से प्रत्येक के बोलनेवालों की संख्या १० लाख से अधिक है, १६ भाषाएं (सिंधी, भीली, राजस्थानी, माध्यमिक पहाड़ी और बिहारी भाषाओं को न गिनते हुए) बोलनेवालों का अभिलक्षण भाषाई अभिज्ञा का अत्युच्च स्तर है। जनगणना के समय ६०% (पंजाबी) से १००% (असमिया) लोगों ने मानक भाषा को अपनी मातृभाषा बतलाया, यद्यपि, वास्तव में, मानक साहित्यिक भाषा जाननेवालों की प्रतिशतता कहीं अधिक नीची है, क्योंकि इन भाषाओं को बोलनेवालों में से अधिकांश बोलियों का प्रयोग करते हैं। इसके अलावा कोंकणियों, ओरांवों, संथालों और गोंडों में, जिन्हें इन १६ भाषाओं में शामिल किया गया था, जैसे कि हमने देखा है, निर्माणाधीन जातियों के महत्वपूर्ण लक्षणों का अभाव है और उनका जातीय विकास सामाजिक-आर्थिक पिछड़ेपन के कारण भ्रूणावस्था में ही है।

अगर उपरोक्त बातों को ध्यान में रखा जाये, तो संजातीय तथा जातीय आत्मचेतना के बीच की एक अंतर्वर्ती कड़ी को प्रतिनिधित करनेवाली भावनाओं का निर्धारण करने के लिए "जातीय तथा भाषाई चेतना" की संकल्पना को पेश करना संभव हो जाता है। इस संकल्पना में सन्निहित "जातीय" तत्व यह दिखलाता है कि इस प्रवृत्ति की दिशा संजातीय समूहों के जाति में गठन और समेकन की तरफ़ है। जातीय-भाषाई चेतना जातीय आत्मचेतना की अपेक्षा कम निश्चित होती है, क्योंकि प्रथमोक्त केवल एक—भाषाई—अभिलक्षण पर आधारित है। ऊपर कहा जा चुका है कि १६५१ और १६६१ के बीच भारत में अनेक भाषाई मोड़ आये हैं, अर्थात प्रादेशिक, जातपांतगत और सांप्रदायिक स्वरूप के विभिन्न भाषातीत कारकों के प्रभाव में लोगों के अपनी मातृभाषा के प्रति रवैये में परिवर्तन आये हैं (असम, बिहार और पंजाब में)। हिंदी क्षेत्र की बात करते हुए यह दृष्टव्य है कि उसकी आबादी में अकेली जातीय तथा भाषाई चेतना का विकास, अर्थात वस्तुतः प्रयुक्त बोली को नहीं, वरन साहित्यिक हिंदी को मातृभाषा बत-

लाने का जनगणना में लक्षित रुझान, जातीय समेकन के दूसरे कारकों–सामान्य प्रदेश और आर्थिक सूत्रों–के अभाव में, अभी तक जातीय आत्म-चेतना की उत्पत्ति की तरफ़ नहीं ले गया है। अपने को भारतीय कहने से लेकर किसी विशेष जात-बिरादरी, संप्रदाय अथवा निवासस्थान से अपने संबंध को व्यक्त करने तक के आत्मतदात्मीकरण के सर्वथा विपरीत रूपों का होना हिंदुस्तानियों का, अर्थात हिंदीभाषी आबादी का अभी हाल ही तक विशिष्ट लक्षण रहा है।

भारतीय विद्वानों द्वारा जनजातियों में वर्गीकृत किये जानेवाले समूहों–गोंडों, संथालों और ओरांवों–में स्थिर संजातीय आत्मचेतना पायी जाती है, जो कुछ सूरतों में जातीय तथा भाषाई चेतना में परिणत हो रही है। नागाओं में, जो एक-दूसरी से काफ़ी भिन्न बोलियां बोलनेवाले अनेक गोत्रों में बंटे हुए हैं, जातीय तथा भाषाई चेतना अभी भ्रूणावस्था में ही है। सभी नागाओं की एक सामान्य नागा भाषा की रचना की दिशा में अभी पहले क़दम ही उठाये गये हैं। संजातीय चेतना उत्तरप्रदेश के पहाड़ी इलाक़ों के निवासी कुमायूंनी (कुमैंया) और गढ़वाली लोगों में भी व्याप्त है। "कुमायूंनी लोगों में, जो अधिकांशतः हिंदू हैं, जातिप्रथा का कठोरता के साथ पालन किया जाता है। समाजशास्त्रीय दृष्टि से हर जात-बिरादरी, जो घनिष्ठतः अंतर्ग्रंथित और बिरादरी के भीतर ही शादी-ब्याह करनेवाला समुदाय है, अलगाववादी स्वभाव की ही रही है। उनमें जो अकेली चीज़ें सामान्य हैं, वे हैं ठंडी पहाड़ी हवा, अपने आंचलिक रूपांतरों के साथ सामान्य बोली और संजातीय दृष्टि से औरों से भिन्न होने का अहसास" ('हिंदुस्तान टाइम्स', १३ जून, १९७६)।

समकालीन भारत के जातीय समेकन के पथ पर काफ़ी आगे आये हुए कुछ सामाजि-कसंजातीय समूहों में पहले ही निर्मित हो चुकी और अत्यंत भिन्न रूपों में व्यक्त जातीय आत्मचेतना देखने में आती है। हम यहां असमिया, ओड़िया, गुजराती, तमिल, तेलुगू, बंगाली, मराठा और मल-याली लोगों की बात कर रहे हैं। इसके बावजूद साठ के दशक में आंध्र, गुजरात और महाराष्ट्र में प्रादेशिकतावादी आंदोलन पैदा हुए। जैसे कि हम देख चुके हैं, इन आंदोलनों ने कुछ अवस्थाओं में इन राज्यों में रहनेवाली जातियों में फूट पैदा करने का ख़तरा पेश कर दिया था। प्रादेशिकतावादी भावनाओं के अलावा जातपांतगत और सांप्रदायिक मानसिकता भी भारतीय सामाजिक-संजातीय समूहों की लाक्षणिकता है, जो जातीय समेकन की प्रक्रि-

या के विकास और विशेषकर जातीय आत्मचेतना की स्थापना में बाधा डालती है। न० न० चेबोक्सारोव लिखते हैं : "इनमें से प्रत्येक बड़े संजाति-समूह द्वारा सर्जित संस्कृति की अभिव्यक्ति सबसे विशिष्ट रूप में, सामान्यतया, मेहनतकश किसानों में हुई, जो एशियाई देशों में सर्वत्र उस समय (और अब भी) आबादी के पूर्ण बहुलांश का निर्माण करते थे। लेकिन आबादी के सभी संस्तरों की चेतना इतना उनके संजातीय संबंध को नहीं, जितना निश्चित प्रादेशिक-पड़ोसी, सामाजिक-जातपांतगत और धार्मिक तथा सांप्रदायिक समुदायों के साथ उनके सूत्रों को प्रतिबिंबित करती थी" ('दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों में संजातीय प्रक्रियाएं', पृ० ३०२)।

जातीय समेकन-प्रक्रियाओं पर जातपांतीय मानसिकता का प्रभाव

समकालीन भारत की अधिकांश आबादी के लिए परंपरा द्वारा विहित अपने नियमों सहित जातिप्रथा अब भी एक दैनंदिन वास्तविकता बनी हुई है, जो सामान्य प्रतिमानों और प्रथाओं, राजनीतिक विचारणा तथा आचरण के कारणों और मूल्यों तथा बाहरी दुनिया के प्रति रवैयों के मानदंडों का निर्धारण करती है। जातिप्रथा के चौखटे ने अपने भीतर ऐसी पृथक कोशिकाओं में विभक्त भारतीय समाज के लघु वर्गीकरण को बनाये रखा है, जिनके बीच संबंध को ग० ग० कोतोव्स्की ने इन शब्दों में बहुत ही उपयुक्त ढंग से सूत्रित किया है : "अगर जातिप्रथा को एक जटिल अणु के रूप में देखा जाये, तो जात-बिरादरियों के बीच संसर्ग में बंधन अंतःअणुक शक्तियों की भूमिका अदा करते हैं, जो परस्पर आकर्षण और विकर्षण द्वारा पृथक परमाणुओं (जात-बिरादरियों) को गतिशील साम्यावस्था (सोपानिक ढांचे) में रखती हैं" ('भारत में जातिप्रथा' [रूसी में], मास्को, १९६५, पृ० १२)।

अनुसूचित जाति आयोग के अध्यक्ष इलायापेरूमाल ने जातपांतगत निषेधों के कुछ चरमों के उदाहरण दिये थे : "रतलाम (मध्यप्रदेश) में हरिजनों को अपनी मूंछों पर ताव देकर ऊपर नहीं रखने दिया जाता। हरिजन स्त्रियां कानों में बुंदे नहीं पहन सकतीं और नेयवेली में हरिजनों का साइकिल पर सवार होना एक सामाजिक अपराध है" ('इंडियन एक्सप्रेस',

२६ अक्तूबर, १९६८)। इन निषेधों को "मानदंडों" का उल्लंघन करनेवालों के ख़िलाफ़ हिंसा की धमकियों से मनवाया जाता है और अकसर उन्हें सवर्ण हिंदुओं द्वारा कार्यरूप में परिणत किया जाता है।

जातपांत का राजनीतिक तथा सामाजिक ज़िंदगी में ख़ास महत्व है। भारतीय समाजशास्त्री टी० एन० मदान ने लिखा है: "साठ के दशक ने हमें सिखाया है कि जातपांत भारतीय राजनीति के मुख्य कारकों में मात्र एक है और स्थानीय से ज़िला और ज़िला से राष्ट्रीय स्तर पर जाने के साथ-साथ वह अपने महत्व को अधिकाधिक गंवाती जाती है" ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', ११ जनवरी, १९७०)।

१९६७ के चुनावों में मतदान के प्रेरकों के पुणे विश्वविद्यालय के राजनीतिशास्त्र विभाग द्वारा किये गये सर्वेक्षण ने पिछले (१९६२ के) सर्वेक्षण के निष्कर्षों की पुष्टि की, जो यह दिखलाता है कि जातपांत का प्रभाव एक प्रधान कारक बना रहा है, जो आदमी के पेशे, व्यवसाय, आयु अथवा आय, आदि से अधिक प्रबल है ('पैट्रियट', २१ जुलाई, १९६९)। हरियाणा में इसी तरह के एक सर्वेक्षण ने दिखलाया कि "एक विश्वसनीय अनुमान के अनुसार ७५% निर्वाचन क्षेत्रों में जातपांत का विचार ही मतदान के स्वरूप को शासित करता है" ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', २४ मई, १९६८)। जातिप्रथा के क्षेत्र में एक प्रमुख भारतीय विद्वान प्रो० एम० एन० श्रीनिवास ने लिखा है: "ओक्कालिगाओं और लिंगायतों के बीच प्रतिद्वंद्विता को अगर ध्यान में न रखा जाये, तो मैसूर राज्य की राजनीति अनबूझ ही रहेगी। इसी तरह से केरल में नायरों, इलवाओं और सीरियाई ईसाइयों में त्रिकोणात्मक संघर्ष चलता है। जहां आंध्रप्रदेश में मुख्य प्रतिस्पर्धी बिरादरियां रेड्डी और कम्मा हैं, वहां महाराष्ट्र में मराठे, ब्राह्मण और महार, तो गुजरात में बनिये, पट्टीदार और कोली और बिहार में भूमिहार, कायस्थ और राजपूत हैं। लेकिन यह कहना अत्यधिक अतिसरलीकरण करना होगा कि किसी राज्य में राजनीति की पूरी तरह से जातपाँत के हवाले से ही व्याख्या की जा सकती है। सच तो यह है कि जातपांत राज्यों की राजनीति में मात्र एक तत्व, मगर एक बहुत ही महत्वपूर्ण तत्व है" (एम० एन० श्रीनिवास [संपा०], 'आधुनिक भारत में जातपांत' [अंग्रेज़ी में], बंबई, १९६२, पृ० ५–६)। यह प्रतिबंध आवश्यक है, क्योंकि जातिप्रथा समकालीन भारत के नानारूप सामाजिक स्वरूप के बहुत सारे तत्वों में सिर्फ़ एक ही तत्व है।

एक ऐसी सामाजिक संस्था के रूप में, जिसके ढांचे के भीतर समाज के जीवन के कितने ही पहलू संगठित हैं, जातिप्रथा असाधारण स्थिरता और साथ ही अत्यधिक नमनीयता और बदलती हुई अवस्थाओं के लिए अनुकूलनशीलता भी प्रदर्शित करती है। जातिप्रथा उन संप्रदायों और बिरादरियों में भी बनी रही है, जो औपचारिक रूप में उसे नहीं मानते। उदाहरण के लिए, जातिप्रथा के अस्वीकरण पर आधारित सिख संप्रदाय में भी जात-पांतगत टकराव हैं, विशेषकर जाट सिखों और मज़हबी सिखों (अछूतों) के बीच। मज़हबी सिखों का तो अपना अलग संगठन—अखिल भारतीय बाबा जीवनसिंह मज़हबी दल—भी है। स्मरणीय है कि एकभाषी पंजाब के लिए आंदोलन के समय, जो मुख्यतः जाट सिखों की अगुआई में था, मज़हबी सिख समूचे तौर पर यह समझते हुए हरियाणा के पृथक्करण के ख़िलाफ़ थे कि एकभाषी पंजाब में जाट सिखों का प्राबल्य और बढ़ जायेगा।

जातपांतगत पूर्वग्रह समाज के सबसे अधिक गतिशील प्रतीत होनेवाले अंशकों—छात्रों—में भी बने हुए हैं। यह सिर्फ़ समाजशास्त्रीय प्रेक्षणों से ही नहीं, स्वयं छात्र-जीवन के संगठन के रूपों—पृथक छात्रावासों, भोजनालयों, आदि—से भी प्रमाणित होता है। जातपांत की समस्या के बारे में 'सेमीनार' के एक संपादकीय लेख में कहा गया था: "याद रखना चाहिए कि हमारे विश्वविद्यालयों में से कुछ को 'ब्राह्मण', 'चेट्टियार', 'लिंगायत' अथवा 'क्षत्रिय' जैसे अनौपचारिक नामों का दिया जाना हरगिज़ सांयोगिक नहीं है" ('सेमीनार', अंक ७०, १९६५)। छात्र समुदाय में जातपांतगत संबंधों का नैरंतर्य बना हुआ है, यद्यपि ठीक यहीं उनके सबसे तेज़ी के साथ ध्वस्त होने की अपेक्षा की जानी चाहिए थी।

जातपांत भारतीय सेना जैसी सरकारी संस्था में भी बनी हुई है, जहां अधिकतम एकीकरण अपेक्षित है। भारतीय थल सेना में पारंपरिक रूप से जातपांत के आधार पर गठित रेजीमेंटें—जाट, राजपूत, महार, सिख, आदि—अब तक चली जा रही हैं। १९६७ में भारत सरकार ने सेना का "रेजीमेंटीय स्तर पर विभिन्न इकाइयों में वर्गीय, जातपांतगत तथा धार्मिक अंतरों को मिटाकर उसे राष्ट्रीय स्वरूप" प्रदान करने के लक्ष्य से पुनर्गठन करने का निर्णय किया ('इंडियन एक्सप्रेस', १९ सितंबर, १९६८)। इस निर्णय का कुछ जातपांतीय संगठनों के नेताओं ने विरोध किया, जिनकी दिलचस्पी यथास्थिति को बनाये रखने में थी, जिसकी

बदौलत उनका अपनी बिरादरियों के सैन्यकर्मियों पर प्रभाव बना रहता है। इन सभी बातों के आधार पर भारत के रक्षा मंत्री ने कहा था कि "खेद की बात है कि भारतीय सेना जातपांतगत आधार पर संगठित है" ('स्टेट्समैन', १२ जुलाई, १९७०)।

एम० एन० श्रीनिवास, एल० पी० विद्यार्थी और दूसरे भारतीय विद्वानों की कृतियों में लक्षित किया गया है कि जात-बिरादरी अब भी अलग-अलग जनजातियों और जनजाति समूहों के अलगाव से अपने परिवेशी–मुख्यतः हिंदू–समाज में समावेशन का एक लाक्षणिक रूप बनी हुई है। आर्थिक जीवन तथा सामाजिक संसर्ग में प्रवेश करनेवाले जनजातीय समूह को आसपास की आबादी द्वारा सामाजिक सोपान की सबसे निचली पैड़ी पर स्थित एक नयी बिरादरी समझा जाता है। कालांतर में इस तरह की बिरादरी ऊंची हैसियत का दावा कर सकती है। मिसाल के लिए, राज गोंड चाहते हैं कि उन्हें क्षत्रिय माना जाये। संजातीय विकास की इस आरंभिक मंज़िल में भी जातपांत की भूमिका ऐसे कारक के रूप में प्रकट होती है, जो स्वाभाविक स्वांगीकरण प्रक्रिया में बाधक है। अपनी भाषा और संजातीय चेतना के कुछ लक्षणों को गंवाने के बाद भी इस तरह का समूह वियुक्त ही रहता है, क्योंकि वह एक बिरादरी की स्थिति में होता है।

जातिप्रथा की जीवनक्षमता का मुख्य कारण उसकी अपने को बदलती सामाजिक-आर्थिक अवस्थाओं के अनुरूप ढालने की क्षमता है। "एक सामाजिक संस्था के नाते जातिप्रथा ने आश्चर्यजनक उत्तरजीविता प्रकट की है। अपने आधार–सामंती उत्पादन संबंधों–के तीव्र क्षरण के बावजूद इसने संबद्ध समाज में वर्ग-निर्माण का तत्व होने के नाते विकासमान बुर्जुआ समाज की आर्थिक तथा राजनीतिक संरचना में नया कार्यात्मक गुरुत्व प्राप्त कर लिया है" ('भारत में जातिप्रथा' [रूसी में], पृ० ३६)। जातिप्रथा के भारतीय बुर्जुआ समाज में वर्ग-निर्माण प्रक्रिया के अनुकूलन के रूप बहुत जटिल हैं और उनका विस्तार से अध्ययन नहीं किया गया है। इनमें से सिर्फ़ कुछ, सबसे प्रत्यक्ष रूपों को ही विशेष विश्लेषण के बिना देखा जा सकता है। सर्वोपरि, जात-बिरादरियों का छोटी और छोटी से भी छोटी उपजात-बिरादरियों में खंडीकरण रोकने, उन्हें समामेलित करने और विभिन्न बिरादरियों के सदस्यों के काम में एकरूपता लाने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो गयी है। देहात में पण्य-द्रव्य संबंधों और आर्थिक सूत्रों का विकास विभिन्न जात-बिरादरियों के लिए विनिर्दिष्ट कुछ पेशों को अनावश्यक

बनाकर पारंपरिक समुदाय को अवश्यंभावी रूप से नष्ट करता है। ये जात-बिरादरियां और उपबिरादरियां नदिकाओं की तरह से एक ऐसी श्रेणी में एकाकार होती जा रही हैं, जो एक वर्ग में रूपांतरित होने की दहलीज़ पर है या रूपांतरित हो भी चुकी है। "बढ़ते मानकीकरण के साथ-साथ ऐसे समूहों के बीच सामाजिक संसर्ग बढ़ता जा रहा है, जिन्होंने विगत में कुछ मात्रा में अलगाव को बनाये रखा था... सबसे सामान्य प्रवृत्ति जातिप्रथा के भीतर निकटस्थ अंशकों के स्थायीवत समूहन की तरफ़ है" ('सेमीनार', अंक ७०, १९६५)। स्वातंत्र्योत्तर भारत की अवस्थाओं में इस प्रक्रिया में काफ़ी तेज़ी आ गयी है। "स्वतंत्रता के आगमन और सार्विक मताधिकार के अंगीकरण के साथ इस देश में जातिप्रथा के इतिहास में एक नया चरण शुरू हो गया है," पटना विश्वविद्यालय के समाजशास्त्र विभाग में उपाचार्य वी० एम० सिर्सीकर लिखते हैं। "सार्विक मताधिकार ने अधिकांश मंझोली जात-बिरादरियों के लिए राजनीतिक सत्ता को प्राप्त करने की असीम संभावनाएं उन्मुक्त कर दीं, जिन्हें संपत्ति और शिक्षा पर आधारित अत्यंत सीमित मताधिकार के कारण अभी तक सत्ता में अपने वाजिब हिस्से से वंचित रखा जाता था। यह देखना दिलचस्प है कि यद्यपि जातपांतीय सोपान में बहुत से रूपभेद हैं, फिर भी कई इलाक़ों में आम तौर पर मंझोली जात-बिरादरियां ही राजनीतिक मंच के केंद्र में हैं... राजनीतिक रंगमंच में वे आपस में अब भी बढ़ती समानता के आधार पर प्रतिद्वंद्विता कर रही हैं..." (वहीं)।

जातपांतीय संगठनों का स्वरूप भारत की राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था और राजनीतिक जीवन में जातिप्रथा की बदलती हुई भूमिका के साथ बदलता जा रहा है और आनुष्ठानिक संबंधों का नियमन तथा बिरादरी के भीतर ही ब्याह-शादी सुनिश्चित करनेवाली बिरादरी की पंचायतों से प्रादेशिक और अखिल भारतीय स्तर के बड़े संघों का रूप लेता जा रहा है, जैसे तमिलनाडू में नाडार महाजन संघम और वन्नीय कुल क्षत्रिय संघम, अखिल भारतीय ब्राह्मण महासभा, अखिल भारतीय क्षत्रिय महासभा, अ० भा० जाट महासभा, आदि। नये प्रकार के संगठन हरिजनों में विशेषकर व्यापक हैं–अखिल भारतीय अनुसूचित जाति संघ, भीम सेना (डॉक्टर अंबेडकर के नाम पर), सिद्ध सेना, आदि, आदि। अपने स्वरूप, लक्ष्यों और कार्यों के लिहाज़ से ये संगठन अधिकाधिक राजनीतिक दलों जैसे बनते जा रहे हैं। कुछ राजनीतिक दलों की स्थापना जात-बिरादरी के आधार पर ही होती

है, जैसे भारतीय रिपब्लिकन पार्टी, महाराष्ट्र में किसान-मज़दूर पार्टी और तमिलनाडू श्रमजीवी दल। भारतीय समाजशास्त्रियों ने औद्योगिक उद्यमों में जातपांत पर आधारित मज़दूर संघों के अस्तित्व को भी लक्षित किया है।

जातपांतीय संगठनों की नयी भूमिका द्वैध और विवादास्पद स्वरूप की है। एक ओर, वे जातपांतीय मानसिकता और पूर्वग्रहों को उभारते हैं, लेकिन दूसरी तरफ़, वे जातिप्रथा के आधार को ही दुर्बल करते हैं। आई० पी० देसाई का कहना है कि जातपांत और बुर्जुआ समाज के सामाजिक समूहों के बीच अंतर इस तथ्य में परिणत हो जाता है कि पूर्वोक्त की सदस्यता **जन्म से** होती है, जब कि अंतोक्त की सदस्यों के **हितों के साहचर्य से** ('ईस्टर्न इकोनॉमिस्ट', नयी दिल्ली, २९ अप्रैल, १९६७)। भारतीय विद्वानों के अनुसार आधुनिक जातपांतीय संगठन इस अंतर को घटाते हैं, क्योंकि अपने सदस्यों को दूसरी जात-बिरादरियों के विरोध की ओर अभिमुख ("निषेधात्मक अभिविन्यास") करनेवाली पारंपरिक जातपांतगत संस्थाओं के विपरीत ये नये संगठन अपने सदस्यों को विशिष्ट सामूहिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए एकजुट करते हैं ("सकारात्मक अभिविन्यास"), अर्थात वे **सामान्य हितों** के आधार पर निर्मित समूहों के समान होते जा रहे हैं।

भारतीय क़ानूनों के अनुसार अनुसूचित जातियों, अर्थात हरिजनों को शैक्षिक प्रतिष्ठानों में दाख़िले और सरकारी नौकरियों के मामले में कुछेक विशेष सुविधाएं प्राप्त हैं। १९४६–१९४७ में अनुसूचित जातियों के जहां ५०० व्यक्तियों को सरकारी छात्रवृत्तियां प्रदान की गयी थीं, वहां १९६६–१९६७ में ऐसी छात्रवृत्तियां पानेवालों की संख्या ९०,२६४ थी। इस अवधि में इन प्रयोजनों के लिए केंद्रीय सरकार द्वारा विनियुक्त राशि ५ लाख रुपये से बढ़कर ६४९ लाख रुपये हो गयी ('स्टेट्समैन', १३ दिसंबर, १९६८)। ऐसे मामले भी प्रकाश में आये हैं, जब "उच्च" वर्णों के युवकों ने कॉलेजों में प्रवेश पाने के उद्देश्य से अपने को अनुसूचित जातियों का बतलाया है, ताकि उन्हें प्रदत्त विशेष सुविधाओं का लाभ उठा सकें। इन विशेष सुविधाओं का लक्ष्य हरिजनों के लिए आबादी के सामाजिक सोपान में उच्चतर स्थितियों पर स्थित अंशकों के समान ही संभावनाओं और अवसरों का निर्माण करना है। अलबत्ता ये विशेष सुविधाएं साथ ही समूचे तौर पर जातिप्रथा और विशेषकर अनुसूचित जातियों के अलगाव को बनाये रखने में भी योग देती हैं। एम० एन० श्रीनिवास इस निष्कर्ष

पर पहुंचते हैं कि "स्वतंत्र भारत में आबादी के पिछड़े हुए अंशकों, विशेषकर अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए सांविधानिक संरक्षणों के प्रावधान ने जातिप्रथा को जीने की और मुहलत प्रदान की है" ('आधुनिक भारत में जातपांत', पृ० १५)। श्रेणी तथा जातिप्रथा का बढ़कर भारतीय समाज के वर्गीय ढांचे में बदल जाना वर्ग-सीमांकन प्रक्रिया में बाधा डालता है, वर्ग-चेतना को धुंधलाता है और सोद्देश्य वर्ग-संघर्ष के विकास को उलझाता है। सक्रिय राजनीतिक जीवन में खिंच आने के बाद भी "नीची" जात-बिरादरियोंवाले और हरिजन जातपांतीय मानसिकता के शिकंजे में ही क़ैद रहते हैं और अपने जातपांतीय संगठनों के नेताओं के ही पीछे चलते हैं, जो जातपांतीय संभ्रांतवर्ग में परिणत हो गये हैं और शोषक वर्गों के पक्ष में चले गये हैं। "हरिजनों में एक नये संभ्रांतवर्ग का उदय हो गया है, यह एक ऐसा वर्ग है, जो उन सभी सुविधाओं का उपभोग करता है, जिनसे उनके सहजातियों का भारी बहुलांश वंचित है... ग़रीब 'अछूत' और संभ्रांत हरिजन के बीच अंतर अधिकाधिक बढ़ता जा रहा है" ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', १० नवंबर, १९७४)।

निस्संदेह, ऊपर जो कुछ कहा गया है, वह जातिप्रथा जैसी जटिल परिघटना का लक्षण-वर्णन करने के लिए काफ़ी नहीं है। हमारा प्रयोजन भी कुछ और ही था, अर्थात यह दिखलाना कि समकालीन भारत में जातिप्रथा अब भी इतनी मज़बूत है कि वह जातीय विकास को गंभीर रूप से प्रभावित कर सकती है और यह कि इन समस्याओं के किसी भी विश्लेषण में जातिप्रथा के प्रभावों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। "भारत में किसी भी भाषा-सर्वेक्षण में उसी भाषा के उपयोग में जातपांत के अनुसार अंतरों को ध्यान में रखा जाना आवश्यक है। स्थानतः प्रबल जात-बिरादरी अपने इलाक़े में किन्हीं ख़ास भाषा-रूपों के प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है" ('आधुनिक भारत में जातपांत', पृ० ९९)।

स्वाधीन भारत में घटना-क्रम के विकास ने दिखलाया है कि जातिप्रथा न केवल आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक प्रगति को ही निरुद्ध करती है, बल्कि वह जातीय समेकन के मार्ग में भी एक गंभीर अवरोध है। इस प्रसंग में दूसरे अध्याय में उद्धृत कुछ उदाहरणों का पुनःस्मरण करना चाहिए। ओक्कालिगा संभ्रांतवर्ग ने कन्नड़भाषी आबादी के इलाक़ों के साथ एकीकरण का डटकर विरोध किया, क्योंकि एकीकृत राज्य में उसका अभिभावी बिरादरी के नाते अपनी हैसियत को गंवा देना और वह हैसियत एक

दूसरी – लिंगायत – बिरादरी को प्राप्त हो जाना अवश्यंभावी था। कन्नड़-भाषी प्रदेशों के नये राज्य – कर्णाटक – में उपक्रमी और सुसंगठित लिंगायतों ने सचमुच प्रधान स्थिति ग्रहण कर ली। यह दिलचस्प है कि कर्णाटक में दूसरी भाषाएं बोलनेवाले और पड़ोसी राज्यों के लोग कन्नड़ को अकसर लिंगायती भाषा कहा करते हैं। ओक्कालिगा संभ्रांतवर्ग अधिकाधिक आग्रह-पूर्वक कर्णाटक राज्य के विभाजन की, अर्थात कन्नड़ जाति के जातीय अनैक्य के ज़माने की ओर प्रत्यावर्तन की मांग कर रहा है।

कच्छ राजपूत सभा गुजरातियों के जातीय प्रदेश के विभाजन की आवाज़ उठाती है और कच्छ प्रायद्वीप को संघ-राज्यक्षेत्र का दरजा दिये जाने की मांग करती है। अपने अलग राज्य की मांग वन्नीय कुल क्षत्रियों के उच्च संस्तर ने भी की है। छोटे भूस्वामियों की इस बिरादरी के सदस्य तमिलनाडू के चार उत्तरी ज़िलों की आबादी के लगभग चतुर्थांश का निर्माण करते हैं।

साठ के दशक में हरिजन संगठनों के नेताओं में स्वायत्ततावादी प्रवृत्तियों का उदय हुआ। "पीढ़ियों से चले आते (हरिजनों के – ले०) पृथक्करण के परिणामस्वरूप उनकी एक अलग ही जीवन-प्रणाली उदित हो गयी है, जो उनके पहरावे, आवास अवस्थाओं, खानपान, रीति-रिवाज और अनुष्ठानों में प्रतिबिंबित होती है" ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', १ मार्च, १९७०)। हर भारतीय जाति के हरिजन अब भी सबसे अधिक उत्पीड़ित हैं और उन्हें सबसे कम अधिकार प्राप्त हैं। उनके ख़िलाफ़ सिर्फ़ इसीलिए भदभाव नहीं बरता जाता है कि वे कठिन, "अस्वच्छ" काम करते हैं, बल्कि इसलिए भी कि उन्हें सदियों के पूर्वग्रहों और परंपराओं की दीवार ने शेष आबादी से अलग करके रखा है। इस कारण अधिकांश जातीय प्रदेशों के हरिजनों में अपनी बंधुता की और "सवर्ण" हिंदुओं से अपने विरोध की सुस्पष्ट चेतना है। यह समझना आसान है कि हरिजनों में ही क्यों इस बारे में व्यापक भ्रांतियां फैली हुई हैं कि उनकी दशा में प्रशासनिक तथा राजनीतिक स्वायत्तता और हिंदू आबादी के दूसरे हिस्सों से पृथक्करण के ज़रिये सुधार आ सकता है। एकभाषी पंजाब का निर्माण किये जाने के आंदोलन की अस्पर्श्य सिखों द्वारा मुख़ालफ़त का पहले ही उल्लेख किया जा चुका है। इसी वातावरण में पंजाब के किसी एक इलाक़े में हरिजन-स्तान का निर्माण किये जाने की मांग उठी। १९५१ की जनगणना में बहुत से हरिजन सिखों ने जान-बूझकर पंजाबी के बजाय हिंदी को अपनी मातृ-

भाषा के रूप में दर्ज करवाया, क्योंकि पंजाबी सूबे के लिए आंदोलन की अगुआई करनेवाले जाट सिख पंजाबी भाषा का समर्थन करते थे। "इसलिए हरिजनों ने भी उसी आधार का तलोच्छेदन करने के लिए कि जिस पर पंजाबी सूबे की मांग की जा रही थी, हिंदी को अपनी मातृभाषा घोषित किया" (बी० आर० नायर, 'पंजाब में अल्पसंख्यक राजनीति' [अंग्रेज़ी में], प्रिंसटन, १९६६, पृ० ५०–५१)। इस मामले में हम यह देखते हैं कि एक बिरादरी ने भाषा-कारक का किस प्रकार सचेतनतापूर्वक उपयोग किया।

भाषावार प्रांतों के निर्माण के लिए संघर्ष के समय हरिजन आंदोलन के एक प्रमुख नेता डॉ० भीमराव अंबेडकर ने, जिनका मुख्य आधार महाराष्ट्र के महारों में था, मराठीभाषी प्रदेशों के एक राज्य में एकीकरण का यह कहते हुए विरोध किया था कि ऐसा होने से महार लोग सबसे बहुसंख्यक और प्रभावशाली भूस्वामी मराठा बिरादरी के प्रभुत्व में आ जायेंगे। डॉ० अंबेडकर ने तीन मराठीभाषी क्षेत्रों – पूर्वी, पश्चिमी और उत्तरी – का निर्माण किये जाने का सुझाव दिया, जिनमें से एक में महार बहुसंख्यक होते। मराठीभाषी हरिजनों और दूसरे अल्पसंख्यकों की आशंकाओं का निराकरण करने के लिए महाराष्ट्र के मुख्य मंत्री ने १९६० में कहा था कि "महाराष्ट्र को मराठा राज्य कभी भी नहीं बनने दिया जायेगा" ('अमृतबाज़ार पत्रिका', ३ जनवरी, १९६७)।

अंत में, आंध्र में भी आंध्र हरिजनों के लिए अलग अछूतिस्तान का निर्माण किये जाने की मांग उठायी गयी थी।

जात-बिरादरी के आधार पर आत्मनिर्णय की मांगें और सब बातों के अलावा इसलिए व्यवहार्य नहीं हैं कि ऐसी कोई भी जात-बिरादरी नहीं है, जिसके सदस्य किसी ऐसे संहत क्षेत्र में रहते हों, जहां उनकी बहुसंख्या हो। जैसे कि ज्ञात है, उपरोक्त मांगों में से किसी को भी नहीं स्वीकार किया गया है और किसी भी "जातपांतीय" राज्य का निर्माण नहीं किया गया है। अलबत्ता भारतीय जातियों के भीतर जातपांतीय मानसिकता और जातपांतगत विवादों का अस्तित्व बना हुआ है और वे जातीय जीवन के सामान्य विकास में बाधा डाले जा रहे हैं।

ल० ब० आलायेव लक्षित करते हैं कि "जातपांत में जातीयता के कुछ लक्षण पाये जाते हैं। सही है कि सामान्यतया उसका कोई अलग प्रदेश या अलग भाषा नहीं हैं, मगर फिर भी उसके अपने रीति-रिवाज, प्रतीक,

पौराणिक कथाएं, किसी तरह की सामान्य संस्कृति और, जो बुनियादी बात है, घनिष्ठ बंधुत्व की भावना तो हैं ही। इसलिए बिरादरी के सदस्यों की मानसिकता और उनके कार्यकलाप में ऐसे लक्षण हैं, जो जातीय अल्पसंख्यकों के लिए अभिलक्षक हैं – अतिसंवेदनशीलता और आसानी से आहत हो जाना, आत्मसम्मान की अतिशय भावना और नजरअंदाज कर दिये जाने और पृष्ठभूमि में धकेल दिये जाने का डर, एक-दूसरे की सहायता करते हुए सफलता की सीढ़ी पर चढ़ने की कोशिश" (ल० ब० आलायेव, 'भारत को मैंने ऐसा देखा' [रूसी में], मास्को, १९७१, पृ० १५६)। जातीय अल्पसंख्यकों की मानसिकता से मिलती यह जातपांतीय मानसिकता ही जातीय समेकन और जातीय आत्मचेतना के उदय की प्रक्रिया को रोकती है। जातपांतीय मानसिकता वास्तविकता से उत्पन्न हुई है और युगों से भारतीयों के दिल-दिमाग़ में घर किये हुए है। "हिंदू धर्म अपने वर्णधर्म का पालन करनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को अगले जन्म में सामाजिक सोपान पर उच्चतर स्थान का आश्वासन देता है। वर्णधर्म का पालन आदमी को इस जीवन में भी कितने ही वास्तविक सुलाभ प्रदान करता था। जात-बिरादरी उसे स्थिर सामाजिक परिवेश सुनिश्चित करती थी और व्यवसाय संघ, परस्पर सहायता समिति और अनाथालय का काम करती थी। वह सामाजिक सुरक्षा और अंत्येष्टि-प्रबंधक की भूमिका निबाहती थी" (अ० अ० कुत्सेनकोव, 'भारतीय जातिप्रथा का उद्विकास [पूंजीवादी विकास-काल]', शोधप्रबंध [रूसी में], मास्को, १९७४, पृ० १६)। पूंजीवादी संबंध पुराने आर्थिक तथा सामाजिक सूत्रों को भंग करके और पारस्परिक दायित्वों की व्यवस्था को नष्ट करके पारंपरिक भावना में पोषित भारतीय को जात-बिरादरी के साथ एक ऐसी संस्था के नाते चिपके रहने को विवश करते हैं, जो उसे कम से कम आभासी स्थिरता और अकसर ख़ासा ठोस समर्थन प्रत्यभूत करती है। ये कारक जातपांतीय मानसिकता के परिरक्षण में योग देते हैं। पुणे से ८० किलोमीटर की दूरी पर स्थित मलथान नाम के गांव में एक सर्वेक्षण ने दिखलाया है कि इस सवाल के जवाब में कि आप कौन हैं, गांव के लगभग ६०% निवासियों ने सबसे पहले अपनी बिरादरी का ही नाम दिया। शेष ने अपने गांव के नाम से अपने को जोड़ा (ए० बोपगमागे, पी० वी० वीरराघवन [संपा०], 'बदलते भारत में प्रतिष्ठा-प्रतीक' [अंग्रेज़ी में], बंबई, १९६७, पृ० ४१)। अलबत्ता यह तथ्य जातपांतीय मानसिकता के प्रसार और गहराई का पूरा चित्र नहीं प्रस्तुत

करता, क्योंकि लगभग सारे ही ग्रामीणों के दैनंदिन ग्राचरण का निर्धारण बिरादरी के क़ायदे-क़ानून ही करते हैं, जिनको अक्सर नये-नये नारे पुख़्ता करते रहते हैं। उदाहरण के लिए, हरियाणा में यह नारा ख़ूब फैल गया था—"जाट की बेटी जाट को, जाट का वोट जाट को!" यहां हम यह ग्रौर जोड़ दें कि हरियाणा में भूसंपत्तिधारी जाटों का प्राबल्य है। कई जातियों के विकास का ग्रनुभव यह दिखलाता है कि जातीय ग्रात्मचेतना किसानों में ही सबसे मंथर गति से पैदा होती है, क्योंकि देहात में पूंजी-वादपूर्व विरचनाग्रों के ग्रवशेषों का प्रभाव शहर की बनिस्बत ग्रधिक समय तक बना रहता है। भारतीय ग्राम्यांचल में जातपांतीय पूर्वग्रहों का प्राधान्य जातीय ग्रात्मचेतना के उदय में एक ग्रतिरिक्त ग्रवरोध है।

जातपांतीय मानसिकता का प्रसार ग्रौर स्थायित्व एक ऐसी स्थिति की तरफ़ ले जाते हैं, जिसमें कई भारतीय जातियां प्रतिद्वंद्वी जात-बिरादरियों, ग्रथवा ग्रापस में सतत ग्राकर्षण ग्रौर विकर्षण की ग्रवस्था में एक प्रबल बिरादरी ग्रौर ग्रल्पसंख्यकों के सम्मुचय के रूप में सामने ग्राती हैं। जात-पांतीय मानसिकता की इस भूलभुलैयां में होकर जातीय ग्रात्मचेतना मुश्किल से ही ग्रागे बढ़ पाती है।

भाषा के सामाजिक विभेदन के ग्रपने विश्लेषण में कुछ सामाजिक भाषाविज्ञानी सामाजिक समूह ग्रौर भाषा-साम्य के बीच एक ग्रंतर्वर्ती स्थिति पर ग्रवस्थित संसर्गी सत्व की भाषा को ग्रलग करते हैं। भारत में जात-बिरादरी बख़ूब इस तरह का संसर्गी सत्व, ग्रर्थात लोगों का ऐसा सामा-जिक साहचर्य, जिसके भीतर सूचना का सतत पारस्परिक विनिमय होता है, मानी जा सकती है, क्योंकि उसके सदस्यों के ग्रपने हित ग्रौर ग्रभि-ज्ञान प्रतीक—भाषाई प्रतीकों सहित—होते हैं। यहां भाषा के जातपांतगत विभेदन की बात की जा रही है, जिसके कुछेक रूपांतर हैं। यह परिघटना भिन्न-भिन्न हैसियतों की बिरादरियों के बीच संसर्ग में जातपांतीय विधि-विधान के प्रतिबिंब के रूप में विशेषकर व्यापक है। जे० हटन मलाबर तट (वर्त-मान केरल) की ग्राबादी की भाषा में जातपांतगत ग्रंतरों का उल्लेख करते हैं। मिसाल के लिए, "उच्च" वर्णों के साथ ग्रपने संसर्ग में "नीची" जात-बिरादरियां ग्रपने मामलों, रिश्तेदारों, मालमत्ते, ज़मीन-जायदाद, ग्रादि की बात करते समय विशेष, ग्रपने को नीचा दिखानेवाले सख़्ती से विहित वाक्यों ग्रौर शब्दों का प्रयोग किया करती थीं। इसी के ग्रनुरूप, "ऊंची" बिरादरीवालों के लिए ग्राडंबरपूर्ण, विनम्र शब्दों का उपयोग

किया जाता है (जे० एच० हटन, 'भारत में जातिप्रथा' [अंग्रेज़ी में], बंबई, १९६३, पृ० ८६–८७)। एक समकालीन केरलवासी भारतीय विद्वान, ए० ए० ऐयप्पन, इन कथनों की पुष्टि करते हैं। वह लिखते हैं: "मलयालम में निम्न वर्णों द्वारा उच्च वर्णों के लिए बातचीत, पत्रव्यवहार और दस्तावेज़ों तक में इस्तेमाल किये जानेवाले आदरसूचक शब्दों का प्रचुर भंडार है।" वह कहते हैं कि केरल में मुसलमान और ईसाई जातपांत के अंतरों और तौर-तरीक़ों को नहीं मानते, लेकिन "हैसियतसूचक शब्दावली का प्रयोग उनमें भी प्रचलित है" (ए० ए० ऐयप्पन, 'केरल के गांव में सामाजिक क्रांति', पृ० ७९–८०)।* इस शब्दावली का विश्लेषण विचाराधीन समस्या के संदर्भ में विशेष दिलचस्पी का नहीं है, क्योंकि ये शब्द कालातीत हो गये हैं और संसर्ग-संचार के लौकिकीकरण के साथ अप्रचलित होते जा रहे हैं। इन शब्दों से सामंती और जातपांतीय संबंधों की प्रतिध्वनि के रूप में कितनी ही साहित्यिक भाषाओं में साबिक़ा होता है। इसके लिए उर्दू की तथाकथित लखनवी शैली और हिंदी में नानासंख्य अत्यधिक प्रतिष्ठासूचक रूपों का उल्लेख भर कर देना काफ़ी है।

जातीय प्रक्रियाओं के लिए वे सूरतें महत्व रखती हैं, जब बोलचाल के किसी ख़ास रूप, सामाजिक बोली की एक क़िस्म को उसके बोलनेवाले अपनी जात-बिरादरी के साथ संबद्ध करते हैं। अकसर वे अपनी मातृभाषा को अपनी जात-बिरादरी का नाम दे देते हैं और इस तरह से इस बात पर बल देते हैं कि वे व्यापक जातीय समुदाय के साथ नहीं, बल्कि संकीर्ण जातपांतीय समुदाय के साथ जुड़े हुए हैं। दूसरे शब्दों में, भाषाई सूचक तक से जातपांतीय मानसिकता न सिर्फ़ जातीय आत्मचेतना पर ही, बल्कि जातीय और भाषाई अभिज्ञा तक पर हावी हो जा सकती है। १९६१ की जनगणना से लिये इस परिघटना के कुछ उदाहरण आगे दिये जा रहे हैं:

---

*ए० ए० ऐयप्पन लिखते हैं: "पारंपरिक हैसियत के अंतरों के भाषाई सूचक पढ़े-लिखे लोगों, सरकारी कार्यालयों और अदालतों (यद्यपि अदालतों में पूरी तरह से नहीं) के प्रयोग में लुप्त हो गये हैं। लेकिन कभी-कभी ऐसे अधीनस्थ सरकारी कर्मचारी देखने में आते हैं, जो ऊंचे अधिकारियों से बात करते समय जात-बिरादरी के लिहाज़ के बिना 'सम्मानसूचक शब्दों' का ही प्रयोग किया करते हैं" (पूर्वो०, पृ० ८६)।

बोलचाल के रूप को स्वप्रदत्त नाम	जात-बिरादरी का नाम	भाषा का असली नाम
आदि-द्राविड़	आदि-द्रविड़	तमिल
कामाटी	कामाटी	तेलुगू
नगली	रेड्डियों की नगली उपजाति	तेलुगू
परिकल	इरुकलों की परिकल उपजाति	तमिल
बाहुसार	बाहुसार-क्षत्रिय	मराठी

१६६१ की जनगणना में रियासत हैदराबाद में लक्षित किया गया था कि बोलचाल के कई रूपों को किसी विशेष जातीय भाषा-व्यवस्था के साथ जोड़ना बहुधा कठिन होता है, क्योंकि उत्तरदाता वास्तविक भाषा का नहीं, अपनी जात-बिरादरी का नाम देते हैं। जनगणना के अनुसार: "इन जात-बिरादरियों अथवा वर्गों द्वारा 'विकसित' बोलियां विभिन्न भाषाई प्रदेशों में विभिन्न नामों से जानी जाती हैं और प्रादेशिक भाषा द्वारा स्वांगीकरण की विभिन्न मंज़िलों को प्रकट करती हैं" (ए० सरकार, 'भारत की भाषाओं और बोलियों की निर्देशिका' [अंग्रेज़ी में], कलकत्ता, १६६४, पृ० १७)। उद्धृत निर्देशिका में इस तरह की कितनी ही "जात-पांतीय" बोलियों का उल्लेख है, जैसे मद्रास में बोंडिली बिरादरी द्वारा बोली जानेवाली हिंदुस्तानी की एक क़िस्म – बोंडिली, छोटा नागपुर (बिहार) में कुर्मियों द्वारा प्रयुक्त मगही का एक रूप – कुर्माली, हैदराबाद में मेमनों के नाम से जाने जानेवालों द्वारा बोली जानेवाली गुजराती की एक क़िस्म – मेमनी, आदि। एम० पी० जायसवाल बुंदेली बोली में बोलचाल के पांच जातपांतीय रूपों को अलग करते हैं – ग्वाली, रघुबंसी और किरारी और इसी तरह से कोष्ठी, जो इसी नाम से जाने जानेवाले जुलाहों द्वारा प्रयुक्त बोलचाल का रूप है और कुम्हारों द्वारा प्रयुक्त कुभारी (एम० पी० जायसवाल, पूर्वो०, पृ० १३–१४)।

सवाल पैदा होता है कि यहां उन्हीं बोलचाल-रूपों के लिए भिन्न नामों की बात की जा रही है या नामों में अंतर असल में वस्तुपरक रूप से विद्यमान संजाति-भाषाई स्वरूप के अंतरों के परिचायक हैं? तथ्य यह दिखलाते

हैं कि अधिकांश मामलों में वास्तविक अंतर हैं, जो आंगिक रूप से दो भिन्न प्रकार की परिघटनाओं को प्रतिबिंबित करते हैं। पहले प्रकार की परिघटनाओं में हमारा सरोकार प्रवासी जात-बिरादरियों से है, जो भिन्न भाषाई माध्यम में बस गयी थीं और वहां सदियों से रहती आ रही हैं, मगर जिन्होंने अपनी मातृभाषा को इस या उस रूप में बनाये रखा है। प्रवासियों की भाषा या तो देशज आबादी की भाषा से संबंधित हो सकती है (जैसे तमिल प्रदेशों में तेलुगू और कन्नड़ समूह), या दूसरे भाषा-परिवारों की हो सकती है (जैसे तमिलनाडू में रहनेवाले गुजरात से आये प्रवासियों की सौराष्ट्री बोली)। इन मामलों में जातपांत की स्वांगीकरण प्रक्रिया में बाधा डालनेवाले कारक के रूप में भूमिका को स्पष्टतः देखा जा सकता है। यह जांतपांतीय अन्यताभाव के कारण ही है कि प्रवासी दूसरी जाति के लोगों के साथ पूर्णतः एकाकार हुए बिना जातीय अल्प-संख्या के अपने अभिलक्षणों को बनाये रखते हैं। अपनी एकान्विति और आसपास की आबादी से पृथकता की अभिज्ञा को बिरादरी की ज़बान में अंतर बनाये रखते हैं।

दूसरी तरह की परिघटना संजातीय दृष्टि से समरूप समूहों में देखने में आती है, जहां भाषाई अंतरों की व्याख्या सिर्फ़ श्रेणीगत अंतरों से जनित पार्थक्य और आंतरायिक संपर्क से ही की जा सकती है। हिंदी की कौरवी बोली के विभिन्न रूपों की परीक्षा करते हुए अंबाप्रसाद "सुमन" लक्षित करते हैं कि उसके सबसे प्रतिनिधि "मानक" रूप मेरठ ज़िले की बागपत तहसील में पाये जाते हैं। बागपत में सबसे बहुसंख्यक जनसंख्या समूह त्यागी ब्राह्मण और जाट हैं। "सुमन" पड़ोसी गांवों से इन बिरादरियों के सदस्यों की दैनंदिन (अनुष्ठानों से संबंधित नहीं) बोलचाल के नमूने उद्धृत करते हैं और दिखलाते हैं कि उनमें सिर्फ़ उच्चारण और लहजे में ही नहीं, बल्कि वैयाकरणिक रूपों (पुरुषवाचक क्रियाओं के अंत्याक्षरों और सर्वनामों) में और शब्दावली में भी सुस्पष्ट अंतर हैं (अंबाप्रसाद "सुमन", 'हिंदी और उसकी उपभाषाओं का स्वरूप', प्रयाग, १९६६, पृ० १३६–१३७)। इस मामले में हम एक ऐसी भाषा में वस्तुपरक जातपांतगत अंतर देखते हैं, जिसे त्यागी ब्राह्मण और जाट – दोनों – हिंदी कहते हैं।

एक और विद्वान, आंद्रे बेंतेये, ने तंजाऊर ज़िले (तमिलनाडू) के श्रीपुरम नामक गांव में सर्वेक्षण किया था। उनके अनुसार उसी गांव में पृथक समूहों में रहनेवाली कई तमिल जात-बिरादरियों की बोलचाल में

अंतर हैं। वह ऐयर (शैव) और आयंगार (वैष्णव) ब्राह्मणों की बोल-चाल में अंतरों को लक्षित करते हैं। "ये भेद, चाहे वे कितने भी मामूली प्रतीत होते हों, पीढ़ियों से चले आ रहे हैं, विशेषकर संबंधों और अनुष्ठानों (अर्थात उनके जीवन के सबसे महत्वपूर्ण पहलू — ले०) की शब्दावली में। लगता है कि रुझान आजकल शब्दों के कुछ ज़्यादा आज़ादी और आसानी के साथ अदले-बदले जाने का है। श्रीपुरम के अब्राह्मणों द्वारा जो तमिल बोली जाती है, वह ब्राह्मणों द्वारा बोली जानेवाली से शब्दावली और उच्चारण, दोनों में भिन्न है। यह अंतर स्मार्तों और श्रीवैष्णवों के बीच अंतर से कहीं अधिक व्यापक है। अपनी बारी में आदि-द्रविड़ों का अपना लहजा है और ब्राह्मणों तक के लिए आदि-द्राविड़ का उसकी बोली से किसी और अब्राह्मण से भेद करना कठिन नहीं है" (ए० बेतेये, 'जात-पांत, वर्ग और सत्ता — तंजाऊर के एक गांव में स्तरण के बदलते रूप' [अंग्रेज़ी में], बंबई, १६६६, पृ० ५४)। इस प्रकार, एक तमिल गांव का उदाहरण भाषा के जातिप्रथा द्वारा अभ्यनुकूलित सामाजिक विभेदन को बड़ी स्पष्टता के साथ दर्शाता है। सामाजिक सोपान में उच्चतम स्थिति पर ब्राह्मण (आयंगार और ऐयर) आसीन हैं, जिनकी भाषा की विशेषता संस्कृतनिष्ठ शब्दों का प्राचुर्य और कर्मकांड की अपेक्षाओं से जनित एक विशेष शब्दाडंबर और परिष्करण है। सबसे बहुसंख्यक अब्राह्मण भूसंपत्ति-धारी बिरादरियां सोपान के मध्य में हैं। उनकी ज़बान बोलचाल की मानक तमिल के सबसे निकट है। अंत में, सोपान की सबसे निचली पैड़ी पर अछूत (आदि-द्रविड़) हैं, जो मुख्यतः खेतिहर मज़दूर हैं और जात-बिरादरी के लिहाज़ से उन्हें इतना "नीचा" माना जाता है कि वर्ण-व्यवस्था में शामिल तक नहीं किया जाता है। और इसलिए उनकी भाषा को भी सिर्फ़ ब्राह्मणों ही नहीं, बल्कि भूसंपत्तिधारी अब्राह्मणों द्वारा भी "गंवारू", "नीची" और "असभ्य" समझा जाता है। लेकिन इस मामले में भाषा का मूल्यांकन संजातीय अथवा जातीय मानदंड पर नहीं, वरन अनन्य रूप से सामाजिक मानदंड पर ही आधारित है।

भाषा के जातपांतीय विभेदन के उपरोक्त उदाहरण उसके विखंडन के सूचक नहीं हैं। वह एक ही संजाति समूह की विभिन्न जात-बिरादरियों के बीच परस्पर समझ को सुनिश्चित करती है, क्योंकि इन जातपांतीय बोल-चाल के रूपों में व्याकरण, शब्दावली और उच्चारण का लक्षण-साम्य उनके जात-बिरादरी द्वारा विभेदीकरण की अपेक्षा कहीं अधिक है। ये अंतर संसर्ग

को भी नहीं प्रतिबाधित करते, क्योंकि वे सुज्ञात हैं और बोलनेवालों की सामाजिक (जातपांतीय) हैसियत का निर्धारण करने में सहायता देते हैं। प्रसंगतः, अंतःजातपांतीय संसर्ग अब भी सीमित और आंतरायिक ही बना हुआ है।

अपने सर्वव्यापी आर्थिक संबंधों के साथ और जातीय प्रदेश के प्रशासनिक तथा राजनीतिक संगठन के लिए प्रयासशील पूंजीवाद का विकास भाषा के पुराने विषमस्तरीय विभेदन के क्रमिक ध्वंस और उसके जातीय समाज की उदीयमान वर्ग-संरचना के अनुरूप पुनर्गठन की तरफ़ ले जाता है। यद्यपि भाषा में अभी जातपांतीय अंतर बने रहते हैं, तथापि शोधकर्ताओं के अनुसार उनका क्रमिक क्षय लक्षित होने लगता है। सामाजिक संसर्ग का लौकिकीकरण और प्रसार, आबादी की बढ़ती क्षेत्रीय गतिशीलता, जन-संपर्क माध्यमों और जातीय भाषाओं में शिक्षा का विकास और आबादी का अर्थव्यवस्था में अपनी भूमिका के अनुसार समूहन – ये सभी कारक भाषा से जातपांतीय रूपों के निष्कासन में और समाज के भाषा के सामाजिक विभेदन के साथ कम प्रत्यक्ष संबंध में योग देते हैं। साथ ही जात-बिरादरियों का किसी हद तक समेकन और "राजनीतिकरण" और उनकी सक्रियता का ग्राम समुदाय से भाषाई राज्यों के तल पर फैलाव उनकी जातीय आत्मचेतना के उदय के प्रतिकूल प्रभाव को बढ़ाते हैं। "जातिप्रथा भाषाई सीमाओं के आगे और कोई संरचनात्मक संबंध नहीं प्रदान करती थी, जिसके कारण जातपांतीय समूहों का संगठन भाषाई प्रदेशों के भीतर ही सीमित रहा। इस आधारभूत कारक की समझ... विशेष जातपांतीय समूहों के विभिन्न भाषाई वर्गीकरणों और प्रदेशों के वितरणों के प्रश्नों में निहित स्वार्थों को समझने के लिए अत्यावश्यक है" ('भारत में भाषा और समाज' [अंग्रेज़ी में], शिमला, १९६९, पृ० ४२२)।

जातिप्रथा एक सामाजिक-मनोवैज्ञानिक परिघटना को जन्म देती है, जिसे भारतीय समाजशास्त्री "व्यक्तित्व विखंडन" का नाम देते हैं। इसका आशय है कि तुलनीय अवस्थाओं में जातपांतीय समूहों और उनके सदस्यों के सामाजिक आचरण का निर्धारण एक प्रसंग में वर्गीय अथवा जातीय आत्मचेतना द्वारा और दूसरे में जातपांतीय मानसिकता द्वारा किया जाता है। मार्क्स और एंगेल्स ने लिखा है कि पूंजीवाद के अधीन हर आदमी का जीवन खंडित होता है – एक तरफ़, उसकी निजी ज़िंदगी होती है, और, दूसरी तरफ़, कुछेक सामाजिक संबंधों में एक सहभागी की ज़िंदगी। "श्रेणी

में (और क़बीले में और भी अधिक) यह अभी अप्रच्छन्न ही रहता है: मिसाल के लिए, अभिजात हमेशा अभिजात रहता है और आम आदमी हमेशा आम आदमी – उसके अन्य संबंधों के अलावा उसका यह गुण उसकी वैयक्तिकता से अवियोज्य है" (का० मार्क्स, फ़े० एंगेल्स, 'जर्मन विचार-धारा', १८४५–१८४६)। भारतीय समाज में व्यक्तित्व विखंडन विकसित पूंजीवादी व्यवस्था में इसी तरह की परिघटना से इस बात में भिन्न है कि जातपांतीय चेतना की विद्यमानता व्यक्तित्व को सामाजिक संबंधों और सामाजिक संसर्ग – दोनों – में खंडित करती है, न कि सिर्फ़ आदमी की निजी ज़िंदगी (जिस पर अधिकतर जातपांतीय पूर्वग्रह छाये होते हैं) और सामाजिक ज़िंदगी के बीच। अ० अ० कुत्सेनकोव लिखते हैं: "संक्रामक प्रकार के समाज का अपना अलग व्यक्ति प्ररूप होता है। यह ऐसा व्यक्ति है, जो एक साथ भिन्न-भिन्न सामाजिक-सांस्कृतिक दुनियाओं में रहता है, जो असंगत मूल्यों से चिपका होता है और जो विरोधी स्वरूपों की भूमिकाएं अदा करता है। समकालीन प्रकार के कितने ही समूहों (वर्ग, समष्टि, मज़दूर संघ, राजनीतिक दल) का पहले ही सदस्य होने के कारण वह पारंपरिक समूहनों (बड़ा परिवार, जातपांत, बिरादरी, आदि) के भीतर बना रहता है" (अ० अ० कुत्सेनकोव, पूर्वो०, पृ० २३)।

संक्रामक समाज में व्यक्तित्व विखंडन हर जात-बिरादरी और हर प्रदेश के साथ बदलता रहता है, पर वह सर्वत्र मौजूद है। बंबई के कारख़ानों में मशीनों पर काम करनेवाले कितने ही महाराष्ट्रीय ब्राह्मण ट्रेड यूनियन आंदोलनों और हड़तालों में हिस्सा लेते हैं, लेकिन चुनावों में, ख़ासकर संसदीय चुनावों में, वे – जैसा कि सर्वेक्षण दिखलाते हैं – अकसर वोट स्पष्टत: श्रमिकविरोधी नज़रिया तक रखनेवाले ब्राह्मण उम्मीदवार को ही देते हैं, न कि किसी और जात-बिरादरी के उम्मीदवार को, और हरिजन को तो हरगिज़ नहीं, फिर चाहे वह प्रगतिशील विचारों का भी क्यों न हो। यहां व्यक्तित्व विखंडन इसलिए होता है कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इन महाराष्ट्रीय ब्राह्मणों ने अपने आपको श्रमिकों के उस परिवेश के साथ पूरी तरह से नहीं जोड़ा है, जिसके वे वास्तव में अंग हैं और "ब्राह्मण एकजुटता" के विचारों को त्यागे बिना वे अपने को अब भी अपने जन्म की बदौलत अपने आसपास के लोगों से सामाजिक हैसियत में ऊंचा ही समझते हैं। जातपांतीय मानसिकता कई तरहों से अब भी हर भारतीय के निजी और सामाजिक जीवन का अवियोज्य अंग बनी हुई है।

जातीय प्रश्नों में जातपांतीय मानसिकता आदमी को अपनी स्थिति का निर्धारण अभिभावी और अधीनस्थ जात-बिरादरियों के बीच शक्ति संतुलन के अनुसार करने को विवश करती है। किसी जातीय आंदोलन को समर्थन देने के सवाल का अकसर इसके अनुसार समाधान किया जाता है कि उसका नेतृत्व किस जात-बिरादरी (अथवा जातपांत समूह) द्वारा किया जा रहा है। जैसे पहले इंगित किया जा चुका है, उत्पीड़ित जात-बिरादरियों ने यह सोचते हुए जातीय तथा भाषाई सीमांकन का विरोध किया था कि वह संबद्ध भाषाई क्षेत्र में प्रभुत्वशाली जात-बिरादरी की स्थितियों को दृढ़ करेगा और पहले स्थापित संतुलन को भंग करेगा। सामाजिक और आर्थिक रूप से पिछड़े हुए इलाक़ों में, जहां भाषा-सीमाओं का अभी तक स्पष्टतः निर्धारण नहीं हुआ है और जातीय आत्मचेतना भ्रूणीय अवस्था में ही है, एक तरह की "अंतःजातीय" जातपांतीय श्रेणियां हैं: पंजाब, हरियाणा, राजस्थान और उत्तरप्रदेश में जाट; राजस्थान, मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश, बिहार और हिमाचलप्रदेश में राजपूत, आदि। ये श्रेणियां, जिनके उच्च संस्तर राजनीतिक दृष्टि से अत्यंत सक्रिय हैं, जातीय तथा भाषाई स्थिति के अनिश्चित स्वरूप को बरक़रार रखकर जातीय-संजातिक प्रक्रियाओं के विकास को अवरुद्ध करती हैं।

सांप्रदायिक मानसिकता और भारत में राष्ट्रीय जीवन का विकास

समकालीन भारत में धर्म और धार्मिक-सांप्रदायिक मानसिकता की भूमिका का सवाल बहुत पेचीदा है। यह प्रखर विचारधारात्मक तथा राजनीतिक संघर्ष का विषय है और भारतीय समाजशास्त्रियों, पत्रकारों और सार्वजनिक कार्यकर्ताओं के ध्यान को निरंतर आकर्षित करता है।

यह कहना एक सामान्योक्ति बन गया है कि संसार के सारे ही धर्म भारत में पाये जा सकते हैं। यह कथन सचाई के साथ मेल खाता है, मगर आबादी का भारी बहुलांश (१९७१ की जनगणना के अनुसार ८२.७२%) हिंदू धर्म के विभिन्न रूपों का अनुसरण करता है। संख्या (६.२ करोड़) की दृष्टि से दूसरा सबसे बड़ा धार्मिक समुदाय मुसलमानों का है, जो आबादी के ११.२१% हैं ('हिंदुस्तान टाइम्स', २३ जून, १९७२)। शेष

६% में सिख, जैन, बौद्ध, पारसी, विभिन्न संप्रदायों के ईसाई और छोटे जातीय समूहों और जनजातियों में पाये जानेवाले प्राचीन जीवात्मवादी पंथों के अनुयायी आते हैं।

इ० न० याब्लोकोव के अनुसार "सामाजिक चेतना के किसी भी अन्य रूप की ही भांति धर्म भी विचारधारा और सामाजिक मानसिकता के क्षेत्र में आता है" (इ० न० याब्लोकोव, 'धर्म के समाजविज्ञान की कार्यविधिक समस्याएं' [रूसी में], मास्को, १९७२, पृ० ६५)। धार्मिक मानसिकता धार्मिक विचारों, विश्व की भ्रांत धारणाओं, युगों पूर्व स्थापित अनुभूतियों और भावनाओं, आदतों और परंपराओं से उत्पन्न होती है। धर्म सामाजिक चेतना का सबसे रूढ़िवादी रूप है। यह लोगों के दिमाग़ों में गहरी जड़ें जमाये हुए है और उनकी भावनाओं को प्रभावित करता है। धार्मिक मानसिकता उपासना कृत्यों में जमती और पुनरुत्पादित होती है, जो धार्मिक समूह के सदस्यों में बंधुता और एकता की भावना पैदा करके धार्मिक चेतना की परिधि को आदमी की ज़िंदगी के ऐहिक पहलुओं तक फैला देते हैं। "धार्मिक समूहों के सदस्यों के लिए एक विशेष 'हम-भाव' और समूहों के असदस्यों (धर्म-निरपेक्ष और दूसरे धार्मिक समूहों के भी) के लिए, जिन्हें 'वे' समझा जाता है, विभेद का विकसित होना लाक्षणिक है। 'हम – वे' भाव नकारवृत्ति और संसर्गजता जैसी सामाजिक-मनोवैज्ञानिक परिघटनाओं के ज़रिये उत्पन्न होता है। एक ओर तो नियत समूह के सदस्य कुछेक लाक्षणिकताओं से अपने को दूसरे समूहों से वियोजित कर लेते हैं और, दूसरी ओर, वे एक-दूसरे से जुड़े होते हैं और उनकी मानसिकता तथा आचार-व्यवहार एक जैसे, रूढ़ और नैष्ठिक हो जाते हैं। दूसरे समूह के प्रति पृथकता और अपने समूह के भीतर समानता एक ही प्रक्रिया के दो पहलुओं की तरह आपस में जुड़ी होती हैं और साथ-साथ विकसित होती हैं" (पूर्वो०, पृ० ८०)।

भारत में विशालतम धार्मिक समुदाय संहत नहीं हैं। प्रादेशिक लिहाज़ से वे बिखरे हुए हैं। उनके कोई धर्मतंत्रात्मक संगठन, सर्वस्वीकृत प्रधान, नियमित परिषदें अथवा सार्वदेशिक संस्थाएं नहीं हैं, जो धर्म को संहिताबद्ध करने और उसे कार्यरूप देने के दायित्व को ग्रहण कर सकें। उदाहरण के लिए, जून, १९६९ में मद्रास में आयोजित हिंदू धर्म सम्मेलन इस निष्कर्ष पर पहुंचा था कि यह धर्म छः संप्रदायों (विष्णु, शिव, गणपति, कुमार, शक्ति तथा सूर्य के उपासकों) में विभाजित है। उसके अनुसार 'हिंदू धर्म

आपस में झगड़ते पंथों का अखाड़ा अब और अधिक नहीं बना रह सकता, बल्कि उसे सामान्य आधार प्रस्तुत करना चाहिए। उसे अपनी नयी छवि बनानी चाहिए। ऐसा करने का एकमात्र तरीक़ा मत की एकता है" ('इंडियन एक्सप्रेस', १३ जून, १६६६)। इस पर टीका करते हुए 'इंडियन एक्सप्रेस' ने उसी दिन लिखा था: "हिंदू धर्म समस्त सृष्टि की एकात्मता घोषित करता है, किंतु सामाजिक तल पर उसका विखंडन ख़तरे की हद तक पहुंच गया है। जातिप्रथा से जनित विभाजन के अलावा उसमें एक-दूसरे के विरोधी पंथ और संप्रदाय भी पैदा हो गये हैं।"

ऐसे मौक़े भी आये हैं, जब विभिन्न हिंदू संप्रदायों ने अपने पद-सोपान का निर्धारण करवाने के लिए लौकिक अधिकारियों का सहारा लिया है। "पंथों में प्रतिद्वंद्विता इतनी ज़बरदस्त है कि इसके लिए इलाहाबाद उच्च न्यायालय के निर्णय की ज़रूरत पड़ी कि विभिन्न अखाड़े किस क्रम में गंगा में स्नान करने के लिए जायें" ('लिंक', २१ अप्रैल, १६७४)। मद्रास में आठ साल बाद हुए विश्व हिंदू परिषद के सम्मेलन ने "सभी हिंदुओं के लिए समान सरल धार्मिक अनुष्ठानों का निरूपण किये जाने की आवश्यकता पर ज़ोर दिया" ('पैट्रियट', १४ फ़रवरी, १६७७)। भारतीय मुस्लिम समुदाय में शिया–सुन्नी झगड़े कोई विरल नहीं हैं।

सबसे बड़े समुदाय के न केवल आंतरिक, बल्कि बाहरी सीमांत भी अनियत और अस्पष्ट हैं। चेकोस्लोवाक शोधकर्ता द० ज़्बावितेल लिखते हैं: "भारत में और सारी दुनिया में कोई भी आज तक (हिंदू धर्म की – **ले०**) कोई संतोषजनक परिभाषा नहीं प्रस्तुत कर पाया है और इस प्रश्न के बारे में भारी मतभेद हैं कि हिंदू धर्म में ठीक क्या-क्या आता है... यह कोई सांयोगिक नहीं है कि पिछले कुछ वर्षों से यही दृष्टिकोण अभिभावी रहा है कि हिंदू धर्म की कोई सटीक परिभाषा देना असंभव है और 'हिंदू' शब्द का वास्तविक अर्थ मोटे तौर पर ही ज्ञात है" ('देवता, ब्राह्मण, लोग। हिंदू धर्म के चार हज़ार साल' [रूसी में], मास्को, १६६६, पृ० ३)। उदाहरण के लिए, हिंदू धर्म की संकल्पना को व्यापक करके उसमें जैनों, बौद्धों, सिखों के साथ-साथ ऐसे छोटे-छोटे जातीय समूहों और जनजातियों को भी शामिल कर लेने की प्रवृत्ति पायी जाती है, जिनके जीवात्मोपासक पंथों ने हिंदू धर्म के प्रभाव का अनुभव किया है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के नेता ज़ोर देते हुए कहते हैं कि "इतिहास इसका साक्षी है कि सिख पंथ की स्थापना हिंदू समाज, उसके धर्म और उसकी संस्कृति

की रक्षा करने के लिए की गयी थी" ('इंडियन एक्सप्रेस', २५ फ़रवरी, १९६९)। बहरहाल, भारत के संविधान में विशेष रूप से स्पष्ट किया गया है कि "हिंदू" शब्द के अंतर्गत सिख, जैन तथा बौद्ध धर्मावलंबियों को भी समाविष्ट समझा जाना चाहिए।

भारत के पुराने धर्मों के अनुगामियों में शायद सिखों को ही अपनी विशेषताओं–पगड़ी, दाढ़ी, कृपाण और लोहे के कड़े, आदि–की बदौलत अलग करना सबसे आसान है। इसके बावजूद पंजाब विधानसभा में इस प्रश्न पर विचार करते समय सख़्त विवाद उठ खड़ा हुआ कि सिख कौन है और शिरोमणी गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी के चुनावों के लिए मतदाता सूची में किसे शामिल किया जा सकता है। विधानसभा के सदस्य इस बारे में किसी भी तरह एकमत नहीं हो सके कि सिख किसे कहा जा सकता है ('स्टेट्समैन', ५ अप्रैल, १९७३)।

धार्मिक समुदायों में तंत्रात्मक संगठन के अभाव और नानासंख्यक पंथों, धाराओं, जात-बिरादरियों और स्थानीय समूहों में विभाजन के कारण समुदाय का निर्माण करनेवाली छोटी-छोटी कोशिकाओं के भीतर उपासना से "हम–वे" भावना मज़बूत होती है। पंथ का लक्ष्य अपने अनुगामियों के सामाजिक कार्यकलाप को समुदाय के जीवन के ढांचे के भीतर सीमित रखने में परिणत हो जाता है। पंथों के प्रभाव का कारण यह तथ्य है कि समकालीन भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में मंदिरों के पुजारी, गुरुद्वारों के ग्रंथी, मस्जिदों के मुल्ला और ईसाई पादरी भी स्थानीय समाज के ढांचे में पूरी तरह से घुल-मिल गये हैं। वे सिर्फ़ आदमी की ज़िंदगी के बुनियादी चरणों से जुड़े संस्कारों और रीति-रिवाजों और धार्मिक उत्सवों में ही नहीं, बल्कि उसकी ज़िंदगी के कितने ही सांसारिक पहलुओं में भी प्रधान भूमिका अदा करते हैं। परंपराओं में जकड़ी हुई और अधिकांशतः अनपढ़ आबादी के लिए अकसर वे दैनंदिन समस्याओं के बारे में एकमात्र सलाहकार, अर्ज़ियों और शिकायतों के लेखक, विवादों का निपटारा करने में मध्यस्थ, बाहरी दुनिया के बारे में जानकारी के स्रोत और इस दुनिया के साथ कड़ी के रूप में–इस सब को धर्म की रंगत देते हुए–सामने आते हैं।

भारतीय समाजशास्त्रियों की कृतियां धर्म की भूमिका, धार्मिक चेतना के स्तर और जातीय आत्मचेतना के साथ उसके सहसंबंध को क़ायलकारी ढंग से दिखलाते हुए ग्रामीण जीवन के बड़े सजीव चित्र प्रस्तुत करती हैं।

एस० सी० दुबे ने आंध्रप्रदेश में कुछ गांवों का सामाजिक-आर्थिक सर्वेक्षण किया था, जिनके निवासी विभिन्न समुदायों के थे। मिसाल के लिए, सर्वेक्षण के समय शमीरपेट नामक गांव में २,१५४ हिंदू और ३४० मुसलमान रह रहे थे। "आंध्र संस्कृति की, जिसके क्षेत्र में गांव स्थित है, ऐतिहासिक परंपराओं और उसकी हैदराबाद और सिकंदराबाद जैसे बड़े शहरों से समीपता के बावजूद लोगों के विचारों की दुनिया दिक् और काल, दोनों के लिहाज़ से अत्यधिक सीमित ही रही हुई है। कुछ पढ़े-लिखे लोगों, ख़ासकर ब्राह्मणों और रेड्डियों, को आंध्र की सांस्कृतिक परंपराओं का और भारत के गौरवशाली अतीत का अस्पष्ट सा अहसास है, लेकिन लोगों के भारी बहुलांश के लिए जातपांतीय (और फलतः धार्मिक – ले०) पुराण-कथाएं ही उनका एकमात्र इतिहास हैं। पारंपरिक सामाजिक संस्थाओं और जीवनप्रणालियों को सदा आदर्शीकृत किया जाता है... मुसलमानों को अपने धर्म के उद्‌गम के इतिहास की ख़ासी अच्छी जानकारी है, मगर उसके साथ ख़ुद अपने संबंध की नहीं... उनकी दुनिया का केंद्र स्थानीय और आंचलिक है, परिवार, नाते-रिश्तेदारों, जात-बिरादरी और कुछ पड़ोसी गांवों तक ही सीमित है। जातीय आत्मचेतना ख़ासी अस्पष्ट है..." (एस० सी० दुबे, 'भारतीय ग्राम' [अंग्रेजी में], बंबई, १९६७, पृ० २५२)।

एस० सी० दुबे ज़ोर देते हैं कि शमीरपेट में विभिन्न समुदायों के बीच संबंधों को अच्छे पड़ोसियों जैसे और हार्दिक तक कहा जा सकता है (वहीं, प० १८८)। बिलकुल ऐसे ही संबंध उन्होंने राज्य के एक दूसरे गांव – देवरा – के सर्वेक्षण के दौरान भी पाये, जहां हिंदू, मुसलमान और विभिन्न जनजातियों – राज गोंड, कोलम और प्रधान – के लोग रहते हैं। "ग्राम देवताओं की पूजा और गांव के सामूहिक उत्सवों और त्यौहारों में सभी जनजातियों और जात-बिरादरियों के लोग, बल्कि मुसलमान तक भाग लेते हैं... सामाजिक शिष्टाचार के नाते हिंदू राज गोंडों और जनजातियों के कुछ उत्सवों में कुछ देर के लिए भाग लेने आते हैं, लेकिन समय रहते, गौबलि के पहले, चले जाते हैं। हिंदुओं और जनजातियों की दो महत्वपूर्ण मुस्लिम त्यौहारों में सांकेतिक सहभागिता को आवश्यक समझा जाता है" (एम० एन० श्रीनिवास [संपा०], 'भारत के गांव' [अंग्रेज़ी में], बंबई, १९६०, पृ० २१३–२१४)। भारतीय ग्राम में समुदायों के बीच हेल-मेल के संबंधों को कितने ही प्रेक्षकों ने लक्षित किया है। भारत के भूतपूर्व राष्ट्रपति डॉ० राजेंद्रप्रसाद ने अपनी 'आत्मकथा' में लिखा है कि बिहार

के गांवों में मुसलमान मौलवी हिंदू त्यौहारों के अवसर पर क़सीदे लिखा करते थे और मुसलमानों के त्यौहारों में हिंदू हिस्सा लिया करते थे।

शहरी भारत में सांप्रदायिक संबंध देहात की अपेक्षा कहीं अधिक जटिल हैं। नगरवासी की सूचना का परिसर अधिक व्यापक होता है और उसका सार्वजनिक जीवन अधिक नानारूप और सक्रिय होता है। वह स्वयं राजनीति में सक्रिय न भी हो, तब भी उसका राजनीति से सरोकार रहता ही है। शहर में साक्षरता स्तर भी अधिक ऊंचा होता है। इसलिए नगरवासी धर्मनिष्ठा को कोई "स्वाभाविक" अथवा "स्वयंसिद्ध" चीज़ नहीं, अतीत की विरासत मानता है, जिसके प्रति विभिन्न नज़रिये हो सकते हैं। धर्म के व्यक्तिगत और सामूहिक मूल्यांकन का महत्व बढ़ रहा है। भारतीय नगरों में किये गये सभी समाजशास्त्रीय सर्वेक्षण यही दिखलाते हैं कि नगरवासियों के बहुत बड़े हिस्से में धार्मिक चेतना बनी रही है। अपने धार्मिक समन्वय के साथ ग्रामवासी के विपरीत नगरवासी विभिन्न सांप्रदायिक दलों, संगठनों, समाजों और केंद्रों द्वारा निरंतर प्रतिपादित धार्मिक विचारधाराओं के कहीं अधिक प्रभाव में रहता है। उपलब्ध प्रेक्षणों के अनुसार ग्रामवासी के विपरीत नगरवासी अपने को समूचे तौर पर पूरे धार्मिक समुदाय का, न कि उसके स्थानीय समूह का अंग समझता है। नगरवासी पर नकारात्मक सामाजिक-आर्थिक कारकों (बेरोज़गारी, ग़रीबी, मूल्यवृद्धि, आदि) का भी अधिक सशक्त प्रभाव पड़ता है, जिससे वह धार्मिक असहिष्णुता और धर्मांधता के प्रचार के प्रति अधिक ग्रहणशील हो जाता है, ख़ासकर अगर यह "सिद्ध" कर दिया जाये कि उसकी मुसीबतों का कारण दूसरा समुदाय है।

भारत में धर्म के प्रति दो मुख्य उपागम हैं, जिनके अर्थाभास और अभिव्यक्तियों में अंतर हैं। पहले उपागम के, जो जनतांत्रिक हलक़ों के रुझानों को प्रतिबिंबित करता है, पक्षधर धर्मनिरपेक्षता और धर्मनिरपेक्ष राज्य के सिद्धांत का समर्थन करते हैं। जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि धर्मनिरपेक्ष राज्य का यह मतलब नहीं कि लोग अपने धर्म को त्याग दें। धर्मनिरपेक्ष राज्य का मतलब ऐसा राज्य है, जो सभी धर्मों की रक्षा करता है, मगर एक के मुक़ाबले दूसरे को तरजीह नहीं देता और ख़ुद किसी भी धर्म को राजधर्म के रूप में स्वीकार नहीं करता ('पैट्रियट', २७ मई, १९७० में उद्धृत)। इस परिभाषा को सुधारा और अधिक सटीक बनाया जा सकता है, मगर उसके आधारभूत विचारों में कोई अंतर नहीं

आता। आर० आर० दिवाकर के अनुसार धर्मनिरपेक्षता का "स्पष्ट, निश्चित और असंदिग्ध अर्थ यह है कि अपने में राज्य का अपना कोई धर्म नहीं है और वह उन सभी धर्मों को मान्यता देता है, जिनका भारत में आबादी के विभिन्न समूह पालन करते हैं, राज्य सभी धर्मों को समान आदर की दृष्टि से देखता है और राज्य द्वारा सभी धर्मों के लोगों के अधिकारों की क़ानून के अनुसार समान रूप से रक्षा की जायेगी" ('इंडियन एक्सप्रेस', २३ अगस्त, १९७०)। भारत के संविधान में नवंबर, १९७६ में किये गये संशोधनों में इस बात पर विशेष रूप से ज़ोर दिया गया है कि भारत धर्मनिरपेक्ष राज्य है।

धर्मनिरपेक्षता की कई परिभाषाओं को उद्धृत किया जा सकता है, जो उसके विभिन्न पहलुओं पर ज़ोर देती हैं, लेकिन वे सभी और सरकारी निकायों की कार्यप्रणाली भी राज्य को धर्म के रक्षक और सरपरस्त और विभिन्न समुदायों के बीच संबंधों में मध्यस्थ की भूमिका देते हुए और इस पर बल देते हुए कि धर्मनिरपेक्षता और निरीश्वरवाद भिन्न – और शायद विपरीत – संकल्पनाएं हैं, अनिवार्यतः राज्य और धर्म को जोड़ती हैं। "धर्मनिरपेक्षता का मतलब धर्म का अस्वीकरण नहीं है। उसका सिर्फ़ यही मतलब है कि राज्य को किसी भी तरह का धार्मिक विभेद नहीं करना चाहिए" ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', ९ अक्तूबर, १९६६)।

देश में सांप्रदायिक स्थिति का विश्लेषण करते हुए भारतीय सार्वजनिक और राजनीतिक कार्यकर्ता इस बात की तरफ़ इशारा करते हैं कि भारतीय राज्य का धर्मनिरपेक्ष स्वरूप आधारशिलाएं रखने अथवा सरकारी परियोजनाओं के उद्घाटन के अवसरों पर धार्मिक संस्कारों के आयोजन, या सरकार के प्रमुख कार्यकर्ता के धार्मिक संगठनों द्वारा आयोजित समारोहों में भाग लेने, रेडियो पर धर्मग्रंथों के पाठ, आदि के साथ असंगत है। दृष्टव्य है कि १९७७ के संसदीय चुनावों के ठीक पहले प्रकाशित राजनीतिक दलों की आचरण संहिता में उम्मीदवारों द्वारा जात-बिरादरियों और धार्मिक समुदायों के बीच भेदों को बढ़ा सकनेवाले किसी भी काम के निषिद्ध किये जाने को पहला स्थान दिया गया है ('स्टेट्समैन', ६ फ़रवरी, १९७७)।

धर्मनिरपेक्षता के विचारों और व्यवहार की सामाजिक सीमितताओं को भारत की जनतांत्रिक शक्तियों द्वारा अधिकाधिक स्पष्टतापूर्वक समझा जा रहा है, जो धर्मनिरपेक्षता का मतलब धर्म का राज्य से पृथक्करण मानती हैं। "यह मांग कि भारत में धर्मनिरपेक्षता का मतलब सिर्फ़ राज्य द्वारा

सभी धर्मों को समान समर्थन और सहारा दिया जाना ही होना चाहिए, अपने आप में उपयोगी तो है, मगर वह पर्याप्त हद तक नहीं जाती। धर्म-निरपेक्षता का सारतत्व शिक्षा और क़ानून के क्षेत्र में धर्म से अलग होना है" ('मेनस्ट्रीम', १६ दिसंबर, १६७०)।

धर्मनिरपेक्षता समकालीन भारत के राजनीतिक तथा सामाजिक जीवन में धर्म के व्यापक उपयोग में बाधा नहीं डालती। "समकालीन भारत में धर्म और राजनीति में अंतःसंबंध इतना प्रत्यक्ष तथ्य है कि कोई भी अध्येता इससे इन्कार नहीं कर सकता" (के० पी० करुणाकरन, 'धर्म और भारत में राजनीतिक जागरण' [अंग्रेज़ी में], मेरठ, १६६६, पृ० ५)। यह याद रखा जाना चाहिए कि यह अंतःसंबंध भारतीय जनता की धर्मा-भिमुखता के कारण स्वतः ही नहीं पैदा हो गया। धर्मनिरपेक्षता की एकदम उलटी सांप्रदायिक स्थितियों से कार्यशील और भारतीय आबादी की धार्मिक भावनाओं से फ़ायदा उठानेवाली राजनीतिक शक्तियां सचेतनापूर्वक और इरादतन उसका समर्थन करती हैं। हिंदू संप्रदायवाद के एक प्रमुख प्रवक्ता, पुरी के शंकराचार्य ने कहा था कि राजनीति और धर्म को पृथक नहीं किया जा सकता ('हिंदू', २१ फ़रवरी, १६६७)।

भारत के राजनीतिक और सामाजिक जीवन में और फलतः जातीय संबंधों में भी धर्मनिरपेक्ष प्रवृत्तियों और धर्मनिरपेक्षता का संप्रदायवाद, सांप्रदायिक नीतियों और विचारधारा द्वारा विरोध किया जाता है। डॉ० वीरेंद्रकुमार लिखते हैं: "भारत में जब हम 'सांप्रदायिकता' या 'संप्रदाय-वाद' शब्द का प्रयोग करते हैं, तो सामान्यतया हम उसका निंदात्मक अर्थों में, उसे उन सभी के साथ जोड़ते हुए इस्तेमाल करते हैं, जो किन्हीं ख़ास सांप्र-दायिक समूहों के संकीर्ण हितों का समर्थन करते हैं और अप्रत्यक्ष रूप से दूसरे सांप्रदायिक समूहों को हानि पहुंचाते हुए उनकी स्वायत्तता की मांग करते हैं" ('इंडियन एक्सप्रेस', ४ जून, १६७०)। एम० एन० श्रीनि-वास के अनुसार "'धर्मनिरपेक्षता' शब्द में यह निहित है कि पहले जिसे धार्मिक माना जाता था, वह अब वैसा नहीं रहता जा रहा है, और इसमें एक विभेदन प्रक्रिया भी निहित है, जिसके परिणामस्वरूप समाज के वि-भिन्न—आर्थिक, राजनीतिक, विधिक और नैतिक—पहलू एक-दूसरे की सापेक्षता में अधिकाधिक विविक्त होते जा रहे हैं" (एम० एन० श्रीनिवास, 'आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन' [अंग्रेज़ी में], नयी दिल्ली, १६६६, पृ० ११६)। इस प्रकार, धर्मनिरपेक्षता धर्म द्वारा समर्थित समन्वय

को नष्ट करती है, "समाज के उपरोद्धृत पहलुओं" को उसके प्रभाव से निकालती है और उसके क्षेत्र को आदमी की निजी ज़िंदगी तक सीमित कर देती है। सांप्रदायिकता आदमी के कार्यकलाप के सभी पहलुओं को एक धार्मिक समुदाय के संकीर्ण दायरे में सीमित करने का प्रयास करती है।

भारत में संप्रदायवाद नानामुखी और सर्वव्यापक है। वह अपने आपको न सिर्फ़ कुछेक विश्वासों के प्रचार में ही, बल्कि धर्म में विश्वास करनेवालों की सामान्य धार्मिक चेतना को जैसे निजी वैसे ही सार्वजनिक जीवन में भी उनके आचरण का निर्धारण करनेवाली एकमात्र, या कम से कम मुख्य, शक्ति में बदलने और धार्मिक झुकावों और भावनाओं का आबादी के राजनीतिक समूहन के लिए इस्तेमाल करने की कोशिशों में भी अभिव्यक्त करता है। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए सभी उपलब्ध साधनों का उपयोग किया जाता है – कर्मकांड, अनुष्ठान, पूजापाठ, उत्सव और त्यौहार, धार्मिक शिक्षा, किसी समुदाय विशेष का सरकारी संस्थाओं और विधानांगों में प्रतिनिधित्व करने के लिए संघर्ष, धार्मिक आधार पर निर्वाचकगण की स्थापना किये जाने की मांगें, आदि, आदि। उदाहरण के लिए, प्रधान मंत्री को संबोधित अपनी याचिका में भारतीय राष्ट्रीय ईसाई कांग्रेस ने ईसाई समुदाय को एक "राष्ट्रीय अल्पसंख्या" घोषित किये जाने और उसके लिए विधिकारी निकायों में स्थान आरक्षित किये जाने की मांग की थी ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', २३ मई, १९६६)। अकाली दल के कुछ गुटों और अखिल भारतीय ईसाई परिषद ने भी अपने समुदायों के लिए पृथक मत-दाता सूचियों की मांग की थी ('पैट्रियट', २७ सितंबर, १९६६; १६ दिसंबर, १९७४)।

धार्मिक-सांप्रदायिक संगठनों का कार्यकलाप एक दोहरे लक्ष्य की सिद्धि की ओर निर्देशित है – अपने-अपने समुदाय के सक्रिय सदस्यों की संख्या-वृद्धि और उनकी दिलचस्पियों और गतिविधियों के यथासंभव व्यापक क्षेत्र को समुदाय की परिधि के भीतर लाना। इस प्रसंग में प्रचार की ओर अधिकाधिक ध्यान दिया जा रहा है। १९६६ में स्थापित विश्व हिंदू परिषद ने "वर्तमान विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी के संदर्भ में आधुनिक हिंदू धर्म के पर्यवलोकन" और इस धर्म के सक्रिय प्रचार – विशेषकर आदिवासियों और पिछड़े हुए लोगों द्वारा, जिन्होंने अपने प्राचीन धर्म को बरक़रार रखा है, आवासित इलाक़ों में – को अपना लक्ष्य बनाया है ('हिंदू', १५ फ़रवरी, १९६६)। मद्रास में नगर के मंदिरों के प्रमुख पुजारियों द्वारा स्थापित और

वित्तपोषित हिंदू धर्म-प्रचारक प्रशिक्षण केंद्र ने भी अपने लिए इसी तरह के कार्यभार निर्धारित किये हैं ('हिंदू', ७ अक्तूबर, १६६६)। पंजाब के पटियाला नगर में एक सिख धर्मशास्त्र महाविद्यालय की आधारशिला रखी गयी, जहां विद्यार्थी सिख धर्मशास्त्र का अध्ययन करते हैं और शिक्षा समाप्त करके सिख धर्म का प्रचार कर सकते हैं ('पैट्रियट', १७ अक्तूबर, १६६७)।

बहुत से सांप्रदायिक संगठनों के पास काफ़ी पैसा है, जिसके कुछ हिस्से को समुदाय के भीतर संबंधों के सुदृढ़ीकरण के उपायों पर ख़र्च किया जाता है। अब से कोई ७० साल से भी पहले स्थापित अखिल भारतीय वीरशैव महासभा के अठारहवें महासम्मेलन में अध्यक्ष ने समुदाय के धनी सदस्यों का सहकारी समितियां और बड़े औद्योगिक उद्यमों की स्थापना में अधिक सक्रिय होने और अपने समुदाय का बैंक स्थापित करने के बारे में पहले लिये गये निर्णय को कार्यरूप देने के लिए भी आह्वान किया था ('इंडियन एक्सप्रेस', ४ जून, १६६६)। जैन धर्म के संस्थापक महावीर की २५००वीं जयंती के अवसर पर जैन समुदाय के नेताओं ने सांस्कृतिक तथा सार्वजनिक केंद्रों के निर्माण और धर्मार्थ कार्यों के लिए ४० करोड़ रुपये की राशि मंज़ूर की थी ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', १६ नवंबर, १६७४)। सिख गुरुद्वारों की प्रबंधकारी संस्था – शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी – के हाथ में लगभग १५० लाख रुपये की निधि है और वह व्यापक सामाजिक तथा धर्मार्थ कार्य करती है।

ये सभी उपाय निस्संदेह सांप्रदायिक मानसिकता के दृढ़ीकरण में योग देते हैं और उसके अपने धर्म में विश्वास करनेवालों की ज़िंदगियों के लौकिक पहलुओं में भी फैलने और उनकी एक समुदाय का अंग होने और दूसरे समुदाय के प्रति शत्रुता की भावना को बढ़ाने में सहायता देते हैं। ऐसे विस्तारित रूप में सांप्रदायिक मानसिकता अनिवार्यतः एक ऐसा लक्षण ग्रहण कर लेती है, जिससे वह जातीय अल्पसंख्या की मानसिकता जैसी प्रतीत होने लगती है। इस तरह से रूपांतरित होकर पारंपरिक दृष्टिकोण नया ही अनुस्पंदन प्राप्त कर लेते हैं और जातीय समेकन के सामान्य प्रवाह और जातीय आत्मचेतना के जनतांत्रिक उदय में बाधक हो जाते हैं। "धर्म ख़तरे में है!" जैसे नारे को लेकर सांप्रदायिक समेकन की कोशिशें विशेषकर ख़तरनाक हैं, जो सांप्रदायिकता की सबसे आक्रामक शक्तियों के विचारों को प्रतिबिंबित करता है। हिंदू महासभा के एक नेता ने बलपूर्वक कहा है:

"हिंदुओं ने अभी मुक्ति नहीं प्राप्त की है। वे आज अहितेच्छुओं और हिंदू-विरोधी धर्मनिरपेक्षतावादियों के शासन के नीचे कराह रहे हैं... हिंदू आज भी हिंदू विचारधारा के लिए राष्ट्रभूमि से वंचित हैं, जहां उसे शुद्ध किया और आधुनिक अवस्थाओं के अनुरूप विकसित किया जा सके,.. जहां हिंदू जीवन-प्रणाली के मानों का समस्त मानवजाति के हितार्थ प्रसार किया जा सके, जिसे उनकी सख़्त ज़रूरत है" ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', २१ सितंबर, १९७२)।

इस प्रकार का कथन हिंदू संप्रदायवादियों के लिए लाक्षणिक है। "समुदाय ख़तरे में है!" के नारे की एक चरम अभिव्यक्ति पुरी के शंकराचार्य के सरकार द्वारा प्रायोजित परिवार-नियोजन कार्यक्रम (अब परिवार-कल्याण कार्यक्रम) के बारे में एक वक्तव्य में देखी जा सकती है। १९७१ की जनगणना के कुछ आंकड़ों का उपायोग करते हुए, जो १९६१–१९७१ की अवधि में अहिंदू समुदायों में जनसंख्या-वृद्धि की सापेक्षतया उच्चतर दरें दिखलाते हैं, शंकराचार्य ने कहा कि परिवार-नियोजन कार्यक्रम "हिंदू प्रजाति (?!) के विनाश के सबसे अचूक उपायों में एक" है और उसे "हिंदुओं के जन-संहार" की संज्ञा दी। इस बात की तरफ़ इशारा करते हुए कि मुस्लिम स्वीय विधि के अंतर्गत बहुपत्नीत्व की अनुमति है,* उन्होंने दावा किया कि परिवार-नियोजन "हिंदू धर्म तथा जीवन-प्रणाली और वैदिक संस्कृति का उल्लंघन" करता है और वह हिंदुओं को १०० वर्षों के भीतर अल्पसंख्या में परिणत कर देगा** ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', १३ दिसंबर, १९७०; 'पैट्रियट', २६ जनवरी, १९७२; 'टाइम्स ऑफ़ इंडिया', १३ फ़रवरी, १९७३)।

"धर्म ख़तरे में है!" के नारे के बाद अगला क़दम धार्मिक पुनर्जागरण की नीति है। "हिंदू पुनर्जागरणवाद अर्वाचीन भारतीय इतिहास में उस

---

*जनगणना उप-महापंजीकार के अनुसार ५०० भारतीय गांवों के एक समाजशास्त्रीय सर्वेक्षण के परिणाम दिखलाते हैं कि बहुपत्नीप्रथा मुसलमानों (४.८%) की तुलना में हिंदुओं (५.१%) में अधिक व्यापक है ('हिंदुस्तान टाइम्स', १४ जनवरी, १९७२)।

**अपने शब्दों को प्रत्यक्ष "ख़तरे" का स्वरूप प्रदान करने के लिए उन्होंने इस अवधि को बाद में घटाकर बीस वर्ष कर दिया। यह कथन वैज्ञानिक जनांकिकी पर आधारित अत्यंत सतही विश्लेषण तक की कसौटी पर भी खरा नहीं उतरता है।

सामाजिक-धार्मिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक आंदोलन को दिया जानेवाला नाम है, जिसने हिंदुओं के समक्ष एक ऐसा आदर्श उपस्थित करने का प्रयास किया, जिसकी जड़ें उनके विगत इतिहास में हैं और जो प्राचीन हिंदू धर्म के उसूलों और व्यवहारों पर आधारित है। यह हिंदुओं के गौरवशाली अतीत को पुनरुज्जीवित करने और उस अतीत को आधुनिक हिंदू समाज का आधार बनाने का यत्न था" (जी० एस० तिवारी, एस० आर० शर्मा [संपा०], 'राजनीतिक अध्ययन' [अंग्रेज़ी में], आगरा, १९६५, पृ० ७२)।

हिंदू पुनर्जागरणवाद की यह परिभाषा इस परिघटना के सिर्फ़ सबसे आम, सतही लक्षणों को ही प्रतिबिंबित करती है और उसके वर्ग-स्वरूप तथा आधुनिक भारत के सामाजिक जीवन में उसके द्वारा निबाही जानेवाली ध्वंसात्मक भूमिका को नहीं प्रकट करती। निस्संदेह, अतीत की ओर प्रत्यावर्तन का यह आह्वान ही पुनर्जागरणवाद का आधार है। लेकिन यह समझना महत्वपूर्ण है कि यह नारा दूसरे समुदायों और उनके मूल्यों के लिए असहिष्णुता और शत्रुता का आह्वान है। हिंदू धर्म को पुनरुज्जीवन देने की नीति के पैरोकारों का कहना है कि भारतीय सभ्यता ने अपने उत्कर्ष का शिरोबिंदु क्लासिकी संस्कृत और वेदों के रचे जाने के समय प्राप्त किया था। इस काल को, जिसका तिथि-निर्धारण अलग-अलग किया जाता है, "हिंदू धर्म का स्वर्णयुग" माना जाता है, जिसके बाद बाहरी शक्तियों – मुस्लिम आक्रमण और ब्रिटिश शासन – के आघात के फलस्वरूप भारतीय सभ्यता के कथित "पतन" की प्रक्रिया शुरू हुई। अतः, अतीत की ओर प्रत्यावर्तन हिंदू धर्म द्वारा मुसलमान और ईसाई समुदायों का विरोध किये जाने की पूर्वकल्पना करता है।

यह कहना समीचीन रहेगा कि धर्म का राजकीय तथा राजनीतिक प्रयोजनों के लिए उपयोग करने का विचार कोई नया नहीं है। क्रांतिपूर्व रूस में "आधिकारिक जातीयता का सिद्धांत" रूसी लोगों के अपने स्वभाव से ही "धार्मिक" और "सनातन धर्मनिष्ठ" होने की स्थापना पर आधारित था। यह स्थापना "देवधर और देवमनोतीत रूस" के बारे में निष्कर्ष की तरफ़ ले जाती थी, जिसका सिर्फ़ रूसी क़ौम के शोषण और उत्पीड़न ही नहीं, बल्कि "अन्यधर्मी और अन्यजात" लोगों के संदर्भ में महत रूसी अंधराष्ट्रवाद की नीति के लिए भी आवरण के रूप में उपयोग किया जाता था, जिसने ज़ारशाही रूस को जातियों के क़ैदख़ाने में परिणत कर दिया था।

भारत में हिंदू पुनर्जागरण कितने ही दलों और संगठनों की नीतियों और सरगरमियों का आधार है, जैसे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ , हिंदू महासभा, आर्य समाज, आदि। इनमें से प्रत्येक राजनीतिक और सार्वजनिक जीवन में सक्रिय है। इन संगठनों की सरगरमियों में अलग-अलग पहलू अग्रभूमि में आ सकते हैं, मगर इन सरगरमियों का वास्तविक सार-तत्व एक ही चीज़ में परिणत हो जाता है और वह है हिंदू मूल्यों और विचारों को सारे भारतीयों के मूल्यों और विचारों के रूप में प्रस्तुत करना ('हिंदुस्तान टाइम्स', ३ सितंबर, १९७०)। उदाहरण के लिए, आर्य समाज वैदिक काल की तरफ़ लौटने का प्रचार करता है और अन्य धर्मावलंबियों को बाद में जुड़े लक्षणों से शुद्ध किये "मौलिक वैदिक धर्म" के अंचल में लाना चाहता है। इस संगठन का मुख्य उद्देश्य सभी भारतीयों से हिंदू धर्म को अंगीकार करवाना है। आर्य समाज जातिप्रथा के भी विरुद्ध है।

हिंदू महासभा भारत में हिंदू राष्ट्र के निर्माण और हिंदू धर्म के देश का राजधर्म घोषित किये जाने को अपना ध्येय मानती है। जहां तक उसके अन्य विचारों की बात है, तो हिंदू महासभा के ५२ वें अखिल भारतीय महासम्मेलन में उसके अध्यक्ष ने कहा था: "भारत को अगर शांति में रहना है, तो उसका एकमात्र उपाय है भारत और पाकिस्तान के बीच आबादी की अदला-बदली", अर्थात ६.२ करोड़ भारतीय मुसलमानों का पाकिस्तान को निष्कासित किया जाना ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', २८ अप्रैल, १९६९)।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ भी हिंदू राष्ट्र के नारे का प्रचार करता है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के भूतपूर्व सरसंघचालक (सर्वेसर्वा) मरहूम माधवराम सदाशिव गोलवलकर के प्रिय नारे थे – "हिंदी-हिंदू-हिंदुस्थान" और "हिंदू राष्ट्र हिंदुस्थान, हिंदू संगीत भारत की तान, हिंदू संस्कृति भारत की जान!" ('मेनस्ट्रीम', २८ नवंबर, १९७०)। उनका कहना था कि "भारत के सीमांतों के बाहर पैदा हुए धर्मों के माननेवालों को भारतमाता की संतान नहीं माना जा सकता।" वह सिर्फ़ पारसियों को इस सूत्र का एकमात्र अपवाद मानते थे ('स्टेट्समैन', ५ नवंबर, १९६८)।

कुछ धार्मिक नेताओं, उदाहरण के लिए पूर्वोद्धृत पुरी के शंकराचार्य, द्वारा भारत में धर्मतंत्रीय राज्य की स्थापना करने के विचार भी प्रतिपादित किये गये हैं। "हिंदू राष्ट्र" सिद्धांत की एक तर्कसंगत परिणति "भारतीयकरण" का कार्यक्रम है, जिसका अर्थ है सभी द्वारा हिंदू धर्म

का बलात अंगीकरण। भारतीयकरण का कार्यक्रम सबसे पूर्ण रूप में और सबसे खुले तौर पर भारतीय जनसंघ के नेता बलराज मधोक द्वारा निरूपित किया गया है (बलराज मधोक, 'भारतीयकरण – क्या, क्यों और कैसे?' [अंग्रेज़ी में], नयी दिल्ली, १९६५)।

"हिंदू राष्ट्र" सिद्धांत को एक "युक्तिसंगत" और धर्मनिरपेक्ष प्रतीत होनेवाला तर्काधार प्रदान करने के यत्न सिर्फ़ सांप्रदायिक नेताओं द्वारा नहीं किये जाते हैं। प्रसिद्ध पत्रकार गिरिलाल जैन लिखते हैं: "धर्मनिरपेक्ष विचारों के भारतीयों को (भारत के – ले०) विभाजनपूर्व और विभाजनकालों के मानसिक अवरोधों पर क़ाबू पाना होगा और इस सुस्पष्ट ऐतिहासिक तथ्य को स्वीकारना होगा कि राष्ट्र-निर्माण का हर सफल प्रयास एक प्रबल समुदाय अथवा क़बीले – जर्मनी में प्रशाई, ग्रेट ब्रिटेन में अंग्रेज़, सोवियत संघ में महत रूसी, संयुक्त राज्य अमरीका में आंग्ल-सैक्सन और चीन में हान – के चहुं ओर केंद्रित रहा है और भारत में सिर्फ़ हिंदू ही यह भूमिका निबाह सकते हैं" ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', २२ अक्तूबर, १९६९)।

"राष्ट्र-निर्माण" की बात करते समय गिरिलाल जैन के दिमाग़ में निस्संदेह राज्य के निर्माण की ही बात रही होगी और उन्होंने जातीय और बहुजातीय राज्यों के बीच कोई अंतर नहीं किया है और विभिन्न सामाजिक तथा वर्गीय प्रक्रियाओं को भी उलझा दिया है, जो स्वभाव से ही सर्वथा भिन्न हैं। लेकिन दिलचस्प बात यह है कि अन्य देशों के मामले में तो लेखक राष्ट्र अथवा राज्य का निर्माण करने में प्रमुख भूमिका निबाहनेवाले संजातीय समूहों के उदाहरण उद्धृत करते हैं, जब कि भारत के मामले में "राष्ट्र-निर्माता केंद्रक" के रूप में एक बहुजातीय धार्मिक समुदाय को सामने रखते हैं, जो आंतरिक रूप से विभाजित है और जिसकी बाहरी सीमाएं अस्पष्ट हैं।

"राष्ट्र-निर्माता केंद्रक" के रूप में हिंदुओं, अर्थात एक धार्मिक समुदाय, की बात करते हुए लेखक १९४७–१९४८ के दुःखद ऐतिहासिक अनुभव को "मानसिक अवरोधों" अथवा "पूर्वग्रहों" की संज्ञा देते हैं। यह कुख्यात "दो राष्ट्र सिद्धांत" – "हिंदू" और "मुसलमान" – के आधार पर ही था कि १९४७ में भारत का उन त्रासद घटनाओं के साथ विभाजन हुआ, जिनकी याद भारत और पाकिस्तान में बीच की और पुरानी पीढ़ी के लोगों को आज भी बनी हुई है। विभाजन के परिणामस्वरूप राजकीय सीमांत

ने दो जातियों – बंगाली और पंजाबी – के देह-प्राण को चीरकर उनके धार्मिक आधार पर विभाजन पर मुहर लगा दी और उनके विकास के क्रम को आमूलतः बदल दिया। बाद के घटनाचक्र ने राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के नेताओं – महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू, अबुल क़लाम आज़ाद, आदि – के विचारों की पुष्टि ही की, जिन्होंने "दो राष्ट्र सिद्धांत" को अस्वीकार किया था और धर्म का सामान्यरूपेण राजनीति और विशेषकर जातीय संबंधों में उपयोग किये जाने का विरोध किया था।

भारत की जनतांत्रिक शक्तियां सांप्रदायिक नीति और पुनर्जागरणवाद द्वारा पेश किये जानेवाले ख़तरे से अवगत हैं। श्री रमण के अनुसार "आज पुनर्जागरणवाद का लक्ष्य केवल संज्ञाहीन करना ही नहीं, बल्कि नष्ट करना भी है। यह सिर्फ़ अफ़ीम ही नहीं, ज़हर भी है" ('पैट्रियट', ६ फ़रवरी, १९७५)। धार्मिक कारक को ही प्राथमिक महत्व का दिया जाना, अर्थात विवेक नहीं, पूर्वग्रह का अवलंबन वर्तमान अवस्थाओं में तीसरी दुनिया के देशों में विकास की सामान्य प्रवृत्तियों के विरुद्ध जाता है और उनमें प्रगतिशील प्रक्रियाओं के मुक्त विकास में बाधा डालता है। अ० म० गोर्की को लिखे अपने पत्र में लेनिन ने कहा था: "ईश्वर के विचार ने 'व्यक्ति को समाज के साथ जोड़ा' कभी नहीं है – उसने हमेशा उत्पीड़ित **वर्गों को** उत्पीड़कों के **देवत्व** में विश्वास के साथ हाथ-पैर **बांधा ही है**" (व्ला० इ० लेनिन, अ० म० गोर्की को पत्र, नवंबर, १९१३)। भारत में जातीय आंदोलनों के विकास का विश्लेषण करते हुए ए० आर० देसाई उचित ही बल देते हैं: "सामान्य धर्म इस महत्वपूर्ण तथ्य को नहीं मिटा सकता कि समान आर्थिक हित भिन्न समुदायों के ज़मींदारों, पूंजीपतियों, मज़दूरों या किसानों को एक होने और अपने विशिष्ट वर्ग-हितों को तुष्ट करने के लिए दूसरे समुदायों में अपने प्रतिरूप समूहों के साथ मिलकर प्रयास करने को प्रेरित करते हैं। सांप्रदायिकता का प्रचार विद्यमान आर्थिक संरचना पर आधारित वर्ग विभाजनों की अनुरूपता में एकीकरण की इतिहासतः प्रगतिशील प्रक्रिया को सिर्फ़ अवरुद्ध ही कर सकता है" (ए० आर० देसाई, 'भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि' [अंग्रेज़ी में], बंबई, १९५८, पृ० ३६१)। इस प्रसंग में ग० मुर्दाल की एक उक्ति दिलचस्प है, जिन्होंने विकासमान देशों में धर्म की नकारात्मक भूमिका का वस्तुपरक आकलन किया है: "अपने वास्तविक और सर्वांगीण अर्थों में धर्म सामान्यतः सामाजिक अंतःक्रिया की एक ज़बरदस्त शक्ति की तरह काम करता है। लेखक

को समकालीन दक्षिण-पूर्वी एशिया में ऐसा एक भी उदाहरण ज्ञात नहीं है, जहां धर्म ने कोई सामाजिक परिवर्तन उत्पन्न किये हों" (ग० मुर्दाल, 'तीसरी दुनिया की समकालीन समस्याएं' [रूसी में], मास्को, १९७२, पृ० १५०)।

इस प्रकार, संप्रदायवाद और धार्मिक पुनर्जागरणवाद के प्रचार और नीति का वर्ग-स्वरूप है और वे भारतीय समाज के सिर्फ़ सबसे प्रतिगामी और रूढ़िवादी अंशकों के हितों के ही अनुरूप हैं। जहां तक जातीय प्रक्रियाओं का संबंध है, तो कई भारतीय विद्वानों के अनुसार इनमें धर्म कोई सकारात्मक भूमिका नहीं अदा कर सकता। एस० एस० धवन के अनुसार "हिंदू धर्म राष्ट्रीय एकीकरण का आधार नहीं बन सकता, क्योंकि वह कोई एक मत, एक विश्वास, एक धर्म और एक संस्कृति नहीं, बल्कि मतों, विश्वासों और संस्कृतियों का संयोजन है। अगर भारत को हिंदू राष्ट्र और हिंदू धर्म को राष्ट्रीय एकीकरण की बुनियाद बनाने की कोई भी कोशिश की जाती है, तो वह स्वयं हिंदू धर्म के भीतर विभिन्न पंथों-संप्रदायों के बीच कटु विवाद उत्पन्न करेगी" ('स्टेट्समैन', २४ मार्च, १९७३)।

बिलकुल संभव है कि एस० एस० धवन द्वारा यहां विवेचित कल्पित मामले ने हिंदू समुदाय के भीतर सैद्धांतिक विवादों के कारण ठीक ये ही परिणाम उत्पन्न किये होते। ये विवाद जातपांतगत और धार्मिक पूर्वग्रहों से आच्छादित वर्ग-स्वरूप के विवाद के मुक़ाबले में अतुलनीय रूप से कम महत्व रखते हैं। केवल संप्रदायवादी सिद्धांतों में ही ऐक्यबद्ध हिंदू समुदाय वर्ग-विवादों और टकरावों से, विशेषकर सवर्ण हिंदुओं द्वारा बरते जानेवाले सामाजिक विभेद और आर्थिक उत्पीड़न को स्वीकार न करना चाहनेवाले हरिजनों की अधिकाधिक प्रायिक और प्रचंड कार्रवाइयों से भीतर-भीतर ही फट रहा है। महाराष्ट्र में हरिजन युवकों की कार्रवाइयों को, जिन्होंने दलित पैंथर नामक अपना अलग संगठन बना लिया है, इसकी एक मिसाल माना जा सकता है। लेकिन अनुभव ने दिखलाया है कि वर्ग-हितों की स्पष्ट चेतना के बिना धर्म और जातपांत के ढांचे के भीतर हिंदू समुदाय के सबसे उत्पीड़ित अंशक का संघर्ष सर्वथा निरर्थक है।

मुस्लिम संप्रदायवाद पर भी यही मूल्यांकन लागू होता है। मराठवाड़ा विश्वविद्यालय के व्याख्याता मुईन शाकिर के अनुसार "जिस चीज़ पर आम तौर से ज़ोर नहीं दिया जाता, वह यह है कि सांप्रदायिक एकजुटता

विकासमान समाज के संदर्भ में कोई सकारात्मक भूमिका नहीं अदा कर सकती। यह भुला दिया जाता है कि धर्म महत्वाकांक्षी राजनीतिक नेताओं का औज़ार ही रहा है उसका राजनीतिक सत्ता और लूट के तद्जनित हिस्से के लिए रास्ते के रूप में इस्तेमाल किया जाता है" ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', १५ अगस्त, १६७०)।

मुस्लिम संप्रदायवादी भारतीय मुस्लिम समुदाय को एक ऐक्यबद्ध और एकीभूत समष्टि के रूप में दिखलाने का यत्न करते हैं और उसके हितों का प्रतिनिधित्व करने का दावा करते हैं। साथ ही वे शिया-सुन्नी फ़िसादों और विभिन्न मुस्लिम सांप्रदायिक संगठनों के बीच परस्परघाती झगड़ों में भी सक्रिय भाग लेते हैं।

संप्रदायवाद और पुनर्जागरणवाद की नीति विभिन्न समुदायों के बीच संबंधों में तनाव के बढ़ने और भारतीय समाज में अपकेंद्री प्रवृत्तियों के पैदा होने की तरफ़ ले जाती है। "हिंदू राष्ट्र" सिद्धांत का आक्रामक प्रचार अनिवार्यतः दूसरे समुदायों में जवाबी अनुक्रिया उत्पन्न करता है। हिंदू पुनर्जागरणवाद मुस्लिम पुनर्जागरणवाद को पोषित करता है। अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के व्याख्याता आई० ए० ख़ां लिखते हैं: "आज़ादी के बाद के बीस बरसों के दौरान हिंदुस्तानी मुसलमान धीरे-धीरे निम्न बुर्जुआ नेतृत्व के असर के नीचे आ गये हैं, जिनकी विचाराधारा की जड़ें एक सर्व-इस्लामी और पुनर्जागरणवादी राजनीतिक सिद्धांत में हैं... १६४७ के बाद से हिंदू अंधराष्ट्रवाद की ताक़तों की कल्पनातीत वृद्धि मुसलमानों को पुनर्जागरणवादियों की गोद में धकेलनेवाला एक और कारक थी" ('मेनस्ट्रीम', ८ जून, १६६८)।

इन सभी बातों ने अंततोगत्वा समुदायों के बीच संबंधों को बहुत अधिक उलझा दिया और उनके परिणामस्वरूप साठ के दशक में सांप्रदायिक दंगों की संख्या में—और अकसर बहुत बड़े पैमाने पर—ज़बरदस्त बढ़ती हुई। सरकारी आंकड़ों के अनुसार १६६८ में ३४६ सांप्रदायिक दंगे हुए थे, १६६६ में उनकी संख्या ५१६ हो गयी थी ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', २३ मार्च, १६७०)। संप्रदायवाद की बढ़ती ताक़त का अंदाज़ इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि सार्वजनिक क्षेत्रक के उद्यमों में मुस्लिम कर्मचारियों ने अधिकारियों से अलग इलाक़ों में आवास सुविधाएं प्रदान करने का अनुरोध किया, जिससे वे दूसरे समुदायों से अलग रह सकें ('स्टेट्समैन', २७ जुलाई, १६७०)।

सांप्रदायिक नीति पार्थक्यवादी भावनाओं की वृद्धि में भी योग देती है। पंजाब में संप्रदायवादी अकाली दल के नेताओं का एक प्रभावशाली गुट सिखबहुल आबादीवाले इलाक़ों की व्यापक स्वायत्तता या उनके भारत से अलगाव तक के अर्थों में सोचता हुआ "सिख राष्ट्र या क़ौम" के लिए जब-तब अलग "सिखिस्तान" की भी मांग उठाता रहा है ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', २८ मार्च, १९६९; 'स्टेट्समैन', १३ सितंबर, १९७२, ४ अप्रैल, १९७५)। मुख्यतः "हिंदी-हिंदू-हिंदुस्तान" के नारे को लेकर अपने प्रचार में "आर्य प्रतीकों" का उपयोग करते हुए सारे उत्तर भारत और विशेषकर हिंदी राज्यों में फैल जानेवाले हिंदू पुनर्जागरणवाद ने देश के दक्षिण में राष्ट्रवादी और पार्थक्यवादी रुझानों के बढ़ने में कोई कम योग नहीं दिया है। उसने तमिलनाडू में द्रमुक नेताओं को राज्य की शहरी आबादी के मध्यम संस्तरों के दिमाग़ों में तमिल राष्ट्रवाद पोषित करने का बहाना ही नहीं, हथियार भी प्रदान किया, जहां इस तरह के रुझान "उत्तर बनाम दक्षिण" जैसे अंधराष्ट्रवादी नारों में रूपांतरित हो गये। यह संभवतः धार्मिक पुनर्जागरणवाद का भारत की जातियों की समेकन प्रक्रिया में एकमात्र "योगदान" है।

हिंदू राष्ट्र के विरुद्ध संघर्ष के नारे का उत्तर-पूर्वी भारत में पर्वतीय नागा जाति के कुछ पार्थक्यवादी नेताओं द्वारा भी उपयोग किया गया है। ब्रिटिश और अमरीकी पादरियों के कार्यकलाप के परिणामस्वरूप नागाओं में ईसाई धर्म का काफ़ी प्रचार हुआ है। इसलिए नागा पार्थक्यवादियों ने "हिंदू साम्राज्यवाद" से मुक्ति पाने के लक्ष्य से "स्वतंत्र ईसाई नागालैंड" क़ायम किये जाने का विचार सामने रखा ('हिंदू', १० नवंबर, १९६६; 'इंडियन एक्सप्रेस', १५ मई, १९६७)।

संप्रदायवाद और राजनीति में धर्म का उपयोग ऐसे विघटनकारी कारक हैं, जो अंतःजातीय और अंतःप्रादेशिक स्तर पर ही नहीं, बल्कि कुछ प्रदेशों के भीतर भी पार्थक्यवादी तथा स्वायत्ततावादी प्रवृत्तियों को पोषित करते हैं। जम्मू-कश्मीर राज्य के लद्दाख़ क्षेत्र में स्थिति के बारे में एक विस्तृत विश्लेषणात्मक लेख में लक्षित किया गया था कि "इस इलाक़े में अनुष्ठान-बद्ध धर्म के ही आदमी के जीवन का केंद्र होने के कारण यहां धार्मिक भाषा के आवरण में कही बात ही आम तौर पर समझी जाती है और समाज में पारंपरिक पुरोहितों ने अपने पुराने नियंत्रण को काफ़ी मात्रा में बनाये रखा है... धर्म का इस इलाक़े में संकीर्ण राजनीतिक प्रयोजनों के लिए

भी अधिकाधिक उपयोग किया जा रहा है। यह लद्दाख़ में सबसे अधिक देखने में आता है। इस क्षेत्र के बौद्धों में यह भावना अध्यवसायपूर्वक फैलायी जा रही है कि उनका जम्मू-कश्मीर के मुसलमानों द्वारा शोषण किया जा रहा है। लद्दाख़ के जम्मू-कश्मीर से अलग किये जाने का आंदोलन बल पकड़ता जा रहा है" ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', ५ अक्तूबर, १९७५)।

यह दृष्टव्य है कि लद्दाख़ में बौद्ध समुदाय का शीर्षस्थ संस्तर जम्मू-कश्मीर को एक समष्टि के रूप में, "मुस्लिम शोषक" के रूप में प्रस्तुत करने की कोशिश करता है, जब कि वास्तविकता यह है कि पूरे ही राज्य में कश्मीरी पंडितों और कश्मीरी मुसलमानों के बीच, और कश्मीरियों और जम्मू के डोगरों के बीच भी प्रबल आपसी विरोध हैं।

जहां तक भारतीय जातियों के समेकन और उनकी जातीय आत्मचेतना के उदय की प्रक्रियाओं की बात है, तो सांप्रदायिकता और धार्मिक चेतना अभी तक उनके विकास में गंभीर बाधाएं रही हैं। लोगों के मनों में धर्म का जाति के साथ एकात्मीकरण, निस्संदेह, समाज के सामाजिक-आर्थिक विकास के प्रभाव में कमज़ोर होती जानेवाली परिघटना है। अ० ग० अगायेव लिखते हैं: "मध्य एशियाई क़ौमों के व्यापक अंशक अपनी जातीयता को धार्मिक परिधान ('मुसलमान') में देखा करते थे और यह चेतना – मसलन – उज़्बेक या ताजिक जाति का अंग होने के अहसास से कहीं अधिक महत्व रखती थी। जातीय समेकन प्रक्रिया में 'उज़्बेक' या 'ताजिक' का आत्मप्रदत्त अभिधान उन सभी लोगों पर फैल गया, जो वस्तुतः इन क़ौमों में अंग थे। स्थानीय से जातीय सत्व में इस संक्रमण के साथ-साथ दृष्टिकोण विस्तृत हो जाता है" (अ० ग० अगायेव, 'जाति, उसका अंतर्य तथा आत्माभिधान' शीर्षक लेख, 'इतिहास के प्रश्न' पत्रिका [रूसी में], १९६७, अंक ७, पृ० १०२)। "हिंदू राष्ट्र" सिद्धांत का प्रचार या मुस्लिम "एकता" का दावा करना इतिहास के चक्र को उलटा घुमाने, भारत में निवास करनेवाली जातियों की मानसिकता को धार्मिक खोल में ठूंसने और उनके दृष्टिकोण को एक धार्मिक समुदाय के ढांचे के भीतर सीमित कर देने की कोशिश के समान हैं। अलावा इसके, भाषाई राज्यों के सिद्धांत को अस्वीकार करके "हिंदी-हिंदू-हिंदुस्तान" नारे के पक्षधर भारत में जातीय समस्या के जनतांत्रिक समाधान के विरोधियों के रूप में सामने आते हैं।

"हिंदू राष्ट्र" और ऐसे ही अन्य विचारों के पक्षधरों की सुसंगत और युक्तियुक्त आलोचना करते हुए भारतीय विद्वान, पत्रकार और राजनीतिक कार्यकर्ता दिखलाते हैं कि भारत में धार्मिक समुदाय – हिंदू, मुसलमान, बौद्ध, जैन और ईसाई (सिखों और पारसियों को छोड़कर) – बहुजातीय हैं। एक उदाहरण लीजिये – शरद में विभिन्न भारतीय राज्यों में एक हिंदू त्योहार मनाया जाता है – उत्तर भारत में दशहरा, बंगाल में दुर्गा पूजा, महाराष्ट्र में विजयादशमी, केरल में ओणम, आदि। इनमें सिर्फ़ नामों ही नहीं, बल्कि स्थानीय पंचांग और प्रथा द्वारा निर्धारित तिथियों और उनके विशिष्ट जातीय स्वरूप के लिहाज़ से भी अंतर हैं। अन्यभाषाई परिवेश में बंगाली, महाराष्ट्रीय, मलयाली और दूसरी जातियों के लोग अपने त्योहारों को इतना धार्मिक नहीं, जितना जातीय त्योहारों के रूप में मनाते हैं।

अमरीकी भाषाविज्ञानी मारीओ पेई का कहना है: "अगर उस अकेले समाजशास्त्रीय कारक को अलग किया जाये, जिसने भाषा के इतिहास पर गहनतम प्रभाव डाला है और जो अपनी बारी में भाषा द्वारा गहनतम रूप में प्रभावित किया गया है, तो धर्म ही संभवतः वह कारक होगा" (एम० पेई, 'भाषा की कहानी' [अंग्रेज़ी में], न्यूयार्क, १९६६, पृ० २१७)। धार्मिक कारक के इस तरह के मूल्यांकन को स्वीकार किया जा सकता है, बशर्ते कि यह न भूला जाये कि वह अतीत से, भाषा के इतिहास से, अर्थात प्राचीन और मध्य युगों से संबंध रखता है। हमारे युग में जातीय तथा भाषाई प्रक्रियाओं को यह कारक भी प्रभावित करता है, लेकिन अतीत के अवशेष के रूप में, सामान्य चेतना के स्तर पर सामाजिक दृष्टि से कालातीत मानसिकता के स्रोत के रूप में ही। यह प्रभाव द्वैध स्वरूप का होता है, यद्यपि परिणाम दोनों ही मामलों में एक ही है – धार्मिक मानसिकता जातीय समेकन प्रक्रिया में, सर्वोपरि जातीय आत्मचेतना के उदय में बाधा डालती है।

जैसे कि ऊपर दिखाया गया था, धार्मिक चेतना का भिन्न-भिन्न संजातीय समूहों को एक समुदाय के चौखटे के भीतर बनाये रखने, उनकी आभासी एकता को क़ायम रखने और जातीय मूल्यों की धार्मिक प्रतीकों से प्रतिस्थापना करने के लिए उपयोग किया जाता है। इस सूरत में सफल जातीय-भाषाई सीमांकन की राह में, जो जातीय समेकन में एक आवश्यक और स्वाभाविक मंज़िल है, एक अवरोध पैदा हो जाता है। साथ ही "हम – वे" का धार्मिक आधार पर आमने-सामने रखा जाना मेहनतकश

जनसाधारण की वर्ग-चेतना को कुहराच्छन्न करता है और ख़ासकर सर्वहारा के एक जातीय वर्ग के रूप में समेकन को अवरुद्ध करता है और इस तरह से जातीय समस्या के जनतांत्रिक समाधान के लिए और बुर्जुआ राष्ट्रवाद के ख़िलाफ़ संघर्ष में उसकी संभाव्यताओं को कमज़ोर करता है। मराठा अंधराष्ट्रवादी शिव सेना की मुस्लिमविरोधी कार्रवाइयां यह साबित करती हैं कि बुर्जुआ राष्ट्रवाद और सांप्रदायिक कलह में निश्चय ही आपस में कोई विरोध नहीं है और सच तो यह है कि वे एक-दूसरे को अनुपूरित और प्रबलित ही करते हैं। इसी के साथ-साथ राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ अथवा जमाअत-ए-इस्लामी जैसे जुझारू धार्मिक अंधानुराग के एककों की सर्वोपरि जनतांत्रिक शक्तियों के और मुख्यतः कम्युनिस्टों के विरुद्ध निर्देशित सरगरमियां उनके वर्ग-अंतर्य को क़ायलकारी ढंग से साबित कर देती हैं — सांप्रदायिक नीतियां शोषक वर्गों के हथियारों में एक हैं, जिनका मेहनतकश जनसाधारण को कुचलने, विभाजित करने और विचारधारात्मक रूप से निरस्त्र करने के लिए उपयोग किया जाता है। इस निष्कर्ष पर सिर्फ़ मार्क्सवादी विद्वान ही नहीं, बल्कि भारत में चल रही सामाजिक प्रक्रियाओं का वस्तुपरक विश्लेषण करनेवाले ग़ैर-मार्क्सवादी शोधकर्ता भी पहुंचते हैं। पी० आर० ब्रास लिखते हैं : "मुस्लिम पार्थक्यवाद की विचारधारा अनिवार्यतः और अवश्यंभावी रूप से हिंदुओं और मुसलमानों के बीच वस्तुपरक अंतरों से नहीं, बल्कि अपने राजनीतिक विशेषाधिकार को बनाये रखने के लिए व्यग्र संभ्रांतवर्ग द्वारा मुस्लिम एकात्मता और हिंदू-मुस्लिम पार्थक्य के प्रतीकों की जोड़-तोड़ के ज़रिये इन अंतरों का जो उपयोग किया गया है, उससे उत्पन्न हुई" (पी० आर० ब्रास, 'उत्तर भारत में भाषा, धर्म और राजनीति' [अंग्रेज़ी में], दिल्ली, १९७५, पृ० १२०)।

लेकिन आभासी प्रतीकों की सहायता से समुदाय के सदस्यों को ऐक्यबद्ध करने की ओर लक्षित सांप्रदायिक नीतियां जातीय संबंधों में अधिकतर फूट डालनेवाली भूमिका ही अदा करती हैं। इस प्रसंग में अलस्टर (उत्तरी आयरलैंड) में प्रोटेस्टैंट-कैथोलिक दंगों या भारत के विभाजन के समय होनेवाले सांप्रदायिक दंगों का पुनःस्मरण समीचीन रहेगा। धर्म की विभाजनकारी भूमिका यूगोस्लाविया में सर्बों और क्रोएशियों के जातीय विकास के उदाहरण में भी देखी जा सकती है, "जिनके गणतंत्र प्रादेशिक दृष्टि से एक-दूसरे का सिलसिला हैं और समकालीन समाजवादी यूगोस्लाविया में जिनका आर्थिक साम्य निर्विवाद्य है। अंतिम बात यह कि सर्ब और

क्रोएशी लोग आपस में काफ़ी घुल-मिल गये हैं और उनकी एक सामान्य सर्बक्रोएशी भाषा है... इन सारी बातों के बावजूद सर्ब और क्रोएशी अपने को अलग-अलग जाति मानते हैं और उनकी जातीय आत्मचेतना भिन्न-भिन्न है" (स० त० कलताख़्च्यान, 'जाति के सार-तत्व के बारे में लेनिनवाद और जनगण की अंतर्राष्ट्रीय बंधुता के बनने के रास्ते' [रूसी में], मास्को, १९७६, पृ० २१८)। कितने ही ऐतिहासिक कारणों से सर्बों ने ईसाई धर्म के प्राच्य अथवा ऑर्थोडॉक्स मत को और क्रोएशियों ने कैथोलिक मत को अंगीकार किया। इसका एक नतीजा न सिर्फ़ जातीय आत्मचेतना में अंतर, बल्कि सर्बों द्वारा स्लावी और क्रोएशियों द्वारा लातीनी वर्णमाला का प्रयोग है, यद्यपि दोनों एक ही भाषा बोलते हैं। "स्विट्ज़रलैंड के रोमांशभाषी एंगाडीन अनुभाग में दो गांव – एक कैथोलिक और दूसरा प्रोटेस्टैंट – हैं। वे एक ही बोली बोलते हैं, मगर अपनी धार्मिक विशिष्टता पर बल देने के लिए अलग वर्तनी का प्रयोग करते हैं (मारीओ पेई, पूर्वो०, पृ० २२०)।

भारत में धर्म की विभाजनकारी भूमिका का एक अत्यंत सुस्पष्ट उदाहरण हिंदी और उर्दू का धार्मिक आधार पर टकराव है। सांप्रदायिक मनोवृत्ति के राजनीतिज्ञ हिंदी को "हिंदुओं की भाषा" और उर्दू को "मुसलमानों की भाषा" के रूप में पेश करते हैं, यद्यपि ये दोनों साहित्यिक रूप दैनंदिन बोलचाल की खड़ी बोली पर आधारित हैं और उनके बीच अंतर मुख्यतः "उच्च शैली" की लिखित रचनाओं में ही प्रकट होते हैं (पहला अध्याय देखिये)। मजलिस-ए-मुशावरात के नेता मरहूम डॉक्टर ए० जे० फ़रीदी का कहना था कि "उर्दू हिंदुस्तानी मुसलमानों की मज़हबी और तहज़ीबी ज़बान है" (पी० आर० ब्रास, पूर्वो०, पृ० १८५)। उर्दू शायर कुमार पाशी अपने विचार व्यक्त करते हुए कहते हैं: "उर्दू के फ़ारस की ज़बान और तहज़ीब के साथ गहरे रिश्ते हैं और इस वास्ते उर्दू अलफ़ाज़ सही हिंदुस्तानी रस को पूरी तरह से नहीं दे सकते। दूसरी तरफ़, संस्कृत हिंदुस्तानी तहज़ीब का मुख्य सोता है और इसलिए हर हिंदुस्तानी लेखक को मौजूदा ज़माने को समझने के लिए उसके साहित्य से ही प्रेरणा पानी होगी" ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', ११ नवंबर, १९७३)। हिंदी के एक उत्कट पक्षधर का कहना है: "उर्दू की सारी फ़िज़ा और तबीयत भारतीय नहीं विदेशी है" (डॉक्टर ज़ेड० ए० अहमद, 'भारत की राष्ट्रभाषा' [अंग्रेज़ी में], इलाहाबाद, १९४१, पृ० १८७)।

कुछ हिंदू सांप्रदायिक नेताओं का ख़याल है कि उर्दू पर प्रहार, हिंदी का उसमें जज़्ब हो चुके अरबी-फ़ारसी शब्दों से "शुद्ध" किया जाना और उनकी संस्कृत शब्दों से प्रतिस्थापना और "हिंदी-हिंदू-हिंदुस्तान" नारे का आक्रामक प्रचार हिंदी की स्थिति को मज़बूत करते हैं और उसके प्रसार में सहायक होते हैं। लेकिन तथ्य इसके विरुद्ध जाते हैं। अगस्त, १९६० में औद्योगिक नगर रांची (बिहार) में हिंदी और उर्दू के समर्थकों के बीच मारपीट हुई, जो सांप्रदायिक दंगों में बदल गयी, जिन्होंने, सरकारी आंकड़ों के अनुसार, ७२ लोगों की जानें लीं ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', ५ सितंबर, १९६७)। इस घटना ने अहिंदी राज्यों में कष्टदायी प्रतिक्रिया उत्पन्न की और हिंदी को अखिल भारतीय स्तर पर अंतःजातीय संपर्क-भाषा की भूमिका प्रदान किये जाने के विरोधियों की स्थितियों को मज़बूत किया। मिसाल के लिए, आधुनिक भारत में हिंदी के स्थान के बारे में एक परिचर्चा के दौरान लक्षित किया गया कि "हिंदी जिस पुनर्जागरणवादी वातावरण में घिरी लगती है, उसके कारण बहुत से लोग हिंदी को संपर्क-भाषा के रूप में स्वीकार करने से डरते हैं" ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', १३ अगस्त, १९६७)।

यह देखना दिलचस्प है कि हिंदी और उर्दू भाषाओं और हिंदू तथा मुस्लिम पुनर्जागरणवाद के बीच अनुरूप संबंध और इन साहित्यिक रूपों का संस्कृत तथा अरबी-फ़ारसी से लिये शब्दों से सराबोर किया जाना इस तथ्य को रेखांकित करते हैं कि हिंदुओं के लिए धर्म और संस्कृति की भाषा संस्कृत है, जब कि मुसलमानों के लिए वह अरबी है। दूसरे शब्दों में, धार्मिक पुनर्जागरणवाद के सबसे दृढ़ पक्षधर हिंदी और उर्दू, दोनों ही के धार्मिक स्वरूप के अस्वीकरण पर पहुंच जाते हैं।

जैसे कि पहले ही कहा जा चुका है, भारत में हिंदू धर्म की कोई एक सर्वस्वीकृत परिभाषा नहीं है और अकसर यही दावा किया जाता है कि ऐसी परिभाषा देना संभव भी नहीं है, यद्यपि उसके लिए प्रयास लगातार किये जाते रहते हैं। इस तरह का एक प्रयास प्रश्न को एक ही लक्षण – भाषा – में बदल देता है – "जिस किसी के भी धर्म का मूल संस्कृत में है, वह हिंदू है।" इसकी पुष्टि के लिए दो – एक "सकारात्मक" और दूसरा "नकारात्मक" – उदाहरण दिये जाते हैं। "पंजाब के शाक्त बंगाल के शाक्तों से आमूलतः भिन्न हैं। जिस उत्कटता के साथ वे इस अंतर को प्रकट करते हैं, उससे तो यही लगेगा कि वे एकदम भिन्न हैं। लेकिन वे सब एक ही हैं – वे हिंदू हैं। एक रहस्यमय सत्व ऐसी कल्पनातीत अनेकता

में भी एकता प्रदान करता है। वह क्या है? एक शब्द में वह संस्कृत है।" बौद्धों और जैनों का उदाहरण "नकारात्मक" उदाहरण के रूप में दिया जाता है। लेखक के अनुसार उन्हें मात्र इस आधार पर ही हिंदू नहीं माना जा सकता कि उनके धर्मग्रंथ पाली तथा अर्धमागधी प्राकृत भाषाओं में लिखे गये हैं, न कि संस्कृत में ('हिंदुस्तान टाइम्स', १४ मई, १९७२)। यहां महत्व की बात यह नहीं है कि लेखक के दावे तथ्यों के साथ मेल नहीं खाते, बल्कि यह है कि भाषा को रहस्यमय गुण प्रदान कर दिये जाते हैं और समस्या को भ्रांतियों के जगत में ठेल दिया जाता है, चाहे वे ख़ासी व्यापक ही क्यों न हों। इसकी पुष्टि संस्कृत और उसके साहित्य को भारत के जनगण की सबसे बड़ी सांस्कृतिक थाती के रूप में नहीं, जिसका सावधानीपूर्वक अध्ययन तथा स्वांगीकरण किया जाना चाहिए, बल्कि एक जीवित भाषा के रूप में प्रस्तुत करने के प्रयासों से होती है। इन्हीं दृष्टिबिंदुओं से हिंदी नहीं, संस्कृत को भारत की राजभाषा बनाये जाने की मांगें की जाती रही हैं। संस्कृत के पक्ष में एक तर्क लाक्षणिक है—हिंदी के विपरीत संस्कृत किसी की भी मातृभाषा नहीं है, वह सभी भाषा-समूहों के निकट है और इसलिए संस्कृत के संदर्भ में वे सभी समान स्थिति में होंगे। वास्तव में सिर्फ़ हिंदू समुदाय के कुछ ब्राह्मण ही संस्कृत के पक्ष में हैं ('हिंदू', १० फ़रवरी, १९६५; 'इंडियन एक्सप्रेस', २५ दिसंबर, १९६७; 'टाइम्स ऑफ़ इंडिया', १० फ़रवरी, १९७०, ५ फ़रवरी, १९७२)। इस रुझान के कुछ विरोधी यह इंगित करते हुए कि संस्कृत सदा ही एक संकीर्ण उच्च संस्तर—ब्राह्मणों—की भाषा रही है, "प्राकृत पाली जनभाषा" को सारे भारत की भाषा का पद प्रदान करने का सुझाव देते हैं ('हिंदुस्तान टाइम्स', ११ मार्च और २० मार्च, १९६५)।

जहां तक मुस्लिम समुदाय की बात है, तो पुनर्जागरणवाद के कुछ पक्षधरों का ख़याल है कि भारतीय मुसलमानों को ऐक्यबद्ध करनेवाली भाषा उर्दू नहीं, अरबी है और वे उपासना तथा धार्मिक साहित्य में उर्दू और दूसरी भारतीय भाषाओं के प्रयोग पर पाबंदी लगाये जाने के पक्ष में हैं। वे अरबी भाषा का अध्ययन सभी भारतीय मुसलमानों के लिए अनिवार्य किये जाने के सिद्धांत का भी समर्थन करते हैं, जिससे वह सिर्फ़ धर्म की ही नहीं, दैनंदिन संसर्ग की भाषा भी बन जाये।

सांप्रदायिक मानसिकता केवल हिंदी प्रदेशों में ही विभाजनकारी कारक नहीं है। हिंदू और मुस्लिम सांप्रदायिक संगठनों की सरगरमियों के साथ-

साथ सिख पुनर्जागरणवाद का प्रचार इस समय आत्मपरक स्वरूप का वह मुख्य अवरोध है, जो पंजाबी जाति के समेकन में आड़े आ रहा है। एकभाषी पंजाब का निर्माण और उसके प्रदेश में उद्योग, कृषि तथा सामान्यतया आर्थिक सूत्रों का तीव्र विकास इस तरह के समेकन का वस्तुपरक आधार प्रदान करते हैं, मगर धार्मिक मानसिकता की स्थिरता इस आधार पर पंजाबी जातीय चेतना की उत्पत्ति को रोकती है। इस प्रसंग में भाषानीति का भी काफ़ी महत्व है, जिसके अनुसार पंजाबी सिखों की भाषा है और उसकी गुरूमुखी वर्णमाला सिख धर्म के संस्थापकों – गुरूओं – द्वारा सर्जित "पवित्र वर्णमाला" है। "सिख धर्म पृथक (हिंदू धर्म से – ले०) क्यों हो गया है?" हिंदू सांप्रदायिक आंदोलन का एक कार्यकर्ता पूछता है। "ठीक इसलिए कि गुरू ग्रंथसाहब की रचना संस्कृत में नहीं, पंजाबी और ब्रजभाषा में की गयी है" ('हिंदुस्तान टाइम्स', १४ मई, १९७२)।

नागालैंड में जातीय प्रक्रिया के विकास पर धर्म का प्रभाव अलग ही तरह का है। नागा जन के संभ्रांत समूह अधिकांशत: ईसाई हैं, मगर उनकी सामान्यतया ईसाइयों के साथ, मसलन, केरल के, अथवा एंग्लो-इंडियनों के साथ तनिक भी समानता नहीं है और न उनके बीच कोई धार्मिक सूत्र ही हैं। मिशनरी स्कूलों में, जहां शिक्षा अंग्रेज़ी माध्यम से दी जाती थी, शिक्षित होने के कारण वे उसका अपने बीच संचार-संसर्ग के लिए प्रयोग करते हैं। यही नहीं, नागालैंड विधानसभा ने अंग्रेज़ी को राज्य की राजभाषा बना दिया है। इससे संभ्रांत समूहों और नागा जनसाधारण के बीच, जो कुलों और गोत्रों में विभाजित हैं और एक-दूसरे से काफ़ी भिन्न बोलियां बोलते हैं, गहरी खाई पैदा हो गयी है। यद्यपि स्वातंत्र्योत्तर वर्षों में भारत के इस पर्वतीय क्षेत्र में नागा जन के जातीय समेकन की वस्तुपरक अवस्थाएं धीरे-धीरे परिपक्व होती रही हैं, फिर भी यह प्रक्रिया अभी मुश्किल से ही शुरू हो पायी है। नागा जन के समस्त संजातीय प्रदेशों को नागालैंड की सीमाओं के भीतर एकीकृत करने की मांगें उठायी गयी हैं; यद्यपि "हम नागा हैं और वे परिवेशी आबादी (दूसरे संजातीय समूहों) के" वैपरीत्य की चेतना बहुत स्पष्ट रूप में व्यक्त होती है, फिर भी धर्म में अंतर (संभ्रांत समूहों का ईसाई धर्म और ग्रामीण आबादी के जीवात्मोपासक पंथ अथवा हिंदू धर्म के आदिम रूप) जातीय आत्मचेतना के विकसित होने की कोई संभावना नहीं प्रदान करता। यह ध्यान में रखा जाना चाहिए

कि एक सामान्य धर्म – ईसाई धर्म – का होना और संचार-संसर्ग के लिए एक – अंग्रेज़ी – भाषा का प्रयोग भी नागा संभ्रांत समूहों में जातीय आत्मचेतना की उत्पत्ति में सहायता नहीं करता। शोधकर्ताओं ने लक्षित किया है कि अंतर्गोत्र शत्रुता और गोत्र मानसिकता इन समूहों में ही विशेषकर प्रबल हैं।

चूंकि संसर्ग-संचार धार्मिक व्यवहार में एक आधारभूत भूमिका निबाहता है, चाहे एक विशिष्ट रूप में ही सही, इसलिए भाषा का उसके लिए प्राथमिक महत्व है। किसी धार्मिक समुदाय का आस्थावान सदस्य, जो अपने पंथ की उपासना, अनुष्ठानों और उत्सवों-त्योहारों में हिस्सा लेता है और धार्मिक प्रचार के प्रभाव को अनुभव करता है, अकसर अपने मन में किसी धर्म विशेष को किसी भाषा विशेष के साथ संबद्ध करने लगता है।* धर्म और भाषा की एक विशेष अभिज्ञा उत्पन्न हो जाती है, जो सिर्फ़ इसी लिहाज़ से नकारात्मक नहीं होती कि वह वर्गीय चेतना अथवा जातीय आत्मचेतना की प्रतिद्वंद्वी का काम करती है। धार्मिक चेतना उस समय भी धर्मनिष्ठ आदमी के दिल-दिमाग़ पर छायी होती है, जब उसके आसपास ऐसे परिवर्तन आते हैं, जो दूसरे प्रकारों की चेतना को उत्पन्न करते हैं। इसलिए वर्गीय हितों की अभिज्ञा और जातीय आत्मचेतना की सिद्धि केवल सामाजिक-आर्थिक जीवन में परिवर्तनों के ज़रिये और विचारधारात्मक संघर्ष में सोद्देश्य कार्यकलाप के ज़रिये, इस संघर्ष में निश्चित स्थिति को अपनाने के रास्ते धार्मिक चेतना को धकेल बाहर करके अथवा उस पर क़ाबू पाकर ही की जानी चाहिए।

---

*गांव में रहनेवाला मुसलमान अपनी भाषा को उर्दू और हिंदू उसे हिंदी कहता है, यद्यपि दोनों ही गांव की एक ही बोली बोलते हैं।

उपसंहार

भारत के स्वतंत्र विकास की पहली चौथाई सदी देश के जातीय जीवन के तूफ़ानी विकास की अवधि थी। जातीय और भाषाई विवाद जब-तब उसके राजनीतिक जीवन के केंद्र में आते रहे। यह पूर्णतः स्वाभाविक भी था। औपनिवेशिक काल में भारत में निवास करनेवाली जातियों और भाषाई समूहों के समेकन की प्रक्रिया को ब्रिटिश औपनिवेशिक अधिकारियों ने जान-बूझकर अवरुद्ध किया। जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में ब्रिटिश औपनिवेशिक सरकार ने "इस बात में फ़ख्र महसूस किया है कि उसके राज्य से हिंदुस्तान में राजनीतिक एका हुआ, हालांकि यह ग़ुलामी का एका था" (जवाहरलाल नेहरू, 'हिंदुस्तान की कहानी', पृ० ५२७)।

भारतीय राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के चढ़ाव ने भी पृथक जातियों की समस्याओं को स्वतंत्रता-प्राप्ति के मुख्य लक्ष्य के मातहत करते हुए उन्हें पृष्ठभूमि में धकेल दिया था। इस तरह से, बहुत सारी जातीय-भाषाई समस्याओं का संचय हो गया और जातीय भावनाओं तथा आवेगों में उभार आया, जिनके निर्गम का कोई रास्ता न था। इसलिए यह बिलकुल स्वाभाविक ही है कि स्वतंत्रता के पहले वर्षों में जातीय-भाषाई संबंधों की समस्याओं ने आंतरिक राजनीतिक जीवन में इतना भारी महत्व प्राप्त कर लिया।

१९५६ में कार्यान्वित देश के प्रशासनिक तथा राजनीतिक विभाजन का सुधार, भाषाई आधार पर राज्यों का निर्माण और उत्तरवर्ती पुनर्गठन समूचे तौर पर जातीय समस्या के जनतांत्रिक समाधान के द्योतक थे। भाषाई राज्य, जिनके पास प्रचुर नैसर्गिक तथा आर्थिक संसाधन और संविधान द्वारा प्रदत्त काफ़ी व्यापक अधिकार और शक्तियां भी हैं, सारतः

भारतीय संघ के ढांचे के भीतर जातीय राज्यत्व का विशिष्ट भारतीय रूप बन गये हैं। उनके निर्माण ने जहां बहुत सी समस्याओं को हल किया, वहां साथ ही जातीय-भाषाई संबंधों में तनाव की नयी जननस्थलियों को भी पैदा किया, जो आज भी क़ायम हैं।

इस पुस्तक में लक्षित किया गया है कि जातीय समस्या में दो प्रवृत्तियों, अर्थात, एक ओर, जातीय आंदोलन और जातीय जीवन का विकास और, दूसरी ओर, जातीय परिघों का ध्वस्त होना और सामाजिक संसर्ग, श्रम तथा पूंजी का अंतर्जातीयकरण, का कालगत संपात स्वतंत्र भारत के लिए लाक्षणिक है। स्वतंत्रता के बाद के प्रारंभिक वर्षों में पहली प्रवृत्ति का प्राधान्य रहा। सत्तर के दशक के आरंभ से दूसरी प्रवृत्ति की तरफ़ पलटाव देखने में आता है। सचेतन प्रयासों और सामाजिक-आर्थिक विकास की स्वतःस्फूर्त प्रक्रियाओं ने अपने प्रतिफल देना शुरू कर दिया।

आर्थिक विकास के क्षेत्र में केंद्रीय सरकार को नेतृत्वकारी भूमिका का दिया जाना, जिसकी अभिव्यक्ति इस विकास की देशव्यापी पैमाने पर आयोजना में, भारतीय योजना आयोग के कार्यकलाप में और अर्थव्यवस्था में राजकीय क्षेत्रक का, जिसका कार्यक्षेत्र जातीय-भाषाई सीमांतों को नहीं स्वीकार करता, निर्माण किये जाने में होती है, देश के राजकीय एकीकरण के साथ जवाहरलाल नेहरू और उनके नेतृत्व में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का एक निर्विवाद्य रूप से कीर्तिकर कार्य है। केंद्रीय सरकार द्वारा निर्दिष्ट इन प्रक्रियाओं को निजी पूंजीवादी क्षेत्रक का सापेक्षतया तीव्र स्वतःस्फूर्त विकास अनुपूरित करता है। इस क्षेत्रक के बड़े और मंझोले उद्यम और प्रतिष्ठान, सामान्यतया, अखिल भारतीय बाज़ार के पैमाने पर काम करते हैं, जिसका होना एकीकारी प्रवृत्तियों की कारगरता का परिचायक है। यह इस तरह के प्रतिष्ठानों की विज्ञापन सामग्री से विशेषकर स्पष्टता के साथ देखा जा सकता है, जिसमें उनके व्यापक बाज़ार-सूत्रों को भारत के मानचित्र की पृष्ठभूमि पर दर्शाया जाता है, जो जातीय तथा भाषाई परिघों पर सफलतापूर्वक पार पा रहे हैं।

प्रसिद्ध पत्रकार प्राण चोपड़ा, जो जवाहरलाल नेहरू की नीतियों के कई पहलुओं की अपनी आलोचना के लिए विज्ञात हैं, इस बात पर ज़ोर देते हुए भारत के सर्वप्रथम प्रधान मंत्री को उचित श्रेय प्रदान करते हैं कि केंद्रीकृत आयोजना जवाहरलाल नेहरू द्वारा "ख़ासी गहराई के साथ निरूपित उन एकीकरण साधनों में है, जिनका श्रेय निजी तौर पर उनको ही

जाता है। आयोजना की बदौलत, जिस पर वह औरों के मुक़ाबले ज़्यादा ज़ोर देते थे, वित्तीय सूत्रों के ज़रिये केंद्र के साथ जुड़े हुए राज्यों को केंद्र के अनुमोदन की ज़रूरत होती है और यह एकीकरण में संविधान के शाब्दिक अर्थ की अपेक्षा अधिक सहायता देता है" (प्राण चोपड़ा, 'अस्थिर भारत। स्वाधीनता के दो दशकों का राजनीतिक शब्दचित्र' [अंग्रेज़ी में], बंबई, १९६८, पृ० २०७–२०८)। अनेक राज्यों में ग़ैर-कांग्रेसी सरकारों के सत्ता में आने के साथ यह क्रियाविधि जटिल हो गयी है, क्योंकि उसे केवल आर्थिक ही नहीं, राजनीतिक प्रयोजन भी प्रभावित करते हैं।

स्वतंत्र भारत में औपनिवेशिक शासन के "इस्पाती ढांचे" का स्थान भारतीय प्रशासनिक सेवा ने ले लिया, जो एक देशव्यापी राजकीय अभिकरण का काम करती है और राज्यों में अनुरूप सेवाओं के साथ जुड़ी हुई हैं। सारे देश के लिए सामान्य यह शासन व्यवस्था समूचे तौर पर अखिल भारतीय स्वरूप के क़दमों के कार्यान्वयन को सुनिश्चित करती है – निस्संदेह, शासक वर्गों के हितों में, किंतु ब्रिटिश शासनकाल की अपेक्षा कहीं व्यापक सामाजिक आधार पर। भारतीय प्रेस में नौकरशाही की अकसर – और संभवतः साधार ही – भ्रष्टाचार, पक्षपात और संकीर्ण प्रादेशिक हितों में सहायक होने के लिए आलोचना की जाती है। ये बातें समाज में पूंजीवादी संबंधों के विकास की अनिवार्य लागत हैं, जो कई लिहाज़ों से अब भी परंपरागत ही बना हुआ है। फिर भी नौकरशाही धीरे-धीरे सारे ही देश के अर्थों में सोचने की अभ्यस्त होती जा रही है और इस तरह से, चाहते हुए अथवा अनचाहे, एकीकारी प्रक्रियाओं में सहायता दे रही है।

औपनिवेशिक काल में अंग्रेज़ ब्रिटिश-भारतीय सेना की इकाइयों को जातपांतीय, धार्मिक और संजातीय आधार पर संगठित करते रहे। स्वाधीनता के बाद से भारतीय सेना में इस उसूल को धीरे-धीरे त्यागा जा रहा है, यद्यपि पंजाब, गुरखा, राजपूत, जाट, महार, असम, डोगरा, मद्रास रेजिमेंटों और गढ़वाल, गोरखा राइफ़ल्स, आदि जैसी पारंपरिक इकाइयों और नामों को क़ायम रखा जा रहा है। लेकिन, समूचे तौर पर, भारतीय सेना एक अभिन्न शक्ति के रूप में सामने आती है। इसकी अभिव्यक्ति न सिर्फ़ बाहरी ख़तरे से देश की रक्षा में ही (प्रसंगतः, इस तरह का ख़तरा एक एकीकारी कारक का भी काम करता है और देशानुराग की भावनाओं को विकसित करने में सहायता देता है), बल्कि सरकार के आदेशों के अनुसार पार्थक्यवादी तत्वों – विशेषकर सशस्त्र – के विरुद्ध देश

के उत्तर-पूर्वी भाग, कश्मीर और १९८४ में पंजाब में संघर्ष में लक्षित कार्रवाइयों में भी होती है।

यह ध्यान में रखा जाना चाहिए कि भारतीय सेना के ये कार्य न तो सांयोगिक हैं और न विरल ही हैं। उत्तर-पूर्वी राज्यों में सेना को भारतीय संसद द्वारा अंगीकृत प्रस्तावों के अनुसार पचास के दशक के आरंभ से विशेष अधिकार प्राप्त हैं। भारत सरकार के गृह राज्य-मंत्री ने संसद में बतलाया था कि १९८१ – १९८४ की चारवर्षीय अवधि में सेना का क़ानून और व्यवस्था को बनाये रखने के लिए और सशस्त्र पार्थक्यवादियों और आतंकवादियों के ख़िलाफ़ कार्रवाइयों में ३६९ बार प्रयोग किया गया था ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', ९ अगस्त, १९८४)। स्पष्ट है कि एकीकारी प्रक्रियाओं का मूल्यांकन करते समय सेना की भूमिका को नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता।

भारत में एकीकारी प्रक्रियाओं के उद्दीपन में उस चीज़ के उत्पन्न होने का बहुत महत्व है, जिसे सामान्यतः "राजनीतिक संस्कृति" कहा जाता है। इस संकल्पना में बुर्जुआ-जनतांत्रिक संसदीय प्रणाली, संविधान, वर्तमान विधान और स्थापित राजनीतिक व्यवहार में व्यक्त उसके काम के रूपों और तरीक़ों को शामिल किया जाता है। विचलनों की कुछ अपेक्षाकृत अल्प अवधियों के बावजूद यह प्रणाली निकटवर्ती देशों के विपरीत, जहां बुर्जुआ जनतंत्र का विकास नहीं हो पाया है, सुचारू रूप से काम करती रही है।

संसद के लिए नियमित रूप से आयोजित आम चुनाव और इसी प्रकार देश की जनतांत्रिक शक्तियों का जनसाधारण के हितों में उसके जनतंत्र तथा सामाजिक-आर्थिक प्रगति के पथ पर विकास के लिए संघर्ष जैसे अखिल भारतीय राजनीतिक अभियान एकीकरण के पक्ष में कार्य करते हैं। इस तरह के अभियानों के दौरान भारत की आबादी के अधिकाधिक व्यापक अंशक सक्रिय राजनीति में खिंचकर आते हैं और अखिल भारतीय समस्याओं से अवगत होते हैं। साक्षरता की सापेक्ष वृद्धि और जन-संपर्क साधनों – प्रेस, रेडियो तथा टेलीविज़न – का विकास इस धीमी और अभी पूरी होने से बहुत दूर प्रक्रिया में सहायता देते हैं। बहुत सी घटनाओं और विवादों का जहां पहले स्थानीय आबादी का प्रश्न बने रहना ही नियत था, वहां आज उनकी देशव्यापी अनुगूंज होती है।

निस्संदेह, देशव्यापी पैमाने पर आयोजित हर ही अभियान भारतीय समाज के एकीकरण में स्वतः ही सहायता नहीं देता। १९८३ के अंत में

हिंदू पुनर्जागरणवादी संगठन विश्व हिंदू परिषद ने एकात्मता यात्रा के नाम से एक अखिल भारतीय अभियान चलाया था। इस अभियान के दौरान लोगों के ख़ासे बड़े-बड़े जत्थे भारतमाता की मूर्तियों और चित्रों और गंगा-जल भरे पात्रों के साथ उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम गये थे। एकात्मता यात्रा का नारा एकता था, मगर सारे ही भारतीयों की एकता नहीं, बल्कि केवल हिंदुओं की। इसमें कोई संदेह नहीं कि हिंदू देश में सबसे बड़े धार्मिक समुदाय का निर्माण करते हैं, क्योंकि देश की कुल आबादी में उनका अनुपात ८०–८२% है। किंतु हिंदुओं की एकता के आह्वान वस्तुपरक रूप से दूसरे ख़ासे बड़े धार्मिक समुदायों के प्रति उनके विरोध को मज़बूत ही करते हैं। दूसरे शब्दों में, एकात्मता यात्रा जैसे अभियान भारतीय समाज में एकीकारी नहीं, विभाजनकारी भूमिका ही अदा करते हैं। इस पुस्तक के चौथे अध्याय में दिखलाया गया है कि राजनीति में धार्मिक भावनाओं और रुझानों का उपयोग भारत में निवास करनेवाली जातियों और संजाति-भाषाई समूहों के समेकन को रोकता है। पंजाब में १९८२–१९८४ की घटनाओं ने इसे क़ायलकारी ढंग से प्रदर्शित किया है। अपनी बारी में एकात्मता यात्रा और सांप्रदायिक दलों तथा संगठनों की दूसरी कार्रवाइयां समूचे तौर पर भारत के राजकीय एकीकरण के रास्ते में बाधाएं खड़ी करती हैं।

कुछ भारतीय राजनीतिशास्त्रियों का मत है कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा सत्ता पर एकाधिकार के गंवाये जाने के बाद, विशेषकर कुछ राज्यों में, "राजनीतिक संस्कृति" में काफ़ी क्षीणता आयी। बेशक, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का कमज़ोर और विभाजित होना, ग़ैर-कम्युनिस्ट विरोधपक्ष के ख़ेमे में फूट, बहुदल पद्धति, वामपक्षी तथा जनतांत्रिक शक्तियों की क़तारों में एकता का अभाव, प्रादेशिक राजनीतिक दलों का बढ़ता प्रभाव और सांप्रदायिक संगठनों की सक्रियता का बढ़ना – यह सब भारत में राजनीतिक जीवन को काफ़ी उलझा देता है, पार्टियों के आपसी संघर्ष को तेज़ करता है और कभी-कभी इस स्थिति की तरफ़ भी ले जाता है कि प्रादेशिक तथा आंचलिक समस्याएं अखिल भारतीय समस्याओं पर हावी होने लग जाती हैं। लेकिन बहुदल पद्धति की ओर इस प्रवृत्ति की नियमसंगति साठ के दशक के आरंभ में, अर्थात भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में पहली फूट और राज्यों में चुनावों में उसकी पराजय के पहले ही लक्षित की गयी थी। उस समय की एक कृति में कहा गया है कि "अंग्रेज़ों के पलायन के साथ

भारतीय राष्ट्रवाद का योजक तत्व लुप्त हो गया। यही कारण है कि कांग्रेस के लिए जनसाधारण पर उन साधनों से अपने प्रभाव को बनाये रखना अधिकाधिक कठिन होता जा रहा है, जो स्वतंत्रता संग्राम के समय कारगर थे। स्थानीय अथवा प्रादेशिक अभिनति के नये राजनीतिक नेताओं के उदय ने संक्रमणकाल के तनाव को और गहरा दिया" (एस० पी० ऐयर, आर० श्रीनिवासन [संपा०], 'भारतीय लोकतंत्र का विवेचन' [अंग्रेज़ी में], बंबई, १९६५, पृ० ४४३)।

प्रमुख भारतीय नेताओं और राजनीतिक अनुसंधानकर्ताओं के अनुसार भारतीय समाज के विकास और पुनर्गठन से जनित वर्तमान स्थिति से निकालने का रास्ता भारत के संघात्मक ढांचे को परिष्कृत करके पाया जा सकता है।

दीर्घकालिक परिप्रेक्ष्य में देश की एकता के सुदृढ़ीकरण की ओर लक्षित सामाजिक-आर्थिक, राजनीतिक तथा प्रशासनिक उपायों के कार्यान्वयन के अलावा जवाहरलाल नेहरू भारतीय सार्वजनिक कार्यकर्ताओं के व्यापक अंशकों को इस प्रक्रिया में सहभागी बनाने के भी आकांक्षी थे। नेहरू सरकार का मई, १९६१ में भावात्मक एकीकरण समिति की स्थापना करने का निर्णय इस दिशा में उठाया गया पहला क़दम था। उसके सामने "राष्ट्रीय जीवन में भावात्मक एकीकरण" के विचार पोषित करने में शिक्षा की भूमिका का अध्ययन करने और सरकार को आवश्यक सुझाव देने का कार्य रखा गया था। समिति ने अगस्त, १९६२ में एक रिपोर्ट पेश की, जिसमें शिक्षा प्रणाली में उसके विभिन्न स्तरों पर स्थिति का विस्तृत विश्लेषण किया गया था और उसके आगामी विकास के बारे में पूर्णतः वर्कसंगत सुझाव दिये गये थे। समिति के सुझावों का प्रारंभ-बिंदु यह था कि "भारत की एकता का विचार प्राथमिक शाला में या उसके भी पहले, बेहतर हो कि बालोद्यानों में और परिवार में मन में बिठाया जाना चाहिए" ('भावात्मक एकीकरण समिति की रिपोर्ट' [अंग्रेज़ी में], नयी दिल्ली, १९६२, पृ० १८७)। समिति के सुझावों का कुछ भाग कार्यरूप में परिणत किया जा चुका है।

जवाहरलाल नेहरू की पहल पर सितंबर, १९६१ में राष्ट्रीय एकीकरण परिषद का गठन किया गया। विभिन्न राजनीतिक दलों के प्रतिनिधियों, विद्वानों, शिक्षाकर्मियों, राज्यों के मुख्य मंत्रियों और प्रशासनाधिकारियों को इस परामर्शदात्री संस्था के कार्यकलाप में भाग लेने के लिए आमंत्रित किया

गया। जून, १९६२ में नयी दिल्ली में प्रधान मंत्री जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में हुए परिषद के पहले अधिवेशन में "प्रादेशिक पार्थक्यवाद" और सांप्रदायिक वैमनस्य की वृद्धि को लक्षित किया गया। बैठक में भाग लेनेवालों ने इन अनिष्टों के विरुद्ध संघर्ष में उठाये जानेवाले उपायों पर विचार किया और राजनीतिक दलों तथा प्रेस के लिए एक ऐसी आचरण संहिता तैयार किये जाने के बारे में सिफ़ारिशों को स्वीकार किया, जो इन संस्थाओं द्वारा भारतीय समाज के विभिन्न अंशकों के बीच मनमुटावों और वैमनस्य की भावनाओं के उपयोग को सीमित कर सके। शिक्षा प्रणाली के ज़रिये राष्ट्रीय एकीकरण के विचारों के प्रचार के बारे में भी कुछ रायों का इज़हार किया गया और देश के पिछड़े हुए इलाक़ों के सामाजिक-आर्थिक विकास की एक छः-सूत्री योजना स्वीकार की गयी ('हिंदू', ३ जून, १९६२)।

अपने बाद के अधिवेशनों में राष्ट्रीय एकीकरण परिषद ने देश की एकता की समस्याओं के बारे में अनेक प्रस्तावों और घोषणाओं को स्वीकार किया। परिषद ने देश के विभिन्न जातीय तथा भाषाई प्रदेशों के बीच सांस्कृतिक विनिमय को विस्तृत करने के लिए विचार-गोष्ठियों और प्रदर्शनियों का आयोजन किया और दूसरे उपयुक्त क़दम उठाये।

जवाहरलाल नेहरू के देहावसान के बाद राष्ट्रीय एकीकरण परिषद की गतिविधियों में ठहराव आ गया और वे फिर प्रधान मंत्री इंदिरा गांधी की पहल पर और उनकी अध्यक्षता में १९६८ में जाकर ही शुरू हो पायीं। लेकिन १९७५ से लेकर १९८० तक परिषद निष्क्रिय रही। अस्सी के दशक के आरंभ से ही उसकी बैठकें फिर शुरू हुईं, लेकिन नियमित रूप से नहीं।

भारतीय पत्रों में अकसर राष्ट्रीय एकीकरण परिषद के बारे में आलोचनात्मक उक्तियां व्यक्त होती रहती हैं। उसके सुझावों के अबाध्यकारी स्वरूप और निष्प्रभाविता की तरफ़ इशारा किया जाता है, जिनमें से कई तो काग़ज़ों तक ही सीमित रहती हैं। विशेषकर यह इंगित किया गया कि परिषद ने यद्यपि जून, १९६२ में राजनीतिक दलों तथा प्रेस की आचरण संहिता तैयार किये जाने के पक्ष में मत व्यक्त किया था, फिर भी ठीक बीस साल बाद, जून, १९८२ में, उसने इसी विचार को फिर से सामने रखा ('हिंदुस्तान टाइम्स', २२ जून, १९८२)। इसी के साथ इस बात पर भी ज़ोर दिया जाता है कि परिषद के कार्यकलाप का एक सकारात्मक लक्षण जनमत का ध्यान भारतीय समाज में ख़तरनाक विघटनकारी प्रवृत्तियों की तरफ़ आकर्षित करना रहा है।

* * *

भारत में एकीकारी प्रक्रियाओं की क्रियाशीलता के परिणामों का ख़ासा निराशाजनक आकलन किया जाता है। 'टाइम्स ऑफ़ इंडिया' के संपादक गिरिलाल जैन कहते हैं: "हम – भारतीय – संभवत: संसार में सबसे विभाजित समाज हैं" (११ अक्तूबर, १९७८)। एक और लेखक ने लिखा है: "औसत हिंदुस्तानी की मानसिकता धार्मिक, जातपांतीय, भाषाई और स्थानिक भावों का सम्मिश्रण है। वह अपने प्रत्यक्ष हितों के बाहर पड़नेवाली समस्याओं की शीघ्र अनुक्रिया नहीं करता। यही कारण है कि अत्यंत महत्वपूर्ण प्रश्नों पर देशव्यापी पैमाने पर जनमत इतनी धीमी गति से बनता है" ('इलस्ट्रेटेड वीकली ऑफ़ इंडिया', ६ अगस्त, १९७८)।

अगस्त, १९८२ में भारत के स्वतंत्र विकास के ३५ साल के कुल जोड़ का आकलन करते हुए पत्रकार बी० एम० सिन्हा ने प्रश्न किया था: "हममें से कितने अपने को सबसे पहले हिंदुस्तानी, अर्थात हिंदू, मुसलमान, ईसाई, सिख या जैन नहीं, जाट, मराठा, ठाकुर, रेड्डी, नंबूदिरी या नाडार नहीं, बल्कि हिंदुस्तानी समझते हैं?" वह इस पर ज़ोर देते हुए ख़ुद ही इस सवाल का जवाब देते हैं कि भारत में बहुत थोड़े लोग ही अपने को हिंदुस्तानी समझते हैं, क्योंकि भारतीय समाज की सामूहिक चेतना को इन सभी धर्मों और जातपांतों ने विच्छिन्न और विखंडित कर रखा है" ('हिंदुस्तान टाइम्स', ३० अगस्त, १९८२)। दूसरे शब्दों में, राजकीय अखंडता की समस्या आज उतनी ही प्रखर है, जितनी वह स्वाधीनता के प्रारंभिक वर्षों में थी।

इस स्थिति के मुख्य कारणों में से एक देश के विभिन्न राज्यों और अंचलों के सामाजिक-आर्थिक विकास में आज तक बनी हुई असमानता में देखा जा सकता है। कुछ बातों – आबादी की प्रति व्यक्ति आय, मुख्य खाद्य पदार्थों की खपत, कृषि उत्पादन की वृद्धि और बिजली का उत्पादन – में यह असमानता बढ़ी ही है, चाहे राज्य सरकारों और अधिकारियों द्वारा देश के कुछ सबसे अधिक पिछड़े हुए इलाक़ों के तीव्र विकास के लिए उनके लिए विशेष रिआयतें मंजूर करके और वहां आर्थिक तथा सामाजिक उपायों के पूरे सिलसिले को कार्यान्वित करके क़दम उठाये गये हैं और उठाये जा रहे हैं।

पुस्तक के तीसरे अध्याय ('सामान्य आर्थिक जीवन और भाषा') में दी गयी सारणियों में साठ के दशक के प्रथमार्ध में भारत के विभिन्न

भागों के विकास की असमानता के प्राचलों को स्पष्टतापूर्वक दर्शाया गया है। तुलना के लिए सत्तर के दशक के अंत और अस्सी के दशक के आरंभ के बारे में कुछ आंकड़ों का दिया जाना समीचीन रहेगा :

प्रशासनिक इकाई	प्रति व्यक्ति आय (रुपये)	निर्धनता-स्तर के नीचे आबादी का प्रतिशत	राजकीय क्षेत्रक में पूंजी-निवेश
दिल्ली	२,४६८	१२.२	२.७६
पंजाब	२,२७८	२०.८	२.००
महाराष्ट्र	२,०२१	३३.५	७.२४
हरियाणा	१,८६७	२५.६	१.३६
गुजरात	१,६२३	३३.३	४.८४
पश्चिम बंगाल . .	१,३३०	३४.६	८.४८
हिमाचलप्रदेश . .	१,३१७	३४.१	०.७०
तमिलनाडू . . .	१,२७४	४०.४	४.१२
जम्मू-कश्मीर . .	१,२५४	४४.६	०.०४
कर्णाटक	१,२४६	४१.३	४.११
आंध्रप्रदेश . . .	१,१७६	४२.६	४.२७
केरल	१,१४१	३७.६	२.३३
राजस्थान	१,०११	४५.६	१.८६
असम	१,०८३	४०.६	२.७०
उत्तरप्रदेश	६४४	४४.८	४.४२
मध्यप्रदेश	८७७	४४.६	१२.२८
ओड़िसा	८४३	६४.७	५.११
बिहार	७६५	४६.४	१७.३५

टिप्पणी : यह सारणी 'टाइम्स ऑफ़ इंडिया' (१३ जुलाई, १६८२; १६ अक्तूबर, १६७२) और 'हिंदुस्तान टाइम्स' (१८ मार्च, १६८१) में दिये आंकड़ों से तैयार की गयी है। आख़िरी कॉलम में राजकीय क्षेत्रक में राजकीय निवेश की कुल राशि के प्रतिशत आंकड़े दिये गये हैं। इन आंकड़ों का जोड़ १००% नहीं बनता, क्योंकि सारणी में सभी प्रशासनिक इकाइयां नहीं शामिल हैं।

आबादी की प्रति व्यक्ति आय के अनुसार उच्चतम सूचक और निम्नतम सूचक के बीच अंतर, जैसे सारणी से पता चलता है, तीन गुने से भी अधिक है। और चूंकि यहां औसत आंकड़े ही दिये गये हैं, इसलिए वास्तविक अंतर तो और भी ज्यादा है। अलावा इसके, यहां दिये गये राज्यों में से लगभग प्रत्येक में कुछ ज़िलों के विकास में काफ़ी असमानता देखने में आती है। उदाहरण के लिए, अधिकारियों के अनुसार अपेक्षाकृत विकसित पंजाब, महाराष्ट्र और हरियाणा राज्यों में क्रमशः २, १३ और २ ज़िले पिछड़े हुए हैं। ओड़िसा में ८ पिछड़े ज़िले हैं, बिहार में ६, आदि।

जहां तक राजकीय पूंजी-निवेशों की बात है, तो वे आंशिक रूप में राज्यों के आर्थिक विकास-स्तरों को समान बनाने की ओर निदेशित किये जाते हैं – उनका एक बहुत बड़ा प्रतिशत बिहार और मध्यप्रदेश जैसे पिछड़े हुए राज्यों में लगाया जाता है। लेकिन केंद्रीय सरकार की वित्त नीति एकमात्र पिछड़ेपन के उन्मूलन के विचारों से ही नहीं उदित हो सकती। औद्योगिक आधारिक संरचना की विद्यमानता को भी ध्यान में रखना होता है, जिससे पूंजी-निवेशों से शीघ्रतर प्रतिफल प्राप्त करना संभव होता है। यही कारण है कि उनका एक ख़ासा बड़ा हिस्सा विकसित राज्यों की तरफ़ निदेशित किया जाता है।

स्वाधीन भारत का अनुभव दिखलाता है कि विकास-स्तरों में अंतर स्वयं एक ऐसे स्वतंत्र कारक की भूमिका निबाह सकता है, जो समानता की प्राप्ति को रोकता है। अधिक विकसित प्रदेशों में विकास की गति को त्वरित करने की, तो पिछड़े हुए प्रदेशों में और भी पिछड़ जाने की प्रवृत्ति पायी जाती है। १६७० में विद्युत शक्ति की खपत की दृष्टि से पश्चिम बंगाल को पहला स्थान प्राप्त था – ११४३ लाख किलोवाट-घंटा। उसके बाद महाराष्ट्र (१०६५), पंजाब (१०१६) और तमिलनाडू (८८७) आते थे। उत्तरप्रदेश को इसमें अंतिम स्थान (२६६ लाख किलोवाट-घंटा) प्राप्त था, अर्थात ६०६ लाख किलोवाट-घंटा के औसत भारतीय स्तर से दो गुना नीचे। १६८० तक पहले चारों राज्य लगभग बराबरी पर पहुंच गये, क्योंकि इस बीच विद्युत जनन में तमिलनाडू में १२०० % की, पंजाब में ११००% की, महाराष्ट्र में ६००% की और पश्चिम बंगाल में सिर्फ़ ११२% की वृद्धि आयी ('पैट्रियट', १४ मई, १६७०; २१ अक्तूबर, १६८१)। लेकिन उनके और पहले से पिछड़े राज्यों के बीच इस मामले में अंतर और बढ़ गया। देश भर में विद्युत ऊर्जा की

खपत में अधिक समानता सुनिश्चित करने की कोशिश में केंद्रीय सरकार अखिल भारतीय विद्युत प्रणाली की स्थापना किये जाने का आग्रह करती है। लेकिन यह प्रश्न चूंकि संविधान की समवर्ती सूची में, अर्थात केंद्र तथा राज्यों, दोनों के ही क्षेत्राधिकार में आता है, इसलिए विकसित राज्य मुख्यतः अपने ही हितों पर जमे रहते हुए इस तरह के क़दमों का विरोध करते हैं।

कृषि में भी बिलकुल ऐसी ही नियमसंगति पायी जाती है। उदाहरण के लिए, धान की प्रति हैक्टर पैदावार आंध्रप्रदेश में १.७ टन और उत्तर-प्रदेश में ०.७ टन थी। इसी प्रकार अनाज की प्रति हैक्टर पैदावार पंजाब में १.६ टन और कर्णाटक में ०.३ टन थी ('इंडियन एक्सप्रेस', २२ सितंबर, १६७१)। साठ के दशक के मध्य से अनाज के प्रति हैक्टर उत्पादन में पंजाब में ७५%, मध्यप्रदेश में ४% और असम में १५% की वृद्धि आयी। यह देखते हुए कि पंजाब में प्रति हैक्टर १०८ किलोग्राम उर्वरकों का और असम में सिर्फ़ ३ किलोग्राम का ही प्रयोग किया जाता है, इन राज्यों के बीच कृषि विकास के स्तरों में अंतर बढ़ता ही रहेगा ('स्टेट्समैन', १८ मई, १६८१)।

सिर्फ़ समस्तरीय (भौगोलिक) ही नहीं, बल्कि विषमस्तरीय (सामाजिक) असमानता को भी ध्यान में रखना ज़रूरी है। अस्सी के दशक के आंकड़ों के अनुसार १० % भारतीयों को देश की राष्ट्रीय आय का ३३.६ % प्राप्त होता है, जब कि आबादी के इतने ही प्रतिशत के लिए यह आंकड़ा संयुक्त राज्य अमरीका में २६.६ % और इंगलैंड में २३.३ % है। इन आंकड़ों पर टीका करते हुए प्राण चोपड़ा कहते हैं कि अगर तथाकथित "काले धन", अर्थात आंकड़ों में न गिने जानेवाले सौदों और आयों को भी, जिन्हें छिपाया जाता है और जिन पर करों की चोरी की जाती है, ध्यान में रखा जाये, तो ये १०% भारतीय देश की राष्ट्रीय आय के आधे से अधिक को अपने हाथों में संकेंद्रित कर लेते हैं और इससे धन का एक ध्रुव पर अभूतपूर्व रूप से ऊंचा संकेंद्रण हो जाता है। और इसी समय दूसरे ध्रुव पर ३१.४ करोड़ हिंदुस्तानी हैं, जो १६८१ में निर्धनता-स्तर से भी नीचे रह रहे थे ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', १२ अक्तूबर और २० अक्तूबर, १६८२)।

भारतीय राज्यों के आर्थिक विकास की असमानता देश की अर्थव्यवस्था की कुछ शाखाओं के अब भी बने हुए पिछड़ेपन की ही भांति, निस्संदेह,

देश के औपनिवेशिक अतीत की कठोरतम विरासतों में है, जिस पर पार पाने के लिए काफ़ी समय और श्रम की आवश्यकता है। अलबत्ता इस प्रश्न में मुख्य महत्व रास्ते के चुनाव का है। पूंजीवादी पथ पर विकास अनिवार्यतः कुछ राज्यों में राष्ट्रवादी तथा अंधराष्ट्रवादी भावनाओं की वृद्धि की शक्ल में क़ीमतों के साथ जुड़ा होता है, और, चाहे यह कितना भी विरोधाभासपूर्ण न प्रतीत होता हो, स्वयं एकीकरण की प्रक्रिया ही इन भावनाओं को पुष्ट करती है। दूसरे शब्दों में, इस प्रक्रिया में उसके सफल विकास को रोकनेवाले अंतर्विरोध पहले से ही जमे हुए, अंतर्निहित, होते हैं।

देश के पूरे विस्तार में पूंजियों, मालों और श्रम-शक्ति का निर्बाध संचलन एकीकारी प्रक्रियाओं के विकास की, जिनमें असमान विकास पर पार पाना भी शामिल है, अनिवार्य पूर्वापेक्षा है। लेकिन इसमें न सिर्फ़ औपनिवेशिक काल से चले आ रहे आंतरिक कर (चुंगियां) और कुछेक क़िस्मों के मालों के एक प्रशासनिक इकाई से दूसरी को परिवहन पर परिसीमन ही, बल्कि राष्ट्रवादी भावनाएं, उनके द्वारा जनित आंदोलन और उपद्रव, "ग़ैरों" – दूसरे राज्यों से आये लोगों – के प्रति शत्रुभाव और "भूमिपुत्रों" के लिए ८०% तक रोज़गार आरक्षित करने की अधिकाधिक बढ़ती प्रथा भी बाधक हैं।

राज्यों में राष्ट्रवादी भावनाएं नवोदित जातीय संभ्रांतों द्वारा – मोटे तौर पर कहें, तो – अपने संकीर्ण स्वार्थों की ख़ातिर पोषित की जा रही हैं। लेकिन इन स्वार्थों के सामूहिक वाहक और इस बुनियाद पर झगड़ों और दंगे-फ़सादों में भाग लेनेवाले निचले और मंझोले संस्तर हैं, वस्तुपरक रूप से जिनकी दिलचस्पी स्थानीय राष्ट्रवाद में नहीं, प्रत्युत एकीकारी प्रक्रियाओं के विकास में होनी चाहिए, क्योंकि सिर्फ़ ये प्रक्रियाएं ही आबादी की भौगोलिक गतिशीलता को सुनिश्चित करती हैं, जो रोज़गार पाने में सहायक होती है। यह प्रत्यक्ष है कि सिर्फ़ वर्ग-चेतना की वृद्धि, अपने अधिकारों के लिए पूरे देश के पैमाने पर संघर्ष, न कि राज्य की चौहद्दी के भीतर आत्मवियोजन ही इन संस्तरों को एकीकारी प्रक्रियाओं के पक्ष में निर्णायक रूप से ले जा सकते हैं।

समाजशास्त्री एम० एस० धामी का कहना है कि "सामान्यतया, विकासमान देशों में राजनीतिक दलों का वस्तुतः समाजवादी रुख़ समूचे तौर पर राजनीतिक प्रणाली के लिए सामाजिक अंतर्य से रहित साधारण

राष्ट्रवाद की अपेक्षा अधिक एकीकारी संभाव्यता रख सकता है" (एम० एस० धामी, 'अल्पसंख्यक नेताओं की नज़रों में भारतीय राजनीतिक प्रणाली' [अंग्रेज़ी में], अमृतसर, १९७५, पृ० ४८)। इस प्रसंग में 'टाइम्स ऑफ़ इंडिया' (२६ अप्रैल, १९८२) में प्रकाशित किन्हीं के० एल० चटर्जी के कथन को उद्धृत करना दिलचस्प है, जो कहते हैं कि "मार्क्सवादी प्रयोग की जन्मभूमि सोवियत संघ में प्रादेशिक समस्याओं के सीधे-सादे और क़ायल-कारी समाधान निकाले गये। हमारे देश में भी समस्या अर्थव्यवस्था पर केंद्रित हो जाती है और उसका समाधान मार्क्सवाद की स्थितियों से आसानी से पाया जा सकता है।"

एकीकारी प्रक्रियाओं की राह में एक और भी सामाजिक-राजनीतिक समस्या है। भारतीय राजनीतिशास्त्री कहते हैं कि सत्तर के दशक के मध्य से देश में एक नयी सांप्रदायिक लहर उमड़ रही है। सांप्रदायिक टकराव, जो अधिकाधिक प्रखर स्वरूप ग्रहण करते जा रहे हैं, प्रायिक होते जा रहे हैं। विभिन्न प्रकारों के धार्मिक पुनर्जागरणवादी प्रचार में काफ़ी तेज़ी आ गयी है। ये परिघटनाएं पार्थक्यवादी भावनाएं उत्पन्न करके भारतीय समाज के विघटन को अनिवार्यतः बल प्रदान करती हैं। हिंदू पुनर्जागरण के विचारों के एक प्रमुख प्रचारक, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के नेता बाला-साहब देवरस भारतीयों को धार्मिक लक्षणों के अनुसार दो असमान अधि-कारप्राप्त संवर्गों में विभाजित करने का आग्रह करते हैं। वह दो प्रकार की नागरिकता के प्रवर्तन पर ज़ोर देते हैं—सभी धार्मिक समूहों के लिए सामान्य "भारतीय नागरिकता" और विशेष स्वरूप की "हिंदू नाग-रिरकता" ('टाइम्स ऑफ़ इंडिया', १४ दिसंबर, १९८२)। इस तरह की मांगें अल्पसंख्यक धार्मिक समुदायों के नेताओं में प्रखर जवाबी प्रतिक्रिया पैदा किये बिना नहीं रह सकतीं। सामान्यतया, किसी भी धार्मिक समुदाय, विशेषकर बहुसंख्यक समुदाय, की अपने को विशेष स्थिति दिये जाने की मांग राजकीय एकीकरण के विचारों का मुख्य प्रतिवाद है।

जैसे कि पंजाब में १९८२–१९८४ की घटनाओं ने दिखलाया है, एक नयी धार्मिक लहर एकीकारी प्रक्रियाओं से टकराती हुई पार्थक्यवादी हलचल के क्रूरता और विध्वंस की दृष्टि से अभूतपूर्व परिणाम पैदा कर सकती है। पिछले बीस वर्षों में भारत के कई अन्य प्रदेशों के मुक़ाबले पंजाब में ही पूंजीवादी कृषि का और छोटे तथा मंझोले पैमाने के उद्योग का भी ज्यादा तेज़ी और सफलता के साथ उदय हुआ है, जिससे पंजाब के देहाती इलाक़ों

और शहरों के बीच और पंजाब तथा शेष भारत के बीच व्यापक तथा नानामुखी आर्थिक संबंध विकसित हो गये। लगता था कि जैसे देश के इस भाग में एकीकारी प्रवृत्तियों को निर्णायक विजय प्राप्त हो गयी है। लेकिन सभी कुछ कहीं अधिक जटिल सिद्ध हुआ।

आर्थिक प्रगति ने पंजाबी समाज में धर्मनिरपेक्ष प्रवृत्तियों के विकास को संवेग प्रदान किया, जिसमें लगभग ५५–५६ % सिख और ४१–४२ % हिंदू हैं। संहत सिख समुदाय में धर्मनिरपेक्ष प्रवृत्तियों ने केश कटवाने, दाढ़ी-मूंठ साफ़ करवाने, धूम्रपान और मद्यपान संबंधी कठोर धार्मिक वर्जनाओं के प्रायिक उल्लंघन जैसे मामलों में सिर्फ़ बाह्य अभिव्यक्ति ही नहीं पायी और वे सामान्यतः रूढ़िवादी देहात में भी पहुंच गयीं।

राजनीतिक तल पर इसकी अभिव्यक्ति संप्रदायवादी अकाली दल के सामाजिक आधार के क्रमशः सिकुड़ने में हुई, जो सिख समुदाय का एकमात्र प्रतिनिधि होने का दावा करता है। बदली हुई परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए अकाली नेताओं ने अपने कार्यकलाप के तरीक़ों और कार्यक्रमात्मक आधारों में सुधार किये। अकाली दल के घोषणापत्रों में "सिख समाजवाद" के बारे में, समुदाय के निम्न संस्तरों के हितों की रक्षा करने की आवश्यकता, आदि के बारे में हवाले शामिल हो गये। लेकिन इसके बावजूद चुनावों में उसके हाथ असफलता ही लगती रही, क्योंकि मतदाताओं ने – और सिखों ने भी – अपने मत धर्मनिरपेक्ष पार्टियों को ही देना ज़्यादा पसंद किया।

अपनी स्थिति की पुनःस्थापना करने के उद्देश्य से सिख समुदाय के उच्च संस्तर ने अपने सहधर्मियों की धार्मिक भावनाओं पर प्रभाव को मज़बूत किया। सिख धर्म के विधानों का कठोरतापूर्वक पालन करने और धर्मत्याग के विरुद्ध संघर्ष करने के अभियान चलाये गये। सिख पंथ के अनूठे और अनन्य स्वरूप पर विशेष ज़ोर दिया गया। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (इं) और दूसरी पार्टियों को "हिंदुओं की पार्टियों" के रूप में पेश किया जाता था और पंजाब में हिंदुओं के विरुद्ध शत्रुभाव भड़काया जाता था।

सिख समुदाय के किसी "बाहरी शत्रु" की तलाश में निरंकारियों के विरुद्ध एक लंबा और रक्तरंजित विवाद शुरू किया गया। यह आरोप लगाया-गया कि निरंकारियों की कार्रवाइयां सिख पंथ का तलोच्छेदन कर रही हैं, यद्यपि निरंकारी लोग १५० साल से ज़्यादा से मौजूद हैं और उनका सिखों से कभी झगड़ा नहीं रहा।

राज्य में एक विस्फोटक स्थिति उत्पन्न हो गयी। हिंदू मंदिरों और सिख गुरुद्वारों को भ्रष्ट किये जाने के बारंबार होनेवाले मामलों ने आग में घी का काम किया। ऐसी परिस्थिति में, जैसे अकसर हुआ करता है, पहल कितने ही धड़ों में विभाजित सिख संभ्रांतवर्ग के उदार पक्ष के हाथों से निकलकर चरमपंथी तत्वों के हाथों में चली गयी। धर्मांधता और धार्मिक असहिष्णुता का सहारा लेते हुए चरमपंथियों ने पंजाब का भारत से अलगाव करवाने और, उनके ही शब्दों में, "ख़ालिस्तान" नाम के "स्वतंत्र सिख राज्य" की स्थापना के लिए संघर्ष शुरू कर दिया।

इस प्रकार, सांप्रदायिक वैमनस्य देश की प्रादेशिक अखंडता के लिए एक प्रत्यक्ष ख़तरे में परिणत हो गया। पंजाब की त्रासदी सिर्फ़ इसी बात में निहित नहीं है कि चरमपंथियों को बाहर से, भारत की शत्रुभावी शक्तियों से सहायता मिली, बल्कि इसमें भी है कि चरमपंथी तत्व सिख युवजन और शहरी मध्यम संस्तरों के ख़ासे बड़े हिस्से को अपने पीछे लाने में सफल हो सके। अलावा इसके, पंजाब की घटनाओं ने सारे ही देश में सांप्रदायिक स्थिति को और पेचीदा किया।

इसका मतलब यह है कि सांप्रदायिक राजनीति एकीकारी प्रवृत्तियों का विलोम, उनके विकास के रास्ते में एक गंभीर अवरोध है। अतः धर्म-निरपेक्षता की सुसंगत रूप से कार्यान्वित नीति एकीकरण के आदर्शों के साथ मेल खाती है, सभी धर्मों और धार्मिक समुदायों के लिए समान संरक्षण-भाव तक ही सीमित नहीं रहती, बल्कि इस तथ्य को अपना प्रस्थान-बिंदु बनाती है कि धर्म आदमी का अपना निजी मामला है और धर्म का राज-नीति में, सरकार, राजनीतिक दलों और सार्वजनिक संगठनों के सांसारिक कार्यकलाप में उपयोग अस्वीकार्य है।

व्यापकतम अर्थों में राष्ट्रीय (राजकीय) एकीकरण का सिद्धिकरण सभी जातियों और भाषाओं, संस्कृतियों और परंपराओं की समानता के सिद्धांत के सुसंगत कार्यान्वयन द्वारा, भारत के सामने विद्यमान सामा-जिक-आर्थिक तथा अन्य समस्याओं के व्यापक जनसाधारण के हितों में समाधान में सुसंगत जनतांत्रिक नीति द्वारा, इन जनसाधारण की अपने अधिकारों के लिए सचेतन संघर्ष में अधिक व्यापक सहभागिता द्वारा ही संभव हो सकता है। प्राविधिक उपाय, अनेकता में एकता के विचारों का प्रचार और व्याख्यात्मक कार्य इस प्रश्न में जनतांत्रिक नीति को सिर्फ़ अनु-पूरित ही कर सकते हैं।

संदर्भ-सूची

उज़ैर मुहम्मद, 'इस्लाम के अलावा मज़हबी तारीख़ में उर्दू का हिस्सा' [उर्दू में], अलीगढ़, १९५५।
उपाध्याय, कृष्णदेव, 'भोजपुरी और उसका साहित्य', दिल्ली, १९५७।
चटर्जी, सुनीतिकुमार, 'राजस्थानी भाषा'।
चतुर्वेदी, रामस्वरूप, 'आगरा ज़िले की बोली', इलाहाबाद, १९६१।
चातक, गोविंद, 'मध्य पहाड़ी का भाषाशास्त्रीय अध्ययन', दिल्ली, १९६६।
चूंडावत, रानी लक्ष्मीकुमारी, 'ग्रंथमाल', जयपुर, १९६४।
जहीर, सज्जाद, 'उर्दु-हिंदी-हिदुस्तानी' [उर्दू में], बंबई, १९४७।
तिवारी, उदयनारायण, 'हिंदी भाषा का उद्गम और विकास', प्रयाग, १९६१।
तिवारी, भोलानाथ, 'हिंदी भाषा', इलाहाबाद, १९६६ ।
तेलंग, भालचंद्र राव, 'छत्तीसगढ़ी, हलबी, भत्री बोलियों का भाषावैज्ञानिक अध्ययन', दिल्ली, १९६६।
दीक्षित, त्रिलोकीनारायण, 'अवधी और उसका साहित्य', नयी दिल्ली।
नानकचंद, 'हरियानवी भाषा का उद्गम तथा विकास', होशियारपुर, १९६८।
नेहरू, जवाहरलाल, 'कुछ पुरानी चिट्ठियां', नयी दिल्ली, तीसरा संस्करण, १९८०।
नेहरू, जवाहरलाल, 'हिंदुस्तान की कहानी', नयी दिल्ली, तीसरा संस्करण, १९६६।
परमार, श्याम, 'मालवी और उसका साहित्य', दिल्ली।
बाहरी, हरदेव, 'हिंदी: उद्भव, विकास और रूप', इलाहाबाद, १९६५।
'भाषा', दिल्ली

मिश्र, शितिकंठ, 'खड़ी बोली का आंदोलन', काशी, १९५६।
राजेंद्रप्रसाद, 'आत्मकथा', नयी दिल्ली।
लालस, सीताराम, 'राजस्थानी शब्दकोश', प्रथम खंड, जोधपुर, १९६२।
वर्मा, धीरेंद्र, 'ग्रामीण हिंदी', इलाहाबाद, १९६४।
वर्मा, धीरेंद्र, 'ब्रजभाषा', इलाहाबाद, १९५४।
शर्मा, रामविलास, 'भाषा और समाज', दिल्ली, १९६१।
शर्मा, रामविलास, 'राष्ट्रभाषा की समस्या', दिल्ली, १९६५।
शर्मा, विनयमोहन, 'खड़ी बोली, हिंदी और पंजाब में उसका व्यवहृत रूप', चंडीगढ़, १९६४।
शर्मा, विनयमोहन, 'नागपुरी हिंदी', 'नागरीप्रचारणी पत्रिका', १९६०, अंक २।
शर्मा, विनयमोहन, 'राष्ट्रभाषा हिंदी : समस्याएं और समाधान', दिल्ली, १९६५।
शर्मा, श्रीराम, 'दखनी हिंदी का उद्भव और विकास', प्रयाग, १९६४।
श्रीवास्तव, गंगाप्रसाद, 'सरकारी हिंदी का लोकतंत्रीय स्वरूप', 'भाषा', १९६४, सितंबर।
'साहित्य परिचय', भाषा समस्या विशेषांक, आगरा, १९६८।
सिंह, कपिलदेव, 'ब्रजभाषा बनाम खड़ी बोली', आगरा, १९५६।
"सुमन", अंबाप्रसाद, 'हिंदी और उसकी उपभाषाओं का स्वरूप', प्रयाग, १९६६।
'हिंदी का भावी रूप', दिल्ली, १९५६।
'हिंदुस्तान', दिल्ली।
'हीरक जयंती ग्रंथ', काशी, २०११ वि०।

The Adivasis. New Delhi, 1960.
Ahmad Z. A., National Language for India. Allahabad, 1941.
"AICC Economic Review". Delhi.
Aiyappan A., Social Revolution in a Kerala Village. Bombay, 1965.
Aiyappan A., Ratnam L. K. B. (Eds.). Society in India. Bombay, 1956.
Aiyar S. P., Srinivasan R. (Eds.). Studies in Indian Democracy. Bombay, 1965.
"Amrita Bazar Patrika". Calcutta.
Arden A. H. A Progressive Grammar of Telugu Language. 2-d ed. Madras, 1905.

The Art of Translation. A Symposium. New Delhi, 1962.
Asher R. E. Dravidian Separateness: Invention or Reality? "South Asian Review". 1972, vol. 6, No. 1, October.
Awasthi G. S. Broadcasting in India. Bombay, 1965.
Baidya N. V. (Ed.). Contemporary India. Bombay, 1964.
Bailey F. G. Caste and Economic Frontier. A Village in Highland Orissa. Manchester, 1957.
Bailey F. G. Tribe, Caste and Nation. A Study of Political Activity and Political Change in Highland Orissa. L., 1960.
Barnabas A. P., Mehta S. C. Caste in Changing India. New Delhi, 1965.
Barua H. Assamese Literature. New Delhi, 1965.
Barua H. The Red River and the Blue Hill. Gauhati, 1965.
Barve S. G. Freedom and Organization. Bombay, 1967.
Beames J. A Comparative Grammar of the Modern Aryan Languages of India. Delhi, 1966.
Beteille A. Caste, Class and Power. Changing Patterns of Stratification in a Tanjore Village. Bombay, 1966.
Bhargava B. S. The Criminal Tribes. A Social and Economic Study of the Principal Tribes and Castes in Northern India. Lucknow.
Bhargava V. S. Marwar and the Mughal Emperors. Delhi, 1966.
Bopegamage A., Veeraraghavan P. V. (Eds.). Status Images in Changing India. Bombay, 1967.
Bose N. K. Culture and Society in India. Calcutta, 1967.
Brass P. R. Factional Politics in an Indian State. The Congress Party in Uttar Pradesh. Bombay, 1965.
Brass P. R. Language, Religion and Politics in North India. Delhi, 1975.
Bulletin of the Tribal Institute. Chhindwara, 1962, No. 1; 1962, No. 2; 1963, No. 2.
"Business Week". N. Y.
Census of India. 1961. Vol. 1. India. Pt II-C (ii). Language Tables. Delhi, 1964.
Census of India. Paper No. 1. Languages — 1951 Census. New Delhi, 1954.
Census of India. Paper No. 1 of 1963. Religion. Delhi, 1963.
Chanda A. Public Administration. L., 1958.
Changing Tribes. Indore, 1961.
Chatterjee B. B. Riots in Rourkela. A Psychological Study. New Delhi, 1967.
Chatterji S. K. Dravidian. Annamalainagar, 1965.

Chatterji S. K. Indo-Aryan and Hindi. Calcutta, 1960.
Chatterji S. K. Languages and Literatures of Modern India. Calcutta, 1963.
Chatterji S. K. Select Papers. Vol. 1. New Delhi, 1972.
Choudhury B. N. Some Cultural and Linguistic Aspects of the Garos. Gauhati, 1958.
Communist Party's Statement on Policy of Education. New Delhi, 1974.
The Constitution of Jammu and Kashmir. Jammu.
The Constitution (Scheduled Tribes) Order. New Delhi, 1957.
Dasgupta N. K. Problems of Tribal Education and the Santhals. New Delhi, 1963.
Desai A. R. (Ed). Rural Sociology in India. Bombay, 1961.
Desai A. R. Social Background of Indian Nationalism. Bombay, 1959.
Desai M. P. The Language Pattern under the Constitution. Ahmedabad, 1957.
Desai M. P. Our Language Problem. Ahmedabad, 1956.
Desai P. B. Size and Sex Composition of Population in India. 1901—1961. Delhi, 1969.
Dube S. C. Indian Village. Bombay, 1967.
Dube S. C. India's Changing Villages. Bombay, 1967.
"Eastern Economist". Delhi.
"Economic and Political Weekly". Bombay.
"Economic Times". Bombay.
"Economic Weekly". Delhi.
Elwin V. Nagaland. Shillong, 1961.
"Far Eastern Economic Review". Hong Kong.
"Financial Express". Bombay.
Fishman J. A. (Ed.). Readings in the Sociology of Language. The Hague-Paris, 1970.
Frazer-Tytler W. K. Afghanistan. A Study of Political Development in Central and Southern Asia. L., 1962.
"Free Press Journal". Bombay.
Fuchs S. The Gonds and Bhumias of Eastern Mandla. Bombay. 1960.
Furer-Haimendorf C. Naked Nagas. Calcutta, 1962.
Gandhi M. K. Hindi and English in the South. Ahmedabad, 1958.
Gandhi M. K. Linguistic Provinces. Ahmedabad, 1958.
Gandhi M. K. Thoughts on National Language. Ahmedabad, 1961.
Gangadharan K. K. Golwalkarism. New Delhi, 1971.
Gangadharan K. K. Sociology of Revivalism: a Study

of Indianisation, Sanskritisation and Golwalkarism. New Delhi, 1970.
G a n g r a d e K. D. Inter-generational Conflict: a Sociological Study of India Youth. — "Asian Survey". Vol. 10, No. 10, October 1970.
G e o r g e K. M. A Survey of Malayalam Literature. Bombay, 1968.
G h o s h A. K. The Movement for Linguistic States and the Struggle Againist Bourgeois Nationalism. — "New Age". Delhi, May 1954, 5.
G h o s e S. Socialism, Democracy and Nationalism in India. Calcutta, 1973.
G h u r y e G. S. The Scheduled Tribes. Bombay, 1959.
G i l c h r i s t R. N. Indian Nationality. L., 1920.
G o k h a l e B. G. The Making of the Indian Nation. Bombay, 1958.
G o l w a l k a r M. S. Bunch of Thoughts. Bangalore, 1966.
G o p a l R. British Rule in India. An Assessment. Bombay, 1963.
G o p a l R. Linguistic Affairs of India. Bombay, 1966.
G o p a l R. Lokmanya Tilak. Bombay, 1956.
G o u r R. B. "Mulki Tangle" in Andhra Pradesh. The Communist Approach. New Delhi, 1972.
G o u r R. B. Telengana Tangle. The Communist Approach. New Delhi, 1969.
G u m p e r z J. J. Language Problem in the Rural Development of North India. — JAS. Vol. 16, No. 2, February 1957.
G u p t a J. D. Language Conflict and National Development. Bombay, 1970.
H a l a p p a G. S. (Ed.). Dilemmas of Democratic Politics in India. Bombay, 1966.
H a r d g r a v e R. L. (Jr.). The Dravidian Movement. Bombay, 1965.
H a r r i s o n S. S. India. The Most Dangerous Decades. Madras, 1965.
H a s s n a i n S. E. Indian Muslims. Challenge and Opportunity. Bombay, 1968.
"Hindu". Madras.
"Hindustan Times". Delhi.
"Hindustan Standard". Calcutta.
H u s s a i n S. A. The Destiny of Indian Muslims. Bombay, 1965.
H u t t o n J. H. Caste in India. Bambay, 1963.
H y m e s D. (Ed.). Language in Culture and Society. N. Y., 1964.

"India Today". New Delhi.
Indian Languages. New Delhi, 1970.
"Indian Express". Delhi.
Indian Linguistics. Baghchi Memorial Volume. Madras, 1957.
Indian National Congress. Resolutions on Language Policy (1949—1965 February). New Delhi, 1965.
Indian National Congress. Resolutions on State Reorganisation. 1920—1956. New Delhi.
Jaiswal M. P. A Linguistic Study of Bundeli (A Dialect of Madhyadesha). Leiden, 1962.
Jha S. Political Elite in Bihar. Delhi, 1973.
Jhangiani M. A. Jana Sangh and Swatantra. A Profile of the Rightist Parties in India. Bombay, 1967.
Joshi M. Assam. The Indian Conflict. New Delhi, 1981.
Kakati B. Assamese. Its Formation and Development. Gauhati, 1962.
Kamat A. R. The Educational Situation in India. New Delhi, 1973.
Kamath V. B. Linguistic Vivisection of India. Why not Stop it Still? Bombay, 1966.
Karunakaran K. P. Religion and Political Awakening in India. Meerut, 1966.
Katre S. M. Prakrit Languages and their Contribution to Indian Culture. Poona, 1964.
Kellogg S. H. A Grammar of the Hindi Language. L., 1955.
Khan M. R. (Ed.). National Integration. Its Meaning and Relevance. Varanasi, 1970.
Khilnani M. D. K. A General Survey of Sindhi Language and Literature (Old and New). Delhi, 1959.
Kosambi D. D. An Introduction to the Study of Indian History. Bombay, 1956.
Kothari R. (Ed.). Caste in Indian Politics. Poona, 1970.
Kuiper F. B. J. Nahali. Amsterdam, 1962.
Kumaramangalam S. M. India's Language Crisis. Madras, 1965.
Language and Society in India. Simla, 1969.
Le Page R. B. The National Language Question. Linguistic Problems of Newly Independent States. L., 1964.
"Link". Delhi.
Machwe P. Writers Within the Walls of Language.— "Asian review". Vol. 2, No. 1. October 1968.
Madhok B. Indianisation? (What, Why and How). New Delhi, 1965.
"Mainstream". Delhi.

Majumdar A. K. Problem of Hindi. A Study. Bombay, 1965.
Majumdar D. N. Races and Culture of India. Bombay, 1958.
Majumdar R. C. (Gen. ed.). The Age of Imperial Kanauj. Bombay, 1955.
Majumdar R. C. (Gen. ed.). The Age of Imperial Unity. Bombay, 1953.
Majumdar R. C. (Gen. ed.). British Paramountcy and Indian Renaissance. Pt I. Bombay, 1963.
Majumdar R. C. (Gen. ed.). The Struggle for Empire. Bombay, 1957.
Majumdar R. C., Raychaudhuri. An Advanced History of India. L., 1950.
Mansinha M. History of Oriya Literature. New Delhi, 1962.
Mazumdar S. N. Marxism and the Language Problems in India. New Delhi, 1970.
Mètraux G. S., Grouzet F. (Eds.). Studies in the Cultural History of India. Agra, 1966.
Mishra J. The Case of Maithili before Sahitya Akademi. New Delhi, 1963.
Mukherjea C. The Santals. Calcutta, 1962.
Munshi K. M., Diwakar R. R. Disintegration. How to Avert It. A Symposium. Bombay, 1965.
Nagendra (Ed.). Indian Literature. Agra. 1959.
Namboodiripad E. M. S. Communist Party and State Reorganisation. Delhi, 1955.
Narang G. C. Karkhandari Dialect of Delhi Urdu. New Delhi, 1961.
Narasimhan V. K. Venkatachari A. G., Chari V. K. N. (Eds). The Languages of India. A Kaleidoscopic Survey. Madras, 1958.
Narula S. S. Scientific History of Hindi Language. New Delhi, 1955.
"National Herald". Lucknow.
Nationality Question in India. Seminar Papers. Guntur, 1982.
Nayar B. R. Minority Politics in the Punjab. Princeton, 1966.
Nehru's Speeches, 1949—1953. Vol. 2, Delhi, 1957.
Nehru's Speeches. March 1953-August 1957. Vol. 3. New Delhi, 1958.
Nehru's Speeches, 1957—1963. Vol. 4. New Delhi, 1964.
Nehru J. The Unity of India. L., 1948.
"New Age". Delhi.
"Newsman". Callcutta.
"New Wave". Delhi.

Nigam R. C. Language Handbook of Mother Tongues in Census. Census of India. 1971. New Delhi, 1972.
"Now". Calcutta.
"Organizer". Delhi.
Pandit P. B. The Language and Dialects. 66-th Session. Indian National Congress Souvenir. Bhawanagar, 1961.
Panikkar K. M. Asia and Western Dominance. A Survey of the Vasco Da Gama Epoch of Asian History. 1848—1945. L., 1953.
Parliamentary Committee on the Demand for Punjabi Suba. Report. New Delhi, 1966.
"Patriot". Delhi.
Pei M. The Story of Language. N. Y., 1966.
Prakash K. Language and Nationality Politics in India. Madras, 1973.
Prasad N. K. The Language Issue in India. New Delhi, 1979.
Press and Advertisers Year Book. New Delhi, 1969.
Press in India—1965. Pt 1. New Delhi, 1965.
Press in India — 1971. Pt 1. New Delhi, 1971.
Punjabi Suba. A Symposium. Delhi.
Radio and Television. Report of the Committee on Broadcasting and Information Media. New Delhi, 1966.
Rai S. M. Partition of the Punjab. A Study of its Effects on the Policies and Administration of the Punjab, 1947—1956. Bombay, 1965.
Hindi against India. The Meaning of DMK. New Delhi, 1968.
Ranchi Riots. Factual Analyses of the Tragic Happenings in August 1967. New Delhi.
Rao V. K. R. V., Desai P. B. Greater Delhi. A Study in Urbanisation. 1940—1957. Bombay, 1965.
Ray P. S. Language Standartisation. The Hague, 1963.
Ray P. S., Hai M. A., Ray L. Bengali Language Handbook. Washington DC, 1966.
Report of the Commission on the Hill Areas of Assam. 1965—1966. Delhi, 1966.
Report of the Commissioner for Linguistic Minorities (Sixth Report). Delhi, 1965.
Report of the Commissioner for Linguistic Minorities (Ninth Report). Delhi, 1968.
Report of the Committee of Parliament on Official Language. New Delhi, 1958.
Report of the Linguistic Provinces Committee Appointed by the Jaipur Congress (December 1948). New Delhi, 1953.
Report of the Official Language Commission. New Delhi, 1957.

Report of the States Reorganisation Commission. New Delhi, 1955.
Rice F. A. (Ed.). Study of the Role of the Second Language in Asia, Africa and Latin America. Washington DC, 1962.
Ross A. Some Social Implications of Multilingualism. — Towards a Sociology of Culture in India. New Delhi, 1965.
Roy N. C. The Growth of Linguistic States in the Indian Federation. — Aiyar S. P., Mehta U. (Eds.). Essays on Indian Federalism. Bombay, 1965.
Sardesai S. G. India and the Russian Revolution. New Delhi, 1967.
Sardesai S. G. Fascist Menace and Democratic Unity. New Delhi, 1970.
Saksena B. Evolution of Awadhi (a Branch of Hindi). Allahabad, 1937.
Sarker A. Handbook of Languages and Dialects of India. Calcutta, 1964.
The Scheduled Castes and Scheduled Tribes Lists Modification Order, 1956. New Delhi, 1957.
"Seminar". Delhi.
Sen S. History of Bengali Literature. New Delhi, 1960.
Shukla R. Language Policy of All India Radio. Allahabad, 1944.
Siddiqi M. A. Origins of Modern Hindustani Literature. Aligarh, 1963.
"Socialist Congressman". Delhi.
The South India Chamber of Commerce. Silver Jubilee Souvenir. Madras, 1964.
Singh G. S. Maratha Geopolitics and the Indian Nation. Bombay, 1966.
Singh H. (Ed.). Nationalism after World War Two. Jullundur, 1967.
Singh K. S. The Sikhs. L., 1953.
Slater G. Southern India. Its Political and Economic Problems. L., 1936.
Spencer J. (Ed.). Language in Africa. Cambridge, 1963.
Srinivas M. N. Caste in Modern India. Bombay, 1964.
Srinivas M. N. (Ed.). India's Village. Bombay, 1966.
Srinivas M. N. Religion and Society among the Coorgs of South India. Bombay, 1965.
Srinivas M. N. Social Change in Modern India. New Delhi 1966.
Srinivas M. N. Social Change in Modern India (Mimeo). Indian Statistical Institute. New Delhi, 1967.
"Statesman". Delhi.

A Study of the Tribal People and Tribal Areas of Madhya Pradesh (Litho). Indore, 1966.
Tara Chand. The Problem of Hindustani. Allahabad, 1944.
"Telegraph". Calcutta.
Tenth Congress of the Communist Party of India. Souvenir. Vijayawada, 1975.
Thirtha N. V. National Integration. A Study in Social Foundations in Education. Jullundur — Delhi, 1964.
"Times of India". Delhi.
Tiwari G. S., Sharma S. R. (Eds.). Political Studies. Agra. 1965.
Trends in Scientific Terminology. New Delhi, 1962.
"Tribune". Ambala.
Trumbull R. As I see India. L., 1957.
Verma S. P., Bhambari C. P. (Eds.). Election and Political Consciousness in India. A Study. Meerut, 1967.
Vidyarthi L. P. Cultural Contours of Tribal Bihar. Calcutta, 1964.
Wadia A. R. The Sociology of Languages. — Kabir H. (Ed.). Maulana Abul Kalam Azad. A Memorial Volume. Bombay, 1959.
"Weekend Review". Delhi.
Weiner M. Sons of the Soil. Migration and Ethnic Conflict in India. Princeton, 1981.
Weinreich U. Languages in Contact. Findings and Problems. The Hague, 1964.
What do They Say About Maithili. Allahabad, 1963.
Yadav R. K. The Indian Language Problem. Delhi, 1967.
Zakaria R. Rise of Muslims in Indian Politics. Bombay, 1971.
Zinkin T. Challenges in India. L., 1966.